१०८ उपनिषद्

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

ब्रह्मविद्याखण्ड

*

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

२००५

मूल्य 125 रुपये

ॐ

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥
(त्रिपुरातापिन्युपनिषद् १.१)

*****

उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ,
तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को
हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा
हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर
प्रेरित करे।

उपनिषदों का महत्त्व, अध्येताओं की दृष्टि में

मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान ज्ञान है ? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें।

– स्वामी विवेकानंद

'उपनिषद्' में 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं। 'सद्' धातु 'गति' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'गति' शब्द का उपयोग ज्ञान, गमन और प्राप्ति इन तीन संदर्भों में होता है। यहाँ प्राप्ति अर्थ अधिक उपयुक्त है। ''उप सामीप्येन, नि-नितरां, प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्'' अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, वह 'उपनिषद्' है।

– पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रातः कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व-दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।

– विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

–शोपेन हॉवर

सुकरात, अफलातून, अरस्तू आदि कितने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शांतिमयी आत्म विद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

– प्रो० ह्यूम

मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शांति तथा सच्चे आनंद की प्राप्ति होती है। हजरतनवी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीनं रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।

– दाराशिकोह

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय

उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता ***परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति,तपोनिष्ठ पं०श्रीराम शर्मा आचार्य जी*** *ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार* ***शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा*** *के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।*

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषद तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। पूर्व प्रकाशित ज्ञानखण्ड में बृहदारण्यकोपनिषद् सहित २४ उपनिषदें हैं, जबकि सर्व प्रथम प्रकाशन (१९६१) में बृहदारण्यक० को छोड़कर भी ३५ उपनिषदें थीं।

इस ब्रह्मविद्याखण्ड में ४२ उपनिषदें हैं। इसमें भी उपनिषदों का क्रम अकारादि ही रखा गया है, इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया। अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान,उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई','अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है,उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे,क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

- प्रकाशक

संकेत विवरण

अथर्व० - अथर्ववेद
अथर्वशिख०- अथर्वशिखोपनिषद्
अथर्वशिर०- अथर्वशिरउपनिषद्
अद्वयता०- अद्वयतारकोपनिषद्
अध्यात्मो०- अध्यात्मोपनिषद्
अमृतनादो०- अमृतनादोपनिषद्
अवधूतो०- अवधूतोपनिषद्
आत्म०- आत्मपूजोपनिषद्
आत्मबोधो०- आत्मबोधोपनिषद्
आत्मो० - आत्मोपनिषद्
आप०श्रौ०सू०- आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
आरुणि०- आरुण्युपनिषद्
आश्रमो०- आश्रमोपनिषद्
उ० - उत्तर
ऋ० - ऋग्वेद
एकाक्षरो०- एकाक्षरोपनिषद्
कठरुद्रो०- कठरुद्रोपनिषद्
कठो० - कठोपनिषद्
कुण्डिको०- कुण्डिकोपनिषद्
कर्म०भा०- कर्मकाण्ड भास्कर
का०श्रौ०सू०- कात्यायन श्रौत सूत्र
कैवल्यो०- कैवल्योपनिषद्
कौ०ब्रा०उ०-कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
क्षुरिको०- क्षुरिकोपनिषद्
खं०- खण्ड
गी०- गीता
गोरक्ष० सं०- गोरक्ष संहिता
घेर० सं०- घेरण्ड संहिता
छान्दो०- छान्दोग्योपनिषद्
जा०दर्शनो०- जाबालदर्शनोपनिषद्
जाबालो०- जाबालोपनिषद्
जाबाल्यु०- जाबाल्युपनिषद्
तं०सा०सं०- तंत्र सार संग्रह
तां०ब्रा०- तांड्य ब्राह्मण
तुरीया०-तुरीयातीतोपनिषद्
ते०बि०- तेजबिन्दूपनिषद्
तैत्ति०ब्रा०-तैत्तिरीय ब्राह्मण
दर्शनो०- दर्शनोपनिषद्
द्वयो०- द्वयोपनिषद्
ना०परि०- नारदपरिव्राजकोपनिषद्
नादबिन्दु०- नादबिन्दूपनिषद्

नि०- निरुक्त
निरा०- निरालम्बोपनिषद्
नैषधी०- नैषधीयचरितम्
पं० ब्र०-पंचब्रह्मोपनिषद्
पंच०- पंचवार्तिक
परब्रह्मो०- परब्रह्मोपनिषद्
परम०प०- परमहंस परिव्राजकोपनिषद्
परमहंसो०- परमहंसोपनिषद्
पा०गृ०सू०- पारस्कर गृह्य सूत्र
पातं०यो०प्र०- पातंजल योग प्रदीप
पातं०यो०सू०- पातंजल योग सूत्र
पाशुपत०- पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्
पृ०- पृष्ठ
पैङ्गलो०- पैङ्गलोपनिषद्
प्र०- प्रश्न
प्रश्नो०- प्रश्नोपनिषद्
बृह०उ०- बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा०ध०सू०- बौधायन धर्म सूत्र
ब्र०सू०- ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मबिन्दु०- ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्रह्म०भा०- ब्रह्मयोगी भाष्य
ब्रह्मविद्यो०- ब्रह्मविद्योपनिषद्
ब्रह्मवै०पु०- ब्रह्मवैवर्त्त पुराण
ब्रह्मो०- ब्रह्मोपनिषद्
भर्तृ०- भर्तृहरि शतक
भा०- भागवत
भिक्षु०- भिक्षुकोपनिषद्
मं०ब्रा०उ०- मंडल ब्राह्मण उपनिषद्
मत्स्यपु०- मत्स्यपुराण
मनु०- मनुस्मृति
महा०- महाभारत
म०वा०-महावाक्योपनिषद्
महो०- महोपनिषद्
माण्डू०- माण्डूक्योपनिषद्
मुण्डको०- मुण्डकोपनिषद्
मैत्रा०- मैत्रायण्युपनिषद्
मैत्रे०- मैत्रेय्युपनिषद्
यजु०- यजुर्वेद
याज्ञ०स्मृ०- याज्ञवल्क्य स्मृति
यो०कु०- योगकुण्डल्युपनिषद्
योगियाज्ञ०- योगियाज्ञवल्क्य

यो०त०- योगतत्त्वोपनिषद्
यो०द०-योगदर्शन
यो०शि०-योग शिखोपनिषद्
यो०सू०- योगसूत्र
वज्र०-वज्रसूचिकोपनिषद्
वटुको०- वटुकोपनिषद्
वसिष्ठ स्मृ०- वसिष्ठ स्मृति
वाच० - वाचस्पत्यम्
वात्स्या०-वात्स्यायनभाष्य
वायुपु०-वायु पुराण
विद्व०- विद्वन्मनोरञ्जनी
वि०पु०- विष्णुपुराण
वि०मार्त०- विवेक मार्तण्ड
वे०वि०- वेदान्त विमर्श
वे०सा०- वेदान्त सार
वे०सा०सु०- वेदान्त सार सुबोधिनी
व्या०भा०- व्यास भाष्य
श०क०- शब्द कल्पद्रुम
शत०ब्रा०- शतपथ ब्राह्मण
शाट्यायनी०- शाट्यायनीयोपनिषद्
शाण्डिल्यो०- शाण्डिल्योपनिषद्
शा० प०- शान्तिपर्व
शा०भा०- शाङ्कर भाष्य
शारीरको०- शारीरकोपनिषद्
श्रौ०प०नि०- श्रौत पदार्थ निर्वचनम्
श्वेता०- श्वेताश्वतरोपनिषद्
संन्यासो०-संन्यासोपनिषद्
सं०प्र०- सन्ध्याप्रयोग
सं०हि०को०- संस्कृत हिन्दी कोश
स०पा०- समाधि पाद
सां०यो०द०- सांग योग दर्शन
सा०- सामवेद
सा०पा०- साधन पाद
सा०भा०- सायण भाष्य
सि०कौ०- सिद्धान्त कौमुदी
सुबालो०- सुबालोपनिषद्
स्वसं०-स्वसंवेद्योपनिषद्
हंस०- हंसोपनिषद्
हठ०प्र०- हठयोग प्रदीपिका
हला०- हलायुध कोश
हि०वि०को०- हिन्दी विश्व कोश

॥ अथर्वशिर उपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें सात कण्डिकाएँ हैं। कण्डिका क्र० १,२,३ में देवगणों द्वारा रुद्र रूप में परमात्म-सत्ता के साक्षात्कार का वर्णन और उनकी स्तुति है। उन्हें आदिकारण रूप; भूत, भविष्यत्, वर्तमान; पुरुष-अपुरुष-स्त्री, क्षर-अक्षर, गोप्य-गुह्य कहा गया है, वे ही चराचर जगत् को उनकी विशेषताओं से विभूषित करने वाले हैं। उन्हें ही ॐ तथा अ,उ, म् से भी परे कहा गया है। कण्डिका क्र. ४, ५ में उन्हें प्रणव रूप कहते हुए उनकी विशेषताओं, क्षमताओं और उपासना का महत्त्व बताया गया है। छठवीं कण्डिका में उन्हीं से सत, रज, तम आदि गुणों एवं मूल क्रियाशील तत्त्व 'आपः' की उत्पत्ति तथा उससे सृष्टि के विकास का वर्णन है। सातवीं कण्डिका में उपनिषद् के अध्ययन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ् सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न ऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देव ! हम कानों से कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से कल्याणकारी (दृश्य) देखें, हम हृष्ट-पुष्ट अंगों और शरीर से ईश्वर द्वारा प्रदत्त पूरी आयु देवहित कार्यों में बिताएँ। महान् कीर्ति सम्पन्न देवराज इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि (जिसकी गति अवरुद्ध न की जा सके), तार्क्ष्य (गरुड़) तथा बृहस्पतिदेव हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायँस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्को भवानिति। सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति। सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दिशश्चान्तरं प्राविशत् सोऽहं नित्यानित्योऽहं व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माहमब्रह्माहं प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्च उदञ्चोऽहं अधश्चोर्ध्वं चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपुमान् स्त्रियश्चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं सरस्वत्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् चाहं छन्दोऽहं गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौरहं गौर्यहमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमापोऽहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं पवित्रमहमग्रं च मध्यं च बहिश्च पुरस्ताज्ज्यो-तिरित्यहमेव सर्वं मामेव स सर्वं स मां यो मां वेद स देवान्वेद स सर्वांश्च वेदान्साङ्गानपि ब्रह्म ब्राह्मणैश्च गां गोभिर्ब्राह्मणान्ब्राह्मण्येन हविर्हविषा आयुरायुषा सत्येन सत्यं धर्मेण धर्मं तर्पयामि स्वेन तेजसा। ततो ह वै ते देवा रुद्रमपृच्छन् ते देवा रुद्रमपश्यन्। ते देवा रुद्रमध्यायंस्ततो देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुन्वन्ति॥ १॥

एक समय देवताओं ने स्वर्गलोक में जाकर रुद्र से पूछा- आप कौन हैं? रुद्र ने उत्तर दिया- मैं एक हूँ, भूतकाल हूँ, वर्तमान काल हूँ और भविष्यत्काल भी मैं ही हूँ। मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जो अन्तर के भी अन्तर में विद्यमान है, जो समस्त दिशाओं में सन्निविष्ट है, वह मैं ही हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य, व्यक्त और अव्यक्त, ब्रह्म और अब्रह्म हूँ। मैं ही प्राची (पूर्व) और प्रतीची (पश्चिम), उत्तर और दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः आदि दिशाएँ तथा विदिशाएँ हूँ। पुमान् (पुरुष), अपुमान् (अपुरुष) और स्त्री भी मैं ही हूँ। मैं ही गायत्री, सावित्री और सरस्वती हूँ। त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् आदि छन्द भी मैं ही हूँ। मैं गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि हूँ। मैं सत्य, गौ, गौरी, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ हूँ। आपः और तेजस् भी मैं ही हूँ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भी मैं ही हूँ। अक्षर-क्षर, गोप्य (छिपाने योग्य) और गुह्य (छिपाया हुआ) भी मैं हूँ। अरण्य, पुष्कर (तीर्थ), पवित्र मैं हूँ। अग्र, मध्य, बाह्य और पुरस्ताद् (पूर्व) आदि दसों दिशाओं में अवस्थित और अनवस्थित ज्योतिरूप शक्ति मुझे ही मानना चाहिए और सब कुछ मुझमें ही व्याप्त जानना चाहिए। इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह समस्त देवों और अङ्गों सहित समस्त वेदों को जानता है। मैं गौओं को गोत्व से, ब्राह्मणों को ब्राह्मणत्व से, हवि को हविष्य से, आयु को आयुष्य से, सत्य को सत्यता से, धर्म को धर्म तत्त्व से तृप्त करता हूँ। यह सुनकर देवगणों ने रुद्र को देखा और उनका ध्यान करने लगे। तत्पश्चात् भुजाएँ उठाकर इस प्रकार स्तुति की॥ १॥

ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः॥ १॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः॥ २॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च स्कन्दस्तस्मै वै नमो नमः॥ ३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चेन्द्रस्तस्मै वै नमो नमः॥ ४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चाग्निस्तस्मै वै नमो नमः॥ ५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च वायुस्तस्मै वै नमो नमः॥ ६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः॥ ७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमो नमः॥ ९॥ यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै वै नमो नमः॥ १०॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भूस्तस्मै वै नमो नमः॥ ११॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १२॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च महस्तस्मै वै नमो नमः॥ १४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्या च पृथिवी तस्मै वै नमो नमः॥ १५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चान्तरिक्षं तस्मै वै नमो नमः॥ १६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्या च द्यौस्तस्मै वै नमो नमः॥ १७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्याश्चापस्तस्मै वै नमो नमः॥ १८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च तेजस्तस्मै वै नमो नमः॥ १९॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चाकाशं तस्मै वै नमो नमः॥ २०॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च कालस्तस्मै वै नमो नमः॥ २१॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च यमस्तस्मै वै नमो नमः॥ २२॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमो नमः॥ २३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चामृतं तस्मै वै नमो नमः॥ २४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च विश्वं तस्मै वै नमो नमः॥ २५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्थूलं तस्मै वै नमो नमः॥ २६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सूक्ष्मं तस्मै वै नमो नमः॥ २७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च शुक्लं तस्मै वै नमो नमः॥ २८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च कृष्णं तस्मै वै नमो नमः॥ २९॥ यो वै रुद्रः स

भगवान्यच्च कृत्स्नं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सर्वं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥ ॥ २ ॥

हे भगवान् रुद्र! आप ब्रह्मा स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे भगवान् रुद्र! आप विष्णु स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। हे भगवान् रुद्र! आप स्कन्द रूप हैं, आपको नमन है। आप इन्द्र स्वरूप, अग्नि स्वरूप, वायु स्वरूप और सूर्य स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे भगवान् रुद्र! आप सोम स्वरूप हैं, अष्टग्रह स्वरूप, प्रतिग्रह स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप भूः स्वरूप, भुवः स्वरूप, स्वः स्वरूप और महः स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे रुद्र भगवान्! आप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः और आकाश रूप हैं, आपको नमस्कार है। हे रुद्र भगवान्! आप विश्वरूप, स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कृष्ण और शुक्ल स्वरूप हैं, आपको नमन है। आप सत्यरूप और सर्वस्वरूप हैं, आपको बारम्बार नमन है॥ २॥

भूस्ते आदिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा बद्धस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यस्य च।

हे रुद्र भगवान्! भूः, भुवः और स्वः लोक क्रमशः आपके नीचे, मध्य और शीर्ष के लोक हैं। आप विश्वरूप हैं और एक मात्र ब्रह्म हैं; किन्तु भ्रमवश दो और तीन संख्या वाले प्रतीत होते हैं। आप वृद्धि स्वरूप, शान्तिस्वरूप, पुष्टिरूप, हुत-अहुतरूप, दत्तरूप-अदत्तरूप,सर्वरूप-असर्वरूप, विश्व-अविश्वरूप, कृतरूप-अकृतरूप, पर-अपररूप और परायणरूप हैं। आपने हमें (देवों को) अमृत स्वरूप सोमपान कराकर अमृतत्व प्रदान किया है। हम ज्योति स्वरूप होकर ज्ञान को प्राप्त हुए हैं। अब कामादि शत्रु हमें क्षति नहीं पहुँचा सकते। आप मर्त्यों (मनुष्यों) के लिए अमृत तुल्य हैं।

[सोम स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म दिव्य ज्ञान रूप भी है। सोम रूप ज्ञान को आत्मसात् करके साधक स्वयं ज्योतित हो जाता है। तब दिव्य ज्ञान के साथ स्वाभाविक रूप से योग होता है और कामादि विकार प्रभावी नहीं हो पाते।]

सोमसूर्य पुरस्तात् सूक्ष्मः पुरुषः। सर्वं जगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषमग्राह्यमग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण वायव्यं वायव्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः। हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

हे देव! आप सोम (चन्द्र) और सूर्य से भी पूर्व उत्पन्न सूक्ष्म पुरुष हैं। आप सम्पूर्ण जगत् का हित करने वाले, अक्षर रूप, प्राजापत्य (प्रजापतियों द्वारा स्तुत्य), सूक्ष्म, सौम्य पुरुष हैं, जो अपने तेज से अग्राह्य को अग्राह्य से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से, वायु को वायु से ग्रस लेते हैं, ऐसे महाग्रास करने वाले आप (रुद्र भगवान्) को नमस्कार है। सभी हृदयों में देवगण, प्राण और आप विराजते हैं।

[मनुष्य के अन्तस् में जीवन ऊर्जारूप प्राणों, दिव्य संवेदना रूप देवगणों तथा आत्म चेतन रूप में परमात्मा का आवास ऋषि अनुभव करते हैं। उन्हें उनसे सम्बन्धित अनुशासनों के माध्यम से सक्रिय एवं फलित किया जा सकता है।]

हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः। तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः स ओङ्कारः य ओङ्कारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म यत्परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रो यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान महेश्वरः ॥ ३ ॥

हृदय में विराजते हुए (वह) आप तीनों मात्राओं (अ, उ, म्) से परे हैं। (हृदय के) उत्तर में उसका सिर है, दक्षिण में पाद हैं, जो उत्तर में विराजमान है, वही ओंकार है। ओंकार को ही 'प्रणव' कहते हैं और प्रणव ही सर्वव्यापी है। वह सर्वव्यापी प्रणव ही अनन्त है। जो अनन्त है, वही तारक स्वरूप है। जो तारक है, वही सूक्ष्म स्वरूप है। जो सूक्ष्म स्वरूप है, वही शुक्ल है। जो शुक्ल (प्रकाशित) है, वही विद्युत् (विशेष रूप से द्युतिमान्) है। जो विद्युत् है, वही परब्रह्म है। जो परब्रह्म है, वही एक रूप है। जो एक रूप है, वही रुद्र है। जो रुद्र है, वही ईशानरूप है। जो ईशान है, वही भगवान् महेश्वर है॥ ३॥

[ऋषि यहाँ 'स्व'-जीव चेतना, ईश- नियामक चेतना तथा महेश्वर-परमात्म चेतना तीनों की एकरूपता का आभास करा रहे हैं।]

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसो ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः। अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वान् लोकान् व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषिक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी। अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः। अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्। अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयते च तस्मादुच्यते शुक्लम्। अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृशति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एवाव्यक्ते महति तमसि द्योतयते तस्मादुच्यते वैद्युतम्। अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायणं च बृहद्बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म। अथ कस्मादुच्यते एको यः सर्वान्प्राणान्संभक्ष्य संभक्षणेनाजः संसृजति विसृजति च। तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यञ्च उदञ्चःप्राञ्चोऽभिव्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह संगतिः। साकं स एको भूतश्चरति प्रजानां तस्मादुच्यत एकः। अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः। अथ कस्मादुच्यते ईशानः यःसर्वान्देवानीशते ईशनीभिर्जननीभिश्च परम शक्तिभिः। अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष इति तस्मादुच्यत ईशानः। अथ कस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः यस्माद्भक्ताज्ञानेन भजन्त्यनुगृह्णाति च वाचं संसृजति विसृजति च सर्वान्भावान्परित्यज्या-त्मज्ञानेन योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः। तदेतद्रुद्रचरितम्॥ ४॥

ॐकार किस कारण से कहा जाता है? यह इसलिए कहा जाता है कि ॐकार उच्चारित करने में श्वास (प्राणों) को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है। प्रणव इसलिए कहा जाता है कि इसका उपयोग (उच्चारण) ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस और ब्राह्मणों को प्रणाम करने के लिए किया जाता है। इसीलिए इसका नाम 'प्रणव' ऐसा हुआ है। इसे सर्वव्यापी क्यों कहा जाता है? इसलिए कि जिस प्रकार तिल में तेल विद्यमान (संव्याप्त) है, उसी प्रकार यह अव्यक्त रूप से सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, इसी कारण 'सर्वव्यापी' ऐसा कहा

जाता है। इसका नाम अनन्त इसलिए है कि इस 'शब्द' का उच्चारण करते हुए ऊपर-नीचे और तिरछे कहीं भी इसका अन्त प्रतीत नहीं होता। 'तारक' नाम इसलिए दिया गया है कि यह गर्भ, जन्म, व्याधि, वृद्धावस्था और मरण से युक्त संसार के भय से तारने वाला है। इसका नाम 'शुक्ल' इसलिए है कि यह स्व प्रकाशित है, अन्यों के लिए प्रकाशक है। इसे 'सूक्ष्म' इस कारण कहा जाता है कि इसका उच्चारण करने पर यह सूक्ष्म स्वरूप होकर स्थावर आदि सभी शरीरों में अधिष्ठित होता है। इसे 'वैद्युत' कहने का कारण यह है कि इसका उच्चारण करने से घोर अन्धकार (अज्ञान) की स्थिति में भी समग्र काया (स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि) विशेष रूप से द्युतिमान् हो जाती है। परब्रह्म कहने का कारण यह है कि वह पर, अपर और परायण (इन तीनों) बृहत् (व्यापक घटकों) को बृहत्या (विशालता के माध्यम से) व्यापक बनाता है।

[ऋषि द्वारा परमात्म-सत्ता को परब्रह्म कहने का तात्पर्य प्रकट किया गया है- पर+ब्रह्म के संयोग से परब्रह्म बना है। जो पर (अव्यक्त) है तथा जो अपर (व्यक्त) है, वे एक दूसरे के परायण-एक दूसरे के प्रति जागरूक-परस्पर पूरक हैं। इस भाव को प्रथम पद 'पर' से प्रकट किया गया है। जो बृहत्-विशाल है तथा विशालता (संकीर्णता से मुक्तभाव) से सभी घटकों को व्यापकता प्रदान करता है, उसके लिए दूसरा पद 'ब्रह्म' प्रयुक्त किया गया है।]

इसे (ब्रह्म को) एक इसलिए कहा जाता है कि यह समस्त प्राणों का भक्षण करके 'अज' स्वरूप होकर उत्पत्ति और संहार करता है। समस्त तीर्थों में वह 'एक' ही (तत्त्व) विद्यमान है। अनेक लोग पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के विभिन्न तीर्थों में परिभ्रमण करते हैं। वहाँ भी उनकी सद्गति का कारण वह एक ही (तत्त्व) है। समस्त प्राणियों में एक रूप में निवास करने के कारण उस तत्त्व को 'एक' कहते हैं। 'रुद्र' इसलिए कहा जाता है कि इसके स्वरूप का ज्ञान ऋषियों को सहज ही हो सकता है। सामान्य जनों को इसका ज्ञान हो सकना कठिन है। 'ईशान' क्यों कहते हैं, इसलिए कि वह समस्त देवों और उनकी शक्तियों पर अपना प्रभुत्व (ईशत्व) रखता है। (सो हे रुद्र!) आप शूर की हम उसी प्रकार स्तुति करते हैं, जिस प्रकार दुग्ध प्राप्त करने के लिए गौ को प्रसन्न किया जाता है। (हे रुद्र!) आप ही इन्द्र रूप होकर स्थावर-जंगम संसार के ईश और दिव्य दृष्टि सम्पन्न हैं, इसी कारण आपको 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया जाता है। आपको भगवान् महेश्वर क्यों कहते हैं? इसलिए कि जो भक्तजन ज्ञान पाने के लिए आपका भजन करते हैं और आप उन पर कृपा-वर्षण करते हैं, वाक् शक्ति का प्रादुर्भाव करते हैं, साथ ही समस्त भावों का परित्याग करके आत्मज्ञान और योग के ऐश्वर्य से अपनी महिमा में स्थित रहते हैं, इसीलिए आपको 'महेश्वर' कहा जाता है। इस प्रकार इस रुद्र के चरित का वर्णन हुआ॥ ४॥

एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता। यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं संचरति विचरति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। क्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः। शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जेन पशवोऽनुनामयन्तं मृत्युपाशान्। तदेतेनात्मन्नेतेनार्धचतुर्थमात्रेण शान्तिं संसृजति पाशविमोक्षणम्। या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्ब्राह्मं पदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदेवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम्। या साऽर्धचतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्याऽव्यक्तीभूता खं

विचरति शुद्धस्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम् तदेतमुपासीत मुनयोऽर्वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पन्था विहित उत्तरेण येन देवा यान्ति येन पितरो येन ऋषयः परमपरं परायणं चेति। बालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यम्। तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम्। यस्मिन्क्रोधं यां च तृष्णां क्षमां च तृष्णां हित्वा हेतुजालस्य मूलम्। बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः। रुद्रो हि शाश्वतेन वै पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ता। अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वꣳह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि यस्माद्व्रतमिदं पाशुपतं यद्भस्मनाङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय॥ ५॥

एक ही ऐसा देवता है, जो समस्त दिशाओं में निवास करता है। सर्वप्रथम उसी का आविर्भाव हुआ। वही मध्य और अन्त में स्थित है। वही उत्पन्न होता है और आगे भी उत्पन्न होगा। प्रत्येक में वही संव्याप्त हो रहा है। अन्य कोई नहीं, केवल एक रुद्र ही इस लोक का नियमन (नियंत्रण) कर रहा है। समस्त प्राणी उसी के अन्दर निवास करते हैं और अन्ततः सबका उसी में विलय भी होता है। विश्व का उद्भव और संरक्षण-कर्त्ता भी वही है, जो समस्त जीवों में संव्याप्त हो रहा है और समस्त प्राणी जिसमें संव्याप्त हो रहे हैं, उस 'ईशान' देव के ध्यान से मनुष्य को परम शान्ति का लाभ मिल सकता है। समस्त प्रपञ्चों के हेतु भूत-अज्ञान का परित्याग करके संचित कर्मों को बुद्धि के द्वारा रुद्र में अर्पित करके परमात्मा का एकत्व प्राप्त होता है।

जो शाश्वत और पुराण पुरुष अपनी सामर्थ्य से अन्न आदि प्रदान करके प्राणियों को मृत्युपाश से मुक्त करता है। वही आत्मज्ञान प्रदान करने वाला ॐ चतुर्थ मात्रा से शान्ति प्रदाता और बन्धन मुक्ति प्रदाता है। उन रुद्रदेव की प्रथम मात्रा ब्रह्मा की है, जो लाल वर्ण की है, उसके नियमित ध्यान से ब्रह्मपद प्राप्त होता है। दूसरी मात्रा विष्णु की है, जो कृष्ण वर्ण की है, उसके नियमित ध्यान से विष्णु पद की प्राप्ति होती है। तृतीय मात्रा ईशान की है, जिसका वर्ण पीला है, उसका ध्यान करने से ईशान पद की प्राप्ति होती है। जो अर्ध चतुर्थ मात्रा है, वह समस्त देवों के रूप में अव्यक्त होकर आकाश में विचरण करती है, वह शुद्ध स्फटिक मणि के वर्ण की है, जिसके ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है। मनीषियों का कहना है कि इस अर्ध मात्रा की उपासना ही उचित है; क्योंकि इससे कर्मों के बन्धन कट जाते हैं। इस उत्तरायण (उत्तरी मार्ग) से ही देव, पितर और ऋषिगण गमन करते हैं। यही पर, अपर तथा परायण मार्ग है। बाल के अग्रभाग के तुल्य, सूक्ष्म रूप से हृदय में निवास करने वाले, विश्वरूप, देवरूप, समस्त उत्पन्न हुए लोगों को जानने वाले श्रेष्ठ परमात्मा को जो ज्ञानी जन अपने अन्दर देखते हैं, वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं, अन्य किसी को वह शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। तृष्णा, क्रोध आदि हेतु समूह के मूल का परित्याग करके संचित कर्मों का बुद्धिपूर्वक रुद्र में स्थापन करने से रुद्र से एकत्व प्राप्त होता है। रुद्र ही शाश्वत और पुराण (प्राचीन) हैं। अस्तु, वे अपनी शक्ति और तप से सबके नियंत्रक हैं। अग्नि, वायु, जल, स्थल (भूमि) और आकाश ये सभी भस्म रूप हैं। भगवान् पशुपति (बंधन से बँधे प्राणियों के स्वामी) की भस्म का जिसके अङ्ग में स्पर्श नहीं हुआ, वह भी भस्म के समान ही है। इस प्रकार पशुपति रुद्र की ब्रह्मरूप-भस्म पशु (प्राणियों) के बन्धनों को काटने वाली है॥ ५॥

[पदार्थ अपने रूप में इसलिए रहता है कि उसमें कणों को जोड़े रहने वाली प्रवृत्ति (वाइन्डिंग टैण्डेन्सी) सक्रिय होती है। भस्म बनने पर उसका वह रूप समाप्त हो जाता है; क्योंकि उसकी वह बाँधे रहने वाली क्षमता समाप्त हो जाती है। पशुपति के रूप में वही आदि सत्ता जीव को काया के साथ बाँधे रहती है तथा ब्रह्मरूप में वही सत्ता बाँधे रहने की प्रवृत्ति से मुक्त रहती है, इसीलिए परब्रह्म को रूप, गुण के बन्धन से मुक्त भस्मरूप कहा गया है।]

योऽग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये। यो रुद्रोऽग्नौ यो रुद्रोप्स्वन्तर्यो रुद्र ओषधीर्वीरुध आविवेश। यो रुद्र इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः। यो रुद्रोऽप्सु यो रुद्र ओषधीषु यो रुद्रो वनस्पतिषु। येन रुद्रेण जगदूर्ध्वं धारितं पृथिवी द्विधा त्रिधाधर्ता धारिता नागा येऽन्तरिक्षे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः। मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयन् पवमानोऽधि शीर्षतः। तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुज्झितः। तत्प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्तमथो मनः। न च दिवो देवजनेन गुप्ता नचान्तरिक्षाणि न च भूम इमाः। यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं यस्मादन्यन्न परं किंचनास्ति। न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत्। सहस्त्रपादेकमूर्धा व्याप्तं स एवेदमावरीवर्ति भूतम्। अक्षरात्संजायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान्रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजाः। उच्छ्वसिते तमो भवति तमस आपोऽप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनो भवति, फेनादण्डं भवत्यण्डाद्ब्रह्मा भवति, ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकार ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति। अर्चयन्ति तपः सत्यं मधु क्षरन्ति यद्ध्रुवम्। एतद्धि परमं तप आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों नम इति ॥ ६ ॥

जो रुद्र, अग्नि और जल में निवास करते हैं। वे ही ओषधियों और वनस्पतियों में भी प्रविष्ट हो गये हैं। जिनके द्वारा यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है, उन अग्नि रूप रुद्र को नमन है। जो रुद्रदेव, अग्नि, ओषधियों तथा वनस्पतियों में वास करते हैं और जिनके द्वारा विश्व और समस्त भुवनों का सृजन किया जाता है, उन्हें नमस्कार है। जो रुद्रदेव जल, वनस्पतियों और ओषधियों में विराजमान हैं, जिनके द्वारा यह समस्त जगत् धारण किया गया है, जो रुद्र द्विधा (शिव और शक्ति) तथा त्रिधा (सत्, रज, तम) से इस पृथिवी को संचालित करते हैं, जिनने नागों (बादलों) को अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित कर रखा है, उन्हें नमन है। भगवान् रुद्र की प्रणवरूप मूर्धा की उपासना करने वाले अथर्वा की उच्च स्थिति प्राप्त करते हैं और उपासना न करने वाले निम्न स्थिति में ही रहते हैं। समस्त देवताओं का सामूहिक स्वरूप रुद्र भगवान् का सिर ही है। उनका प्राण मन और मस्तक का रक्षक है। पृथिवी, आकाश अथवा स्वर्ग का संरक्षण करने में देवता स्वयं समर्थ नहीं हैं। सभी कुछ रुद्र भगवान् में ही समाहित है, उनसे परे कुछ भी नहीं है, उनसे पूर्व भी कुछ नहीं था। उनसे पूर्व भूतकाल में और उनसे आगे (भविष्यत्काल) में भी कुछ नहीं है। सहस्त्रपद और एक मस्तक वाले रुद्र समस्त भूतों में संव्याप्त हैं।

[रुद्र का संकल्प निर्धारण एक ही है। अस्तु, उन्हें एक सिर वाला कहा गया है। उनकी गतिशीलता के हजारों पक्ष हैं, इसलिए उन्हें सहस्त्रपाद कहा गया है।]

अक्षर से काल की उत्पत्ति होती है और काल से वह व्यापक कहलाता है। व्यापक और शोभायमान रुद्र जब शयन करने लगते हैं, तब समस्त प्रजा (प्राणि समुदाय) का संहार हो जाता है। जब भगवान् रुद्र श्वास लेते हैं, तो तम उत्पन्न हो जाता है। तम से आपः तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। उस आपः को (रुद्र द्वारा) अपनी अङ्गुली द्वारा मथे जाने पर शिशिर (आपः तत्त्व का जमा हुआ गाढ़ा रूप) उत्पन्न होता है। उस शिशिर के मथे जाने पर फेन उत्पन्न होता है, फेन से अण्डा और अण्डे से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् ब्रह्मा से वायु और वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री प्रकट होती हैं। सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों का उद्भव

होता है। जब वे (रुद्र) तप करते हैं, तब सत्यरूपी मधु क्षरित होता है, जो शाश्वत होता है। यह परम तप है। आप:, ज्योति:, रस, अमृत, ब्रह्म, भू:, भुव: और स्व: रूप परब्रह्म को नमस्कार है॥ ६॥

[इस कण्डिका में आप: का अर्थ जल करना उचित नहीं है। वेद में आप: को सृष्टि का मूल क्रियाशील तत्त्व कहा गया है। आप: की उसी अवधारणा से मन्त्र का भाव स्पष्ट होता है। इसी प्रकार शिशिर का अर्थ ऋतु विशेष यहाँ उचित नहीं है। शिशिर का अर्थ जमा हुआ भी होता है, इसी भाव से मन्त्रार्थ स्पष्ट होता है। गाढ़े आप: तत्त्व को मथने से फेन अर्थात् फूला हुआ पदार्थ पैदा होता है। वेद और विज्ञान दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि प्रारम्भिक मूल पदार्थ का घनत्व अत्यधिक था। उसे फुलाकर हलका करने पर ही वह सृष्टि के योग्य बना। ब्रह्माण्ड फेन रूप ही है। इसी प्रकार अण्ड का अर्थ अण्डा नहीं ब्रह्माण्ड ही उचित है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सृजनशील 'ब्रह्मा' का विकास होता है, तब दृश्य सृष्टि बनती है। वायु से ओंकार की उत्पत्ति भी विवेक सम्मत है। ओंकार एक ध्वनि विशेष है। ध्वनि की उत्पत्ति वायु से ही होती है। इसी क्रम से ऋषि ने सृष्टि के विकास के चरण स्पष्ट किये हैं।]

य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रिय: श्रोत्रियो भवति अनुपनीत उपनीतो भवति सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स सूर्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति स सर्वैर्वेदैरनुध्यातो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति तेन सर्वै: क्रतुभिरिष्टं भवति गायत्र्या: षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आ चक्षुष: पङ्क्तिं पुनाति। आ सप्तमात्पुरुषयुगान्पुनातीत्याह भगवानथर्वशिर: सकृज्जप्त्वैव शुचि: स पूत: कर्मण्यो भवति। द्वितीयं जप्त्वा गणाधिपत्यमवाप्नोति। तृतीयं जप्त्वैवमेवानुप्रविशत्यों सत्यमों सत्यम्॥ ७॥

जो ब्राह्मण इस अथर्वशिर उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय न हो, तो भी श्रोत्रिय हो जाता है। अनुपवीत व्यक्ति, उपवीत सम्पन्न हो जाता है। वह अग्नि के समान, वायु के समान, सूर्य के समान, सोम के समान और सत्य के समान पवित्र हो जाता है। वह समस्त देवों का ज्ञाता, समस्त वेदों का अध्येता और समस्त तीर्थों का स्नातक हो जाता है, वह समस्त यज्ञों के पुण्य का फल तथा साठ हजार गायत्री मन्त्र के जप का फल प्राप्त करता है। उसे इतिहास और पुराणों के अध्ययन का, एक लक्ष रुद्र के जप का तथा दस हजार प्रणव के जप का प्रतिफल प्राप्त होता है। उसका दर्शन पाकर लोग पवित्र हो जाते हैं। वह अपने पूर्व की सात पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। भगवान् ने कहा कि अथर्वशिर के एक बार के जप से साधक पवित्र होकर कल्याण कर्म का अधिकारी बन जाता है। दूसरी बार जप करने से गाणपत्य पद प्राप्त करता है तथा तृतीय बार जप करने से वह सत्यरूप ओंकार में प्रविष्ट हो जाता है। यह सत्यरूप ओंकार ही (त्रिकाल) सत्य है॥ ७॥

ॐ भद्रं कर्णेभि:..........इति शान्ति:॥

॥ इति अथर्वशिर उपनिषत्समाप्ता॥

॥ अध्यात्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें अपने नाम के अनुरूप आत्म तत्त्व के साक्षात्कार का विषय प्रतिपादित है। अज (अजन्मा) रूप में यह सभी चराचर घटकों में संव्यास है; किन्तु वे (प्राणी) इसे नहीं जानते। यह समझाते हुए 'सोऽहम्' एवं 'तत्त्वमसि' आदि सूत्रों के आधार पर शरीर और विकारों से ऊपर उठकर आत्म साधना में रत रहने का निर्देशन किया गया है। स्वप्न-सुषुप्ति आदि स्थितियों से ऊपर उठते हुए निर्विकल्प समाधि अवस्था में परमात्म तत्त्व से एक रस होने की बात कही गयी है। इस समाधि अवस्था को 'धर्ममेघ' कहकर उसी में सभी वृत्तियों को लीन करके मुक्ति अवस्था पाने का सुझाव दिया गया है। जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन करते हुए उस स्थिति में प्रारब्ध कर्म के भी समाप्त हो जाने की बात समझायी गयी है; लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उक्त अवस्था पाने के पूर्व किए गये कर्मों का प्रारब्ध फल अवश्य भोगना पड़ता है। इन्द्रिय वृत्तियों की तरह प्रारब्ध कर्म भी केवल देहाभिमानियों को ही बाँधते हैं। गुरु-अनुशासन का अनुगमन करके शिष्य को ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर उसका क्या प्रतिफल प्राप्त होता है, इसका वर्णन करते हुए इस औपनिषदीय ज्ञान के हस्तान्तरण की परम्परा बतायी गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-सन्ताप शान्त हों।

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यमस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः। अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि। अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया॥ १॥

शरीर के अन्दर स्थित हृदय रूपी गुहा में एक (अद्वितीय), अज (कभी जन्म न लेने वाला), नित्य (शाश्वत) निवास करता है। पृथिवी इसका शरीर है, यह पृथिवी के अन्दर रहता है; किन्तु पृथिवी इस (अज) को नहीं जानती। जल जिसका शरीर है, जो जल में निवास करता है, पर जल को उसका ज्ञान नहीं है। तेज

जिसका शरीर है, जो तेज के अन्तर्गत संचरित होता है, पर तेज जिसे (जिसका संचरित होना) नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, जो वायु के अन्दर संचरित होता है, पर वायु जिसे नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है, पर आकाश जिसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन में संचरित होता है, पर मन जिसे नहीं जानता। बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में निवास करता है, पर बुद्धि जिसे जानती नहीं। जिसका शरीर अहंकार है, जो अहंकार में निवास करता है, पर अहंकार जिसे जानता नहीं। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है, पर चित्त जिसे जानता नहीं। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में संचरित होता है, पर अव्यक्त जिसे जानता नहीं। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है,पर अक्षर जिसे जानता नहीं। जिसका शरीर मृत्यु है, जो मृत्यु में संचरित होता है, पर मृत्यु जिसे जानती नहीं—वही सर्वभूतों में स्थित उनका अन्तरात्मा है, वह निष्पाप है और वही एक दिव्य देवनारायण है। शरीर और इन्द्रियादि अनात्म विषय हैं। इनके विषय में 'मैं और मेरा का भाव' अध्यास (भ्रान्ति) मात्र है, इसलिए विद्वान् को चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा इस अध्यास (भ्रान्ति) को दूर करे॥ १॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्। सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्रात्ममतिं त्यजेत्॥२

अपने को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी मानकर स्वयं को प्रत्यगात्मा समझे। वह मैं ही हूँ। इस 'सोऽहम्' वृत्ति से अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों से आत्म बुद्धि का परित्याग कर दे॥ २॥

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्। शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥ ३

लोकानुवर्तन (संसार का अनुसरण) छोड़कर देहानुवर्तन भी त्याग देना चाहिए। देहानुवर्तन के पश्चात् शास्त्रानुवर्तन भी त्याग दे, इसके बाद आत्म-अध्यास (आत्म-भ्रान्ति) का भी परित्याग कर देना चाहिए॥ ३॥

[मनुष्य प्रारम्भ में लोक, देह, शास्त्र आदि के माध्यम से सत्यानुगमन का प्रयास करता है। जैसे-जैसे सत्य का स्वरूप समझ में आता रहता है, वैसे-वैसे स्थूल आधारों का सहारा लेने की आवश्यकता घटती जाती है। इस तथ्य को न समझने वाले लोग मर्यादाएँ तोड़ने लगते हैं। ऋषि का भाव मर्यादा त्याग नहीं, स्थूल आधारों से ऊपर उठने का है।]

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः॥ ४॥

सदा अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहकर युक्ति, श्रुति (श्रवण) और स्वानुभूति द्वारा सबको अपना ही आत्म स्वरूप जानकर योगी पुरुष का मन (संकीर्ण भाव) विनष्ट होता है॥ ४॥

[मन जब तक संकीर्णता से ग्रस्त रहता है, तब तक मेरे-तेरे के बचकाने भाव आते हैं। व्यक्तिगत संकीर्णता से योगी का मन मुक्त हो जाता है, वह समष्टि मन का अंग बन जाता है।]

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः। क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि॥ ५॥

निद्रा, लोकवार्ता, शब्दादि विषयों तथा आत्म विस्मृति का कभी अवसर न आने देकर आत्मा में आत्मा का चिन्तन करना चाहिए॥ ५॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः। त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव॥ ६॥

माता और पिता के मल (मैल) से उत्पन्न हुए इस शरीर को, जिसमें मल और मांस भरा है, इसे चाण्डाल के समान दूर करके (काया के साथ स्व के बोध को त्यागकर) ब्रह्मरूप होकर कृतार्थ हो॥ ६॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि। विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने॥ ७॥

हे मुने! महाकाश में घटाकाश के समान परमात्मा में आत्मा को विलीन (एकरूप) करके अखण्ड भाव से सदैव शान्त रहो॥ ७॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना। ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्॥ ८॥

स्वप्रकाशित, स्वयंभू और अधिष्ठान (ब्रह्म) रूप होकर ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का भी विष्ठा पात्र के समान परित्याग (उसके साथ स्वानुभूति का त्याग) कर देना चाहिए॥ ८॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम्। निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा॥ ९॥

शरीर के ऊपर आरूढ़ अहं बुद्धि को सदानन्द और चित्त स्वरूप आत्मा में लगाकर लिङ्ग (स्वज्ञानचिह्न) को छोड़कर सर्वदा केवल आत्मरूप हो (जाओ)॥ ९॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ॥ १०॥

हे निष्पाप! जिस प्रकार (छोटे से, किन्तु स्वच्छ) दर्पण में (विशाल) पुर (नगर) दिखाई देता है, उसी प्रकार अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा जानकर कृतार्थ हो (जाये)॥ १०॥

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते। चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः॥११॥

अहंकार से मुक्त हुआ पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। वह चन्द्रमा के समान विमल होकर पूर्ण सदानन्द और स्वप्रकाश बनता है॥ ११॥

क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः। वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते॥

(सांसारिक) क्रियानाश से चिन्ता विनष्ट होती है और चिन्तानाश से वासना का क्षय होता है। वासना का विनष्ट हो जाना मोक्ष है और इसे ही जीवन्मुक्ति भी कहते हैं॥ १२॥

सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनम्। सद्भावभावनादार्ढ्याद्वासनालयमश्नुते॥ १३॥

जो सर्वत्र सब तरफ सभी को मात्र 'ब्रह्म' रूप में देखता है और जिसकी सद्भावना दृढ़ हो गई है, उसकी वासना का लय हो जाता है अर्थात् वासना विनष्ट हो जाती है॥ १३॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन। प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः॥ १४॥

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करे, क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है (अपनी आत्मा के अनुसन्धान को छोड़कर जीवन बिताना प्रमाद है), ऐसा विद्या के ज्ञाता (विद्यावान्) ब्रह्मवादी कहते हैं॥ १४॥

यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति। आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्॥१५॥

जिस प्रकार शैवाल को पानी के ऊपर से कुछ हटा देने के बाद वह क्षण मात्र भी वहाँ नहीं ठहरती (और पूर्ववत् पानी को ढक लेती है), उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति भी यदि ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी हट जाये या दूर हो जाये, तो माया उसे आवृत कर लेती है॥ १५॥

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः। सामाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ॥१६॥

जिसे जीवित स्थिति में ही कैवल्यावस्था प्राप्त हो गयी हो, वह विदेह (देहरहित) होने पर केवल (ब्रह्म) ही रहेगा। इसलिए हे निष्पाप! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प (विकल्परहित) बनो॥ १६॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा। समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम्॥ १७॥

जिस समय निर्विकल्प समाधि से अद्वैत आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञान रूपा ग्रन्थि का पूर्णरूपेण विनाश और विलय हो जाता है॥ १७॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन्। उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत्॥ १८॥

आत्मत्व अर्थात् आत्मभाव को दृढ़ करके, अहंकारादि का परित्याग करके उनसे उसी प्रकार से उदासीन रहे, जिस प्रकार बरतन-वस्त्रादि के प्रति उदासीन भाव रखा जाता है॥ १८॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः। ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम्॥ १९॥

ब्रह्मा से स्तम्ब (तृण) पर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्या हैं, इसलिए सदा एक स्वरूप में अवस्थित रहने वाले अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना चाहिए॥ १९॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुःस्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः। स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन॥२०

स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं विश्व और स्वयं ही यह सब कुछ है। स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ २०॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः। स्वयमेव परंब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम्॥ २१॥

अपनी आत्मा में समस्त वस्तुओं का आभास (रस्सी में सर्प की तरह) केवल आरोपित है, उसका निराकरण (निरसन) कर देने से वह स्वतः पूर्ण, अद्वैत और अक्रिय (क्रियारहित) परब्रह्म बन जाता है॥ २१॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि। निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः॥ २२

एक ही आत्मा रूपी वस्तु में जो यह विकल्प (भेद) प्रतीत होता है, वह प्रायः मिथ्या है; क्योंकि निर्विकार, निराकार और निर्विशेष में भेद ही कहाँ है?॥ २२॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये। कल्पार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि॥ २३॥

वह चैतन्य (आत्मा) द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि भावों से शून्य है, जो निरामय (निर्दोष) तथा प्रलय - कालीन सागर की तरह परिपूर्ण है॥ २३॥

तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम्। अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः॥२४॥

जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अद्वितीय परम तत्त्व में भ्रान्ति का कारण भी विलुप्त हो जाता है। वह आत्मा अवयव रहित है, अस्तु, उसमें भेद कहाँ है? ॥ २४॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदकर्त्ता कथं वसेत्। सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः॥२५॥

एकात्मक परमतत्त्व में भेदकर्त्ता किस प्रकार रह सकता है? सुषुप्तावस्था में सुख मात्र है, उसमें भेद किसके द्वारा देखा गया है॥ २५॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन। अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि॥ २६॥

इस विकल्प (भेद) का मूल कारण चित्त है। यदि चित्त न हो, तो कोई भी विकल्प नहीं है। अतः प्रत्यग् रूप परमात्मा में अपने चित्त को समाधिस्थ (समाहित) कर दो॥ २६॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः। बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि॥ २७॥

अखण्डानन्द रूप आत्मा को अपना वास्तविक स्वरूप जानकर, सदा इस आत्मा में ही बाहर और अन्दर आनन्द रस का आस्वादन करो ॥ २७॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥२८॥

वैराग्य का फल बोध (ज्ञान) है, ज्ञान का फल उपरति (विषयों से विरत होना) है और उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से प्राप्त शान्ति है॥ २८॥

यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम्। निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः॥ २९॥

उपर्युक्त वस्तुओं में जो उत्तरोत्तर न हो, उससे पूर्व की वस्तु निष्फल है। विषयों से निवृत्ति ही परम तृप्ति है और आत्मा का आनन्द स्वयं ही अनुपम है॥ २९॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। पारोक्ष्यशबलःसत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः॥ ३०॥

मायारूप उपाधि से युक्त, जगत् का कारणरूप सर्वज्ञत्व आदि लक्षणों से युक्त, परोक्ष रूप से शबल (अर्थात् मायावेष्टित) ब्रह्म जो सत्यादि स्वरूप वाला है, वही 'तत्' शब्द से विख्यात है॥३०॥

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः। अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः॥३१॥

जो 'मैं' शब्द तथा प्रत्यय का आश्रय स्वरूप प्रतीत होता है, जिसका ज्ञान अन्तःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) 'त्वम्' शब्द से जाना जाता है॥३१॥

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः। अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते॥ ३२॥

ब्रह्म एवं जीव की क्रमशः माया और अविद्या—यह दो ऐसी उपाधियाँ हैं, जिनका परित्याग कर देने से अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म ही भासित होता है (दिखाई पड़ता है)॥ ३२॥

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्। युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥ ३३॥

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा उनके (जीव और ब्रह्म के एकत्व का) अर्थ और अनुसंधान करना 'श्रवण' है और जो कुछ सुना गया है, उसके अर्थ पर युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श करके अनुसंधान करना 'मनन' है॥ ३३॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥३४

श्रवण और मनन द्वारा सन्देह रहित हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतानत्व प्राप्त करना-यह 'निदिध्यासन' है॥ ३४॥

[ध्वनि का ऊँचा-नीचा, पैना या भारी होना उसके दोलन (फ्रीक्वेंसी) पर निर्भर करता है। समान दोलन वाले साज जब एक साथ बजते हैं, तो उसके स्वर एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। इसे ध्वनि दोलन का सुसंयोग (रैजोनेन्स ऑफ फ्रीक्वेंसी) कहते हैं। एकतानत्व का अर्थ यहाँ भावात्मक सुसंयोग (रैजोनेन्स) जैसा कुछ होना चाहिए।]

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्। निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥ ३५॥

इसके पश्चात् ध्याता और ध्यान का परित्याग करके ध्येय में ही चित्त को स्थापित करें। वायुरहित स्थान में रखे दीपक की तरह जब चित्त निश्चल बन जाए, यही समाधि है॥ ३५॥

वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः। स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः॥ ३६॥

समाधि की अवस्था में वृत्तियाँ केवल आत्मगोचर होती हैं, इसके कारण प्रतीत नहीं होतीं; किन्तु समाधि में से उठे हुए साधक की उन उन्नत वृत्तियों का स्मरण द्वारा अनुमान लगाया जाता है॥ ३६॥

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः। अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥ ३७॥

इस अनादि जगत् में करोड़ों कर्म एकत्र हो जाते हैं, किन्तु समाधि के द्वारा उनका विलय हो जाता है और शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है॥ ३७॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः। वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः॥ ३८॥

उत्तम कोटि के योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्ममेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ के समान ही धर्मामृत रूप सहस्रों धाराओं की वर्षा करती है॥ ३८॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते। समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये॥ ३९॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासते। करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते॥ ४०॥

(जब) इस समाधि के द्वारा वासना का जाल पूर्णरूपेण लय को प्राप्त हो जाता है एवं जब पुण्य-पाप नामवाला कर्मसमूह समूल रूप से विनष्ट हो जाता है, तब (तत्त्वमसि आदि) वाक्यों के माध्यम से पहले परोक्ष ज्ञान प्रतिभासित होता है और बाद में (वह) हस्तामलकवत् अपरोक्ष बोध (तत्त्वज्ञान) को प्रकट करता है॥

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः। अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः॥ ४१॥

(जब) भोगने योग्य पदार्थ की उपस्थिति में भी वासना उदित न हो, तब वैराग्य की स्थिति जान लेनी चाहिए और जब अहं भाव के उदय का अभाव हो जाए अर्थात् जब वैसी (अहंकार होने योग्य) परिस्थिति बन जाने पर भी अहं न आये, तब ज्ञान की परम स्थिति जाननी चाहिए॥ ४१॥

लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा। स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते॥ ४२॥

लीन वृत्तियाँ पुनः उदित न हों, तो वह उपरति की स्थिति समझनी चाहिए। इस स्थिति वाला यति 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है, जो सदा आनन्दानुभूति करता रहता है॥ ४२॥

ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः। ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनि॥ ४३॥
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते। सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४४॥

जिसका आत्मतत्त्व एकमात्र ब्रह्म में ही विलीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय हो जाता है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के अनुसंधान में लीन हुई वृत्ति जब विकल्प रहित (ऊहापोह रहित) और मात्र चैतन्य रूप बन जाती है, तब उसे प्रज्ञा कहते हैं। वह (प्रज्ञा) जिसमें सर्वदा विद्यमान रहती है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है॥ ४३-४४॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके। यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४५॥

शरीर और इन्द्रियों में जिसका अहं भाव न हो तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी जिसका ममत्व न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४५॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः। प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४६॥

जो जीव और ब्रह्म में तथा ब्रह्म और सृष्टि में भेद बुद्धि नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४६॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः। समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४७॥

सज्जनों द्वारा पूजे जाने पर और दुर्जनों द्वारा ताड़ित किये जाने पर भी जिसमें समभाव बना रहे, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४७॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः। अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः॥ ४८॥

जिसके द्वारा ब्रह्म तत्त्व जान लिया गया है, संसार के प्रति उसकी दृष्टि पूर्ववत् नहीं रहती। इसलिए यदि वह संसार को पूर्व के समान ही देखता है, तो यह जानना चाहिए कि वह अभी तक ब्रह्म भाव को समझा नहीं है और बहिर्मुख है॥ ४८॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते। फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो नहि कुत्रचित्॥ ४९॥

जब तक सुख आदि का अनुभव होता है, तब तक इसे प्रारब्ध भोग मानना चाहिए, क्योंकि कोई भी फल पूर्व में क्रिया करने के कारण ही उदित होता है। बिना क्रिया के कोई फल नहीं मिलता॥ ४९॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम्। संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्॥ ५०

जिस प्रकार जाग्रत् हो जाने पर स्वप्न रूप कर्म विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाने पर करोड़ों कल्पों से अर्जित (संचित) कर्म विलीन (नष्ट) हो जाते हैं॥ ५०॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा। न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः॥ ५१॥

योगी आकाश के सदृश अपने को असङ्ग और उदासीन जानकर भावी कर्मों में किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता॥ ५१॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते। तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैनैव लिप्यते॥ ५२॥

जिस प्रकार सुरा कुम्भ में स्थित आकाश, सुरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर रूपी उपाधि के साथ संयुक्त रहने पर भी आत्मा उसके गुण-धर्मों से प्रभावित नहीं होता॥ ५२॥

ज्ञानोदयात्पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति। अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥ ५३॥

जिस प्रकार छोड़ा हुआ बाण निर्धारित लक्ष्य को बेधता ही है, उसी प्रकार ज्ञानोदय होने से पूर्व (अज्ञान की स्थिति में) किये गये कर्म का फल अवश्य मिलता है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हो जाने से पूर्व जो कृत्य किये गये थे, उनका फल ज्ञान उत्पन्न हो जाने से विनष्ट नहीं होता॥ ५३॥

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ। न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥ ५४

बाघ समझकर (उसे मारने के लिए) छोड़ा गया बाण यह जान लेने पर कि 'यह बाघ नहीं गाय है', रुकता नहीं और वेगपूर्वक लक्ष्य वेध करता ही है, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्म का फल मिलता ही है॥ ५४॥

अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते। तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥ ५५॥

'मैं अजर और अमर हूँ', इस प्रकार अपने आत्मरूप को जो स्वीकार कर लेता है, वह आत्मरूप में ही स्थित रहता है, फिर उसे प्रारब्ध कर्म की कल्पना ही कैसे हो सकती है॥ ५५॥

प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः। देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः॥ ५६॥

प्रारब्ध कर्म उसी समय सिद्ध होता है, जब देह में आत्मभाव होता है; परन्तु देह में आत्मभाव रखना इष्ट नहीं है। अस्तु, देह के ऊपर आत्म बुद्धि का परित्याग करके प्रारब्ध कर्म का परित्याग करना चाहिए॥ ५६॥

प्रारब्धकल्पनाप्यस्य देहस्य भ्रान्तिरेव हि॥ ५७॥ अध्यस्तस्य कुतस्तत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः। अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः॥ ५८॥

देह के प्रति भ्रान्ति ही प्राणी के प्रारब्ध की परिकल्पना है और आरोपित अथवा भ्रान्त धारणा से जो कल्पित हो, वह सत्य कैसे हो सकता है? जो सत्य नहीं है, उसका जन्म कहाँ से हो और जिसका जन्म नहीं है, उसका विनाश कैसे हो? अस्तु, जो असत् है, उसका प्रारब्ध कर्म कैसे बने?॥ ५७-५८॥

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि। तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान्॥ ५९॥

यदि अज्ञान (देहासक्ति आदि) का पूर्ण विलय ज्ञान में हो जाये, तो फिर देह का अस्तित्व ही कैसे रह सकता है, ऐसी शंका जड़ (स्थूल) बुद्धि वाले ही करते हैं॥ ५९॥

समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः। न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम्॥ ६०॥

बहिर्मुखी दृष्टि वाले (अज्ञानियों) को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध की बात कहती है। ज्ञानियों के लिए या देहादि की सत्यता प्रकट करने के लिए प्रारब्ध का उल्लेख नहीं किया गया है॥ ६०॥

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्। सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम्॥ ६१॥
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्। अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम्॥ ६२॥
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्। अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्॥ ६३॥
सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम्। एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥ ६४॥

वस्तुतः परिपूर्ण, आदि-अन्तरहित, अप्रमेय, विकाररहित, सद्घन, चिद्घन, नित्य, आनन्दघन, अव्यय, प्रत्यग्, एकरस, पूर्ण, अनन्त, सब ओर मुख वाला, त्याग और ग्रहण न करने वाला, किसी आधार के ऊपर न

रहने वाला और किसी का आश्रय भी न लेने वाला, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म स्वरूप, निर्विकल्प, दोष-दुर्गुण रहित, अनिरूप्य (जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वरूप वाला), मन और वाणी द्वारा अगोचर, सत्समृद्ध, (सतोगुण की अधिकता वाला) स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अनीदृश (जिसकी किसी के साथ तुलना न की जा सके)—वह एक ही अद्वैत रूप ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ ६०-६४॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम्। ससिद्धः ससुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनात्मनि॥

इस प्रकार अपनी अनुभूति से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित जानकर (तू) सिद्ध हो और निर्विकल्प (विकल्प रहित) आत्मा से अपने को सुख पूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठित कर॥ ६५॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्। अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्॥ ६६॥

(गुरु के इस उपदेश से शिष्य को ज्ञान हो गया और वह कहने लगा -) जिस जगत् को अभी मैंने देखा था, वह कहाँ चला गया? किसके द्वारा वह हटा लिया गया? वह कहाँ लीन हो गया? बहुत आश्चर्य का विषय है कि अभी तो वह मुझे दिखाई पड़ रहा था, क्या वह अब नहीं है? ॥ ६६॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम्। अखण्डानन्दपीयूषपूर्ण ब्रह्ममहार्णवे॥ ६७॥

अखण्ड आनन्द रूप पीयूष से पूरित ब्रह्म रूप सागर में अब मेरे लिए क्या त्याग करने योग्य है? क्या ग्रहण करने योग्य है? अन्य कुछ है भी क्या? यह कैसी विलक्षणता है?॥ ६७॥

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्। स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः॥ ६८

यहाँ मैं न कुछ देखता हूँ, न सुनता हूँ और न ही कुछ जानता हूँ; क्योंकि मैं सदा आनन्द रूप से अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित हूँ और स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूँ॥ ६८॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमहं हरिः। प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः॥ ६९॥

मैं सङ्ग रहित हूँ,अङ्ग रहित हूँ, चिह्न रहित और स्वयं हरि हूँ। मैं प्रशान्त हूँ, अनन्त हूँ, परिपूर्ण और चिरन्तन अर्थात् प्राचीन से प्राचीन हूँ॥ ६९॥

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः। शुद्धो बोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः॥ ७०॥

मैं अकर्त्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी और अव्यय हूँ। मैं शुद्ध बोधस्वरूप और केवल सदाशिव हूँ॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ। अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ। घोराङ्गिरा रैक्वाय ददौ। रैक्वो रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत्॥ ७१॥

यह विद्या (सदाशिव) गुरु ने अपान्तरतम नामक (देवपुत्र) ब्राह्मण को दी थी। अपान्तरतम ने ब्रह्मा को दी थी। ब्रह्मा ने घोर आङ्गिरस को दी। घोर आङ्गिरस ने रैक्व को दी। रैक्व ने राम (परशुराम) को दी। राम ने समस्त प्राणियों के लिए प्रदान की। यह निर्वाण (प्राप्त करने) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद का आदेश है। इस प्रकार यह उपनिषद् (रहस्य विद्या) पूर्ण हुई॥ ७१॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इत्यध्यात्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ अवधूतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय है। इस उपनिषद् में सांकृति की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् दत्तात्रेय अवधूत स्थिति के स्वरूप और महत्ता का वर्णन करते हैं। अवधूत स्थिति में किस प्रकार श्रेष्ठ तत्त्व के समाहित होने से व्यक्ति धन्य हो जाता है, इसका वर्णन भी किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

अथ ह सांकृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ। भगवन्कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्म किं संसरणमिति। तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः॥१॥ अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते॥ २॥

सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेयजी के समीप जाकर पूछा- 'हे भगवन्! अवधूत कौन है? उसकी स्थिति किस तरह की होती है? उसका लक्षण किस प्रकार का होता है? तथा उसका संसार (सांसारिक व्यवहार) किस प्रकार का होता है?' उनके इन प्रश्नों को सुनकर परम कृपालु भगवान् दत्तात्रेयजी ने कहा- जो अक्षर अर्थात् अविनाशी (भावयुक्त) हो, वरण करने योग्य हो, संसार रूपी बन्धनों से रहित हो तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ बोध से युक्त हो, उसे ही अवधूत (अक्षर का 'अ', वरेण्य का 'व', धूतसंसारबन्धन का 'धू' तथा तत्त्वमस्यादि लक्ष्य का 'त' लेने से 'अवधूत') कहा जाता है॥ १-२॥

यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते॥ ३॥

जो योगी पुरुष आश्रम एवं वर्ण व्यवस्था से ऊपर उठकर आत्मा में ही सदैव स्थित रहता हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी पुरुष 'अवधूत' कहा जाता है॥ ३॥

तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः।
प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते॥४॥

उस (योगी) का प्रिय (ब्रह्म) ही सिर है, 'मोद' दायाँ बाजू और 'प्रमोद' बायाँ बाजू है तथा 'आनन्द' मध्य आत्मा है। उसकी (आत्मा की) स्थिति गाय के पैर के सदृश (चार-प्रिय, मोद, प्रमोद एवं आनन्द रूप) हो जाती है॥ ४॥

[यही प्रकरण तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५) में भी आया है।]

गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत्। एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम्॥ ५॥

उस सिर (हर्ष) में, अध: (मोद-प्रमोद) में तथा मध्य (आनन्द) में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए (आत्मा नहीं मानना चाहिए, तो किसे मानना चाहिए, इस पर कहते हैं कि) गोवाल (गौ की पूँछ) सदृश उस ब्रह्म की पुच्छ प्रतिष्ठा है, उस ब्रह्म को इसी पुच्छाकार में जानना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म को भलीप्रकार जानकर वे (योगीपुरुष) परमगति को प्राप्त करते हैं॥ ५॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः॥ ६॥

अमरत्व की प्राप्ति न तो विभिन्न कर्मों के द्वारा, न प्रजा के द्वारा और न ही धन के द्वारा होती है। एक मात्र त्याग के द्वारा ही अमरत्व को प्राप्त किया जा सकता है॥ ६॥

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम्। साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ। सदा सांग्रहण्येष्ट्याश्वमेधमन्तर्यागं यजते। स महामखो महायोगः॥ ७॥

अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करना ही उन योगियों का संसार है। उनमें से कितने ही तो वस्त्रों को धारण करते हैं और कितने ही दिगम्बर अर्थात् बिना वस्त्रों के ही रहते हैं। उन योगियों के लिए न कुछ धर्म है और न ही कुछ अधर्म है, पवित्र एवं अपवित्र आदि भी कुछ नहीं है। (इन्द्रियों को वश में करने के रूप में) सदा संग्रह की दृष्टि से वे (योगीजन) अन्तःकरण में (आत्मा का ध्यान रूप) अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं। यही उनका महायज्ञ और महायोग है॥ ७॥

[अन्तः स्थित परमात्म चेतना में बहिर्मुखी व्यक्त शक्ति धाराओं को समर्पित कर देना-विसर्जित कर देना ही आन्तरिक अश्वमेध कहा गया है। इसे ही महायज्ञ या महायोग भी कहा गया है।]

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म। स्वैरं न विगायेत्तन्महाव्रतम्। न स मूढवल्लिप्यते॥ ८॥

इस प्रकार उन योगियों का सम्पूर्ण चरित्र आश्चर्य युक्त होता है। उनके इस प्रकार के चित्र-विचित्र कर्मों की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यही उनका महाव्रत है। वे अज्ञानी मनुष्यों की भाँति (पाप-पुण्यादि में) लिप्त नहीं होते। वे सदैव निर्लिप्त भाव से इच्छानुसार विचरण करते रहते हैं॥ ८॥

यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः॥ ९॥

जिस प्रकार सूर्य सभी प्रकार के रसों को ग्रहण करता है तथा अग्नि सभी कुछ भक्षण कर लेता है, उसी प्रकार योगी पुरुष विषयादि भोगों का उपभोग करता हुआ भी शुद्ध होने के कारण पाप-पुण्यादि का भागीदार नहीं बनता॥ ९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ १०॥

जिस प्रकार चारों ओर से परिपूर्ण होने पर भी अचल प्रतिष्ठा (स्थिति) वाले समुद्र में जल प्रविष्ट होता है, वैसे ही योगी पुरुष सभी विषय-भोगों के रहने पर भी अचल रहता है और शान्ति को प्राप्त करता है। विषय-भोगों की इच्छा करने वाला कामना युक्त मनुष्य वैसी शान्ति नहीं प्राप्त करता॥ १०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ११॥

अतः सत्य बात तो यह है कि किसी का (निरोध) लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई आबद्ध

(बँधा) हुआ नहीं है, कोई साधक नहीं है, कोई (मुमुक्षु) अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने वाला नहीं है तथा कोई मुक्त भी नहीं है, यही वास्तविक स्थिति है॥ ११॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये। बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम्॥ १२॥
तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्। दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया॥ १३॥
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया। अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः॥ १४॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम्। व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा॥१५
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः। निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च॥१६
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात्। गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना। नान्यारोपितसंसार धर्मानेवमहं भजे॥ १७॥

इस लोक एवं परलोक के कृत्यों की सिद्धि के लिए, वैसे ही मुक्ति की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम मुझे बहुत कुछ करना अत्यन्त आवश्यक था; परन्तु अब यह सभी कुछ हो चुका है। इस तरह से हर एक योग का मुख्यरूप से अनुसंधान करता हुआ वह अवधूत इसी में कृतकृत्य होता हुआ सदैव तृप्त होता रहता है। (इसके पश्चात् वह ध्यान करता हुआ कहता है-) अज्ञानीजन पुत्रादि की इच्छा से अत्यन्त दुःखी होकर संसार के आवागमन में फँसते रहे; किन्तु मैं तो परम आनन्द से परिपूर्ण हूँ, तब फिर कौन सी इच्छा के कारण इस संसार में पुनः फसूँ? जिन्हें परलोक गमन की इच्छा हो, वे लोग चाहे उस इच्छा से भले ही कर्म किया करें; परन्तु मैं समस्त लोकों का आत्मा हूँ, सर्वलोकमय बन गया हूँ, तो फिर मैं कोई भी कर्म क्यों करूँ। जिन लोगों को इस बात का अधिकार हो, वे भले ही प्रवचन किया करें, चाहे वेदों को पढ़ाते रहें, किन्तु मुझे तो इसका अधिकार ही नहीं; क्योंकि मैं तो निष्क्रिय (क्रिया रहित) हूँ। मैं निद्रा की, भिक्षा की, स्नान अथवा शौच आदि की तनिक भी इच्छा नहीं करता। जो लोग द्रष्टा स्तर के हों, वे भले ही अन्य कोई कल्पना करें; परन्तु मुझे किसी अन्य की कल्पना करने से कोई लाभ नहीं। अन्य लोग गुञ्जा (चिरमिरी) की लालिमा के कारण उसमें भले ही अग्नि को प्रतिष्ठित करें, किन्तु इस अग्नि से गुञ्जा का ढेर नहीं जलता है। तब फिर मेरे अन्दर तो संसार के धर्म आरोपित ही नहीं ७, इस कारण मैं किसी का भी भजन नहीं करता॥ १२-१७॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः॥ १८॥

जो लोग तत्त्व को न जानते हों, वे भले ही कुछ भी श्रवण करें; किन्तु मैं (अवधूत) तो स्वयं ही तत्त्व को जानने में समर्थ हूँ। फिर किस लिए श्रवण करूँ ? जो लोग संशय में पड़े हों, वे मनन करें। मुझे तो किसी भी तरह का संशय ही नहीं है, इस कारण से मैं (अवधूत) मनन नहीं करता॥ १८॥

विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम्॥ १९॥

जिसको विपर्यास अर्थात् विपरीत ज्ञान हुआ हो, वह भले ही निदिध्यासन करे; परन्तु जहाँ पर विपर्यास ही नहीं, वहाँ पर ध्यान की आवश्यकता नहीं होती। शरीर को आत्मा मान लेने का विपर्यास मुझ (अव्रधूत) को नहीं होता। इस कारण निदिध्यासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती॥ १९॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्। विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते॥ २०॥

मैं मनुष्य हूँ, इस तरह का व्यवहार भी बिना विपर्यास (विपरीत ज्ञान) के नहीं होता। यह विपर्यास भी दीर्घकाल से अभ्यास में पड़ी वासना के कारण ही होता है॥ २०॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते। कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ २१ ॥

प्रारब्ध कर्मों के विनष्ट होने पर ही यह व्यवहार निवर्तित (बन्द) होता है; किन्तु प्रारब्ध कर्मों का नाश न हुआ हो, तब तक सहस्रों बार चिन्तन करने के बाद भी यह व्यवहार शान्त नहीं होता॥ २१ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते। बाधिकर्मव्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २२ ॥

यदि व्यवहार कर्म करने की इच्छा हो, तो तुम अपनी इच्छानुसार ध्यान करो; परन्तु मेरी दृष्टि में तो कर्मों का कोई व्यवहार ही नहीं, तो मैं किसलिए ध्यान करूँ॥ २२ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।

विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ २३ ॥

मुझे विक्षेप अर्थात् चित्त की अस्थिरता होती ही नहीं, इस कारण से मुझे समाधि-अवस्था की जरूरत ही नहीं पड़ती। जब यह मन विकारग्रस्त होता है, तब चित्त अस्थिर होता है और तभी समाधि की आवश्यकता होती है। मैं तो नित्य ही अनुभव रूप हूँ। समाधि में मुझे और क्या कुछ भिन्न अनुभव हो सकता है ?॥ २३ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्। कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥ २४॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा। ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्॥ २५

मुझे जो-जो करना है, वह-वह मैंने किया तथा जो कुछ भी प्राप्त करना है, वह सदा ही प्राप्त करता रहा। इस कारण लौकिक, शास्त्रीय या फिर अन्य किसी भी तरह का व्यवहार मुझे क्यों करना चाहिए? अतः मैं नहीं करता हूँ। मुझे किसी भी बात की लिप्तता नहीं है। सहज प्राकृतिक ढंग से जो होता है, उसी में रत रहता हूँ॥ २४-२५ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया। शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥ २६ ॥

अथवा मैं कृत-कृत्य (पूर्णकाम) हूँ, तब भी साधारण लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से यदि शास्त्राज्ञानुसार मैं चलता हूँ, तो इसमें मेरी क्या हानि है ?॥ २६ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः। तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम्॥ २७ ॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्। साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२८ ॥

देवताओं की स्तुति- अर्चना, स्नान, शौच, शिक्षा आदि में शरीर भले ही लगा रहे। वाणी ॐकार रूपी प्रणव को भले ही जपती रहे, उपनिषदों का पाठ भले ही होता रहे, बुद्धि सदैव भगवान् विष्णु का चिन्तन भले ही करती रहे या फिर भले ही (वह) ब्रह्मलीन रहे; किन्तु मैं तो केवल साक्षी रूप हूँ। मैं (अवधूत) इनमें से किसी भी काम को कभी भी नहीं करता हूँ और न करवाता ही हूँ॥२७-२८ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः। तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्॥ २९ ॥

मैं (अवधूत) कृत-कृत्य होने से पूर्ण तृप्त हूँ तथा जो कुछ भी मुझे प्राप्त करना था, वह सभी कुछ प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार से इस तृप्ति को ही मैं निरन्तर अपने मन में मानता रहता हूँ॥ २९ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।

धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥ ३० ॥

मैं धन्य हूँ-धन्य हूँ; क्योंकि मैं नित्य, अविनाशी अपने आत्म-तत्त्व को सहज रूप से ही जानता हूँ। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे ब्रह्म का आनन्द स्पष्टतया प्रकाश प्रदान करता है॥ ३० ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥ ३१॥ धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्। धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमत्र संपन्नम्॥ ३२॥ धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके। धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ३३॥ अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्। अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम्॥ ३४॥ अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्। अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः॥ ३५॥

मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मैं अब इस नाशवान् संसार का दुःख बिलकुल भी नहीं देखता। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मेरा अज्ञान कभी का (अर्थात् बहुत पहले ही) विनष्ट हो गया है। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे अब कुछ भी करना शेष नहीं है। मैं धन्य हूँ-मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे जो कुछ भी प्राप्त करना है, वह सभी कुछ मैंने यहीं पर पहले ही प्राप्त कर लिया है। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मेरी तृप्ति की क्या इस लोक में कोई उपमा है (अर्थात् कोई नहीं है)। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; मैं बारम्बार धन्य हूँ- धन्य हूँ। अहो पुण्य! अहो पुण्य!! इस पुण्य की सफलता दृढ़तापूर्वक फलीभूत हुई है। धन्य हैं हम सब। अहो ज्ञान! अहो ज्ञान!! अहो सुख! अहो सुख!! अहो शास्त्र! अहो शास्त्र!! अहो गुरु! अहो गुरु!! (वास्तव में सफल होने के कारण सब धन्यवाद के पात्र हैं)॥ ३१-३५॥

इति य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। ब्रह्महत्यात्पूतो भवति। कृत्याकृत्यात्पूतो भवति। एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयादोंसत्यमित्युपनिषत्॥ ३६॥

इस प्रकार जो भी मनुष्य इस उपनिषद् का पाठ करता है, वह कृत-कृत्य हो जाता है। मदिरापान करने वाला, सुवर्ण की चोरी करने वाला, ब्रह्महत्या करने वाला, कृत्याकृत्य (अर्थात् कार्य-अकार्य) करने वाला भी इसका (भावनापूर्वक) पाठ करने से पवित्र (श्रेष्ठ प्रकृतियों वाला) हो जाता है। मनुष्य इसका पाठ करने मात्र से पवित्र हो जाता है। मनुष्य इस तरह का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त अपनी इच्छानुसार (आत्म प्रेरणा से ही श्रेष्ठता-पवित्रता की दिशा में) प्रवृत्त हो जाता है। ॐ (ब्रह्म) ही सत्य है, यही उपनिषद् है॥ ३६॥

ॐ सह नाववतु.........इति शान्तिः॥

॥ इति अवधूतोपनिषत् समाप्ता॥

॥ आत्मपूजोपनिषद् ॥

इस उपनिषद् में काया में स्थित आत्म तत्त्व की-आत्मदेव की पूजा-उपासना की विधि समझायी गयी है। जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों को ही पूजा-आराधना बना लेने का कौशल समझाया गया है, इसी से मोक्ष प्राप्ति का कल्याणकारी पथ भी प्रशस्त होता है।

ॐ तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चलज्ञानमासनम्। समुन्मनीभावः पाद्यम्। सदामनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिराचमनीयम्। वराकृतप्राप्तिः स्नानम्। सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्धः। दृगविशिष्टात्मानः अक्षताः। चिदादीप्तिः पुष्पम्। सूर्यात्मकत्वं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। परमेश्वरस्तुतिर्मौनम्। सदासन्तोषो विसर्जनम्। एवं परिपूर्णराजयोगिनः सर्वात्मकपूजोपचारः स्यात्। सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति। सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीति मुमुक्षूणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति॥ इत्युपनिषत्॥

उस आत्म तत्त्व का सतत चिन्तन ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निराकरण ही आवाहन है। अविचल ज्ञान ही उसका आसन है। उस आत्म तत्त्व के प्रति सदा उन्मुख रहना ही पाद्य है। उस ओर सदैव मनोयोग ही अर्घ्य है। आत्मा की निरन्तर दीप्ति ही आचमन है। श्रेष्ठता की प्राप्ति ही उसका स्नान है। सर्वात्मक दृश्य का विलय (शून्य-लयसमाधि) ही गन्ध है। विशिष्ट नेत्र (अन्तर्नेत्र) ही अक्षत हैं। चित् (चैतन्य) दीप्ति ही पुष्प है। उस (आत्म तत्त्व) का सूर्यात्मकत्त्व ही दीपक है। पूर्ण चन्द्र और उसके अमृत रूपी रस का एकीकरण ही नैवेद्य है। उसकी सुनियोजित गतिशीलता ही प्रदक्षिणा है। उसका सोऽहम् (मैं वही ब्रह्म हूँ) भाव ही नमन है। मौन (अन्तर्मुखी) रहना ही उसकी स्तुति करना है। सदैव सन्तुष्ट रहना, उसका विसर्जन है। इस प्रकार परिपूर्ण राजयोगी का सर्वात्मक पूजा-उपचार ही उस आत्म तत्त्व का आधार है। समस्त आधि-व्याधियों से रहित मैं पूर्ण ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव रखने से ही मुमुक्षुओं (मोक्ष के अभिलाषियों) की मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा सिद्ध होती है। यही उपनिषद् (तत्त्वज्ञान) है।

॥ इति आत्मपूजोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ आत्मबोधोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसे आत्मप्रबोधोपनिषद् भी कहते हैं। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ॐकार रूप नारायण को नमस्कार करते हुए हृदय को ब्रह्मपुर और स्वप्रकाशित कहा गया है। हृदय में और सर्वत्र 'प्रज्ञारूप'-प्रज्ञानेत्र 'चेतन' का निवास बताया गया है। इस ज्ञान का महत्त्व तथा उसके प्रभाव से नित्य ज्योतित अमरलोक में आवास प्राप्त होने की बात कही गयी है। दूसरे अध्याय में आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर चुके साधक की अनुभूतियों का उल्लेख है। गन्ने के रस में व्याप्त शक्कर और समुद्र की लहरों की उपमा देकर ब्रह्म, जगत् और जीव की स्थितियाँ समझायी गयी हैं। आत्मानुभूति की इस अवस्था में सभी लौकिक सम्बन्धों तथा भेदभावों का अस्तित्व समाप्त हो जाने और जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाने की बात कही गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्य एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीते नाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

ॐ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणाय शङ्खचक्रगदाधराय तस्मात् ॐ नमो नारायणायेति मंत्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति॥१॥

स्वयं अपने आप में आनन्द स्वरूप विराट् ब्रह्म पुरुष 'अकार-उकार-मकार' से युक्त यह तीन अक्षरों वाला ॐकार रूप प्रणव का स्वरूप है। इसका जप करने से योगीजन सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। शंख, चक्र एवं गदा को धारण करने वाले परमात्मा स्वरूप नारायण के लिए नमस्कार है। 'ॐ नमो नारायणाय' नामक इस मन्त्र की उपासना करने वाला मनुष्य वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है॥ १॥

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तडिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम्॥ २॥

जो यह हृदय रूपी कमल है, वही ब्रह्मपुर है। केवल अकेला वही क्षेत्र विद्युत् अथवा दीपक के सदृश प्रकाशमान होता है॥ २॥

[आध्यात्मिक दृष्टि से भी हृदय क्षेत्र में दिव्य प्रकाश का बोध होता है तथा शरीर विज्ञान के अनुसार 'पेसमेकर' में भी हृदय को संचालित करने वाले स्पन्दन स्वतः ही उभरते रहते हैं। इन्हीं काय विद्युत् स्पन्दनों का अंकन ई.सी. जी. आदि यन्त्र करते हैं।]

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः॥ ३॥

देवकी पुत्र भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों का हित चाहने वाले हैं, (वे) मधुसूदन ब्राह्मणों का सदा हित करने वाले हैं, कमल के सदृश नेत्र वाले भगवान् विष्णु ब्राह्मणों के शुभचिन्तक हैं तथा वे अविनाशी भगवान् अच्युत ब्राह्मणों के प्रिय हैं॥ ३॥

विवेकयुक्तिबुद्ध्याहं जानाम्यात्मानमद्वयम्। तथापि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते॥ ११ ॥

मैं विवेक-बुद्धि से युक्त हूँ। मैं आत्मा को अद्वैत रूप में जानता हूँ, तब भी (शरीर रहते) बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहार वाला हूँ॥ ११ ॥

निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा। सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्॥ १२ ॥
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि। यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा॥ १३ ॥
अद्वयब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत्त्रयम्। ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः॥ १४ ॥
बुद्बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा। तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा॥ १५ ॥
विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः। दारिद्र्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम॥ १६ ॥
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्। विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्॥ १७ ॥
आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम्। घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति॥ १८ ॥
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति। न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः॥ १९ ॥

मेरी दृष्टि से प्रपञ्च निवृत्त (दूर) हो गया है, तब भी सर्वदा वह सत्य के सदृश प्रतिभासित होता है। निश्चय ही सर्प आदि में जिस प्रकार रस्सी का अस्तित्व है, उसी प्रकार ही प्रपञ्च का भी अस्तित्व है। केवल मात्र ब्रह्म सत्ता के आधार पर ही प्रपञ्च का व्यवहार है, यह जगत् तो है ही नहीं। जिस तरह शक्कर गन्ने के रस में व्याप्त है, उसी तरह ही अद्वैत ब्रह्म आनन्द रूप में तीनों लोकों में विद्यमान है। जिस प्रकार सागर में बुलबुले से लेकर तरंगें तक कल्पित हैं, उसी प्रकार मेरे द्वारा ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त प्राणिमात्र कल्पित हैं। जिस तरह समुद्र की तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करते, उसी तरह केवल आनन्द स्वरूप होने में मुझे विषयों के आनन्द की कोई भी इच्छा नहीं रहती। जिस तरह सम्पत्ति से सम्पन्न व्यक्ति को दरिद्रता की कोई संभावना नहीं रहती, उसी तरह ही ब्रह्म के आनन्द में निमग्न रहने वाले मुझको विषयों की कोई आशा नहीं रहती। बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार विष और अमृत को देख करके विष का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मैं आत्मा को देख करके अनात्मा का परित्याग कर देता हूँ। जैसे घट (घड़े) को प्रकाश देने वाला सूर्य घड़े के नष्ट होने से स्वयं नष्ट नहीं हो जाता, वैसे ही शरीर को प्रकाश देने वाला साक्षी–परमात्मा, शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। न मेरे लिए कोई बन्धन है और न ही मुक्ति, न मेरे लिए कोई शास्त्र है और न ही मेरा कोई गुरु॥ १२–१९ ॥

मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः। प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः॥ २० ॥
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत्। आत्मानमञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायितम्॥ २१ ॥

ये सब तो माया के विकास मात्र हैं तथा मैं (आत्मा) माया से परे स्वयं अद्वैत रूप हूँ। प्राण भले ही निकल जायें और मन चाहे अपने धर्मों एवं कामनाओं से विनाश को प्राप्त हो जाये; परन्तु आनन्द एवं बुद्धि की पूर्णता के कारण मुझे कैसे दुःख प्राप्त हो सकता है? मैं आत्मा को तो अनायास–सहज ही जानता हूँ, मेरा अज्ञान न मालूम कहाँ पलायन कर गया है॥ २०–२१ ॥

कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित्। ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः॥ २२ ॥
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि। क्षुत्पिपासान्ध्यबाधिर्यकाम-क्रोधादयोऽखिलाः॥ २३ ॥
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न सन्ति हि। जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः॥ २४ ॥

अब मेरा कर्तृत्व-भाव बिल्कुल नष्ट हो गया है तथा मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है। ब्राह्मण कुल- गोत्र, नाम की सुन्दरता एवं जाति का अस्तित्व तो मात्र स्थूल शरीर में ही होता है, मैं तो स्थूल पदार्थों से बिल्कुल पृथक् हूँ। क्षुधा (भूख), पिपासा (प्यास), अन्धापन, बहरापन, काम-क्रोध आदि सभी तरह के धर्म-लिङ्ग (चिह्न) आदि शरीर में स्थित रहते हैं, मैं तो इस लिंग शरीर से रहित हूँ। मुझमें इनमें से कोई भी विकार नहीं है। जड़ता, प्रियता और आनन्द मनाना आदि कारण शरीर के धर्म हैं॥ २२-२४॥

न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिण:। उलूकस्य यथा भानुरन्धकार: प्रतीयते॥ २५॥
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते। चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रै: सूर्यो नास्तीति मन्यते॥ २६॥
तथाऽज्ञानावृतो देही ब्रह्म नास्तीति मन्यते। यथामृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते॥ २७॥

मैं तो नित्य और निर्विकार स्वरूप से युक्त हूँ, अत: ये (उपर्युक्त) सभी मेरे धर्म नहीं हैं। जैसे उलूक (उल्लू) को सूर्य अन्धकार युक्त दिखाई देता है, वैसे ही मूढ़ (अज्ञानी) मनुष्य को स्वयं प्रकाश स्वरूप परमानन्द में अज्ञान दृष्टिगोचर होता है। जैसे बादलों के कारण चारों ओर से दृष्टि के रुक जाने से लोग समझने लगते हैं कि सूर्य नहीं है, वैसे ही मूढ़ता से आवृत प्राणी यह मान लेता है कि ब्रह्म है ही नहीं। जिस प्रकार से अमृत विष से अलग है, इस कारण विष के दोषों से वह दूषित नहीं होता, उसी प्रकार मैं (आत्मा) जड़ से भिन्न हूँ। अत: जड़ के दोषों का मुझमें स्पर्श नहीं होता॥ २५-२७॥

न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषान् प्रकाशत:। स्वल्पापि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तम:॥२८॥
स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशयेत्तथा। कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि॥ २९
अहंकारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वय:। चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ॥ ३०॥

जैसे दीपकणिका अर्थात् दीपक की छोटी सी ज्योति भी बहुत बड़े अन्धकार को विनष्ट कर देती है, वैसे ही थोड़े से ज्ञान का प्रकाश भी घने अन्धकार रूपी अज्ञान को विनष्ट कर देता है। जैसे रस्सी में तीनों कालों में कभी भी सर्प नहीं है, वैसे ही अहंकार से लेकर शरीर तक का संसार मेरे अन्दर तीनों काल में नहीं है, मैं तो केवल अद्वैत रूप में ही हूँ। मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, इसलिए मुझ में जड़ता नहीं है। मैं सत्य स्वरूप हूँ, इस कारण मुझ में झूठ नहीं है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ ॥ २८-३०॥

आनन्दत्वान्न मे दु:खमज्ञानाद्भाति सत्यवत्। आत्मप्रबोधोपनिषन्मुहूर्तमुपासित्वा न स पुनरावर्तते। न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत्॥ ३१॥

आनन्द स्वरूप होने के कारण मुझ में दु:ख नहीं हैं। ये सभी (जगत्प्रपंच) तो केवल अज्ञान से ही प्रतिभासित होते हैं। इस आत्मप्रबोध उपनिषद् का जो व्यक्ति कुछ क्षण भी उपासना (साक्षात्कार प्राप्त) कर लेता है, वह पुन: इस संसार में नहीं आता है, ऐसी यह उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ ३१॥

ॐ वाङ्मे मनसि.................. इति शान्ति:॥

॥ इत्यात्मबोधोपनिषत्समाप्ता॥

॥ आत्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। नाम के अनुसार इस उपनिषद् में आत्म तत्त्व की विभिन्न स्थितियों-आत्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा को स्पष्ट किया गया है। शरीर एवं इन्द्रियादि में सक्रिय चेतन को आत्मा, प्रकृति के विभिन्न घटकों, पंचतत्त्वों आदि में संव्याप्त को अन्तरात्मा तथा इन सब घटकों से परे चेतन प्रवाह को परमात्मा-ब्रह्म कहा गया है। सूर्य जैसे राहुग्रस्त दिखता है; पर होता नहीं, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानग्रस्त दिखता है; पर होता नहीं, यह कहकर ऋषि ने सूर्यग्रहण के तथ्य के साथ ही जीवन के तथ्य को भी उजागर किया है। रस्सी में सर्पबोध तथा सर्प का केंचुली से मुक्त होने के उदाहरणों से संसार रूपी भ्रमों और आत्मा की सहज मुक्तावस्था को समझाया गया है। ब्रह्म को सभी उपमाओं, सम्बोधनों और शब्दार्थों से परे सिद्ध किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथाङ्गिरास्त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति ॥ १-क ॥

अङ्गिरा (अंग, अंगी, अंग-ज्ञ आदि दृष्टि से) पुरुष (परमात्मा) त्रिविध 'आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा' रूप में प्रादुर्भूत (प्रकट) हुआ ॥ १-क ॥

त्वक् चर्ममांसरोमाङ्गुष्ठाङ्गुल्यः पृष्ठवंशनखगुल्फोदरनाभिमेढ्रकट्यूरुकपोलश्रोत्र भ्रूललाटबाहुपार्श्वशिरोधमनिकाऽक्षीणि भवन्ति जायते म्रियत इत्येष बाह्यात्मा ॥ १-ख ॥

(अब क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप वर्णित कर रहे हैं-) जो त्वक् (त्वचा), चर्म, मांस, रोम (बाल), अँगूठा, अँगुलियों , पीठ (पृष्ठभाग), नख, गुल्फ (टखनों), उदर (पेट), नाभि, जननेन्द्रिय, कटि (कमर), जंघा, कपोल, भौंह, मस्तक, भुजाओं, पार्श्वभाग, सिर एवं आँखों आदि (स्थूल शरीर) के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र में घूमता है, वह आत्मा है ॥ १-ख ॥

अथान्तरात्मा नाम पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशेच्छाद्वेषसुखदुःखकाममोह विकल्पनादिभिः स्मृतिलिङ्ग उदात्तानुदात्तह्रस्वदीर्घप्लुतस्खलितगर्जितस्फुटितमुदितनृत्तगीतवादित्रप्रलय विजृम्भितादिभिः श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः पुराणन्याय - मीमांसाधर्मशास्त्राणीति श्रवणघ्राणाकर्षणाकर्मविशेषणं करोत्येषोऽन्तरात्मा ॥ १-ग ॥

अन्तरात्मा (दृश्य पदार्थों में अव्यक्त रूप से स्थित अन्तर्यामी चेतन) वह है, जो पृथ्वी, जल, सुख-दुःख आदि (गुण), काम, मोह, तर्क-वितर्क आदि, स्मृति, लिंग, उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि (स्वर भेद), स्खलित, गर्जित (मेघ शब्द), स्फुटित, मुदित, नृत्य, गीत, वादित (आदि ध्वनि रूप), प्रलय, विजृम्भण (विकास) आदि के द्वारा श्रवण करने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कार्य करने वाला, विज्ञानात्मा, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि जो धर्मशास्त्रों का ज्ञाता, श्रवण, घ्राण (सूँघना), आकर्षण एवं कार्य विशेष को पूर्ण करता है ॥ १-ग ॥

अथ परमात्मा नाम यथाक्षर उपासनीयः। स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकं वटकणिका वा श्यामाकतण्डुलो वा वालाग्रशतसहस्रविकल्पनाभिः स लभ्यते नोपलभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यति न कम्पते न भिद्यते न च्छिद्यते निर्गुणः साक्षीभूतः। शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो निरञ्जनो निर्विकारः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकाङ्क्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्यो निर्वर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि। निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति॥ १-घ॥

परमात्मा नाम से सम्बोधित अक्षर (अविनाशी या ॐकार रूप में) आराध्य है। वह (परमात्मा) प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग, अनुमान, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा; वट कणिका (वट वृक्ष के सूक्ष्म बीज), श्यामाक-तण्डुल (सावाँ के सूक्ष्म चावल) तथा अत्यन्त सूक्ष्म बाल के अग्रभाग के सैकड़ों-हजारों हिस्सों से भी अति सूक्ष्म; इस प्रकार से चिन्तन किया जाता हुआ प्राप्त भी होता है और नहीं भी होता है। वह न कभी प्रकट होता है और न ही मरता है, न शुष्क होता है, न आर्द्र होता है, न चलायमान है, न कम्पन करता है, न टूटता है, न स्थिर रहता है, वह तो गुणों से रहित, सर्व प्रमाण भूत, शुद्ध स्वरूप, अवयवरहित आत्मा केवल, सूक्ष्म, निर्मल, निरंजन, विकारहीन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धहीन, ज्ञान से रहित, कल्पना रहित, आकांक्षा से रहित, सर्वत्र व्याप्त, अचिन्त्य एवं इस प्रकार का परमात्मा है कि जिसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं किया जा सकता। (वह) अशुद्ध-अपवित्र को शुद्ध-पवित्र करता है, वह क्रियारहित है, उस परमात्मा का कोई संसार नहीं है अर्थात् संसार रहित है॥ १-घ॥

[संसार का अर्थ (संसरति इति संसारः) गतिशील या परिवर्तनशील होता है। परमात्मा एक रूप रहने वाला होने से उसका कोई संसरण नहीं होता; इस भाव से उसे संसार रहित कहा गया है। अगले मन्त्रों में उस आत्म तत्त्व का स्वरूप दृष्टिगत होने पर सब जगह उस परमात्मतत्त्व-ब्रह्म के ही भासित होने की बात कही गई है।]

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा। ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते॥ १-ङ॥

'आत्मा' नामक वह परमपवित्र, कल्याणकारी, एकमात्र, अद्वैत, ब्रह्मरूप होने के कारण केवल ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है॥ १-ङ॥

जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते। विद्याऽविद्यादिभेदेन भावाऽभावादिभेदतः॥ २॥

इस जगत् के रूप में ब्रह्म ही परिलक्षित होता है। विद्या-अविद्या, भाव-अभाव आदि के भेद से जो भी दृष्टिगोचर होता है, वह अविनाशी ब्रह्म का ही रूप है॥ २॥

गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते। ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने॥ ३॥

गुरु एवं शिष्य आदि के भेद से ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में यदि देखा जाए, तो यत्र-तत्र-सर्वत्र वह शुद्ध प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही है॥ ३॥

न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम्। सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम्॥ ४॥

वस्तुतः न तो विद्या है और न ही अविद्या है, न जगत् है और न ही अन्य कोई वस्तु सत्य है; लेकिन सत्यरूप में जगत् का भान होना ही इस (संसार) का प्रवर्तक (इस प्रकृति का मूल कारण) है॥ ४॥

असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम्। घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्षते॥ ५॥

यह (संसार) असत्य है, यह भान होना ही इसका निवर्तक (मुक्तिदाता) है, जैसे सामने रखे हुए घट (घड़े) के ज्ञान के लिए कोई भी अन्य नियम (प्रमाण) अपेक्षित नहीं है (वह तो प्रत्यक्ष ही है)॥ ५॥

विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः। अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते॥ ६॥

जिस प्रकार से प्रत्येक सामने स्थित पदार्थ का ज्ञान बिना ही प्रमाण के हो जाता है, ठीक उसी प्रकार नित्य-सिद्ध यह आत्मा प्रमाणित (प्रत्यक्ष) होकर ही प्रतिभासित (प्रकाशित) होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का ब्रह्ममय रूप होने के कारण ब्रह्म के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रहती है॥ ६॥

न देशं नापि कालं वा न शुद्धिं वाप्यपेक्षते। देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम्॥ ७॥

जिस प्रकार देवदत्त आदि नाम के प्रति विज्ञानी (पुरुष) निरपेक्ष (पूर्ण आश्वस्त) हो जाता है, उसी प्रकार वह (आत्मतत्त्व) देश, काल अथवा किसी भी तरह की पवित्रता की अपेक्षा नहीं रखता॥ ७॥

तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम्। भानुनेव जगत्सर्वं भास्यते यस्य तेजसा॥ ८॥

उसी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले का ब्रह्माहम् (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा समझना ही ब्रह्म का साक्षात्कार (प्रत्यक्षानुभूति) है। जिस तरह सूर्य से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, उसी तरह ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म के तेज से प्रकाशित होता है॥ ८॥

अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम्। वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि। येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत्॥ ९॥

उस ब्रह्म के प्रत्यक्ष सिद्धत्व में अन्य कोई साक्ष्य देना अनात्मक, असत् एवं तुच्छ है, उसका अवभासक (बोध कराने वाला) कौन है? (अर्थात् कोई नहीं।) वेद, शास्त्र, पुराण एवं समस्त भूत (प्राणि - जगत्) जिसके माध्यम से अर्थवान् हैं, वह (ब्रह्म) तो स्वयं प्रकाशित है॥ ९॥

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि॥ १०॥ तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी। कामान्निष्कामरूपी संचरत्येकचरो मुनिः॥ ११॥

जिस प्रकार बालक भूख अथवा शरीर की किसी भी तरह की पीड़ा-परेशानी को त्याग कर (अर्थात् भूलकर) आकर्षक वस्तुओं (खिलौनों) के साथ क्रीड़ा करता रहता है, उसी प्रकार ही विद्वज्जन ममता-रहित, अहंकाररहित, सुखी रहते हुए ब्रह्म में ही रमण किया करता है। वह (आत्मज्ञानी) सभी तरह की इच्छाओं से मुक्त होकर मुनिरूप में एकान्तवासी होकर विचरण करता रहता है॥ १०-११॥

स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः। निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः॥ १२

स्वयं अपनी ही आत्मा से सदा सन्तुष्ट तथा अपने को सर्वत्र स्थित मानता हुआ (लौकिक दृष्टि से) निर्धन भी सदैव सन्तुष्ट एवं असहाय भी अपने को महाबलवान् समझता है॥ १२॥

नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः। कुर्वन्नपि न कुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि॥ १३॥

वह किसी भी तरह का भोजन न ग्रहण करता हुआ भी नित्य तृप्त रहता है, देखने में असमान व्यवहार करता हुआ भी सबको बराबर देखने वाला, कार्य करता हुआ भी काम न करता हुआ-सा तथा फल का उपभोग करता हुआ भी भोगरहित माना जाता है॥ १३॥

मन्त्र क्र० १५-१६ में ऋषि यह बात स्पष्ट करते हैं कि सूर्य (ग्रहण या बादलों के कारण) अन्धकार ग्रस्त दिखता भर है; किन्तु वास्तव में वह ग्रसित होता नहीं है। जन सामान्य को समझने के लिए कहे गये बाल सुलभ उदाहरणों के आधार पर किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि शास्त्र विज्ञान सम्मत नहीं हैं-

शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः। अशरीरं सदा सन्तमिदं ब्रह्मविदं क्वचित्॥ १४॥ प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे। तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः॥ १५॥

ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम्। तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम्॥ १६॥
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात्। अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ॥ १७॥

वह आत्मा शरीर में रहते हुए भी अशरीरी है, वह परिच्छिन्न (शरीर में आबद्ध) रहता हुआ भी सर्वत्र गमनशील अर्थात् व्याप्त है। इसलिए शरीररहित उस ब्रह्मज्ञानी को कहीं पर भी प्रिय तथा अप्रिय ज्ञान स्पर्श नहीं करता (अर्थात् वह आत्मा किसी को प्रिय या अप्रिय नहीं समझता), शुभ एवं अशुभ उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। जिस प्रकार लोगों के द्वारा सूर्य राहु से ग्रसित न होने पर भी ग्रसित मान लिया जाता है, लोग भ्रान्तिवश उसे ग्रसित मानते हैं; क्योंकि उन्हें वस्तु-स्थिति का पता नहीं होता। उसी प्रकार शरीरादि के बन्धनों से मुक्त श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को शरीरी के रूप में मानने वाले मूढ़ (वज्रमूर्ख) समझे जाते हैं; वास्तव में वह ब्रह्मज्ञानी (आत्मा) साँप की केंचुली के सदृश शरीर से सर्वथा मुक्त रहता है॥ १४-१७॥

इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किंचित्प्राणवायुना। स्रोतसा नीयते दारु यथानिम्नोन्नतस्थलम्॥ १८॥

यह शरीर प्राण वायु के द्वारा ही इधर-उधर संचालित किया जाता है, जैसे झरने-नदी आदि के स्रोतों द्वारा लकड़ियों को ऊपर-नीचे ले जाया जाता है॥ १८॥

दैवेन नीयते देहो तथा कालोपभुक्तिषु। लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केव-लात्मना॥१९॥
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः। जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः॥ २०॥

जैसे दैव (भाग्य) के द्वारा देह कालोपभोग (सुख-दुःख आदि उपभोगों) में ले जाई जाती है, ऐसे जो केवल अपनी आत्मा के सहारे लक्ष्य-अलक्ष्य की गति को त्यागकर स्थिर हो जाता है, वह (आत्मानुभूतियुक्त साधक) ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ साक्षात् भगवान् शिव ही है। शिवस्वरूप वह कृतार्थ ब्रह्मज्ञानी जीवित रहते हुए भी मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है॥ १९-२०॥

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सद्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम्। शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान्॥ २१॥

यह (आत्मा), उपाधि (शरीरादि) के विनष्ट हो जाने पर ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है, जिस तरह विविध वेश को धारण करने पर व्यक्ति नट आदि के रूप में समझा जाता है तथा अपने वास्तविक रूप में आ जाने पर वही (पूर्व जैसा) व्यक्ति समझा जाता है॥ २१॥

तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः। घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्॥ २२॥

उसी तरह ही ब्रह्म को जानने वाला भी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। केवल शरीरादि (वेश) के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः वह ब्रह्म ही है, उससे भिन्न अन्य और कुछ भी नहीं है। जैसे घट के फूट जाने पर घट के अन्दर का आकाश-आकाश रूप ही हो जाता है॥ २२॥

तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्। क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले॥ २३॥
संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्यात्मविन्मुनिः। एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम्॥२४॥
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः। सदात्मकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ॥ २५॥

वैसे ही उपाधि अर्थात् शरीरादि के विलय हो जाने के पश्चात् ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म रूप ही हो जाता है। जिस तरह दुग्ध में दुग्ध, तेल में तेल और जल में जल मिला देने पर एक हो जाते हैं; ठीक उसी तरह आत्मज्ञानी मुनि एवं आत्मा की स्थिति भी एक ही है। इस प्रकार विदेह रूप कैवल्य-पद की प्राप्ति के पश्चात् सन्मात्र अखण्डित विग्रहवान् ब्रह्मभाव की प्राप्ति करके पुनः संसारावर्तन (आवागमन) से मुक्त हो जाता है; क्योंकि सदात्मकत्व विज्ञान से उसकी अविद्या दग्ध हो जाती है॥ २३-२५॥

अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः। मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ॥२६

ऐसे यति के ब्रह्मरूप हो जाने पर यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्म का पुनः उद्‌भव हो। माया के द्वारा रचित बन्धन और मोक्ष वस्तुतः उस ब्रह्म में नहीं हुआ करते॥२६ ॥

यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ। आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ॥२७॥

जिस प्रकार निष्क्रिय रस्सी में सर्प का बोध हो जाने पर यदि वह (सर्पाभास) पुनः समाप्त हो जाता है, तो फिर केवल-मात्र रस्सी ही आभासित होने लगती है। उसी प्रकार आवरण के सत् और असत् भाव को ही बन्धन और मोक्ष कहना चाहिए॥ २७॥

नावृतिर्ब्रह्मणःकाचिदन्याभावादनावृतम्। अस्तीति-प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि॥ २८॥
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः। अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ॥२९ ॥

ब्रह्म का कोई भी आवरक नहीं होता। वह अन्य के अभाव के कारण अनावृत है। वस्तु के होने या न होने के विषय में जो कुछ भी विश्वास किया जाता है,ये तो वस्तुतः बुद्धि के ही गुण हैं,उस नित्य वस्तु (अविनाशी ब्रह्म) के नहीं। अतः माया के द्वारा प्रादुर्भूत होने वाले बन्धन और मोक्ष आत्मा में नहीं होते॥ २८-२९ ॥

[ऋषि यहाँ यह तथ्य बहुत स्पष्ट कर देते हैं कि बन्धन या मुक्ति आत्मा के लिए नहीं, बुद्धि के लिए है। मेरे-तेरे में बुद्धि ही उलझती-सुलझती है, आत्मा तो सहज मुक्तावस्था में ही स्थित है।]

निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने। अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥ ३० ॥

उस कलारहित, निष्क्रिय, शान्त, निष्पाप, निरञ्जन, अद्वितीय परमात्म तत्त्व में आकाश के भेदों की भाँति (घटाकाश, महाकाश आदि) कल्पना कहाँ से हो सकती है ?॥ ३०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ३१ ॥

सत्य तो यह है कि वह परब्रह्म न तो जन्म लेता है और न ही जन्मरहित है,न वह बन्धन में रहता है, न ही साधक है, न ही वह मोक्ष की इच्छा वाला है और न ही वह मुक्त है (वह इन सबसे परे है।) ॥ ३१ ॥

[जन्म लेने वाली काया के साथ वह प्रकट होता दीखता है, इसलिए वह जन्म रहित नहीं है, लेकिन जन्म तो काया का होता है, चेतना का नहीं, पात्र बनते-टूटते हैं, उनमें रहने वाला जल तो पात्र के जन्म और क्षय से मुक्त है, इसलिए अजन्मा है। इसी भाव से उसे न मुक्त कह सकते हैं, न अमुक्त, न मोक्षाकांक्षी।]

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः ॥

॥ इत्यात्मोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ आरुण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय मानी जाती है। इसे आरुणिकोपनिषद् के नाम से भी जाना जाता है। इसमें ऋषि आरुणि की वैराग्य जिज्ञासा के उत्तर में ब्रह्मा जी ने संन्यास में दीक्षित होने के सूत्र समझाये हैं। संन्यास में प्रवेश के लिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तीनों को ही अधिकृत किया गया है। संन्यासी के यज्ञ-यज्ञोपवीत आदि कर्मकाण्ड के प्रतीकों के त्याग का बड़ा मार्मिक स्वरूप समझाया गया है। संन्यासी यज्ञ का त्याग नहीं करता, स्वयं यज्ञरूप बन जाता है, वह ब्रह्मसूत्र त्यागता नहीं, उसका जीवन ही ब्रह्मसूत्र हो जाता है। वह मंत्र त्यागता नहीं, उसकी वाणी ही मंत्र रूप हो जाती है। इन सब महत्त्वपूर्ण सूत्रों को अंतरंग जीवन में ही धारण करने के कारण उसे संन्यासी अर्थात् सम्यक् रूप से धारण करने वाला कहा गया है। संन्यास ग्रहण करने के स्थूल कर्मकाण्ड का भी उल्लेख किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिःशान्तिः शान्तिः ॥

मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, प्राण, नेत्र, कान, बल एवं सभी इन्द्रियाँ विकसित हों। समस्त उपनिषदें 'ब्रह्म' हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो तथा ब्रह्म हमारा परित्याग न करे, मेरा परित्याग न हो-न हो। इस प्रकार ब्रह्म में निरत (लगे हुए) हमें उपनिषद्-प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। हमारे त्रिविध तापों का शमन हो तथा हमें शान्ति प्राप्त हो।

ॐ आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिस्तव पुत्रान्भ्रातॄन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूर्लोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं चातलतला-तलवितलसुतलरसातलमहातलपातालं ब्रह्माण्डं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं चैव कौपीनं च परिग्रहेत्। शेषं विसृजेदिति ॥ १ ॥

प्रजापति की उपासना करने वाले अरुण के पुत्र आरुणि ब्रह्मलोक में भगवान् ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हुए तथा प्रार्थना करते हुए पूछा-हे भगवन्! मैं सभी कर्मों का किस तरह से परित्याग कर सकता हूँ। तब ब्रह्माजी ने उनसे कहा-हे ऋषे! अपने पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव आदि को यज्ञोपवीत, यज्ञ, शिखा और स्वाध्याय को तथा भू लोक, भुवः लोक, स्वः लोक, महः लोक, जनःलोक, तपःलोक, सत्यलोक और अतल, तलातल, वितल, सुतल, रसातल, महातल तथा पाताल आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का परित्याग कर देना चाहिए। मात्र दण्ड, आच्छादन के लिए वस्त्र एवं कौपीन (लँगोटी) को धारण करना चाहिए। शेष अन्य सभी वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहिए॥ १ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थो वा उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत्। अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत्। गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। कुटीचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। पवित्रं विसृजेत्। दण्डाँल्लोकाग्नीन् विसृजेदिति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औषधवदशनमाचरेत्। त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत्। संधिं समाधावात्म - न्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति॥ २॥

ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो या वानप्रस्थी सभी को (अपने-अपने आश्रमों में विहित) दिव्य अग्नियों को अपने जठराग्नि में आरोपित कर लेना चाहिए। गायत्री को अपनी वाणी रूपी अग्नि में प्रतिष्ठित करे। यज्ञोपवीत को पृथ्वी पर अथवा जल में विसर्जित कर देना चाहिए। कुटी में निवास करने वाले ब्रह्मचारी को अपने परिवार (कुटुम्ब) का परित्याग कर देना चाहिए, पात्र का त्याग करे एवं पवित्री (कुशा) को भी त्याग दे। दण्ड और लौकिक अग्नि का भी त्याग करे, ऐसा ब्रह्माजी ने आरुणि से कहा। आगे उन्होंने कहा कि वह मंत्रहीन की तरह आचरण करे। ऊर्ध्व (स्वर्गादि) लोकों में जाने की इच्छा भी न करे। औषधि की भाँति अन्न ग्रहण करे तथा त्रिकाल संध्या-स्नान करे। संध्या काल में समाधिस्थ होकर परब्रह्म परमात्मा का अनुसंधान करे, सभी वेदों में आरण्यकों की आवृत्ति करे अर्थात् पढ़े और मनन करे तथा उपनिषदों का बार-बार अध्ययन करें॥ २॥

खल्वहं ब्रह्मसूत्रं सूचनात्सूत्रं ब्रह्मसूत्रमहमेव विद्वांस्त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वाऽभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। सखा मा गोपायोजःसखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति। अनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेदौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्। ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो३ हे रक्षतो३ हे रक्षत इति॥ ३॥

निश्चय ही ब्रह्म का बोध कराने वाला सूत्र ब्रह्मसूत्र मैं स्वयं ही हूँ, ऐसा जानकर त्रिवृत्सूत्र (उपवीत) का भी परित्याग कर दे। ऐसा जानने वाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्' अर्थात् मैंने संन्यास ले लिया, मैंने सर्वस्व का त्याग कर दिया, सब कुछ छोड़ दिया, ऐसा तीन बार कहे। इसके पश्चात् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (अर्थात् सभी हिंस्र और अहिंस्र प्राणियों को अभय प्राप्त हो, सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही विद्यमान है।) इत्यादि मन्त्र से-हे दण्ड! आप मेरे मित्र हैं, आप मेरे ओज की रक्षा करें। आप मेरे मित्र तथा आप ही वृत्रासुर का विनाश करने वाले देवराज इन्द्र के वज्र हैं। हे वज्र ! आप हमें सुख प्राप्त करायें तथा हमें संन्यास धर्म से पथभ्रष्ट करने वाला जो भी पाप हो, उसका निवारण करें; यह कहते हुए अभिमंत्रित बाँस का दण्ड और कौपीन (लँगोटी) धारण करे। औषधि की तरह से भोजन ग्रहण करे, जो कुछ भी मिल जाए, उसे अल्पमात्रा में औषधि समझ कर खाए। हे आरुणि! संन्यास धर्म को ग्रहण करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। हे वत्स! उन (संन्यास के सभी अनुशासनों) की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो॥ ३॥

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनादिकं भूमौ ब्रह्मचारिणां मृत्पात्रं वाऽलाबुपात्रं दारुपात्रं वा। कामक्रोधहर्षरोषलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहंकारादीनपि परित्यजेत्। वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद् द्वावे वा चरेद् द्वावे वा चरेदिति॥ ४॥

तदनन्तर (ब्रह्माजी ने पुनः कहा) ब्रह्मभाव को प्राप्त परमहंस परिव्राजकों के लिए पृथ्वी पर ही आसन और शयन आदि का नियम है। मिट्टी के पात्र को या फिर तूँबी अथवा काष्ठ के कमण्डलु को अपने पास रखे। संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, शोक, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, इच्छा, परनिन्दा एवं ममता और अहंकार आदि का भी परित्याग पूर्ण रूप से कर देना चाहिए। उन्हें वर्षा ऋतु के चार माह तक एक ही स्थान पर स्थिर होकर रहना चाहिए, इसके अतिरिक्त शेष आठ माह एकाकी भ्रमण करे अथवा कम से कम दो माह तक एक ही स्थान में रहे ॥ ४ ॥

स खल्वेवं यो विद्वान्सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत्। पितरं पुत्रमग्निमुपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह। यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रमुदरपात्रं वा। ॐ हि ॐ हि ॐ हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। खल्वेतदुपनिषदं विद्वान्य एवं वेद पालाशं बैल्वमाश्वत्थमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदमिति। एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम्। इत्युपनिषद् ॥ ५ ॥

इसके समस्त नियम-उपनियम की पूर्ण जानकारी रखने वाला विद्वान् यदि संन्यास धर्म को ग्रहण करना चाहे, तो उसे उपनयन के पश्चात् अथवा पूर्व में भी अपने माता-पिता, पुत्र, अग्नि, उपवीत, कर्म, पत्नी अथवा अन्य और जो भी कुछ हो उन समस्त वस्तुओं-पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए। संन्यास धर्म ग्रहण करने वाले को चाहिए कि वह अपने हाथों को ही पात्र बना ले या फिर अपने उदर (पेट) को ही पात्र रूप में उपयोग कर भिक्षार्थ गाँव में गमन करे। ॐ हिं इस उपनिषद् मन्त्र का तीन बार उच्चारण करते हुए (भिक्षार्थ गाँव में) प्रवेश करे। यह उपनिषद् है। जो (विद्वान्) इस उपनिषद् को पूर्णरूप से जानता है, वही विद्वान् है। पलाश (छिउल), बेल, पीपल या गूलर आदि में से किसी का दण्ड, मूँज की मेखला धारण कर एवं यज्ञोपवीत आदि का परित्याग कर जो इस (उपनिषद्) को भली प्रकार जान लेता है, वही श्रेष्ठ है, वही शूरवीर है। जो (परमात्मा) आकाश में प्रकाश युक्त सूर्य मण्डल की तरह परम व्योम में चिन्मय तेज के द्वारा सभी ओर संव्याप्त है, ऐसे भगवान् विष्णु के उस परमधाम का विद्वान् उपासक सदैव दर्शन करते हैं। साधना में सतत लगे रहने वाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँच कर उस परमधाम को और भी प्रदीप्त किए रहते हैं, ऐसे उस पद को विष्णु का परमधाम कहते हैं। इस प्रकार यह निर्वाण (मुक्ति प्राप्ति) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है, यही उपनिषद् है।॥ ५ ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि .... इति शान्तिः ॥

॥ इति आरुण्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ आश्रमोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यह अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें आश्रम व्यवस्था-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों आश्रमों के विभिन्न पक्षों एवं उनके अनुशासनों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चार कण्डिकाएँ चारों आश्रमों से सम्बन्धित हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथातश्चत्वार आश्रमाः षोडशभेदा भवन्ति। तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मणः प्राजापत्यो बृहन्निति। य उपनयनादूर्ध्वं त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमन्त्रे स गायत्रः। योऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्प्रतिवेदं द्वादश वा यावद्ग्रहणान्तं वा वेदस्य स ब्राह्मणः। स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः। अथवा चतुर्विंशति-वर्षाणि गुरुकुलवासी ब्राह्मणोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षवासी च प्राजापत्यः। आ प्रायणाद्गुरो-रपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति ॥ १ ॥

चार आश्रम होते हैं, जिनके सोलह प्रकार होते हैं। ब्रह्मचारी चार प्रकार के होते हैं-गायत्र, ब्राह्मण, प्राजापत्य और बृहन्। जो उपनयन संस्कार के पश्चात् तीन रात्रि तक लवणरहित भोजन ग्रहण कर गायत्री जप करता है, उसे गायत्र कहते हैं। जो अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वेदाध्ययन करता है तथा प्रत्येक बारह वर्ष का समय नियोजित करता है अथवा जब तक वेद का सम्यक् ज्ञान न हो जाए, तब तक वह ब्रह्मचर्य धारण करता है अर्थात् ब्रह्म (ज्ञान) प्राप्ति हेतु नियमों का पालन करता है, उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। अपनी स्त्री (धर्म पत्नी) से ऋतुकाल में ही समागम करने वाला तथा पर-स्त्री के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध न रखने वाला 'प्राजापत्य' होता है अथवा जो चौबीस वर्ष तक गुरुकुल में वास करे, वह ब्राह्मण और जो अड़तालीस वर्ष तक वास करे, वह प्राजापत्य कहलाता है। जो नैष्ठिक (ब्रह्मचारी) जीवन पर्यन्त गुरु का परित्याग न करे, वह बृहन् कहलाता है ॥ १ ॥

गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्त्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्या - सिकाश्चेति। तत्र वार्त्ताकवृत्तयः कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छवृत्ति - मुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

गृहस्थ भी चार प्रकार के होते हैं-वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। वार्ताकवृत्ति गृहस्थ वे हैं; जो कृषि, गोरक्षा (पशुपालन) व व्यापार आदि अनिन्दित कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्ण आयु)

तक यज्ञादि करते हुए आत्म-उपासना करते हैं। शालीनवृत्ति गृहस्थ वे होते हैं, जो स्वयं यज्ञ करते हैं; किन्तु अन्यों को कराते नहीं है। स्वयं अध्ययन करते हैं; किन्तु औरों को पढ़ाते नहीं हैं। दान देते तो हैं; किन्तु दूसरों से स्वयं नहीं लेते। इस प्रकार सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-उपासना करते हैं। यायावर गृहस्थ वे होते हैं, जो यज्ञ करते हैं और दूसरों को भी कराते हैं। स्वयं अध्ययन करते हैं तथा दूसरों को भी कराते हैं। दान देते हैं तथा लेते भी हैं। इस प्रकार सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-साधना करते हैं। घोर संन्यासिक गृहस्थ वे हैं, जो पवित्र जल स्वयं लाकर कार्य करते हुए उञ्छवृत्ति (खेत से फसल उठाने के बाद गिरे हुए अन्न को बीन कर जीविका चलाना) अपना कर जीवन निर्वाह करते हुए तपश्चर्या में निरत रहकर सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-साधना करते हैं॥ २॥

वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति। तत्र वैखानसा अकृष्टपच्यौषधिवनस्पतिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञ क्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रेक्षन्ते तदाहृतोदुम्बरबदरनीवारश्यामाकैरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बालखिल्या जटाधराश्चीरचर्मवल्कलपरिवृताः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलमुत्सृजन्तः शेषानष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जनं कृत्वाऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र यत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते॥ ३॥

वानप्रस्थ भी चार प्रकार के होते हैं, वे हैं— वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप। इनमें वैखानस वानप्रस्थी वे हैं, जो स्वतः उत्पन्न तथा पक्व ओषधियों और वनस्पतियों, जो ग्रामीणों द्वारा बहिष्कृत कर दी जाती हैं, से अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञ करते हुए आत्म-साधना करते हैं। उदुम्बर वानप्रस्थी वे हैं, जो प्रातःकाल उठकर जिस किसी दिशा में दृष्टिपात होने पर उधर ही जाकर गूलर, बेर, नीवार तथा साँवाँ से अग्निहोत्र करके पञ्चमहायज्ञ सम्पन्न करते हुए आत्म-साधना करते हैं। बालखिल्य वानप्रस्थी वे हैं-जो जटा धारण करते हैं, चीर, चर्म (मृगचर्मादि) और वृक्षों की छाल रूप वस्त्र धारण करते हैं तथा (चार मास तक पुष्प-फल आदि ग्रहण करके) कार्तिकी पूर्णिमा पर (संचित) पुष्प-फल आदि का परित्याग कर देते हैं और (अगले) शेष आठ मास अपना जीविकोपार्जन (स्वयं उपार्जित) करके, अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्म-साधना करते हैं। फेनप वानप्रस्थी वे हैं, जो विक्षिप्त के समान रहते हुए जीर्ण पत्ते तथा फल ग्रहण करते हुए जहाँ कहीं भी स्थान मिले, वहीं निवास करते हुए अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्म-साधना करते हैं॥ ३॥

परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति कुटीचरा बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति। तत्र कुटीचराः स्वपुत्रगृहेषु भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधारिणः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसा एकदण्डधराः शिखावर्जिता यज्ञोपवीतधारिणः शिक्यकमण्डलुहस्ता ग्रामैकरात्रवासिनो नगरे तीर्थेषु पञ्चरात्रं वसन्त एकरात्रद्विरात्रकृच्छ्रचान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। परमहंसा नदण्डधरा मुण्डाः

कन्थाकौपीनवाससोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डकमण्डलु-शिक्यपक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतानां त्यागिनः शून्यागारदेवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न चानृतं सर्वंसहाःसर्वसमाः समलोष्टाश्मकाञ्चना यथोपपन्नचातुर्वर्ण्य-भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्त आत्मानं मोक्षयन्त इति॥ ४॥

परिव्राजक (संन्यासी) भी चार प्रकार के होते हैं-कुटीचर (या कुटीचक), बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें कुटीचर वे होते हैं, जो अपने पुत्र आदि के गृहों से भिक्षाचरण करते हुए आत्म-साधना करते हैं (आत्म चिन्तन करते हैं)। बहूदक वे हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्यपक्ष (रस्सी से बुना हुआ सींका अथवा झोला) पवित्र जलपात्र, पादुका, आसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन तथा कषाय (भगवा) वेष धारण करते हुए सच्चरित्र ब्राह्मणों के घरों में भिक्षाचरण करते हुए आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हैं। हंस वे हैं, जो एक दण्ड धारण करते हैं, शिखारहित यज्ञोपवीतधारी हाथ में शिक्य (सींका) और कमण्डलु धारण करने वाले हैं। वे ग्राम में केवल एक रात्रि तथा नगर और तीर्थ में पाँच रात्रि विश्राम करते हैं। वे एक रात्रि, दो रात्रि कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत करते हुए आत्म-तत्त्व का चिन्तन करते हैं। परमहंस वे हैं, जो दण्ड धारण नहीं करते, मुण्डित रहते हुए कन्था और कौपीन धारण करते हैं। वे अव्यक्त लिङ्ग (अर्थात् अप्रकट चिह्न) वाले, अव्यक्त (गुप्त) आचरण वाले अर्थात् धीर-शान्त रहने वाले होते हैं, जो अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त की तरह व्यवहार करते हैं। वे त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्यपक्ष (छीका), पवित्र जलपात्र, पादुका, आसन, शिखा और यज्ञोपवीत आदि का त्याग कर देते हैं। वे शून्यगृह (निर्जन घर) अथवा देवालय में वास करते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य कुछ नहीं होता। वे सब कुछ सहन करने वाले, समदर्शी और मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को समान समझने वाले होते हैं। वे यथालब्ध सन्तोषी तथा चारों वर्णों से भिक्षा प्राप्त करते हुए आत्मा को बन्धन से मुक्त करते हैं, आत्मा के मोक्ष हेतु उपाय करते हैं॥ ४॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः॥

॥ इति आश्रमोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कठरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसे 'कण्ठरुद्रोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें देवताओं द्वारा ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा किए जाने पर भगवान् प्रजापति ने संन्यास आश्रम में प्रवेश की विधि सहित आत्म तत्त्व का विवेचन किया है। प्रथम तीन कण्डिकाओं में संन्यास ग्रहण करने की विधि है। ४ से ११ तक संन्यासोपरांत निर्वाह किए जाने वाले विविध अनुशासनों का वर्णन है। उसके बाद ब्रह्म एवं माया का वर्णन करते हुए तन्मात्राओं एवं ब्रह्माण्ड रचना का उल्लेख है। पंचआत्मा-पंचकोशों का मर्म समझाते हुए परमात्म तत्त्व को ही ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं फल आदि के रूप में स्थापित किया गया है। अंत में इस सारे कथोपकथन को वेदान्त का सार कहा गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन्नधीहि भगवन्ब्रह्मविद्याम्। स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

एक बार समस्त देवगण भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी के समीप जाकर बोले-हे भगवन्! आप कृपा करके हम लोगों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करें; तब प्रजापति ने कहा- ॥ १ ॥

सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्कृष्य ततः पुत्रं दृष्ट्वा त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता। अथ पुत्रो वदत्यहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति। तान्येतान्यनुव्रजन्नाश्रुमापातयेत्। यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्द्यात्। प्रदक्षिणमावृत्त्यैतच्चैतच्चा-नवेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति। स स्वर्ग्यो भवति॥ २ ॥

शिखा के साथ बालों का मुण्डन कराकर और यज्ञोपवीत का परित्याग करके, अपने पुत्र को देखकर उससे इस प्रकार कहे कि 'तुम ब्रह्मा हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम ॐकार हो , तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता हो, तुम विधाता हो'। ऐसा सुनने के बाद पुत्र कहे कि 'मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं वषट्कार हूँ, मैं ॐकार हूँ, मैं स्वाहा और स्वधा हूँ, मैं ही धाता, विधाता, त्वष्टा भी हूँ तथा प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ।' इस प्रकार से परिव्राजक (संन्यासी) होकर घर से बाहर निकलने पर जब पुत्र-पत्नी आदि पीछे-पीछे गमन करें, तो उन्हें देखकर के अश्रुपात न करे। यदि अश्रुपात करेगा, तो उसकी संतान विनष्ट हो जायेगी। तदनन्तर वे समस्त परिवारीजन संन्यासी की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् उसे बिना देखे ही यदि वापस लौट जाते हैं, तो इस तरह का संन्यासी देवलोक का अधिकारी होता है॥ २ ॥

[पिता द्वारा पुत्र से दुहरवाये जाने वाले वाक्यों के पीछे उनका महत्त्वपूर्ण मन्तव्य है। सद्गृहस्थ जब संन्यासी बने, तो पुत्र को दायित्व सौंपने के साथ उसे आत्म गौरव का बोध करा दे; ताकि पिता का संरक्षण हट जाने पर भी वह आत्महीनता से ग्रस्त न हो, जाग्रत् आत्मविश्वास के साथ अपने दायित्वों का आदर्शनिष्ठ ढंग से निर्वाह कर सके। बिना अश्रुपात के विदाई के पीछे भी मोह मुक्त और आत्म विश्वास युक्त होकर होने का भाव है।]

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्य ताननुरूपो पाधिभिर्वितत्येष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च। सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुयात्। द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात्। द्वादशरात्रस्यान्ते-ऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं वैष्णवं त्रिकपालमग्निम्। संस्थितानि पूर्वाणि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात्। मृण्मयान्यप्सु जुहुयात्। तैजसानि गुरवे दद्यात्। मा त्वं मामपहाय परागाः। नाहं त्वामपहाय परागामिति। गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयेष्वरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके। सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्। पयसा यं प्राश्नीयात्सोऽस्य सायंहोमः। यत्प्रातः सोऽयं प्रातः। यद्दर्शे तद्दर्शम्। यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यम्। यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः॥ ३॥

ब्रह्मचारी द्वारा वेदों-शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद विवाह करके गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् उनको सुसंस्कृत बनाकर, अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ-हवन आदि करने के उपरान्त अपने इष्ट-मित्रों तथा गुरुजनों से आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला वन में जाकर द्वादश रात्रियों तक दुग्ध से अग्निहोत्र करे और साथ ही द्वादश रात्रियों तक केवल दुग्धाहार पर रहे। द्वादश रात्रियों के पश्चात् विष्णु एवं रुद्र से सम्बन्धित चरु को, जो तीन कपाल (मिट्टी के पात्रों) पर सिद्ध किया (पकाया) गया हो; वैश्वानर अग्नि तथा प्रजापति के उद्देश्य से हवन कर दे। अग्निहोत्र में उपयोग किये हुए काष्ठ पात्रों को भी अग्नि में आहुति रूप में समर्पित कर दे। मिट्टी के पात्रों को जलाशय में समर्पित कर दे और स्वर्णादि के बने पदार्थों को अपने गुरु को दे दे। उस समय (गुरु के प्रति) इस प्रकार कहे 'तुम मुझे छोड़कर दूर गमन न करना तथा मैं तुम्हें त्याग कर दूर नहीं जाऊँगा।' कुछ शास्त्रों का मत है कि इसके पश्चात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय इन तीन प्रकार की यज्ञाग्नियों से अरणियों के पास से एक मुट्ठी भस्म लेकर पान (ग्रहण) करे। शिखा के साथ बालों का मुण्डन कराके तथा यज्ञोपवीत को उतार कर 'ॐ भूः स्वाहा' मंत्र को पढ़ते हुए जलाशय में विसर्जित कर दे। तत्पश्चात् अनशन, जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरों के मार्ग का अनुसरण करके महाप्रस्थान करे या फिर किसी वृद्ध संन्यासी के आश्रम में निवास हेतु गमन करे। दुग्ध अथवा जल के सहित जो कुछ भी वह भोजन करे, वही भोजन उसका सायंकालीन यज्ञ है और प्रातःकाल के समय में जो भोज्य पदार्थ ग्रहण करे, वही उसका प्रातःकालीन हवन है। अमावस्या के दिन जिस भोजन को ग्रहण करता है, वही उसका दर्शयज्ञ है। पूर्णिमा को जो भोजन ग्रहण करता है, वही उसका पौर्णमास्य यज्ञ है और वसन्त ऋतु में जो वह केश, दाढ़ी, मूँछ, रोएँ, नख आदि कटवाता है, वही उसका अग्निष्टोम कहा गया है॥ ३॥

[संन्यासी कर्मकाण्डपरक अग्निहोत्र का त्याग करके जीवन की प्रत्येक क्रिया को यज्ञ रूप बनाये, यह भाव यहाँ स्पष्ट है। उच्चस्तरीय जीवन साधना अपनाये बिना केवल कर्मकाण्ड त्याग कर संन्यास धर्म की पूर्ति संभव नहीं है।]

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेन्मृत्युर्जयमावहमित्यध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेत्। अनिकेतश्चरेत्। भिक्षाशी यत्किंचिन्नाद्यात्। लवैकं न धावयेज्जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जमिति। तदपि श्लोका भवन्ति॥४॥

संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् पुनः अग्नि का आधान अर्थात् अग्नि की स्थापना नहीं करनी चाहिए।

केवल 'मृत्युर्जयमावहम्' आदि आध्यात्मिक मन्त्रों का जप करना चाहिए। समस्त भूत-प्राणियों का कल्याण हो, ऐसा कहकर केवल आत्मतत्त्व का चिन्तन करता हुआ, ऊर्ध्व की ओर हाथों को उठाये हुए (परमात्मा के अतिरिक्त और किसी से साधन प्राप्त होने की कामना से मुक्त होकर) प्रपञ्च रहित मार्ग में गृहहीन होकर विचरण करे। भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न के अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण न करे। एक स्थान पर क्षण-मात्र भी न रुके, सतत विचरण करता रहे। जीव-हिंसा से बचे रहने के लिए वर्षाकाल में विचरण की प्रक्रिया को विराम दे दे। इस संदर्भ (संन्यासी की मर्यादा) में कुछ श्लोक भी हैं॥ ४॥

कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ। शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥ ५॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६॥
स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्। नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत्॥ ७॥
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्। स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८॥

संन्यास ग्रहण करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह कुण्डिका, चमस (यज्ञीय पात्र) और शिक्य (झोली) आदि को एवं तिपाई, जूते, (जाड़े को दूर करने वाली) कन्था (कथरी), कौपीन के ऊपर अङ्गाच्छादन करने वाला वस्त्र, कुश की बनी हुई पवित्री, स्नान के पश्चात् धारण करने वाले वस्त्र, उत्तरीय वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन आदि सभी का परित्याग कर दे। वह अपना स्नान, पान एवं शौच आदि कृत्य पवित्र जल से सम्पन्न करे। नदी के तट पर अथवा देव मंदिर में जाकर शयन करे। वह अधिक विश्राम न करे अथवा अधिक परिश्रम से शरीर को व्यर्थ में कष्ट न दे। वह दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा श्रवण करके न प्रसन्न हो तथा न निन्दा या अपमान किये जाने पर गाली अथवा शाप दे॥ ५-८॥

ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करी। दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्॥ ९॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १०॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः। यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥ ११॥

संन्यासी को आलस्य-प्रमाद से रहित होकर संयमपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए जीवनयापन करना चाहिए। स्त्रियों का दर्शन, स्पर्श, क्रीड़ा, चर्चा, गुह्य (काम तत्त्व से सम्बन्धित) विषयों की बात-चीत, काम-सङ्कल्प, सम्भोग के लिए प्रयत्न तथा सम्भोग की क्रिया-ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वान् पुरुषों के द्वारा बताये गये हैं। उक्त आठ प्रकार के मैथुन के त्याग रूप ब्रह्मचर्य का पालन मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले लोगों को करना चाहिए॥ ९-११॥

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः। प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः॥ १२॥
न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित्। ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः॥१३॥

जो जगत् को प्रकाश देने वाला है, नित्य प्रकाश रूप में स्वप्रकाशित है, वही समस्त जगत् का साक्षी है, निर्मल आकृति वाला (वह) सभी की आत्मा है। वह प्रज्ञानघन के रूप में है, समस्त प्राणि-समुदाय उसी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही दूसरे अन्य किसी साधन के द्वारा पा सकता है; अपितु वह उस परब्रह्म को ब्रह्मानुभव के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है॥ १२-१३॥

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम्। संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ॥ १४॥
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते। सोऽश्नुते सकलान्कामान्क्रमेणैव द्विजोत्तमः॥ १५॥
प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्। एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्॥ १६॥

वह सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म इस माया, अज्ञान एवं गुहा आदि नामों से कहे जाने वाले संसार में विद्यमान है। उस ब्रह्म को मात्र विद्या (सद्ज्ञान) के माध्यम से ही जाना जाता है। जो मनुष्य परम व्योम रूपी नित्य धाम में विद्यमान इस अविनाशी ब्रह्म को जानता है, वह (द्विजों में श्रेष्ठ) ब्राह्मण क्रमानुसार समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अज्ञान एवं माया शक्ति के साक्षीरूप प्रत्यगात्मा को जो मनुष्य 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार जानता है, वह (मनुष्य) स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ १४-१६ ॥

[ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने वाले साधक को यह गूढ़ तथ्य समझ में आने लगता है कि अव्यक्त आत्मतत्त्व से किस प्रकार व्यक्त सृष्टि प्रकट होती है। सृष्टि का यह क्रम आगे के मंत्रों में स्पष्ट किया गया है।]

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात्। अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत्॥ १७ ॥
आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः। वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा॥ १८ ॥
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा। तेभ्य एव विसृष्टं तद्ब्रह्माण्डादि शिवेन ह॥१९ ॥
ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः। मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः॥ २० ॥

शक्ति सम्पन्न इस ब्रह्म रूप आत्मा से उसी प्रकार अपञ्चीकृत आकाश अर्थात् शब्द आदि तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं, जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) में सर्प की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् पुनः आकाश से वायु संज्ञक अपञ्चीकृत स्पर्श-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर वायु से अग्नि की उत्पत्ति, अग्नि से जल की उत्पत्ति और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। उन सूक्ष्म भूतों को शिवस्वरूप ईश्वर ने पञ्चीकृत करके उन्हीं से ब्रह्माण्ड आदि की रचना की। ब्रह्माण्ड के उदर में समस्त भूत-प्राणियों के पूर्वकृत कर्मानुसार देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों की सृष्टि-रचना हुई॥ १७-२० ॥

[रस्सी में साँप की प्रतीति तभी तक होती है, जब तक देखने वाले की दृष्टि यथार्थ तक नहीं पहुँच पाती। पदार्थ की रचना की प्राथमिक इकाई परमाणु है। सभी पदार्थों के परमाणु इलैक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि के विविध संयोगों से ही बने हैं। उन उपकणों (सबएटामिक पॉर्टिकल्स) को देख सकने वाले के लिए सभी पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार मूल तत्त्व आत्म तत्त्व को देख पाने वाले के लिए यह संसार एक भ्रम जैसा ही रह जाता है।]

अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम्। योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः॥२१ ॥
ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः। ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः॥ २२ ॥
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरः स्वतः। आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः॥२३ ॥
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु। मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः॥ २४ ॥
तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु। आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखम्॥ २५ ॥
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणोऽन्येन साक्षिणा। सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित्॥ २६ ॥

अस्थि, स्नायु आदि से निर्मित यह समस्त जीवों का शरीर भी अपने कर्मानुसार ही प्रकाशित हो रहा है। सभी शरीर धारण करने वालों का यह जो अन्नमय आत्मा स्थूल शरीर के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है, उससे पृथक् एक प्राणमय आत्मा और है, जो कि इस अन्नमय आत्मा के अन्दर विद्यमान है। इससे भी सूक्ष्म और भिन्न मनोमय आत्मा है, जो प्राणमय के अन्दर स्थित है। इससे सूक्ष्म विज्ञानमय आत्मा है, जो मनोमय आत्मा के अन्दर विद्यमान है। इससे भी अतिसूक्ष्म आनन्दमय आत्मा है, जो विज्ञानमय आत्मा के अन्दर स्थित है। अन्नमय आत्मा प्राणमय से परिपूर्ण है, वैसे ही प्राणमय आत्मा स्वभावानुसार मनोमय आत्मा से पूर्ण है। मनोमय आत्मा विज्ञानमय से पूर्ण है तथा सदा सुखस्वरूप विज्ञानमय आत्मा आनन्दमय से परिपूर्ण रहता है। आनन्दमय

आत्मा अपने से अलग साक्षिरूप सर्वत्र व्याप्त, अन्तर्यामी ब्रह्म के द्वारा परिपूर्ण है। वह ब्रह्म किसी दूसरे के द्वारा नहीं; वरन् अपने आप ही सभी तरफ से परिपूर्ण है॥ २१-२६॥

[यहाँ पंच कोश और पंचात्मा का मर्म स्पष्ट किया गया है। हर काया को आकार अन्नमय से, ऊर्जा प्राणमय से, कामना मनोमय से, नैसर्गिक विभूतियाँ आदि विज्ञानमय से तथा आनन्दानुभूति आनन्दमयकोश से प्राप्त होती है। किसी स्थूल माध्यम से व्यक्त होने के कारण उसे आत्मा तथा किसी सूक्ष्म से परिपूर्ण होने के नाते उसे कोश कहा गया है।]

यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम्। सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम्॥ २७॥
सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः। असत्यस्मिन्परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम्॥२८
को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते। तस्मात्सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः॥ २९
आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे॥ ३०॥
निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः। तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥३१॥
सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम्। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥३२॥
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः। अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः॥३३
भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु। तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः॥ ३४॥
स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति परे यथा। निमित्तं किंचिदाश्रित्य खलु शब्दः प्रवर्तते॥ ३५॥
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः। निर्विशेष परानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते॥ ३६॥
तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम्। यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च॥ ३७॥

जो यह ज्ञान एवं सत्य के रूप में अद्वितीय परब्रह्म है, वही सबका आश्रय-स्थल है। वह सबका सार एवं रसस्वरूप है। उस सनातन तत्त्व को पाकर के यह देही (जीवात्मा) सर्वत्र सुखानुभव प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र सुख का भाव कहाँ है? सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के आत्मस्वरूप इस परानन्द (परमानन्द) ब्रह्म के उपस्थित न रहने पर भला कौन मनुष्य जीवित रह सकता है अथवा कौन-सा प्राणी नित्य चेष्टा करता है? अतः जो सर्वान्तर्यामी रूप से सभी के चित्त में प्रतिभासित होता है, वही परब्रह्म अविनाशी परमात्मा दुःखों से घिरे हुए जीवात्मा को सदैव आनन्द प्रदान करता है। जो अदृश्यत्व आदि लक्षणों से युक्त इस पर-तत्त्व से अभेदरूप परम अद्वैतरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वही महायति (संन्यासी) है। देश-काल एवं पात्र से अपरिच्छिन्न, सत्यस्वरूप परब्रह्म ही अभयपद, परम अमृततुल्य एवं कल्याणमय है। जब तक मनुष्य को इसमें थोड़ा भी व्यवधान दृष्टिगोचर होता है, तब तक उसे (जन्म-मृत्यु का) भय बना रहता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। छोटे से छोटे क्षुद्र तृण से लेकर भगवान् विष्णु तक सभी तारतम्य के अनुसार आनन्द रूप कोश से नित्य ही आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्त, प्रसन्नमना श्रोत्रिय को यह स्वरूप भूत-आनन्द स्वयमेव अनुभूत होता है। यह अनुभूति उस परमात्म पद के अनुरूप ही होती है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती; क्योंकि शब्द तो किसी आश्रय के सहारे ही व्यक्त होता है। परातत्त्व में निमित्त का अभाव होने के कारण वाणी वहाँ से वापस लौट आती है। जो सभी विशेषों से रहित परानन्दरूप तत्त्व है, वहाँ पर शब्द की प्रवृत्ति किस प्रकार से हो? इसलिए यह मन अतिसूक्ष्म और सीमित शक्ति से युक्त होकर इधर-उधर सभी जगह गमन करता रहता है; क्योंकि श्रोत्र, त्वक् एवं नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द स्पर्शादि उनके विषय तथा वाणी, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली हैं॥ २७-३७॥

व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु। तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्॥ ३८॥

विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन। एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः॥ ३९॥
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः। तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत्॥४०॥

इसलिए परमात्म तत्त्व को प्राप्त करने में ये समस्त इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हैं। जो पुरुष उस द्वन्द्वातीत, निर्गुण, सत्यस्वरूप और विज्ञानघन ब्रह्मानन्द को 'यह मेरा ही स्वरूप है,' ऐसा जान लेता है, उसे कहीं पर भी भय नहीं व्याप्त होता। इस तरह से जो भी जितेन्द्रिय मनुष्य अपने गुरु के उपदेश द्वारा आत्म साक्षात्कार के माध्यम से ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है, वह सत्य-असत्य कर्मों के द्वारा कभी भी संतप्त नहीं होता। विषय-भोग तापक हैं और चित्त ताप्य है, चित्त एवं उसके विषयों से यह सम्पूर्ण विश्व विभासित हो रहा है ॥३८-४०॥

[पदार्थ विज्ञान ने पदार्थ के स्पन्दनों के अनुभव करने वाले माध्यम (सैन्सर्स) खोजे हैं, भाव स्पन्दनों का अनुभव करने वाला माध्यम (सैन्सर) चित्त है। विषय-भोगों द्वारा स्पंदन उत्पन्न करने तथा चित्त द्वारा उनका अनुभव किए जाने की क्षमताओं का संयोग ही भासित होने वाले विश्व का मूल कारण है, अन्यथा कुछ नहीं है। जैसे पदार्थ द्वारा प्रकाश का परावर्तन तथा आँख द्वारा उसका अनुभव करने की क्षमता के संयोग से हर दृश्य-रूप बनता है।]

प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात्। शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च॥ ४१॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा। इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः॥ ४२॥
मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते। मायासंबन्धश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा॥ ४३॥
अन्तःकरणसंबन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते। तथा तद्वृत्तिसंबन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ४४॥
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते। तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते॥ ४५॥

वेदान्त-शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि वह प्रत्येक आत्मा के रूप में है। सात तरह के जिन तत्त्वों का वर्णन किया गया है, वे ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल हैं, इसमें व्यावहारिक दृष्टि से भेद माना गया है। परब्रह्म परमात्मा तो शुद्ध-चैतन्य स्वरूप है, वह माया के द्वारा निर्मित उपाधियों से सदा-सर्वदा मुक्त रहता है। मायारूप होने से वह ईश्वर है एवं अविद्या (अज्ञान) के वश में होने के कारण वह जीव हो जाता है। उसका अन्तःकरण से सम्बन्ध होने से वही प्रमाता (ज्ञाता) कहा जाता है। उसके चित्त द्वारा अनुभूति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा को प्राप्त होता है। वह चैतन्य युक्त ब्रह्म जब तक खोजा जाता है, तब तक प्रमेय है और वही जब ज्ञात हो जाता है, तब फल संज्ञक हो जाता है॥ ४१-४५॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः। एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ४६॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः। स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥ ४७॥

इसलिए बुद्धिमान् पुरुष, अपने आपको 'मैं सब उपाधियों से मुक्त हूँ'- ऐसा मानकर मुक्तावस्था का सतत चिंतन करे। इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करने में सदा ही समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सर्वसिद्धान्तों का सार यथार्थरूप में कहा है। अपने कर्मों से जीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होता है और स्वयं ही अवशिष्ट रूप में बचा रहता है। यह सब आत्मा का ही खेल है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥ ४६-४७॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति कठरुद्रोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कुण्डिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें मंत्र क्र० १ से १३ तक सद्गृहस्थ के दायित्व पूरे होने पर संन्यास आश्रम में प्रवेश तथा उसकी जीवनचर्या पर प्रकाश डाला गया है। उसके बाद संन्यासी की अन्तर्मुखी साधनाओं का उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि पहले जप-ध्यान के माध्यम से उस ब्राह्मी चेतना की अवतरण-प्रक्रिया का बोध करे और सर्वत्र उसे आत्म-चेतना के रूप में संव्याप्त अनुभव करे। इसके बाद तन्मात्राओं के संयम के द्वारा अनाहत नाद के माध्यम से जीव चेतना के उन्नयन की साधना सम्पन्न करे-इसी विशिष्ट साधना क्रम का यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

ब्रह्मचर्याश्रमे क्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः। वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥

वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर गुरु की सेवा में लगे हुए जिस पुरुष को गुरु (अपने घर) जाने की आज्ञा प्रदान कर देते हैं, वह व्यक्ति आश्रमी कहा जाता है॥ १॥

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः। ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अनुकूल स्त्री को स्वीकार करके तथा अपनी शक्ति के अनुसार अग्नि को ग्रहण करके ब्रह्म यज्ञ में संलग्न रहकर अपना जीवन-यापन करे॥ २॥

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च। संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥

तदनन्तर अपने पुत्रों में धन को बाँट करके, ग्राम (गाँव-घर) से सम्बन्धित सभी कार्यों को पुत्रों को सौंप करके, पवित्र देश (क्षेत्र) में भ्रमण करते हुए वन के लिए प्रस्थान करना चाहिए॥ ३॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः। स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥४

संन्यासी को वायु अथवा जल सेवन करके अथवा विहित (शास्त्रानुमोदित) कन्द-मूल आदि से सतत अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए। साथ ही (संसार को) शरीर तक सीमित मानकर (मोह-ममतावश) अश्रुपात नहीं करना चाहिए॥ ४॥

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते। सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५ ॥

परन्तु इतने सामान्य से कर्म के करने मात्र से कोई भी व्यक्ति संन्यासी नहीं कहा जा सकता है। यह तो साधारण नियम का पालन है, संन्यासी के नियम इससे कहीं अधिक श्रेष्ठ कहे गये हैं॥ ५॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम्। अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥६ ॥

इसके लिए फल की इच्छा न रखते हुए संन्यास धर्म से मुक्ति प्राप्त करके वर्णाश्रम व्यवस्था एवं अग्नि का परित्याग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए॥ ६॥

लोकवद्भार्ययाऽऽसक्तो वनं गच्छति संयतः। संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥ ७ ॥

किंवा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान्। गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ॥८ ॥

साधारण लोगों की तरह स्त्री एवं सांसारिक सुखों का परित्याग कर वन में गमन करके अनुष्ठान आदि करने से क्या लाभ है? अथवा गर्भवास के भय से ठंडी-गर्मी, सुख-दुःख आदि से भयभीत हुआ मनुष्य सांसारिक भोगों का त्याग क्यों करता है?॥ ७-८॥

गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयमिति। संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनं यन्मृत्युर्जायमावहमिति। अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। दीक्षामुपेयात्काषायबासाः। कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत्। ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति। अनिकेतश्चरेद्भिक्षाशी। निदिध्यासनं दध्यात्। पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम्। तदपि श्लोका भवन्ति। कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ। शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥ ९॥ पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। अतोऽतिरिक्तं यत्किंचित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः॥ १०॥

इस प्रकार के कृत्य करने का कारण यही है कि वह (संन्यासी) उस गूढ़ परमपद में प्रविष्ट होने की इच्छा रखता है। वह मृत्यु को जीत लेने वाले महाकाल का सतत स्मरण करता रहता है, वह सदा ही आध्यात्मिक मंत्रों का जप करता है तथा काषाय (भगवा) वस्त्रों को धारण करके दीक्षा ग्रहण कर लेता है। कुक्षि (कोख-काँख) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) स्थान के बालों को छोड़कर अन्य सभी बालों का क्षौर करा लेता है। वह अपनी दोनों भुजाएँ ऊर्ध्व की ओर करके इच्छानुसार भ्रमण करता है। गृह विहीन वह भिक्षा ग्रहण करके जीवन-यापन करता है। उसे निदिध्यासन करते रहना चाहिए। जन्तुओं से संरक्षण के लिए पवित्री को धारण किये रहना चाहिए। कमण्डलु, चमस, छींका, त्रिविष्टप, जाड़े से रक्षा हेतु गुदड़ी, कौपीन (लँगोटी), स्नान करने के लिए धोती एवं अँगौछा पास में रखना चाहिए। इन वस्तुओं के अतिरिक्त और सभी कुछ संन्यासी को परित्याग कर देना चाहिए॥ ९-१०॥

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः। नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्॥ ११॥

(वह यदि) चाहे तो अपनी इच्छानुसार नदी के तट पर शयन करे। बिना कोई विशेष कारण के शरीर को सुख-दुःखादि द्वारा कष्ट नहीं देना चाहिए॥ ११॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्। स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान्॥ १२॥

स्नान के लिए, पीने के लिए तथा शौचादि के लिए शुद्ध जल का सेवन करना चाहिए। वह न तो स्तुति-प्रशंसा आदि से प्रसन्न हो और न ही निन्दा-अपमान होने पर किसी को शाप आदि ही दे॥ १२॥

भिक्षादिवैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम्। एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा॥ १३॥

भिक्षा के लिए पात्र तथा स्नान आदि के लिए जल जिस किसी भी तरह से मिले, उसे प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार से अनुपम, श्रेष्ठ आचरण को स्वीकार करके यति को सदा ही जप करते रहना चाहिए॥१३॥

विश्वाय मनुसंयोगं मनसा भावयेत्सुधीः। आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी। एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्ये। अजरममरमक्षरमव्ययं प्रपद्ये। मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात्॥ १४॥

सुधीजनों को अपने मन में यह भावना करनी चाहिए कि यह विश्वरूप ब्रह्म और मनु अर्थात् प्रणव रूप अक्षर ब्रह्म दोनों एक ही हैं। आकाश से वायु, वायु से ज्योति (अग्नि), ज्योति से जल और जल से पृथ्वी इन सभी भूतों में जो अविनाशी ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे उस (ब्रह्म) को मैं प्राप्त हुआ हूँ। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को (मैं) प्राप्त हुआ हूँ। मैं अखण्ड सुख-सागर रूप हूँ। मेरे मध्य में बहुत सी लहरें मायारूपी वायु के द्वारा प्रादुर्भूत एवं विलीन होती हैं॥ १३-१४॥

[यहाँ ब्राह्मी चेतना के सूक्ष्म से स्थूल में क्रमशः अवतरण का ध्यान बतलाया गया है। आगे इसी चेतना के स्थूल से सूक्ष्म में आरोहण की साधना पर भी प्रकाश डाला गया है।]

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेव विहायसः। अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु॥ १५॥

मेरा इस शरीर से उसी तरह का सम्बन्ध नहीं है, जैसे-आकाश का मेघ से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः इस शरीर के जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में मेरा (जीवात्मा का) क्या सम्बन्ध है?॥ १५॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम्।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम्॥१६॥

मैं (जीवात्मा) आकाश की भाँति कल्पना से परे अर्थात् ऊपर हूँ, सूर्य के सदृश अन्य सुनहले आकर्षक पदार्थों से पृथक् हूँ, पर्वत की तरह सतत स्थिर रहता हूँ तथा समुद्र की तरह अपार हूँ॥ १६॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः॥ १७॥

मैं ही नारायण हूँ। नरकान्तक (नरकासुर का वध करने वाले), पुरान्तक (त्रिपुरासुर का वध करने वाले), पुरुष तथा ईश्वर भी मैं ही हूँ। मैं ही अखण्ड बोध स्वरूप, समस्त प्राणियों का साक्षी, ईश्वररहित (मेरे ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं), अहंकाररहित तथा ममतारहित हूँ॥ १७॥

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य तत्र श्लोका भवन्ति। वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत्। संदश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्रे विनिर्गताम्॥ १८॥

अब प्राण एवं अपान के अभ्यास के विषय में वर्णन करते हैं। वृषण तथा गुदा के बीच में दोनों हाथों को रखे। दाँतों से जिह्वा को शनैः-शनैः दबाते हुए एक जौ के बराबर बाहर निकाले॥ १८॥

माषमात्रां तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि। श्रवणे नासिके गन्धा यतः स्वं न च संश्रयेत्॥

माष मात्र (उड़द के बराबर) लक्ष्य को अनुसंधान करके दृष्टि को श्रोत्र और पृथ्वी पर स्थिर करे। जिससे श्रवण (शब्द) और नासिका में गन्ध न स्थापित हो सके॥ १९॥

आगे के मंत्र क्र० २०,२१,२२ में सभी तन्मात्राओं को रुद्ध करके हृदय के तप से उत्पन्न नाद के माध्यम से आत्म-चेतना को ब्राह्मी चेतना के साथ संयुक्त करने की साधना का संकेत है। उसके लिए देहस्थ सभी तन्मात्राओं को संयमित करने की स्वानुभूत प्रक्रिया का संकेत ऋषि ने मंत्र क्र० १८,१९ में किया है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं का संयोग है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँचों तन्मात्राओं को बाहरी संवेदना से असम्बद्ध करके ही अन्तः अनुभूति में उतरा जा सकता है। ध्यान में नेत्र बन्द करने से अग्नि की तन्मात्रा 'रूप' के बाह्य संकेत बद्ध हो जाते हैं। मंत्र १८ के अनुसार-संयम, धारणा, ध्यान, समाधि से स्पर्श एवं रस की तन्मात्राएँ अन्तर्मुखी होती हैं। मंत्र १९ में पृथ्वी और श्रोत्र पर दृष्टि स्थिर करने के लिए उड़द के बराबर लक्ष्य का अनुसंधान करने को कहा गया है। वह बिन्दु कहीं नासिका मूल और कर्णमूलों के मध्य मस्तिष्क में ही हो सकता है, जहाँ गंध और शब्द का अनुभव करने वाले संवेदन कोष (सैंसिग सैल) स्थित हों, वहाँ अन्तः दृष्टि- ध्यान केन्द्रित करने से नासिकारंध्रों में प्रवेश करने वाली गंध तथा कर्णरंध्रों से प्रवेश करने वाले शब्द-अन्तःक्षेत्र की तन्मात्राओं में स्थापित नहीं हो सकते। इस प्रकार बहिर्जगत् से सभी तन्मात्राओं को असम्बद्ध करके ही अन्तःस्थिति-ब्राह्मीचेतना की प्रभावी अनुभूति संभव होती है—

अथ शैवपदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम्। तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मनाम्॥ २०॥

जो ब्रह्म का चिंतन करता है, वही स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है तथा वही शिव है। उस (अविनाशी ब्रह्म) को पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य कर्मों के फलस्वरूप अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता है॥ २०॥

संभूतैर्वायुसंश्रावैर्हृदयं तप उच्यते। ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम्॥ २१॥

वायु के नाद का प्रकट होना ही हृदय का तप कहा जाता है, वह शरीर को भेदकर ऊर्ध्व की ओर गमन करता हुआ मूर्धा को प्राप्त कर लेता है॥ २१॥

सामान्य जीवन में पृथ्वी तत्त्व के संचरण से गंध उत्पन्न होती है। गंध की अनुभूति से जल-रस सक्रिय होकर स्वाद को उत्तेजना मिलती है। रस की उत्तेजना से अग्नि-जठराग्नि में तीव्रता आती है। अग्नि की तीव्रता से शरीरस्थ वायु-प्राण की संचरण प्रक्रिया तीव्र होती है। प्राण की गतिशीलता से विविध सांसारिक सुखोपभोगों की क्षमता का विकास होता है। योगस्थ स्थिति में तन्मात्राओं को रुद्ध करके बाह्य सुखानुभूति-परक उनकी सक्रियता को घटाकर अन्तः आनन्द की ओर उन्हें उन्मुख किया जाता है। ऐसी स्थिति शरीरस्थ वायु-प्राण के गतिशील होने पर अक्षर अनाहत नाद की अनुभूति होती है। यह नाद मूर्धास्थित सहस्रार एवं ब्रह्मरंध्र को सक्रिय करके परमगति का मार्ग खोलने में समर्थ होता है-

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम्। भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः ॥ २२ ॥

अपने इस शरीर में मूर्धा को प्राप्त कर लेना ही परमगति कहा गया है। जो मनुष्य इस गति को प्राप्त कर लेते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी जन आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम्। अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत्॥ २३ ॥

विकाररहित और उदासीन भावयुक्त साक्षी को साक्ष्य-धर्म वैसे ही स्पर्श नहीं कर सकता, जिस प्रकार गृह-धर्म प्रज्वलित दीप पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकता॥ २३ ॥

[दीपक के प्रकाश में ही गृही (घर में रहने वाला) अपने विभिन्न धर्म कर्त्तव्यों को सम्पन्न करता है; लेकिन दीपक उन सबसे अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार योगी की चेतना उसकी काया द्वारा विविध कर्म किये जाने की स्थिति तो पैदा करती है; लेकिन स्वयं उससे अप्रभावित रहती है।]

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः। नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥ २४ ॥

यह जड़ात्मक शरीर चाहे जल-राशि में पड़ा रहे अथवा स्थल अर्थात् जल से रहित भूमि पर पड़ा रहे, मैं (जीवात्मा) जो स्वयं चैतन्य रूप हूँ, इस कारण से उसमें लिप्त नहीं हो सकता। जैसे घड़े के कारण घटाकाश में किसी भी तरह की विकृति नहीं आने पाती॥ २४ ॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः। निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः॥ २५ ॥ सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः। केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः॥ २६ ॥

मैं तो निष्क्रिय, विकाररहित, निष्कल, आकृतिरहित, निर्विकल्प, अनित्य, निरालम्ब, अद्वैत, सर्वात्मा, सर्वातीत एवं द्वयरहित हूँ। मैं केवल अखण्ड बोधस्वरूप हूँ तथा निरन्तर स्वयं आनन्दमय हूँ॥२५-२६

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम्। स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम्॥

मैं स्वयं को ही सतत देखता हूँ, स्वयं को ही अद्वैत रूप में मानता हुआ, स्वयं के आनन्द का उपभोग करता हुआ, मैं स्वयं ही निर्विकल्प रूप हूँ॥ २७ ॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वाऽन्यथापि वा।

यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिरित्युपनिषत्॥ २८ ॥

सतत चला हुआ, रुका हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ या कुछ भी करता हुआ, वह विद्वान् मुनि रूप आत्मा अपने में ही संतुष्ट हुआ अपनी इच्छानुसार जीवनयापन करे, ऐसी ही यह उपनिषद् है॥२८॥

ॐ आप्यायन्तु..................इति शान्तिः॥

॥ इति कुण्डिकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कैवल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय शाखान्तर्गत है। इसमें महर्षि आश्वलायन द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर ब्रह्माजी ने कैवल्य पद प्राप्ति का मर्म समझाया है। इस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर्म, धन या संतान के सहारे असंभव बतलाते हुए उसके लिए श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेने के लिए कहा गया है। अन्त:करण को नीचे की अरणि तथा 'ॐकार' को ऊर्ध्व अरणि के रूप में प्रयुक्त कर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके सांसारिक विकारों को दहन करने का निर्देश दिया गया है। स्वयं को ब्राह्मी चेतना से अभिन्न अनुभव करते हुए सबको स्वयं में तथा स्वयं को सबमें अनुभव करते हुए त्रिदेवों, चराचर, पंचभूतों सभी में अभेद की स्थिति का वर्णन किया गया है। अंत में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति कही गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच। अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्। यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्॥१॥

महान् ऋषि आश्वलायन भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी के समक्ष हाथ में समिधा लिए हुए पहुँचे और कहा- हे भगवन्! आप मुझे सदैव संतजनों के द्वारा सेवित, अतिगोपनीय एवं अतिशय वरिष्ठ उस 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश प्रदान करें, जिसके द्वारा विद्वज्जन शीघ्र ही समस्त पापों से मुक्त होकर उन 'परम पुरुष' परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं॥ १॥

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि॥ २॥

तदनन्तर ब्रह्माजी ने कहा-हे आश्वलायन! तुम उस अतिश्रेष्ठ परात्पर तत्त्व को श्रद्धा, भक्ति, ध्यान (चिंतन) और योगाभ्यास का आश्रय लेकर जानने का प्रयास करो॥ २॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥ ३॥

उस (अमृत) की प्राप्ति न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही धन के द्वारा हो पाती है। (उस) अमृतत्व को सम्यक् रूप से (ब्रह्म को जानने वालों ने) केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी ऊपर गुहा अर्थात् बुद्धि के गह्वर में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस (ब्रह्मलोक) में संयमशील योगीजन ही प्रविष्ट होते हैं॥ ३॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ४॥

जिन (योगीजनों) ने वेदान्त के विशेष ज्ञान से एवं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (अनुभूति) के द्वारा (उस) परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, ऐसे वे पवित्र अन्त:करण से युक्त योगीजन संन्यास-योग के द्वारा ब्रह्मलोक में गमन करके अमृततुल्य हो कल्पान्त में मुक्त हो जाते हैं॥ ४॥

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥ ५॥

(योगीजन) स्नान आदि से अपने शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् एकान्त स्थान में सुखासन से बैठें। उसके पश्चात् ग्रीवा, सिर तथा शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों का निरोध करके भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम करें। तदनन्तर संन्यास आश्रम में स्थित (वे) योगीजन अपने हृदय-कमल में रजोगुण से रहित, विशुद्ध, दु:ख-शोक से रहित आत्म तत्त्व का विशद चिन्तन करें॥ ५॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥ ६॥
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ ७॥

इस तरह से जो अचिन्त्य, अव्यक्त तथा अनन्तरूप से युक्त है, कल्याणकारी है, शान्त-चित्त है, अमृत है, जो निखिल ब्रह्माण्ड का मूल कारण है, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अनुपम है, विभु (विराट्) और चिदानन्द स्वरूप है, अरूप और अद्भुत है, ऐसे उस उमा (ब्रह्मविद्या) के साथ परमेश्वर को, सम्पूर्ण चर-अचर के पालनकर्त्ता को, शान्त स्वरूप, तीन नेत्रों वाले, नीलकण्ठ को-जो समस्त भूत-प्राणियों का मूल कारण है, सभी का साक्षी है और अविद्या से रहित हो प्रकाशमान हो रहा है, ऐसे उस (प्रकाशपुञ्ज परमात्मा) को योगीजन ध्यान के माध्यम से ग्रहण करते हैं॥ ६-७॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥ ८॥

वही (परात्पर पुरुष) ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर रूप में शाश्वत ब्रह्म है, वही भगवान् विष्णु है, वही प्राणतत्त्व है, वही कालाग्नि और चन्द्रमा के रूप में भी है॥ ८॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥ ९॥

जो कुछ व्यतीत हो चुका है तथा जो भविष्य में होने वाला है, सभी कुछ वही परात्पर परब्रह्म है; ऐसे उस श्रेष्ठ सनातन परमात्म तत्त्व को प्राप्त करके प्राणी मृत्यु से परे अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह फिर जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं फँसता॥ ९॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥ १०॥

जो मनुष्य अपनी आत्मा को समस्त भूत-प्राणियों के समान देखता है और समस्त भूत-प्राणियों को अपनी अन्तरात्मा में देखता है, ऐसा ही वह (साधक) परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करता है; वह अन्य दूसरे और किसी उपाय से उस (ब्रह्म) को नहीं प्राप्त कर सकता है॥ १०॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥ ११॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को नीचे की अरणि एवं ॐकार (प्रणव) को ऊर्ध्व की अरणि बनाते हुए ज्ञानरूपी मन्थन के अभ्यास-प्रक्रिया द्वारा जगत् के बन्धनों-पापों को विनष्ट कर डालते हैं अर्थात् ज्ञानाग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं॥ ११॥

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति॥ १२॥

वही (जीवात्मा) माया के अधीन हुआ, अति मोहग्रस्त होकर शरीर को ही अपना स्वरूप स्वीकार करते हुए सभी तरह के कर्मों को करता रहता है। वही जाग्रत् अवस्था में स्त्री, अन्न-पान आदि विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग करता हुआ तृप्ति लाभ प्राप्त करता है॥ १२॥

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति॥ १३॥

स्वप्नावस्था में वही जीव अपनी माया के द्वारा कल्पित जीवलोक में सभी तरह के सुख और दुःख का उपभोग करने वाला बनता है तथा सुषुप्ति काल में माया द्वारा रचित समस्त प्रपञ्चों के विलीन होने के उपरान्त वह (जीव) तमोगुण से अभिपूरित हुआ सुख के स्वरूप को प्राप्त करता है॥ १३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः। पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥१४॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥१५॥

तत्पश्चात् पुनः वह जीव जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों की प्रेरणा से सुषुप्ति से स्वप्नावस्था में अवतरित होता है। इसके अनन्तर (वह) जाग्रत् अवस्था में गमन करता है। इस तरह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप तीनों पुरियों में जो जीव क्रीड़ा करता है, उसी से यह सभी प्रपञ्चों की विचित्रता उत्पन्न होती है। इन सम्पूर्ण प्रपञ्चों का आधार-स्तम्भ आनन्दस्वरूप अखण्ड बोधस्वरूप है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर रूप तीनों पुरियाँ लय को प्राप्त होती हैं। इसी से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है; आकाश, वायु, अग्नि, जल और समस्त विश्व का धारण-पोषण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है॥१४-१५॥

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ १६॥

जो परब्रह्म परमेश्वर समस्त भूत प्राणियों की आत्मा है, जो सभी कार्य-कारण रूप जगत् का महान् आयतन (आधार) है, जो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, नित्य है, (वह) तत्त्व तुम्हीं हो, तुम वही हो॥ १६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥ १७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्था आदि जो प्रपञ्च प्रतिभासित है, वह परब्रह्म रूप है और वही मैं भी हूँ-ऐसा जानकर जीव समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥ मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ १९॥

तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) में जो कुछ भी भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में है, उनसे विलक्षण, साक्षीरूप, चिन्मय स्वरूप, वह सदाशिव स्वयं मैं ही हूँ। मैं ही स्वयं वह ब्रह्मरूप हूँ, मुझमें ही यह सब कुछ प्रादुर्भूत हुआ है, मुझमें ही यह सभी कुछ स्थित है और मुझमें ही सभी कुछ विलीन हो जाता है; वह अद्वय ब्रह्मरूप परमात्मा मैं ही हूँ॥ १८-१९॥

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि॥ २०॥

मैं (परब्रह्म) अणु से भी अणु अर्थात् परमाणु हूँ, ठीक ऐसे ही मैं महान् से महानतम अर्थात् विराट् पुरुष हूँ, यह विचित्रताओं से भरा-पूरा सम्पूर्ण विश्व ही मेरा स्वरूप है। मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही हिरण्यमय पुरुष हूँ और मैं ही शिवस्वरूप (परमतत्त्व हूँ)॥ २०॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।

अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्॥ २१॥

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ २२॥

वह हाथ-पैरों से रहित होते हुए भी सतत गतिशील है, जो चिन्तन से परे है, ऐसा शक्ति स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं नेत्रों के अभाव में सभी कुछ देखता हूँ, कानों के बिना भी सब कुछ श्रवण करता हूँ, बुद्धि आदि से पृथक् होकर भी मैं सब कुछ जानता हूँ; किन्तु मुझे जानने वाला कोई नहीं है, मैं सदा ही चित् स्वरूप हूँ। समस्त वेद-उपनिषदादि द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्त का कर्त्ता हूँ और वेदवेत्ता भी स्वयं मैं ही हूँ॥

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च॥ २३॥

मुझ (ब्रह्म) को पुण्य-पापादि कर्म स्पर्श नहीं करते , मैं कभी विनष्ट नहीं होता और न ही मेरा कभी जन्म ही होता है। न मेरे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ ही हैं। मेरे लिए न भूमि है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है और न आकाश तत्त्व ही है॥ २३॥

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्। समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥ २४॥ यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति स सुवर्णस्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्यत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्॥

जो भी मनुष्य अविनाशी ब्रह्म को इस प्रकार से गुहा-अर्थात् बुद्धि के गह्वर में स्थित, निष्कल (अंग विहीन) एवं अद्वितीय,सदसत् से परे, सभी के साक्षीरूप में विद्यमान जानता है, वह पवित्रतम परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जो भी मनुष्य इस शतरुद्रिय का पाठ करता है, वह अग्नि के सदृश पवित्र हो जाता है, वायु की भाँति गतिशील रहते हुए शुचिता का वरण करता है। वह सुरापान और ब्रह्म हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है; उसे स्वर्ण की चोरी का पाप भी नहीं लगता, शुभाशुभ कर्मों से उसका उद्धार हो जाता है। भगवान् सदाशिव के प्रति समर्पित हो वह अविमुक्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जो (मनुष्य) आश्रम से अतीत हो गये हैं, ऐसे उन परमहंसों को सर्वदा या फिर कम से कम एक बार इस (उपनिषद्) का पाठ अवश्य करना चाहिए॥ २४-२५॥

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।

तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते कैवल्यं पदमश्नुत इति॥ २६॥

इससे उस विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो ज्ञान भवसागर को नष्ट कर देता है। इस प्रकार इस उपनिषद् को ऐसा जानकर व्यक्ति कैवल्य फल को प्राप्त कर लेता है, कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है॥ २६॥

ॐ सह नाववतु.......................इति शान्तिः॥

॥ इति कैवल्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण का अंश है। इसमें कुल चार अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में गौतम (उद्दालक) एवं चित्र (गर्ग के प्रपौत्र) के संवाद द्वारा अग्निहोत्र एवं उसकी फलश्रुति पर प्रकाश डालते हुए अग्निहोत्री के मरणोपरान्त उसकी जीवात्मा किन-किन लोकों में होती हुई ब्रह्मलोक पहुँचती है, जहाँ अप्सराएँ उसका स्वागत-सत्कार करती हैं, वहाँ एक विचित्र पर्यक (पलंग) पर ब्रह्माजी विराजमान होते हैं, जिनसे अग्निहोत्र साधक की वार्ता होती है, अन्त में वह साधक ब्रह्माजी की विशेष विभूति से युक्त होकर उन्हीं के सदृश हो जाता है, इत्यादि वर्णन है। इसी को पर्यंक विद्या भी कहा जाता है। द्वितीय अध्याय में प्राणोपासना, आध्यात्मिक-अग्निहोत्र, विविध उपासनाएँ, दैवपरिमर में प्राणोपासना, मोक्ष हेतु सर्वश्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्राणोपासक का सम्प्रदान कर्म वर्णित है। तृतीय अध्याय में इन्द्र-प्रतर्दन संवाद के माध्यम से प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अजातशत्रु और गार्ग्य संवाद द्वारा सर्वप्रथम सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि इत्यादि में विद्यमान चैतन्य तत्त्व की उपासना की बात कही गई है और अन्त में 'आत्मतत्त्व' के स्वरूप और उसकी उपासना की फलश्रुति का प्रतिपादन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि.....................इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आत्मबोधोपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

चित्रो ह वै गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे । स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति । तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ते संवृतं लोके यस्मिन्माधास्यस्यन्यमुताहो बोद्धवा तस्य मा लोके धास्यसीति । स होवाच नाहमेतद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति । स ह पितरमासाद्य पप्रच्छेतीति मा प्राक्षीत्कथं प्रतिब्रवाणीति । स होवाचाहमप्येतन्न वेद सदस्येव वयं स्वाध्यायमधीत्य हरामहे यन्नः परे ददत्येह्युभौ गमिष्याव इति । स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्राम उपायानीति । तं होवाच ब्रह्मार्घोऽसि गौतम यो मानमुपागा एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति ॥ १ ॥

गर्ग ऋषि के प्रपौत्र महर्षि चित्र ने यज्ञ करने का निश्चय करके अरुण के पुत्र महात्मा उद्दालक को प्रधान ऋत्विक् के रूप में आमन्त्रित किया; किन्तु प्रसिद्ध मुनि उद्दालक स्वयं न जाकर अपने पुत्र श्वेतकेतु को महर्षि चित्र के यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिए भेजा। श्वेतकेतु अपने पिता की आज्ञानुसार यज्ञ में पहुँच कर एक ऊँचे आसन पर आसीन हुए। श्वेतकेतु को उच्च आसन पर आसीन हुआ देखकर चित्र ने प्रश्न किया-हे गौतम कुमार! इस लोक में कोई ऐसा आवरण युक्त स्थान है, जिसमें मुझे ले जाकर रखोगे ? या फिर उसमें भी कोई पृथक्-सर्वथा विलक्षण आवरण शून्य पद है, जिसको जान करके तुम उसी विशेष लोक में मुझे प्रतिष्ठित करोगे ? ऐसा सुनकर श्वेतकेतु ने महर्षि चित्र से कहा-हे भगवन्! मैं यह सब नहीं जानता; मेरे पिता आचार्य हैं, अतः उन्हीं से इस प्रश्न को पूछूँगा। इस प्रकार से कहकर श्वेतकेतु, उद्दालक के पास जाकर बोले-हे पिता जी! महर्षि चित्र ने इस तरह से प्रश्न किया है; तो मैं इसके सन्दर्भ में उन्हें किस तरह से उत्तर दूँ ? उद्दालक ने कहा-हे वत्स! मैं भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। हम दोनों लोग महाभाग चित्र की यज्ञशाला में चलकर इस प्रश्न

का अध्ययन करके ही इस विद्या को प्राप्त करेंगे। जब दूसरे अन्य लोग हमें विद्या एवं धन आदि प्रदान करते हैं, तो फिर चित्र भी देंगे ही। अतः आओ, हम दोनों महर्षि चित्र के पास चलें। तदनन्तर वे प्रसिद्ध आरुणि मुनि हाथ में समिधा ग्रहण करके जिज्ञासु भाव से गर्ग के प्रपौत्र महर्षि चित्र के यहाँ गये और कहा- 'मैं विद्या प्राप्ति हेतु आपके पास आया हूँ' । चित्र ने कहा-हे गौतम! आप ब्राह्मणों में अति पूजनीय एवं ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं; क्योंकि मेरे जैसे लघु व्यक्ति के समीप आते हुए आपके मन में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं हुआ। अतः आप आइये, आपको निश्चय ही इस पूछे हुए प्रश्न का स्पष्ट रूप से बोध कराऊँगा॥१॥

स होवाच ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते। अथापरपक्षे न प्रजनयति। एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यत्प्रत्याह तमतिसृजतेऽथ य एनं प्रत्याहतमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति स इह कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वान्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। तमागतं पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयाद्विचक्षणादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात्प्रसूतात्पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि कर्तर्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्रा संतद्विदेहं तन्म ऋतवो मर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसर्तुरस्म्यार्तवोऽस्मि कोऽसि त्वमस्मीति तमतिसृजते॥ २॥

महर्षि चित्र ने कहा-हे ब्रह्मन् ! जो भी कोई लोग अग्निहोत्रादि सत्कार्यों का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे सभी जब इस लोक से प्रयाण करते हैं, तो वे चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्ग लोक में गमन करते हैं। पूर्व पक्ष में (पुण्य शेष रहने तक) वे प्राणों द्वारा वहाँ के भोग पदार्थों का सेवन करते हैं। दूसरे पक्ष में (अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त भूत पुण्यों के क्षीण होने पर) चन्द्र लोक प्राणियों को तृप्ति नहीं दे पाता।

निश्चय ही यह चन्द्रमा स्वर्ग लोक के द्वार के नाम से प्रसिद्ध है। जो अधिकारी (दैवी सम्पत्ति से युक्त होने के कारण) उस स्वर्ग रूप चन्द्रमा का प्रत्याख्यान कर देता है (अर्थात् जहाँ से फिर से नीचे गिरना पड़े, ऐसा स्वर्ग मुझे नहीं चाहिए। ऐसा कहते हुए चन्द्रलोक का परित्याग कर देता है।), उस पुरुष को उसका वह शुभ संकल्प चन्द्रलोक से भी ऊपर अविनाशी ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित करा देता है; लेकिन जो पुरुष स्वर्गीय सुख के प्रति ही आसक्त होने के कारण चन्द्रलोक को स्वीकार कर लेता है, उस कामनायुक्त स्वर्गवासी को उसके पुण्य भोग के समाप्त होने पर उसे सभी देव वर्षा के रूप में परिवर्तित करके उसी लोक में ही पुनः बरसा देते हैं। वर्षा के रूप में वह यहाँ आया हुआ कर्मफल का भोक्ता जीव स्वकृत पूर्व वासनानुसार कीट-पतंग या पक्षी, व्याघ्र, सिंह, मछली, साँप, बिच्छू, मनुष्य या अन्य कोई दूसरा जीव होकर अनुकूल शरीरों में स्वकर्म एवं विद्या (उपासना) के अनुसार ही यहाँ-वहाँ जन्म लेता है। इस प्रकार अपने पास में आए हुए शिष्य से दयालु एवं तत्त्वज्ञान धारण करने वाले गुरु को इस तरह से पूछना चाहिए-हे वत्स! तुम कौन हो? गुरु के इस तरह से पूछने पर शिष्य को इस तरह उत्तर देना चाहिए। हे देवताओ! जो पन्द्रह कलाओं से युक्त शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष के कारणभूत श्रद्धा के माध्यम से प्रादुर्भूत, पितृलोक स्वरूप एवं विभिन्न प्रकार के भोगों को प्रदान करने में समर्थ हैं, उन चन्द्रमा के समीप से उत्पन्न होकर पुरुष रूप अग्नि में स्थापित हुआ, जो श्रद्धा, सोम, वृष्टि एवं अन्न का परिणामभूत वीर्य है, उस वीर्य के ही रूप में केन्द्रित हुए मुझ कर्मफल के भोक्ता जीव को तुमने वीर्याधान करने वाले पुरुष में प्रेरित किया। तदनन्तर गर्भाधान करने वाले पुरुष (पिता) के द्वारा तुमने मुझको माता के गर्भ में धारण करवाया। माता के गर्भ में द्वादश-त्रयोदश आर्षमास (२३ दिन का एक

आर्षमास) तक रहकर जन्म लिया। इस कारण अब मुझे अमृतत्व की प्राप्ति के साथ साधनभूत ब्रह्मज्ञान हेतु अनेक ऋतुओं तक अक्षय रहने वाली दीर्घायु प्रदान करें। ब्रह्म के साक्षात्कार तक मेरे दीर्घ जीवन हेतु चिरस्थाई आयु की पुष्टि प्रदान करें, क्योंकि यह सब कुछ जानकर के मैं समस्त देवताओं से प्रार्थना करता हूँ। इसीलिए उसी सत्य से, उसी तप से, जिनका कि मैंने अभी उल्लेख किया है, मैं वही ऋतु हूँ अर्थात् संवत्सरादि रूप मरणधर्मा मनुष्य हूँ। आर्तव हूँ-ऋतु अर्थात् रज-वीर्य के माध्यम से प्रादुर्भूत हुआ शरीर हूँ और यदि ऐसी बात नहीं है, तो आप ही कृपा करके बतायें कि मैं कौन हूँ? उस (शिष्य) के इस तरह से कहने पर संसार के भय से भयभीत हुए शिष्य को गुरु ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा भवसागर से पार करके बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर देता है॥ २॥

स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्तोऽन्वेष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षः सालज्यं संस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ। विभुप्रमितं विचक्षणाऽऽसन्द्यमितौजाः पर्यङ्कः प्रिया च मानसी प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यावयतौ वै च जगान्यम्बाश्चाम्बावयवीश्चाप्सरसः। अम्बया नद्यस्तमित्थंविदा गच्छति तं ब्रह्मा हाभिधावत मम यशसा विरजां वा अयं नदीं प्रापन्न वा अयं जरयिष्यतीति॥ ३॥

वह विराट् ब्रह्म का उपासक पूर्व में कहे हुए देवयान मार्ग पर पहुँच कर सर्वप्रथम अग्निलोक में गमन करता है। तदनन्तर वायुलोक में प्रस्थान करता है, फिर वहाँ से वह सूर्यलोक में गमन करता है, इसके बाद वरुण लोक में आता है, फिर वह इन्द्रलोक में आता है, इन्द्रलोक से प्रजापति के लोक में गमन करता हुआ ब्रह्म लोक में आ जाता है। इस ख्याति प्राप्त ब्रह्मलोक के प्रवेश मार्ग पर सर्वप्रथम 'अर' नामक एक महान् प्रसिद्ध जलाशय है। (काम, क्रोध, लोभादि अरियों-शत्रुओं के द्वारा निर्मित होने से ही उस जलाशय को अर के नाम से जाना गया है।) उस अर नामक जलाशय से आगे मुहूर्ताभिमानी देवता का स्थान है, काम, क्रोध, लोभादि की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत करके ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनुकूल की हुई उपासना एवं यज्ञादि पुण्य को नष्ट करने से 'इष्टिहा' (जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुँचाते हैं) कहलाते हैं। इसके आगे 'विरजा' नाम वाली नदी विद्यमान है, इस नदी के दर्शन मात्र से ही वृद्धावस्था दूर हो जाती है। इस नदी से आगे 'इल्य' नामक वृक्ष स्थित है। 'इला' पृथ्वी का नाम है और उस (इला) का ही स्वरूप होने के कारण उस वृक्ष का नाम 'इल्य' पड़ा। उससे आगे कई अनेक देवों के द्वारा सेव्यमान उद्यान, बावली, कूप, सरोवर एवं नदी आदि अलग-अलग जलाशयों से युक्त एक नगर है, उस नगर के एक ओर विरजा नामक नदी है एवं दूसरी ओर धनुष की प्रत्यञ्चा के आकार का (अर्धचन्द्राकार) एक परकोटा (चहारदीवारी) है। उसके आगे ब्रह्माजी का निवासभूत विशाल देवालय है, जो अपराजित' के नाम से प्रख्यात है। सूर्य के सदृश तेजस्वरूप होने के कारण वह कभी भी किसी के द्वारा पराजित नहीं होता। मेघ एवं यज्ञरूप से उपलक्षित वायु तथा आकाश स्वरूप इन्द्र एवं प्रजापति उस ब्रह्म देवालय के द्वार-रक्षक के रूप में विद्यमान हैं।

वहाँ पर एक सभा मण्डप है, जिसका नाम 'विभुप्रमित' है। उस सभा मण्डप के मध्य भाग में स्थित एक वेदी (चबूतरा) है, जो 'विचक्षणा' के नाम से प्रख्यात है। (उस वेदी का प्रतिपादन बुद्धि एवं महत्तत्त्व आदि के नामों से भी होता है) वह अति विशेष लक्षणों से युक्त है। जो अपरिमित बल से सम्पन्न है, ऐसा वह 'अमितौजस्' नामक प्राण ही भगवान् ब्रह्मा जी का सिंहासन (पलंग) है। मानसी प्रकृति मन की कारणभूता होने से या फिर मन को आनन्द प्रदान करने वाली होने के कारण वह मानसी कहलाती है। उसके आभूषण

भी उसी के अनुरूप हैं। 'चाक्षुषी' के नाम से उसकी छायामूर्ति की ख्याति है। वह तेजोयुक्त नेत्रों की प्रकृति होने के कारण अति तेज स्वरूप है। उसके अलंकारादि भी अत्यन्त तेजोमय हैं। यह संसार इन चतुर्विध प्राणियों-जरायुज, स्वेदज, अण्डज तथा उद्भिज्ज से परिपूर्ण है। समस्त विश्व, जड़-चेतन समुदाय भगवान् ब्रह्मा जी की वाटिका के पुष्प एवं उनके धौत (धोती) और उत्तरीय के रूप में युगल वस्त्र हैं। वहाँ की अप्सरायें (साधारण युवतियाँ) 'अम्बा' एवं 'अम्बावयवी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण विश्व को जन्म देने वाली श्रुतिरूपा होने से वह 'अम्बा' के नाम से प्रसिद्ध है और 'अम्ब' (अधिक) एवं 'अवयव' (अंश-न्यून) भाव से रहित बुद्धिरूपा होने के कारण उनका नाम 'अम्बावयवी' पड़ा। इसके अतिरिक्त वहाँ 'अम्बया' नाम वाली नदियाँ भी प्रवाहित होती हैं। अम्बक अर्थात् नेत्ररूप ब्रह्मज्ञान की ओर गमन करने के कारण उनकी 'अम्बया' संज्ञा है। ऐसे उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लोक को जो भी मनुष्य जानता है, वह उसी को प्राप्त होता है। उस पुरुष को जब कोई अमानव पुरुष आदित्यलोक से हमारे अर्थात् ब्रह्मलोक के लिए लाता है, तब उस समय ब्रह्मा जी अपने सहायकों एवं अप्सराओं से कहते हैं—दौड़ो, उस महात्मा पुरुष का मेरे यश एवं प्रतिष्ठा के अनुकूल स्वागत करो। मेरे लोक में लाने वाली उपासना आदि के कारण निश्चय ही यह (महान् पुरुष) उस विरजा नदी के पास तक आ गया है। निश्चय ही अब वह पुरुष वृद्धावस्था नहीं प्राप्त करेगा॥ ३॥

तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं फलहस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः शतं माल्यहस्तास्तं ब्रह्मालंकारेणालंकुर्वन्ति स ब्रह्मालंकारेणालंकृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्माभिप्रैति स आगच्छत्यारं ह्रदं तं मनसाऽत्येति। तमित्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति स आगच्छति मुहूर्तान्विहेष्टिहास्तेऽस्मादपद्रवन्ति स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति। तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतं तद्यथा रथेन धावयन्रथचक्रे पर्यवेक्षत, एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते सर्वाणि च द्वंद्वानि स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैवाभिप्रैति॥ ४॥

(ब्रह्माजी का आदेश प्राप्त होने पर उस पुरुष के सम्मान के लिए) पाँच सौ अप्सरायें जाती हैं। उनमें से सौ अप्सराएँ तो हाथों में (मंगल द्रव्य, केशर, हल्दी एवं रोली आदि के) चूर्ण लिए रहती हैं। अन्य सौ के हाथों में तरह-तरह के दिव्य वस्त्र तथा आभूषण आदि होते हैं। अन्य सौ अप्सराएँ अपने हाथों में फल लिए होती हैं, अन्य सौ के हाथों में विभिन्न तरह के दिव्य अङ्गराग होते हैं एवं सौ अप्सराएँ अपने हाथों में भाँति-भाँति की मालाएँ उसके सम्मानार्थ लिए होती हैं। वे सभी अप्सराएँ उस महान् आत्मा को ब्रह्मोचित अलंकारों से सुसज्जित करती हैं। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्माजी के योग्य आभूषणों को धारण करके ब्रह्माजी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर वह 'अर' नाम वाले सरोवर के समीप आकर उसे मन के द्वारा संकल्प मात्र से पार कर लेता है। उस जलाशय के समीप पहुँच कर अज्ञानी मनुष्य उसमें डूब जाते हैं। तत्पश्चात् वह ब्रह्मज्ञानी मुहूर्ताभिमानी 'इष्टिहा' नामक देवताओं के समीप में आता है; लेकिन वे विघ्नकारी देवता उसके पास से डरकर भाग जाते हैं। उसके बाद वह विरजा नदी के तट पर आ करके उस नदी को भी संकल्प मात्र से लाँघ जाता है। वहाँ पर वह ब्रह्मज्ञानी अपने समस्त पुण्य एवं पापों को त्याग देता है। जो उसके कुटुम्बी प्रिय-परिजन आदि होते हैं, वे सभी लोग तो उसके पुण्य के भागीदार बनते हैं; किन्तु जो उस (दिव्यात्मा) से द्वेष करने वाले होते हैं, उन्हें उसके द्वारा त्यागे हुए पापों का भागीदार बनना पड़ता है। (उस सन्दर्भ में यह दृष्टान्त इस प्रकार है)-रथ के द्वारा यात्रा करने वाला पुरुष दौड़ाते हुए रथ के दोनों चक्रों का भूमि से जो संयोग-वियोग होता है, वह उन चक्रों को देखते रहने पर भी आरोही को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष रात एवं

दिन को , पाप एवं पुण्य को तथा अन्य सभी तरह के द्वन्द्वों को देखता है, परन्तु द्रष्टा होने के कारण ही वह इनसे सम्बन्धरहित रहता है। इस कारण वह पुण्य एवं पाप से रहित होता है। अतः ब्रह्मज्ञान के कारण ही वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति, स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मरसः प्रविशति, स आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति स आगच्छति। इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तावस्मादपद्रवतः स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति स आगच्छति विचक्षणामासन्दीं बृहद्रथन्तरे सामनी पूर्वौ पादौ श्यैतनौधसे चापरौ वैरूपवैराजे अनूच्येते शाक्करैवते तिरश्ची सा प्रज्ञा प्रज्ञया हि विपश्यति स आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणस्तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथंतरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्ये ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानानि यजूंषि तिरश्चीनानि सोमांशव उपस्तरणमुद्गीथ उपश्रीः श्रीरुपबर्हणं तस्मिन्ब्रह्मास्ते तमित्थंवित्पादेनैवाग्र आरोहति। तं ब्रह्मा पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात्॥ ५॥

इसके पश्चात् वह (पुरुष) 'इल्य' नामक वृक्ष के पास गमन करता है। उस समय उसकी घ्राणेन्द्रिय में ब्रह्म-गन्ध का प्रवेश होता है। तदनन्तर वह 'सालज्य' नामक नगर के पास आता है, वहाँ उसकी स्वादेन्द्रिय में उस दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरस की अनुभूति होती है, जिसका कि उसे इसके पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ होता। इसके बाद वह 'अपराजित' नाम वाले ब्रह्म मन्दिर के पास में आता है। वहाँ पर उसमें ब्रह्मतेज का प्रवेश होता है। फिर वह द्वार रक्षक इन्द्र एवं प्रजापति के समीप में गमन करता है, प्रजापति उसके सामने से रास्ता छोड़कर अलग हट जाते हैं। इसके अनन्तर वह 'विभुप्रमित' नामक सभा मण्डप में पहुँचता है, वहाँ पर उसके अन्तःकरण में ब्रह्मयश प्रविष्ट करता है, फिर वह 'विचक्षणा' नाम से युक्त वेदी के समीप में आता है। 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' ये दो साम उस पलंग के दोनों अग्रभाग के पाये हैं और 'श्यैत' एवं 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पृष्ठ भाग के पाये हैं। 'वैरूप' तथा 'वैराज' नाम से युक्त ये साम उसके दक्षिणी एवं उत्तरी पार्श्व हैं। 'शाक्कर' एवं 'रैवत' नामक साम उसके पूर्वी और पश्चिमी पार्श्व हैं। वह समष्टि-बुद्धिरूपा है। वह ब्रह्मवेत्ता उस बुद्धि के माध्यम से विशेष दृष्टि प्राप्त कर लेता है। इसके बाद वह 'अमितौजस्' नामक पलंग अथवा सिंहासन के समीप में आता है, वह पर्यङ्क (पलंग) प्राणरूप ही है, भूत एवं भविष्यत् काल उसके अग्रभाग के पाये हैं, श्रीदेवी या भूदेवी ये दोनों उस सिंहासन के पृष्ठभाग के पाये हैं। उसके उत्तर एवं दक्षिण क्षेत्र में जो 'अनूच्य' नामक दीर्घ खट्वाङ्ग हैं, वे 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नाम से युक्त साम हैं और पूर्व एवं पश्चिम क्षेत्र में जो छोटे खट्वाङ्ग हैं और जिन पर सिर एवं पैर रखे जाते हैं, वे 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। पूर्व से पश्चिम दीर्घाकार के रूप में लगी हुई पाटियाँ ऋक् एवं साम की प्रतीक हैं। दक्षिण एवं उत्तर की ओर जो आड़ी तिरछी लगी हुई पाटियाँ हैं, स्वयं यजुर्वेद स्वरूप ही हैं। चन्द्रमा की कोमल एवं शीतल रश्मियाँ ही उस पर्यङ्क (पलंग) के मुलायम गद्दे के रूप में हैं। उद्गीथ ही उस पर बिछी हुई उपश्री अर्थात् श्वेत चादर है। श्रीलक्ष्मी जी, उस पलंग पर तकिया के रूप में हैं। ऐसे दिव्य पर्यङ्क पर भगवान् ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं। इस श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान को इस प्रकार से भली-भाँति जानने वाला ब्रह्मज्ञानी उस पलंग पर सर्वप्रथम पैर रखकर आसीन होता है।

तदनन्तर ब्रह्माजी उस ब्रह्मज्ञानी से प्रश्न करते हैं-तुम कौन हो? उन भगवान् ब्रह्माजी के प्रश्न का उत्तर उसे इस प्रकार से देना चाहिए॥ ५॥

ऋतुरस्म्यार्तवोऽस्म्याकाशाद्योनेः संभूतो भार्या एतत्संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्य भूतस्य भूतस्यात्मा त्वमात्मासि यस्त्वमसि सोऽहमस्मीति तमाह कोऽहमस्मीति सत्यमिति ब्रूयात्किं तद्यत्सत्यमिति यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्त्यं तदेतया वाचाऽभिव्याह्रियते सत्यमित्येतावदिदं सर्वमिदं सर्वमसि। इत्येवैनं तदाह। तदेतदृक्श्लोकेनाभ्युक्तम् यजूदरः सामशिरा आसावृङ्मूर्तिरव्ययः। स ब्रह्मेति स विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महानिति। तमाह केन मे पौंस्यानि नामान्याप्नोतीति प्राणेनेति ब्रूयात्। केन स्त्रीनामानीति वाचेति केन नपुंसकानीति मनसेति केन गन्धानिति प्राणेनेत्येव ब्रूयात्। केन रूपाणीति चक्षुषेति केन शब्दानिति श्रोत्रेणेति केनान्नरसानिति जिह्वयेति केन कर्माणीति हस्ताभ्यामिति केन सुखदुःखे इति शरीरेणेति केनानन्दं रतिं प्रजातिमित्युपस्थेनेति। केनेत्या इति पादाभ्यामिति केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति प्रज्ञयेति ब्रूयात्तमाह। आपो वै खलु मे ह्यसावयं ते लोक इति सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्यष्टिस्तां जितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद य एवं वेद॥ ६॥

मैं स्वयं ही वसन्तादि ऋतु स्वरूप हूँ, ऋतु से सम्बन्धित हूँ। मैं कारणभूत अव्याकृत आकाश एवं स्वयं प्रकाश रूप परब्रह्म अविनाशी परमात्म तत्त्व से प्रादुर्भूत हुआ हूँ। जो भूत (अतीत, यथार्थ कारण, जड़-चेतन स्वरूप चतुर्विध सर्ग एवं पञ्च महाभूत स्वरूप) है, उस संवत्सर का तेज मैं स्वयं हूँ। मैं स्वयं आत्मा हूँ। आप आत्मा हैं, हे भगवन्! जो आप हैं, वही मैं हूँ। उस ब्रह्मवेत्ता के इस तरह से उत्तर देने पर ब्रह्माजी पुनः पूछते हैं कि मैं कौन हूँ? इसके उत्तर में वह इस प्रकार कहे-'आप सत्य हैं'। जो सत्य है, जिसे तुम सत्य कहते हो, वह क्या है? ऐसा प्रश्न ब्रह्माजी के द्वारा पूछने पर वह इस प्रकार उत्तर दे-जो समस्त देवताओं एवं प्राणों से भी सर्वथा भिन्न एवं विशेष लक्षणों से युक्त हो, वह 'सत्' है और जो देवता प्राणस्वरूप है, वह 'त्य' है। वाणी के द्वारा जिस तत्त्व को 'सत्य' कहते हैं, वह यही है। यही सभी कुछ है। आप ही यह सभी कुछ हैं, अतः आप ही सत्य हैं। यही तथ्य ऋग्वेद के मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त हुआ है-'जिसका उदर यजुर्वेद है, मस्तक सामवेद है तथा सम्पूर्ण शरीर ऋग्वेद है, वह अविनाशी परमात्मा 'ब्रह्मा' के नाम से विख्यात है, वह जानने योग्य है। वह ब्रह्ममय-ब्रह्मरूप महान् ऋषि है।' इसके बाद पुनः ब्रह्माजी उस उपासक से पूछते हैं- तुम मेरे पुरुषवाचक नामों को किससे ग्रहण करते हो? वह उत्तर दे-प्राण से। (प्र०)- स्त्रीवाचक नामों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) वाणी से। (प्र०) नपुंसक वाची नामों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) मन से। (प्र०) गन्ध का अनुभव किससे करते हो? (उ०) प्राण से -घ्राणेन्द्रिय से। (प्र०) रूपों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) नेत्र से। (प्र०) शब्दों को किससे सुनते हो? (उ०) कानों से (प्र०) अन्न का आस्वादन किससे करते हो? (उ०) जिह्वा से (प्र०) कर्म किससे करते हो? (उ०) हाथों से। (प्र०) सुख-दुःखों का अनुभव किससे करते हो? (उ०) शरीर से। (प्र०) रति का आनन्द एवं प्रजोत्पत्ति का सुख किससे उठाते हो? (उ०) उपस्थ से। (प्र०) गमन क्रिया किससे करते हो? (उ०) दोनो पैरों से। (प्र०) बुद्धि-वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों को और मनोरथों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) प्रज्ञा से-ऐसा कहे। तब ब्रह्मा उससे कहते हैं-'जल आदि प्रसिद्ध पाँच महाभूत मेरे स्थान हैं, अतः यह मेरा लोक भी जलादि-तत्त्व-प्रधान ही है। तुम मुझसे अभिन्न मेरे उपासक हो, अतः यह तुम्हारा भी लोक है।' वह ब्रह्मा की जो जिति (विजय करने की शक्ति) तथा व्यष्टि (सर्वव्यापकता) शक्ति है, वह उपासक इन दोनों शक्तियों को भी प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता है अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ब्रह्मा की तरह शक्ति-सम्पन्न हो जाता है॥ ६॥

॥ द्वितीयोऽध्याय: ॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति। तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति। य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति। एष धर्मो याचितो भवति। अन्यतस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति॥ १ ॥

(प्राण तत्त्व की उपासना) सुप्रसिद्ध 'कुषीतक' ऋषि के सुपुत्र ऋषि कौषीतकि कहते हैं कि यह प्राण ही ब्रह्म है। उन प्रसिद्ध प्राण रूप ब्रह्म को यहाँ पर राजा के स्वरूप में कल्पित किया गया है। उन (प्राण) का मन ही दूत है, वाणी परोसने वाली उनकी रानी है, चक्षु संरक्षक (मन्त्री) है और कर्णेन्द्रिय संदेश सुनाने वाला द्वारपाल है। उन सुप्रसिद्ध प्राणरूप ब्रह्म को बिना माँगे ही ये सभी इन्द्रियाभिमानी देवगण भेंट प्रदान करते हैं। (प्राण के संसर्ग से मन एवं इन्द्रियों की क्रियाएँ सहज ही होने लगती हैं, यह प्रक्रिया स्वचालित होने से इसे बिना माँगे दी जाने वाली भेंट कहा गया है।) इस तरह से जो इस रहस्य का ज्ञाता है, उसको बिना याचना किये ही समस्त चराचर प्राणी भेंट समर्पित करते हैं। उस श्रेष्ठ प्राण के उपासक के लिए यह गूढ़ व्रत है कि 'वह किसी से कभी कुछ भी न माँगे। ठीक वैसे ही, जैसे कोई भिक्षुक गाँव में भीख माँगने पर जब कुछ भी नहीं पाता, तो निराश होकर बैठा रहता है एवं कुपित होकर यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि अब से इस गाँव के लोगों के द्वारा देने पर भी दान ग्रहण नहीं करूँगा। वह भिक्षु जिस दृढ़ता से अपनी बात पर आरूढ़ रहता है, वैसे ही प्राण की उपासना करने वाले को अपने न माँगने के व्रत पर दृढ़ रहना चाहिए। याचक धर्म के साथ दीनता का भाव जुड़ा रहता है। याचना एवं दैन्य प्रदर्शन से सदा दूर रहने वाले साधक को लोग ऐसे ही आमन्त्रण देते रहते हैं- 'आओ' हम तुम्हें भिक्षा प्रदान करेंगे॥ १॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह पैङ्ग्यस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो वाक्परस्ताच्चक्षुरारुन्धे चक्षुः परस्ताच्छ्रोत्रमारुन्धे श्रोत्रं परस्तान्मन आरुन्धे मनः परस्तात्प्राण आरुन्धे तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इत्येष धर्मो याचितो भवत्यन्यतस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति॥२॥

'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा प्रसिद्ध महात्मा पैङ्ग्य भी कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राण रूप ब्रह्म के लिए वाणी से परे नेत्र-इन्द्रिय है, जो वाक् इन्द्रिय को सभी ओर से व्याप्त करके विद्यमान है। चक्षु से परे श्रोत्रेन्द्रिय है,उसने नेत्र को सब ओर से व्याप्त कर रखा है। श्रवणेन्द्रिय से परे मन है, जो कि श्रवणेन्द्रिय को सब ओर से व्याप्त करके स्थित है; क्योंकि मन के सावधान रहने पर ही यह श्रोत्रेन्द्रिय श्रवण करने में समर्थ हो सकती है। मन से परे प्राण है, जो मन को सभी ओर से व्याप्त करके स्थित है। प्राण ही मन को बाँधकर रखने वाला है, ऐसी बात प्रसिद्ध है। प्राण के न रहने पर तो मन भी नहीं रह सकता, इसलिए सब की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं आन्तरिक आत्मा होने से प्राण का ब्रह्म होना उचित ही है। उस प्राण स्वरूप परमात्मा को ये सभी देवगण उसके न माँगने

पर भी उपहार समर्पित करते हैं। इसी तरह से जो उसे ऐसा जानता है, उस साधक को समस्त जीव बिना याचना के ही पृथक्-पृथक् उपहार प्रदान करते हैं। उसका यह अत्यन्त दृढ़ निश्चय है कि वह किसी से कभी भी याचना न करे। इस सन्दर्भ में वही पूर्वोक्त उदाहरण है॥ २॥

अथात एकधनावरोधनं यदेकधनमभिध्यायात्पौर्णमास्यां वाऽमावास्यायां वा शुद्धपक्षे वा पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य परिस्तीर्य पर्युक्ष्योत्पूय दक्षिणं जान्वाच्य स्रुवेण वा चमसेन वा कंसेन वैता आज्याहुतीर्जुहोति वाङ्नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। प्राणो नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। चक्षुर्नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। श्रोत्रं नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। मनो नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। प्रज्ञा नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनु विमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्यार्थं ब्रुवीत दूतं वा प्रहिणुयाल्लभते हैव॥ ३॥

अब एकमात्र धन (प्राण) के निरोध की बात कही जाती है। यदि एक मात्र धन (प्राण) का ध्यान करे, तो पूर्णिमा अथवा अमावस्या को या फिर शुक्ल अथवा कृष्ण पक्ष की किसी भी शुभ-तिथि को पुण्य (श्रेष्ठ) नक्षत्र में अग्नि की स्थापना, (वेदी का) परिसमूहन संस्कार, कुशों का बिछाना, अभिमन्त्रित जल से अग्निवेदी आदि का अभिषेक एवं अग्नि पर पात्र में रखे हुए घृत का शोधन करके दाहिने घुटने को पृथ्वी पर स्थिर करके स्रुवा से, चमस से या काँसे की करछुल से (मूल संस्कृत में दिये गये वाङ्नाम देवता ..... स्वाहा आदि मन्त्रों द्वारा) विधिवत् आहुति समर्पित करे।

मन्त्रों के भाव इस प्रकार हैं- ॐ वाङ्नाम देवतावरोधिनी............ अवरुन्धां तस्यै स्वाहा- 'वाणी' नाम से प्रसिद्ध देवी अवरोधिनी साधक की कामना पूर्ति करने वाली है। वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक व्यक्ति से इच्छित अर्थ की सिद्धि कराये; उसके लिए यह घृताहुति सादर समर्पित है। प्राण देवता अभीष्ट सिद्धि प्रदान करने में समर्थ हैं, वे मुझ प्राणोपासक को धन (प्राण) की प्राप्ति कराएँ। इसके लिए यह आहुति समर्पित है। चक्षु नाम से युक्त देवी कामनापूर्ति में सहायक है, वह देवी मुझ प्राणोपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन (प्राण) प्राप्त कराए। यह घृताहुति उसी के लिए समर्पित है। श्रोत्र नाम से युक्त देवी अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है, वह मुझ प्राणस्वरूप ब्रह्म के साधक को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन (प्राणों) की प्राप्ति कराये, इसके निमित्त यह घृताहुति समर्पित है। 'मन' नाम वाली देवी अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है, वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन (प्राण) की प्राप्ति कराये, यह घृताहुति उसके निमित्त समर्पित है। 'प्रज्ञा' नामक देवी इच्छित फल देने वाली है। वह मुझ प्राणदेव के उपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन (प्राण) की प्राप्ति कराये। यह आहुति उसके लिए ही समर्पित है। इस तरह से आहुतियाँ देने के बाद धूम की गन्ध को ग्रहण करके हवन से बचे हुए घृत से अपने अंगों में लेपन करके मौन भाव से धन-स्वामी के समीप में गमन करे और इच्छित अर्थ के सम्बन्ध में कहे कि इतने धन की मुझे विशेष आवश्यकता है। अतः आपके यहाँ प्राप्त हो जाना चाहिए अथवा यदि धनिक कहीं दूर है, तो किसी दूत के द्वारा उक्त संदेश कहलाने के लिए उसके पास भेज देना चाहिए। इस प्रकार के कार्य द्वारा अभीष्ट धन (प्राण) की प्राप्ति हो जाती है॥ ३॥

अथातो दैवः स्मरो यस्य प्रियो बुभूषेद्यस्यै वा एषां वै तेषामेवैकस्मिन्पर्वण्यग्निमुपसमाधायैतयैवावृतैता आज्याहुतीर्जुहोति वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनु विमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्य संस्पर्शं जिगमिषेदपि वाताद्वा संभाषमाणस्तिष्ठेत्प्रियो हैव भवति स्मरन्ति हैवास्य॥ ४॥

अब इसके पश्चात् वाणी आदि देवों के द्वारा सिद्ध होने वाले अभीष्ट की पूर्ति का प्रकार बताया गया है। यदि उपासक किसी का आत्मीय बनने की इच्छा करे, तो उसे किसी का भी प्रिय होने से पूर्व 'वाक्' आदि देवों का आत्मीय-प्रिय बनना चाहिए। किसी एक शुभ पर्व के दिन पूर्वोक्त नियमानुसार शुभ तिथि एवं शुभ मुहूर्त में पहले कहे हुए के अनुसार ही अग्नि की स्थापना, (वेदी का) परिसमूहन (संस्कार करना), कुशों का बिछाना, वेदी आदि का अभिषेक, घृत का उत्पवन (शोधन) आदि करके 'वाचं ते मयि......... स्वाहा' आदि मंत्रों से घृताहुतियाँ समर्पित करे। मंत्रों के अर्थ इस प्रकार हैं-मैं तुम्हारी वागिन्द्रिय का अपने में हवन करता हूँ, मेरा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाये, इस भाव से यह आहुति समर्पित है। मैं अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए आपके प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन आदि इन्द्रियों तथा आपकी प्रज्ञा को भी अपने में हवन करता हूँ। इस भाव से ये विशेष घृताहुतियाँ आपके लिए समर्पित हैं।

इन आहुतियों के पश्चात् होम-धूम की गन्ध को घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कर होमावशिष्ट घृत का अपने अंगों पर लेपन करके मौन रहते हुए अमुक व्यक्ति के पास जाए अथवा ऐसे स्थान पर खड़ा होकर कहे कि जहाँ वायु के सहयोग से उसके शब्द इच्छित व्यक्ति के कानों में सुनाई पड़ें, तो निश्चय ही वह उस (व्यक्ति) का प्रिय हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि उस जगह से हट जाने पर वहाँ के निवासी उसको सदैव स्मरण करते रहते हैं ॥४॥

अथातः सांयमनं प्रातर्दनमान्तरमग्निहोत्रमिति चाचक्षते यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति। एते अनन्ते अमृताहुती जाग्रच्च स्वपंश्च संततमव्यवच्छिन्नं जुहोत्यथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येतद्ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुः॥ ५॥

आध्यात्मिक अग्निहोत्र-

अब दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन के द्वारा किया गया अनुष्ठान, 'प्रातर्दन' नाम से प्रख्यात और संयम से पूर्ण होने से 'सांयमन' कहलाने वाले अग्निहोत्र के सम्बन्ध में बतलाते हैं। निश्चय ही व्यक्ति मुख से जब तक कुछ बोलता रहता है, तब तक वह पूर्ण रूप से श्वास नहीं ग्रहण कर पाता । उस समय वह प्राण का वाणीरूप अग्नि में हवन कर देता है। ये वाणी एवं प्राणरूप दो आहुतियाँ कभी अन्त न होने वाली तथा अमृत स्वरूप हैं। जाग्रत् एवं स्वप्नकाल में भी प्राणी सदैव अविच्छिन्न रूप से इन आहुतियों को होमता रहता है। इसके अतिरिक्त वाणी एवं प्राणरूप आहुतियों से भिन्न जो अन्य दूसरी द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्म द्वारा ही गतिमान् रहती हैं। यह प्रसिद्ध है कि इस रहस्य को जानने वाले प्राचीनकालीन विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्र का अनुष्ठान सम्पन्न नहीं करते थे॥ ५॥

[यहाँ ऋषि यह स्पष्ट कर रहे हैं कि पदार्थ परक अग्निहोत्र के साथ भाव-संयोग पूर्वक वाणी और प्राण की अमृत आहुतियाँ भी समर्पित की जानी चाहिए, तभी उनका आध्यात्मिक प्रभाव उभरता है। इसके लिए साधकों को वाक् और प्राण की साधना विशेष रूप से करनी पड़ती है।]

उक्थं ब्रह्मेति ह स्माह शुष्कभृङ्गारस्तदृगित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्यायाभ्यर्चन्ते तद्यजुरित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय युज्यन्ते तत्सामेत्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय संनमन्ते तच्छ्रीरित्युपासीत तद्यश इत्युपासीत तत्तेज इत्युपासीत तद्यथैतच्छस्त्राणां श्रीमत्तमं यशस्वितमं तेजस्वितमं भवति। तथैवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रीमत्तमो यशस्वितमस्तेजस्वितमो भवति। तमेतमैष्टकं कर्ममयमात्मानमध्वर्युः संस्करोति तस्मिन्यजुर्मयं प्रवयति यजुर्मय ऋङ्मयं होता ऋङ्मये साममयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयीविद्याया आत्मैष उ एवास्यात्मा एतदात्मा भवति य एवं वेद॥ ६॥

सुप्रसिद्ध महात्मा शुष्कभृङ्गार भी 'उक्थ' अर्थात् प्राण ही ब्रह्म है-ऐसा कहते हैं। उक्थरूपी प्राण को ऋक् मानकर बुद्धिपूर्वक उपासना करे। जो उक्थ में ऋक् को जान लेता है, उस ज्ञानी की समस्त प्राणी श्रेष्ठ बनने के लिए प्रार्थना करते हैं। वह उक्थ रूप प्राण 'यजुर्वेद' है, इसकी श्रेष्ठ बुद्धि से उपासना करे। इससे समस्त प्राणी श्रेष्ठता के लिए उस ज्ञानी के साथ सहयोग करते हैं। जिस साधक को उक्थ में साम बुद्धि हो, उसके सामने समस्त श्रेष्ठ-काम्य प्राणी सिर झुकाते हैं। वह उक्थ रूप प्राण 'श्री' है। उसकी श्री भाव से उपासना की जाती है। वह उक्थ 'यश' है, इस भाव से उपासना करनी चाहिए। वह 'तेजरूप' है, इस भावना से उपासना करे। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण है-जिस प्रकार अध्यात्म शास्त्र सभी शास्त्रों में अत्यन्त श्री-सम्पन्न, परम यशस्वी एवं परम तेजोमय होता है, वैसे ही जो इस तरह से उस उक्थरूप प्राण को जानता है, वह मनीषी सम्पूर्ण प्राणियों में सर्वाधिक श्री-सम्पन्न, परम यशस्वी तथा परम तेजोमय होता है। इस उक्थरूप प्राण को एवं ईंटों के द्वारा निर्मित वेदी पर संचित कर्ममय अग्नि को भी अभिन्न अनुभव करते हुए अध्वर्यु नामक ऋत्विक् अपना संस्कार सम्पन्न करता है। उस प्राण में ही वह यजुर्वेद साध्य कार्यों का विस्तार करता है। इस वेदरूपी त्रयी विद्या की आत्मा-यह अध्वर्यु रूप प्राण है। प्राण को ही इस विद्या को आत्मा कहा गया है। जो प्राणी इस प्राण को इस प्रकार से जानता है, वह स्वयं भी प्राण के सदृश हो जाता है॥ ६॥

अथातः सर्वजितः कौषीतकेस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्य त्रिरुदपात्रं प्रसिच्योद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेत वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धीत्येतयैवावृता मध्ये सन्तमुद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धीत्येतयैवावृताऽस्तं यन्तं संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धीति। यदहोरात्राभ्यां पापं करोति सं तद्वृङ्क्ते॥ ७॥

(विविध उपासनाओं का वर्णन-) इसके पश्चात् अब कौषीतकि ऋषि के द्वारा अनुभव में लायी हुई तीन बार सम्पन्न की जाने वाली उपासना पद्धति कही जाती है। यज्ञोपवीत को सव्य भाव से बायें कन्धे पर रखकर आचमन करे तदनन्तर जल पात्र को तीन बार शुद्ध जल से भरकर उदय होते हुए सूर्य को अर्घ्य प्रदान करे। (अर्घ्य प्रदान करते समय इस मन्त्र का उच्चारण करे-) 'ॐ वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि' अर्थात् 'संसार को तृणवत् त्याग देने से तुम वर्ग कहलाते हो, मेरे पापों को मुझसे दूर करो।' इसी तरह मध्याह्नकाल में भी भगवान् भास्कर का उपस्थान करे। (उस समय इस मंत्र का उच्चारण करे) 'ॐ उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि' अर्थात् 'तुम उद्वर्ग कहे जाते हो, मेरे पापों को नष्ट करो।' इसी तरह से सायंकाल में अस्त होते हुए

भगवान् सूर्य का निम्न मंत्र से उपस्थान करे- 'ॐ संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि' अर्थात् 'तुम संवर्ग कहलाते हो, अत: मेरे पापों को दूर करो।' इस उपासना का परिणाम यह है कि मनुष्य दिन एवं रात्रि में होने वाले समस्त पापों का पूर्णत: परित्याग करने में समर्थ हो जाता है॥ ७॥

अथ मासि मास्यमावास्यायां पश्चाच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता हरिततृणाभ्यां वाक्प्रत्यस्यति यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्येशाने माऽहं पौत्रमघं रुदमिति न हास्मात्पूर्वाः प्रजाः प्रैतीति नु जातपुत्रस्याथाजातपुत्रस्याप्यायस्व समेतु ते सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा यमादित्या अंशुमाप्याययन्तीत्येतास्तिस्र ऋचो जपित्वा माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययिष्ठा योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्त इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥ ८॥

(अब दूसरी उपासना का वर्णन करते हैं) हर महीने की अमावस्या को, जब सूर्य के पश्चिम भाग में स्थित सुषुम्ना नामक रश्मि में चन्द्रमा का स्थित होना स्पष्ट परिलक्षित हो, उस समय उपर्युक्त विधि से ही उपस्थान (पूजन) करे। इसकी विशेषता मात्र इतनी ही है कि अर्घ्यपात्र में दो हरी दूर्वा के अंकुर भी रखे एवं उससे अर्घ्य देते हुए चन्द्रमा के प्रति ''यत्ते सुसीमं हृदयमधि......पौत्रमघं रुदम्'' मंत्र से वाणी का प्रयोग करें। (इस मंत्र का भाव यह है-) 'हे सोममंडल की अधिष्ठात्री देवि! अतिसुन्दर भावना से युक्त आपका हृदय (हृदय में स्थित आनन्दमय स्वरूप) चन्द्रमण्डल में विद्यमान है, उसके द्वारा आप अमृतत्व पद पर भी अधिकार रखने वाली हैं। आप मुझ पर ऐसी कृपा करें, जिससे कि कभी पुत्र के शोक से मुझे व्यथित होकर रोना न पड़े'। इस तरह से उपासना करने वाला यदि पुत्र को प्राप्त कर चुका हो, तो उसका पुत्र उसके मरने से पूर्व मृत्यु को नहीं प्राप्त होगा। यदि उसके कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ हो, तो वह भी पूर्व की ही तरह सभी कार्य सम्पन्न करके दो हरी दूर्वा के अंकुर रख करके नीचे लिखे तीन मंत्रों का जप करे-

(क) 'आप्यायस्व समेतु........संवृष्ण्यान्यभिमातिषाह:'।

(ख) 'आप्यायमानो........धिष्वा' (ग) 'यमादित्या .... भुवनस्य गोपा:'। इन तीनों ऋचाओं का भावार्थ इस प्रकार है-(क) हे स्त्रीरूपी सोम! तुम पुरुष रूपी सूर्य के प्रकाश से विकास को प्राप्त हो। पुरुष के प्राकट्य का कारणभूत जो वीर्य अर्थात् अग्नि सम्बन्धी तेज है, वह तुम में स्थित हो। तुम सभी ओर से अन्न की प्राप्ति में सहायक बनो। (ख) हे सोम! तुम सौम्य गुणों से युक्त हो। तुम्हारा दिव्य रस सूर्य के तेज को प्राप्त करके पुरुष मात्र के लिए अत्यन्त हितकारी हो जाता है। इस दिव्य रस का सेवन करने वाले पुरुषों को पुष्टि दे करके उनके सभी शत्रुओं का पराभव कराने में भी आप पूर्ण सक्षम हैं। वे दुग्ध एवं जल, अन्न से निर्वाह करने वाले निरामिषभोजी जीवों को सुगमतापूर्वक मिलते रहें। आग्नेय तेज से प्रसन्नता को प्राप्त करते हुए तुम अमृतत्व की प्राप्ति में सहयोगी बनो तथा स्वयं ही स्वर्गलोक में अनुपम यश को स्थिर करो।

(ग) द्वादश आदित्य रूपी पुरुष जिस स्त्री रूपी-प्रकृतिमय सोम को अपने दिव्य तेज से आनन्दित करते हैं एवं स्वयं पुष्ट रहते हुए अक्षय बल से सम्पन्न, त्रिलोक को संरक्षण देते हैं, ऐसे राजा वरुण और बृहस्पति हम सभी को उस सोम रूपी अंशु (किरण) से आनन्द एवं शक्ति प्रदान करें।

(घ) उपर्युक्त तीन ऋचाओं के जप के पश्चात् चन्द्रमा के समक्ष अपना दाहिना हाथ उठाये तथा नीचे लिखे मंत्र का उच्चारण करे-''मास्माकं प्राणेन..........आदित्यस्यावृतमन्वावर्त इति।'' मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है-हे सोम ! तुम हमारे प्राण, संतान एवं पशुओं से स्वयं अपनी पुष्टि एवं तुष्टि न करो; वरन् जो हमसे वैर-भाव रखते हैं तथा जिससे हम द्वेष-भाव रखते हैं, उनके प्राण, संतान और पशुओं से अपनी पुष्टि एवं तुष्टि

अर्जित करो। इस प्रकार मैं इन मंत्र के अधिपति देवता का एवं तुम्हारी संचरण क्रिया का अनुवर्तन करता हूँ अर्थात् हे सोम! मैं तुम्हारी ही गति का अनुगमन करता हूँ। इस तरह ऋचा-पाठ से अपनी दाहिनी भुजा का अन्वावर्तन करे अर्थात् बार-बार घुमाये और अन्त में हाथ को नीचे कर ले॥ ८॥

अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता सोमो राजाऽसि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुर्वग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्तन्त इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥ ९॥

(अब यहाँ पर एक अन्य प्रकार की उपासना बतलायी जाती है-) पूर्णिमा के दिन सायंकाल में जब पूर्व दिशा में चन्द्रदेव का दर्शन होने लगे, तब उस समय पूर्व मन्त्र में बताई गई रीति के द्वारा उन चन्द्रदेव को अर्घ्य समर्पित करे। उपस्थान के समय निम्नांकित मंत्र का पाठ करना चाहिए। ''सोमो राजाऽसि विचक्षणः ....आदित्यस्यावृतमन्वावर्तन्त'' इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है-हे सोम! संसार-प्रकृतिरूपा उमा के साथ रहने वाले तुम सोम नाम वाले राजा हो। तुम सभी लौकिक एवं वैदिक कार्यों में प्रवीण हो। तुम पाँच मुखों से युक्त प्रजापति हो। प्रजापति के रूप में सम्पूर्ण प्रजा का पालन करते हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है। उस मुख के द्वारा तुम क्षत्रियों का भक्षण अर्थात् दमन करते हो। उस मुख द्वारा तुम मुझे अन्न को खाने एवं पचाने की सामर्थ्य प्रदान करो। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, उस मुख से तुम वैश्यों का भक्षण अर्थात् उन पर शासन करते हो, उस मुख द्वारा तुम मुझे अन्न का भक्षण करने एवं पचाने की शक्ति से सम्पन्न बनाओ। श्येन (बाज़) भी तुम्हारा एक मुख है, तुम उस (बाज़) मुख से पक्षियों का दमन करते हो, उस मुख से तुम मुझे अन्न का भोगने वाला बनाओ। अग्नि भी तुम्हारा एक मुख है, उस मुख के द्वारा तुम इस लोक का दमन करते हो, उस मुख द्वारा मुझे भी अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ । पाँचवाँ मुख तो तुम में ही है, उस मुख के द्वारा तुम समस्त भूत-प्राणियों का संहार करते हो, उस मुख द्वारा मुझे भी अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ। तुम मेरे प्राण, संतान एवं पशुओं से हमें कमजोर न करो, वरन् जो हमसे द्वेष-भाव रखते हों तथा जिससे हम द्वेष रखते हैं, उसे संतान, प्राण और पशुओं से नष्ट करो। मैं मन्त्राधिपति देवता का एवं तुम्हारी संचरण क्रिया का अनुसरण करने वाला हूँ। इस प्रकार से उपर्युक्त मंत्र का पाठ करते हुए दाहिनी भुजा को बारम्बार घुमाये तथा बाद में भुजा नीचे कर ले॥ ९॥''

अथ संवेश्यञ्जायायै हृदयमभिमृशेद्यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माऽहं पौत्रमघं रुदमिति न हास्मात्पूर्वाः प्रजाः प्रैतीति॥ १०॥

इस प्रकार से सोम की प्रार्थना करने के बाद (गर्भाधान के लिए) पत्नी के पास में बैठने से पहले उसके हृदय का स्पर्श करे। उस समय नीचे लिखे मन्त्र का पाठ करे-(मन्त्र इस प्रकार है-) ''यत्ते सुसीमे............ ..पौत्रमघं रुदम्।'' इस मन्त्र का भाव इस प्रकार है-हे सुन्दर सीमन्त (माँग) वाली सुन्दरी! तुम सोम रूप वाली हो। तुम्हारा हृदय प्रजा (संतति) का पालक है। उसके अन्दर जो सोम मण्डल की तरह अमृत-राशि

(दुग्ध) निहित है, उसे मैं जानता हूँ। अपने को मैं उसका पूर्ण ज्ञाता मानता हूँ। इस सत्य के प्रभाव से मैं कभी पुत्र से सम्बन्धित शोक से न रोऊँ अर्थात् मुझे पुत्र का शोक कभी भी न झेलना पड़े। इस तरह की प्रार्थना करने से साधक के संतान की मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

अथ प्रोष्यायन्पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशेत्। अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा त्वं पुत्र माविथ स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति। अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव तेजो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृह्णादरिष्ट्यै तेन त्वा परिगृह्णाम्यसाविति नामास्य गृह्णात्यथास्य दक्षिणे कर्णे जपत्यस्मै प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्नितीन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहीति सव्ये मा च्छित्था मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्राम्यसाविति त्रिर्मूर्धानमवजिघ्रेद्गवां त्वा हिंकारेणाभि हिं करोमीति त्रिर्मूर्धानमभि हिं कुर्यात्॥ ११॥

(इसके पश्चात् अब दूसरी उपासना का वर्णन करते हैं-) परदेश में रहकर, वहाँ से वापस आया हुआ व्यक्ति अपने पुत्र के मस्तक का स्पर्श करते हुए निम्न मन्त्र को पढ़े 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि........शरदः शतम् असौ।' (मंत्रार्थ-) 'अमुक नाम से युक्त हे पुत्र! तुम नरक से पार करने वाले हो। तुम मेरे अंग-प्रत्यङ्ग से उत्पन्न हुए हो। मेरे हृदय से तुम्हारा प्राकट्य हुआ है। तुम स्वयं मेरे ही आत्म स्वरूप हो। तुमने ही हमारी (हमारे वंश की) रक्षा की है। हे पुत्र! तुम शतायु हो'। यहाँ 'असौ' की जगह पर पुत्र के नाम का उच्चारण करना चाहिए और साथ ही नामोच्चारण के समय निम्न मंत्र का पाठ करना चाहिए "अश्मा भव....... शतम् असौ" (इसका भावार्थ इस प्रकार है-) " हे वत्स! तुम पत्थर, कुठार एवं बिछा हुआ सुवर्ण बनो अर्थात् तुम्हारा शरीर पत्थर की तरह सुगठित, बलवान्, स्वस्थ एवं नीरोग बने। तुम कुठार के सदृश शत्रुओं का दमन करने वाले तथा सुवर्ण राशि की तरह सभी के प्रिय बनो। समस्त अंग-अवयवों का सारभूत, संसार-वृक्ष का बीजरूप जो दिव्य तेज है, हे पुत्र! वह तेज तुम्हीं हो, तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो" यहाँ पर फिर से 'असौ' के स्थान पर पुत्र का नाम लेना चाहिए और साथ ही निम्न मंत्र का पाठ भी करना चाहिए-'येन प्रजापतिः ....परिगृह्णामि असौ।' (प्रस्तुत मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है-) "हे पुत्र! प्रजापति ब्रह्मा जी अपनी सृष्टि को नष्ट न होने देने के लिए उसे जिस तेज से युक्त करके अनुगृहीत करते हैं, उसी तेज से तुम भी युक्त हो। हे पुत्र! मैं तुम्हें सभी तरफ से स्वीकार करता हूँ।" तत्पश्चात् यहाँ भी 'असौ' के स्थान पर पुत्र का ही नाम उच्चारण करे तथा पुत्र के दाहिने कान में नीचे लिखे मंत्र का पाठ करे-'अस्मै प्रयन्धि..........द्रविणानि धेहि।' (मन्त्रार्थ इस प्रकार है-) हे मघवन्! आप सरल भाव का आश्रय लेकर इस पुत्र को संरक्षण प्रदान करें। पुनः इसी मंत्र को बायें कान में जपे। तत्पश्चात् पुत्र के मस्तक को सूँघे तथा इस मन्त्र का पाठ करे- 'मा च्छित्था मा ....मूर्धानमवजिघ्रामि असौ। (इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है-) हे पुत्र! संतान परम्परा का उच्छेद न करना। मन, वाणी एवं शरीर से तुम्हें कभी कष्ट न हो। तुम सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहो। मैं तुम्हारा अमुक नाम से प्रख्यात पिता तुम्हारा नाम लेकर तुम्हारे मस्तक को सूँघ रहा हूँ।' (यहाँ पर असौ के स्थान पर पिता को अपना नाम लेना चाहिए।) इस मन्त्र पाठ के बाद तीन बार पुत्र का मस्तक सूँघे, तत्पश्चात् निम्न मंत्र को पढ़कर मस्तक के सभी तरफ तीन बार हिंकार (हिं शब्द का उच्चारण) करे। 'गवां त्वा' .... हिंकरोमि।' हे वत्स! गौएँ जिस तरह से अपने बछड़े को बुलाने के लिए रँभाती हैं, वैसे ही प्रेमपूर्वक मैं भी तुम्हारे लिए हिंकार करता हूँ अर्थात् हिंकार द्वारा तुम्हें बुलाता हूँ॥ ११॥

अथातो दैवः परिमर एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलत्यथैतन्म्रियते यन्न ज्वलति तस्यादित्यमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यतेऽथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चन्द्रमा दृश्यते। अथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य विद्युतमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्विद्युद्विद्योततेऽथैतन्म्रियते यन्न विद्योतते तस्य वायुमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। ता वा एताः सर्वा देवता वायुमेव प्रविश्य वायौ मृता न मृच्छन्ते तस्मादेव उ पुनरुदीरत इत्यधिदैवत-मथाध्यात्मम्॥ १२॥

(**दैव 'परिमर' के रूप में प्राण की उपासना-**) अब इसके अनन्तर देवों से सम्बन्धित 'परिमर' का वर्णन करते हैं। (अग्नि एवं वाणी आदि देवता हैं, ये सभी क्षीण अथवा मृत होकर महाप्राण प्रवाह में ही विलीन होते हैं। इस ब्रह्मरूप प्राण को ही यहाँ पर 'परिमर' कहा गया है।) यहाँ यह जो (प्रत्यक्ष रूप में अग्नि) प्रज्वलित है, इस रूप में स्वयं ब्रह्म हो प्रकाशित हो रहा है। जब अग्नि नहीं जलती है, तब उस मृत अर्थात् बुझी हुई अग्नि का तेज सूर्य में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार सूर्य जब दृष्टिगोचर नहीं होता, तब उसका तेज वायु और प्राण में विलीन हो जाता है। यह जो चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो रहा है, निश्चय ही इस रूप में ब्रह्म ही दीप्तिमान् हो रहा है। चन्द्र (जब वह दृष्टिगोचर नहीं होता है) का तेज भी प्राण एवं वायु को प्राप्त हो जाता है। यह जो विद्युत् कौंधती है, निश्चय ही उस रूप में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं कौंधती है, तब मानो यह मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। उस समय विद्युत् का तेज, वायु एवं प्राण को प्राप्त हो जाता है। वे सभी प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा एवं विद्युत्-स्वरूप सभी देवगण प्राण में प्रविष्ट होकर स्थिर रहते हैं। वायु अर्थात् आधिदैविक प्राण में विलय को प्राप्त होकर वे विनष्ट नहीं होते, वरन् पुनः उस वायु से ही उनका प्राकट्य होता है। इस तरह से यह आधिदैविक दृष्टि हुई। अब आध्यात्मिक दृष्टि बतलाई जाती है॥ १२॥

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्वाचा वदत्यथैतन्म्रियते यन्न वदति तस्य चक्षुरेव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चक्षुषा पश्यत्यथैतन्म्रियते यन्न पश्यति तस्य श्रोत्रमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्छ्रोत्रेण शृणोत्यथैतन्म्रियते यन्न शृणोति तस्य मन एव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यन्मनसा ध्यायत्यथैतन्म्रियते यन्न ध्यायति तस्य प्राणमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणस्ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणमेव प्रविश्य प्राणे मृता न मृच्छन्ते तस्मा देव उ पुनरुदीरते तद्यदिह वा एवं विद्वांस उभौ पर्वतावभिप्रवर्तेयातां तुस्तूर्षमाणौ दक्षिणश्चोत्तरश्च न हैवैनं स्तृणवीयाताम्। अथ य एनं द्विषन्ति यांश्च स्वयं द्वेष्टि त एनं सर्वे परिम्रियन्ते॥ १३॥

पुरुष वाणी के द्वारा जो भी कुछ बोलता है, वह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब वह नहीं बोलता, उस समय 'वाक्' का तेज चक्षु को मिल जाता है, इस प्रकार प्राण का मिलन प्राण में हो जाता है। यह पुरुष चक्षु के माध्यम से जो भी कुछ देखता है, ऐसा लगता है कि ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब चक्षु से कुछ भी नहीं दिखाई देता, उस समय चक्षु का तेज श्रोत्र को मिल जाता है एवं प्राण प्राण में ही विलीन हो जाता है। यह जो भी कुछ श्रोत्र द्वारा श्रवण करता है, यह ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं ब्रह्म ही घोषित हो रहा है और जब यह श्रवण नहीं करता, उस समय उसका प्रकाश मन को प्राप्त हो जाता है तथा प्राण का प्राण में विलय हो जाता है। यह जो मन के द्वारा ध्यान करता है, यह मानो ब्रह्म हो घोषित हो रहा है और जब चिन्तन नहीं करता, तब उस समय मन का तेज भी प्राण में विलीन हो जाता है। इस तरह ये समस्त वाक्-इन्द्रिय आदि देवता प्राण में ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। प्राण में विलीन होकर वे विनष्ट नहीं होते, इसलिए पुनः प्राण के द्वारा ही वे

प्रकट होते हैं। उस दैव-परिमर अर्थात् प्राण का पूर्ण ज्ञान हो जाने के बाद यदि वे ज्ञानी पुरुष ऐसे दो ऊँचे पर्वतों को, जो पृथ्वी मण्डल के उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक फैले हों, अपनी इच्छानुसार चलने के लिए प्रेरित करें, तो वे पर्वत इन विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जो भी मनुष्य इस 'दैव परिमर' के जानकार श्रेष्ठ पुरुष से द्वेष-भाव करते हैं या फिर वह खुद ही जिनसे द्वेष रखता है, वे सब के सब सदैव के लिए विनष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

अथातो निःश्रेयसादानं सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः। अस्माच्छरीरादुच्च-क्रमुस्तद्दारुभूतं शिश्येऽथैनद्वाक्प्रविवेश तद्वाचा वदच्छिश्य एव। अथैनच्चक्षुः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एवाथैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एवाथैनन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एवाथैनत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ ते देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंभूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः। ते वायुप्रतिष्ठा आकाशात्मानः स्वरीयुस्तथो एवैवं विद्वान्सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंभूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठ आकाशात्मा स्वरेति स तद्भवति यत्रैते देवास्तत्प्राप्य तदमृतो भवति यदमृता देवाः॥१४

अब मोक्ष (मोक्ष हेतु सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना-) आदि साधन के गुणों से विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना का वर्णन किया जाता है। एक समय वाणी आदि समस्त देवता अहंकार के वशीभूत हो, अपनी-अपनी महत्ता सिद्ध करने हेतु आपस में विवाद करने लगे। वे सभी प्राण के साथ ही शरीर से बहिर्गमन कर गये। उन वाणी आदि सभी इन्द्रियों के निकल जाने पर वह शरीर काष्ठ की भाँति चेष्टारहित होकर सो गया। इसके अनन्तर उस शरीर में वाणी ने प्रवेश किया। वाक् शक्ति के प्रविष्ट होते ही वह वाणी से बोलने लगा, लेकिन वह अपने स्थान से उठ न सका, सोया ही रहा। इसके बाद नेत्रेन्द्रिय ने उस शरीर में प्रवेश किया। तब वह वाणी से बोलता और चक्षु से देखता हुआ भी सोया ही रहा, उठने में प्रायः असमर्थ ही रहा। तदनन्तर उस शरीर में श्रोत्रेन्द्रिय ने प्रवेश किया। उस समय भी वह वाक् से बोलता, चक्षु से देखता एवं कानों से श्रवण करता हुआ भी सोया ही रहा, वह उठने में असमर्थ ही बना रहा। तत्पश्चात् उस शरीर में मन प्रविष्ट हुआ। तब वह शरीर वाणी से बोलता, चक्षु से देखता, कान से श्रवण करता एवं मन से सोचता (विचार करता) हुआ भी पड़ा ही रहा, उठ नहीं सका। तब सभी के बाद में प्राण ने उस शरीर में प्रवेश किया। उस प्राण तत्त्व के प्रविष्ट होते ही वह शरीर उठ बैठा। तत्पश्चात् उन वाणी आदि देवताओं ने प्राण में ही मोक्ष आदि साधन की शक्ति को जानकर एवं विशिष्ट ज्ञान स्वरूप प्राण को ही सभी तरफ से व्याप्त जानकर के प्राण-अपान आदि सभी प्राणों के सहित इस शरीर रूपी लोक से ऊर्ध्व की ओर अर्थात् शरीर से बाहर गमन किया। इसके बाद वे प्राण वायु में अर्थात् आधिदैविक प्राण में स्थिर होकर के आकाश रूप में परिणत हो स्वर्ग लोक में गये। वे अपने अधिष्ठातृ देवता अग्नि आदि के स्वरूप को प्राप्त हो गये। वैसे ही इस रहस्य को जानने वाले विद्वान् सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण को ही प्रज्ञात्मारूप से पाकर इन प्राण-अपान आदि सभी प्राणों के साथ इस शरीर से उत्क्रमण कर, वायु में स्थित हो, आकाशरूप में परिणत हो स्वर्ग लोक को गमन करते हैं। वह मनीषी वहाँ उस प्रसिद्ध प्राण का ही रूप हो जाता है, जिसमें ये सभी वाक् आदि देवता प्रतिष्ठित होते हैं। उस प्राण-तत्त्व को पाकर वह मनीषी प्राण के उस अमृतत्व गुण से सम्पन्न हो जाता है, जिस अमृतत्व गुण से वे वाणी आदि समस्त देवता भी प्रकट होते हैं॥ १४॥

अथातः पितापुत्रीयं संप्रदानमिति चाचक्षते। पिता पुत्रं प्रेष्यन्नाह्वयति नवैस्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा संप्रच्छन्नः स्वयं श्येत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिपद्यते, इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीताथास्मै संप्रयच्छति वाचं मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मे त्वयि दधानीति पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रः। चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः। श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः। मनो मे त्वयि दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रः। अन्नरसान्मे त्वयि दधानीति पिता अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः। कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः। सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता, आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्या मे त्वयि दधानीति पिता, इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान्मे त्वयि दधानीति पिता धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणावुत्प्राङुपनिष्क्रामति तं पिताऽनुमन्त्रयते यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामित्यथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनान्तेन वा प्रच्छाद्य स्वर्गाँल्लोकान्कामानाप्नुहीति स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेद्यद्यु वै प्रेयाद्यदेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति॥ १५॥

(प्राणोपासक का सम्प्रदान-कर्म-) अब पिता-पुत्र के सम्प्रदान कर्म का वर्णन करते हैं। जब पिता यह निश्चय करे कि मुझे अब इस शरीर का परित्याग करना है, तब वह अपने पुत्र को पास में बुलाए। तत्पश्चात् कुश-कासादि तृणों से यज्ञशाला को ढक करके विधि-विधान से अग्नि को स्थापित करे। अग्नि के उत्तर या पूर्व दिशा में जल से भरा हुआ कलश प्रतिष्ठित करे। कलश के ऊपर धान्य से भरा हुआ पूर्ण-पात्र भी रखे। स्वयं भी नवीन वस्त्र (धोती एवं उत्तरीय) का आच्छादन करे। इस तरह श्वेत शुभ्र वस्त्र एवं माला आदि धारण करते हुए घर में प्रवेश करके पुत्र को अपने पास बुलाये। जब पुत्र पास में आ जाए, तो उसे अपने अङ्क में भर ले एवं अपनी इन्द्रियों से पुत्र की इन्द्रियों का स्पर्श करे। या फिर केवल पुत्र के समक्ष बैठ जाए और उसे अपनी वाक् आदि समस्त इन्द्रियों का दान करे। पिता कहे-हे पुत्र! मैं तुम में अपनी वाक् शक्ति की स्थापना करता हूँ। पुत्र कहे-पिताजी मैं आपकी वागिन्द्रिय को ग्रहण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपने प्राण को तुममें स्थित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके प्राणतत्त्व को अपने में धारण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपनी नेत्रेन्द्रिय की तुममें स्थापना करता हूँ। पुत्र-मैं आपके नेत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता- मैं अपनी श्रोत्रेन्द्रिय की तुममें स्थापना करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी श्रोत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने अन्न-रसों को तुममें स्थिर करता हूँ। पुत्र-मैं आपके अन्न रसों को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने सभी श्रेष्ठ कर्मों को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके समस्त शुभ कर्मों को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने सुख एवं दुःख को भी तुममें प्रतिष्ठित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके सभी तरह के सुख एवं दुःखों को स्वीकार करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं तुममें मैथुन जनित आनन्द, रति एवं सन्तान की उत्पत्ति की शक्ति स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी उस शक्ति को अपने में धारण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपनी गतिशक्ति तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी गतिशक्ति को स्वयं में ग्रहण करता हूँ। पिता-मैं अपनी बुद्धि-वृत्तियों को, बुद्धि द्वारा ज्ञात विषयों

को एवं विशेष इच्छाओं को तुममें स्थित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी बुद्धि वृत्तियों को, बुद्धि के द्वारा ज्ञात विषयों को एवं इच्छाओं को धारण करता हूँ। तत्पश्चात् पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करते हुए प्राची दिशा की तरफ पिता के पास से निकलता है। उस समय पिता पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहे-'यश, ब्रह्मतेज, अन्न को ग्रहण करने एवं पचाने की सामर्थ्य तथा श्रेष्ठ-कीर्ति ये सभी सद्गुण तुम्हारा सेवन करें।' पिता के इस तरह कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की तरफ नजर घुमाकर देखते हुए हाथ से ओट-करके या फिर कपड़े को सामने करके उसकी आड़ से पिता से इस प्रकार कहे-'आप अपनी इच्छानुसार कामनायुक्त स्वर्ग को एवं वहाँ के समस्त भोगों की प्राप्ति करें।' इसके अनन्तर यदि पिता नीरोग हो, तो वह पुत्र को घर का स्वामी मानकर उसके साथ निवास करे या सर्वस्व त्यागकर घर से बाहर निकलकर संन्यासी हो जाए या फिर यदि वह दूसरे लोक को चला जाये, तो जिन-जिन वाणी आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में प्रतिष्ठित किया था, उन सभी की शक्ति धाराओं का वह अधिकारी बन जाता है। वे सम्पूर्ण शक्ति-धाराएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। (यही वास्तव में सही उत्तराधिकार है।) ॥ १५ ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

(इन्द्र एवं प्रतर्दन का संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राण की महिमा का वर्णन-)

प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन च पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति स होवाच प्रतर्दनः। त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच। न वै वरोऽवरस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्येवमवरो वै किल म इति होवाच प्रतर्दनोऽथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय। सत्यं हीन्द्रः स होवाच। मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान्पृथिव्यां कालखाञ्जान्। तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते। स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते। न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नीलं वेत्तीति ॥१॥

ऐसा प्रसिद्ध है कि राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन (एक बार देवासुर-संग्राम में) देवताओं के सहायतार्थ इन्द्र के श्रेष्ठ धाम स्वर्ग लोक में गये। वहाँ उनकी अद्वितीय युद्धकला एवं शौर्य से अति संतुष्ट होकर इन्द्र ने कहा-हे प्रतर्दन! कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर प्रदान करूँ? वीर प्रतर्दन ने कहा-हे देवेन्द्र! जिस श्रेष्ठ वर को आप मानव जाति के लिए परम कल्याण युक्त मानते हों, वैसा ही कोई श्रेष्ठ वर आप स्वयं ही मेरे लिए प्रदान करें। इन्द्र ने कहा- हे राजन्! इस संसार में यह सभी जगह विदित है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे के लिए वर की माँग नहीं करता। इसलिए आप अपने लिए कोई भी वर माँगें। प्रतर्दन ने कहा कि तब तो मेरे लिए वर का अभाव ही रह गया। प्रतर्दन के ऐसा कहने के पश्चात् देवराज इन्द्र निश्चय ही अपने सत्य पथ पर आरूढ़ रहे, वे स्वयं ही साक्षात् सत्य के स्वरूप हैं। उन प्रख्यात देवराज इन्द्र ने कहा-हे प्रतर्दन! तुम मुझे ही यानी मेरे ही यथार्थ स्वरूप को जानो। इसे ही मैं मानव जाति के लिए परम कल्याणकारी वर मानता हूँ। त्वष्टा प्रजापति के पुत्र विश्वरूप को, जिसके तीन सिर थे, उसे मैंने अपने वज्र के प्रहार से मार डाला है। कितने ही (मिथ्या अहंकारी) संन्यासियों को जो अपने आश्रम के श्रेष्ठ आचरण से पदच्युत हुए एवं बहिर्मुख अर्थात् ब्रह्म के श्रेष्ठ

विचारों से रहित हो चुके थे, ऐसे उन सभी को खण्ड-खण्ड करके भेड़ियों के सम्मुख डाल दिया है। कई बार-प्रह्लाद के सहयोगी दैत्य राजाओं को मौत की नींद सुला दिया है। पुलोम नामक असुर के सहयोगी दैत्यों एवं पृथिवी पर निवास करने वाले कालखाञ्ज नाम से युक्त अधिकांश असुरों को भी विनष्ट कर दिया; किन्तु इतने पर भी अहंकार एवं कर्मफल की कामना से रहित होने के कारण मुझ प्रसिद्ध देवेन्द्र के एक रोम को भी नुकसान नहीं पहुँचा। इसी तरह जो मुझे ठीक प्रकार से जान ले, उसके पुण्य लोक को किसी भी कर्म से हानि नहीं होती। मेरे सत्यरूप का विवेक रखने वाले मनुष्य को बड़ा से बड़ा पाप भी प्रभावित नहीं कर पाता (इन्द्रदेव वृत्तियों के रक्षक हैं। देव प्रवृत्तियों की रक्षार्थ यदि किसी आततायी का वध भी करना पड़े, तो उस क्रिया का पातक नहीं लगता। इसीलिए इन्द्र कहते हैं कि-) मेरे स्वरूप को जानने वाले को पाप नहीं लगता और न उसका मुख कभी (भय या अशक्ति के कारण) नीला पड़ता है॥१॥

स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व। आयुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम्। यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन ह्येवामुष्मिँल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति। प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्। स यो ममायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिँल्लोक एति। आप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके। तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति। न हि कश्चन शक्नुयात्सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातुमित्येकभूयं वै प्राणाः। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति। वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति। चक्षुः पश्यत्सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति श्रोत्रं शृण्वत्सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति मनो ध्यायत्सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीति। एवमु हैवैतदिति हेन्द्र उवाच। अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति॥ २॥

उन प्रसिद्ध इन्द्रदेव ने कहा कि "मैं स्वयं ही प्रज्ञास्वरूप प्राण हूँ। उस प्राण एवं श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त आत्मारूप में प्रख्यात मुझ इन्द्र की तुम आयु एवं अमृतरूप से उपासना करो।" आयु ही प्राण है, प्राण ही आयु एवं प्राण ही अमृतत्व है। इस शरीर में जब तक प्राण का निवास है, तभी तक आयु है। प्राण के द्वारा ही प्राणी अन्य दूसरे लोक में अमृतत्व के विशेष सुख की अनुभूति करता है।

प्रज्ञा द्वारा व्यक्ति शाश्वत सत्य का निश्चय एवं ऊहा-पोह आदि करता है। जो व्यक्ति 'आयु' एवं 'अमृत' के रूप से मेरी अर्थात् इन्द्र की उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्णायु का गौरव प्राप्त करता है और स्वर्ग लोक में जाकर अक्षय अमृतत्व के सुख का भागीदार बनता है। इस प्राण के सन्दर्भ में कोई-कोई विद्वज्जन ऐसा कहते हैं कि निश्चय ही सभी प्राण (वाक् आदि समस्त इन्द्रियों सहित प्राण) एकीभाव को प्राप्त करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में वाणी द्वारा नाम सूचित करने, नेत्र द्वारा रूप देखने, कान से शब्द श्रवण करने एवं मन के द्वारा ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता, इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय ही सभी प्राण अपने एक ही भाव को प्राप्त करते हैं। वे सभी प्राण एकीकृत हो समस्त कार्य करते हैं। ये सब एक-एक विषय की क्रमशः अनुभूति करते हैं। जब वाक्-इन्द्रिय बोलने लगती है, उस समय सभी प्राण उसका (वाणी का) मौन रूप से अनुमोदन करते हैं। जब चक्षु देखता है, तब अन्य सभी प्राण भी उसके पृष्ठ भाग में रहकर दृष्टिपात करते हैं। जब कान श्रवण करने लगता है, तब दूसरे अन्य समस्त प्राण भी उस कर्णेन्द्रिय का अनुसरण करते हैं। जब मन ध्यान करने लगता है, तब अन्य सभी प्राण भी उसका साथ देते हुए चिन्तन करते हैं और जब मुख्य प्राण अपना कार्य करना प्रारम्भ करता है, तो अन्य समस्त प्राणेन्द्रियाँ भी उसके साथ-साथ वैसी चेष्टा

करती हैं, ऐसा प्रतर्दन ने निवेदन किया। इस तरह से उन देवों में श्रेष्ठ इन्द्र ने कहा–यह बात ऐसी ही है। 'समस्त प्राण एक होते हुए भी जो अन्य पाँच प्राण हैं, वे निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण स्वरूप हैं निश्चय ही यही बात है॥ २॥'

जीवति वागपेतो मूकान्हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान्हि पश्यामो जीवति मनोपेतो बालान्हि पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इति। एवं हि पश्याम इति। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। तस्मादेतदेवोऽथमुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतस्तस्यैषैव दृष्टिः। एतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति। तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते। यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तस्यैषैव सिद्धिः एतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य संमोहं न्येति तदाहुः। उदक्रमीच्चित्तम्। न शृणोति न पश्यति न वाचा वदति न ध्यायत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा याथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः ॥३॥

'वागिन्द्रिय से रहित होने पर भी व्यक्ति जीवित बना रहता है, क्योंकि गूँगों को प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। नेत्रों से रहित होने पर भी व्यक्ति जीवन धारण किये रहता है, क्योंकि अंधों को प्रायः देखते ही हैं। श्रोत्रेन्द्रिय हीन व्यक्ति भी जीवित ही रहता है, क्योंकि बधिरों को प्रायः ही देखा जाता है। मनः शक्ति से रहित होने पर भी जीवन धारण किया जा सकता है, क्योंकि प्रायः ही छोटे बालकों को जीवित देखते हैं। प्राण के रहते, अंग-भंग हो जाने पर भी जीवन बना रहता है, किन्तु प्राण के रहित होने पर तो एक क्षण भी जीवन धारण करना असम्भव है। क्रिया शक्ति का बोध कराने वाला प्राण ही ज्ञान में प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान से युक्त आत्मा है। यही प्रज्ञात्मा इस शरीर को सभी तरफ से आबद्ध करके भिन्न-भिन्न क्रियायें कराता रहता है। अतः इस प्राण की ही 'उक्थ' रूप से उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही जो प्रसिद्ध प्राण है, वही प्राण है या फिर जो प्रज्ञा कही गई है, वही प्राण है; क्योंकि प्रज्ञा एवं प्राण दोनों साथ-साथ ही इस शरीर में निवास करते हैं तथा जीवात्मा के साथ मिलकर एक साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते अर्थात् बाहर निकलते हैं। इस प्राणमय परब्रह्म का यही दर्शन (ज्ञान) है और यही विज्ञान है; क्योंकि सुषुप्त अवस्था में जब सोया हुआ मनुष्य किसी भी तरह के स्वप्न नहीं देखता, उस समय शब्द सभी नामों के साथ, नेत्र रूपानुभूति सहित, कान शब्दों सहित और मन, चिन्तन सहित मुख्य प्राण में ही समाहित हो जाते हैं। वह मनुष्य जब जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होता है, तब उस समय जैसे जलती हुई अग्नि से सभी दिशाओं की ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस प्राण स्वरूप आत्मा से सभी वाणी आदि प्राण बाहर निकल कर अपने-अपने उचित स्थान की ओर गमन कर जाते हैं। तत्पश्चात् उन प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवगण प्रादुर्भूत होते हैं तथा उन देवों से लोक एवं नामादि विषय उत्पन्न होते हैं।

इस प्राणरूप आत्मा की सिद्धि का वर्णन आगे किया जा रहा है। यही विज्ञान है कि जिस अवस्था में

रोग से पीड़ित व्यक्ति मरणासन्न हो जाता है, शक्तिहीन होकर चेतना रहित हो जाता है, उस समय वह किसी भी प्रिय अथवा परिचित व्यक्ति को पहचानने में समर्थ नहीं होता, उस समय कहते हैं कि उसका चित्त (मन) उत्क्रमण कर गया है। यही कारण है कि वह न तो सुनता, न कुछ देखता है, न वाणी से कुछ बोलता है और न ही ध्यान करता है। उस समय वह केवल प्राणों में ही लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में वाणी समस्त नामों के सहित, चक्षु सभी रूपों के सहित, कान सभी शब्दों के सहित एवं मन सभी ध्यानस्थ विषयों के सहित, उस प्राण तत्त्व में विलीन हो जाता है। वह मनुष्य जब फिर से जागता है, उस समय जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से सभी दिशाओं की तरफ चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती हैं, उसी प्रकार इस प्राण स्वरूप आत्मा से वाणी आदि समस्त प्राण उत्पन्न होकर यथा-स्थान अपना स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। तदनन्तर प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि सभी देवता प्रादुर्भूत होकर समस्त लोक आदि को उत्पन्न कर देते हैं॥ ३॥

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते। वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्राणोऽस्मात्सर्वान्गन्धानभिविसृजते प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति चक्षुरस्मात्सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति श्रोत्रमस्मात्सर्वाञ्शब्दानभिविसृजते श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति मनोऽस्मात्सर्वाणि ध्यानान्यभिविसृजते मनसा सर्वाणि ध्यानान्याप्नोति सैषा प्राणे सर्वाप्तिः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। अथ खलु यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः॥ ४॥

शरीर से उन्मुक्त होने वाला वह प्राण जब उत्क्रमण करता है, तब उस समय वह इन सभी इन्द्रियों के सहित ही उत्क्रमण करता है। उस समय वाक्-इन्द्रिय इस पुरुष के सभी नामों का परित्याग कर देती है; क्योंकि वागिन्द्रिय से ही मनुष्य नामों को ग्रहण कर पाता है। (ऐसा ही तथ्य सभी इन्द्रियों के विषय में है।) प्राण (घ्राणेन्द्रिय) सभी गंधों का त्याग कर देती है, चक्षु सभी रूपों को त्याग देता है, कर्णेन्द्रिय सभी तरह के शब्दों का परित्याग कर देती है और मन ध्यानस्थ विषयों का परित्याग कर देता है। इसी प्राणरूप आत्मा में समस्त इन्द्रियाँ समर्पित होकर अपने-अपने विषयों का पूर्ण रूप से परित्याग कर देती है। प्राण ही प्रज्ञा है और प्रज्ञा ही प्राण है अथवा जो प्रज्ञा है, वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों इस शरीर में एक साथ ही निवास करते हैं और एक साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते हैं। अब जिस तरह से समस्त भूत-प्राणी इस प्रज्ञा में एक रूप हो जाते हैं, इसकी (अगले मंत्र में) स्पष्ट शब्दों में व्याख्या करेंगे॥ ४॥

वागेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। घ्राणमेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य गन्धः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा चक्षुरेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य रूपं परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा श्रोत्रमेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य शब्दः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा जिह्वैवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्या अन्नरसः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा हस्तावेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तयोः कर्म परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा शरीरमेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्य सुखदुःखे परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रोपस्थ एवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा पादावेवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तयोरित्या परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमदूह्ळं तस्यै धियो विज्ञातव्यं कामाः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा॥ ५॥

निश्चय ही इस वाणी ने इस प्रज्ञा के एक अंग की क्षति-पूर्ति की है। बाहर की ओर उसके (वाणी के) विषय रूप से कल्पित (भूतमात्रा अर्थात् पञ्चभूतों का अंश-विशेष) नाम-शब्द है। घ्राणेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ उस घ्राणेन्द्रिय के विषयरूप से जो कल्पित भूतमात्रा है, वह गन्ध है। चक्षु ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वही रूप है। ऐसे ही कर्णेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की क्षति-पूर्ति की है। बाहर की तरफ से इसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही शब्द है। स्वादेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है,वही अन्न का रस है। इसी प्रकार निश्चय ही हाथो ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर से उनके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही कर्म है। ऐसे ही शरीर ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही सुख एवं दुःख है। इसी तरह निश्चय ही उपस्थ ने भी उस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है, बाहर की तरफ उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही रति, आनन्द एवं प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति है। अवश्य ही पैरों ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर उनके विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वहँ विचरण-क्रिया है। ऐसे ही प्रज्ञा के एक अंग की प्रज्ञा ने ही पूर्ति की है। उस (प्रज्ञा) से सम्बन्धित बाह्य विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वह बुद्धि के द्वारा अनुभूत वस्तुएँ एवं मनुष्योचित इच्छाएँ-कामनाएँ हैं॥ ५॥

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया सर्वानन्नरसानाप्नोति प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वा इत्या आप्नोति प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति॥ ६॥

प्रज्ञा के द्वारा वाणी पर आरूढ़ हो, अर्थात् वाणी को वश में करके मनुष्य वाक् शक्ति के द्वारा नामों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही प्राण (घ्राणेन्द्रिय) पर अधिकार करके सभी तरह की गन्धों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही नेत्रों को वश में रखकर समस्त रूपों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से ही मनुष्य श्रोत्रेन्द्रिय पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा सभी तरह के शब्दों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही जिह्वा को वश में करके सम्पूर्ण अन्न के रसों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही हाथों को वश में करके हाथों द्वारा सभी प्रकार के कार्यों को पूर्ण करता है। प्रज्ञा द्वारा ही शरीर को वश में रखकर शरीर से भोग एवं पीड़ा जनित सुख-दुःखों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा से ही उपस्थ को वश में रखकर उसके द्वारा रति, आनन्द एवं प्रजनन सामर्थ्य को प्राप्त करता है। प्रज्ञा द्वारा ही पैरों को वश में करके पैरों द्वारा सम्पूर्ण विचरण क्रियाओं को स्वीकार करता है एवं प्रज्ञा से ही बुद्धि को वश में करके उस (बुद्धि) के द्वारा अनुभूति जन्य वस्तुओं एवं कामनाओं को ग्रहण करता है॥ ६॥

न हि प्रज्ञापेता वाङ् नाम किंचन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतः प्राणो गन्धं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतं गन्धं प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतं चक्षू रूपं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतद्रूपं प्राज्ञासिषमिति न प्रज्ञापेतं श्रोत्रं शब्दं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतं शब्दं

प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेता जिह्वाऽन्नरसं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमन्नरसं प्राज्ञासिषमिति न प्रज्ञापेतौ हस्तौ कर्म किंचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्कर्म प्राज्ञाससिषमिति न हि प्रज्ञापेतं शरीरं सुखं दुःखं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्सुखं दुःखं प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेत उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं कांचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमानन्दं न रतिं न प्रजातिं प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेतौ पादावित्यां कांचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतामित्यां प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिध्येन्न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत॥ ७॥

प्रज्ञा के अभाव में वाणी किसी भी नाम का ज्ञान नहीं करा सकती; क्योंकि ऐसी अवस्था में व्यक्ति इस तरह कहता है कि मेरा मन अमुक ओर था, अतः मैं इस नाम को नहीं जान सँका। प्रज्ञा से हीन होने पर प्राण (घ्राणेन्द्रिय) भी किसी गन्ध का बोध नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति इस प्रकार कहता है कि मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, इस कारण से मैं इस घ्राणेन्द्रिय की गन्ध को जानने में असमर्थ रहा, ऐसे ही प्रज्ञा से रहित होने पर, चक्षु-इन्द्रिय भी किसी भी तरह के रूप का ज्ञान नहीं करा सकती। ऐसी दशा में व्यक्ति ऐसा कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्यत्र था, अतः मैं इसके उस रूप को नहीं जान सका।' प्रज्ञा से अलग रहकर कर्णेन्द्रिय भी किसी तरह के शब्द का बोध नहीं करा सकती। ऐसी दशा में व्यक्ति यह कहता है कि मेरा मन उस समय अन्यत्र गमन कर रहा था, इस कारण से मैं इन शब्दों को नहीं जान सका। प्रज्ञा से रहित होने पर जिह्वा किसी भी अन्न के रस का अनुभव नहीं कर सकती। ऐसी स्थति में व्यक्ति, 'यह कहता है कि मेरा मन अन्यत्र चला गया था', अतः मैं अन्न के रस की अनुभूति नहीं कर पाया।' प्रज्ञा से रहित होते हुए हाथ किसी भी तरह के कर्म का बोध नहीं करा सकते। ऐसी दशा में मानव यह कहता है कि उस समय मेरा मन अन्यत्र गमन कर गया था। इसलिए मैं इस अमुक कार्य को नहीं समझ सका। प्रज्ञा से अलग रहते हुए शरीर भी किसी तरह के सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र गमन कर गया था।' अतः मैं इस शरीर के सुख-दुःखों को नहीं समझ सका। प्रज्ञा से रहित होकर उपस्थ भी किसी तरह के आनन्द, रति एवं प्रजा की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं करा सकता है। उस स्थिति में व्यक्ति कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्यत्र था, इस कारण से मैं उस आनन्द, रति एवं प्रजा के उत्पत्ति की जानकारी नहीं पा सका। प्रज्ञा से अलग रहकर दोनों पैर भी किसी तरह की गमन क्रिया का ज्ञान नहीं करा सकते, उस स्थिति में व्यक्ति यह कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्य किसी स्थान की ओर चला गया था, इस कारण मैं इस आवागमन की क्रिया का अनुभव नहीं कर सका। प्रज्ञा के अभाव में कोई भी बौद्धिक-वृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, उस बुद्धि वृत्ति के द्वारा ज्ञात वस्तु के ज्ञान का एहसास नहीं हो सकता॥ ७॥

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यान्न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यान्न रूपं विजिज्ञासीत रूपविद्यं विद्यान्न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यान्नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसस्य विज्ञातारं विद्यान्न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यान्न सुखदुःखे विजिज्ञासीत सुखदुःखयोर्विज्ञातारं विद्यान्नानन्दं न रतिं न प्रजातिं विजिज्ञासीतानन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं विद्यान्नेत्यां विजिज्ञासीतैतारं विद्यात्। न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात्। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः॥ ८॥

वाक् शक्ति को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए; वरन् वाणी को प्रेरित करने वाले आत्मा को जानना चाहिए। गन्ध को जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि गन्ध को ग्रहण करने वाले आत्मा को जानना चाहिए; रूप को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, रूप के ज्ञाता साक्षी स्वरूप आत्मा को जानना चाहिए; शब्द को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, शब्द श्रवण करने वाले आत्मा को जानने की इच्छा रखनी चाहिए। अन्न-रस के ज्ञान की कामना व्यर्थ है, अन्न-रस के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिए। कर्म को जानने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए, कर्म-कर्त्तारूप आत्मा को जानना चाहिए। सुख-दु:ख आदि के जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, सुख-दु:ख के विशेषज्ञ साक्षी रूप आत्मा को जानना चाहिए। आनन्द, रति एवं प्रजनन सामर्थ्य के जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए; वरन् आनन्द, रति एवं प्रजनन सामर्थ्य के जानकार (आत्मतत्त्व) को समझना चाहिए; विचरण की क्रिया को समझने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, विचरण करने वाले साक्षी स्वरूप आत्मा को ही जानने का प्रयास करना चाहिए। इसी तरह मन को भी जानने की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए; बल्कि मनन करने वाले आत्मा को ही जानना चाहिए। इस प्रकार ये दस ही भूत मात्राएँ अर्थात् नाम आदि विषय हैं; जो प्रज्ञा में विद्यमान हैं एवं प्रज्ञा की भी दस मात्राएँ (वाणी आदि इन्द्रिय रूप) हैं, जो कि समस्त प्राणियों में विद्यमान हैं। यदि ये प्रख्यात समस्त भूत मात्राएँ न हों, तो प्रज्ञा की मात्राएँ भी स्थित नहीं रह सकतीं और यदि प्रज्ञा की मात्राएँ न हों, तो भूत मात्राएँ भी स्थित नहीं रह सकतीं ॥८ ॥

न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिध्येत्। नो एतन्नाना, तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः स म आत्मेति विद्यात्स म आत्मेति विद्यात्॥ ९ ॥

इन दोनों में से किसी भी एक के माध्यम से किसी भी रूप, विषय अथवा इन्द्रिय की सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रज्ञा मात्रा और भूतमात्रा के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। उसे इस तरह से जानना चाहिए, जिस प्रकार रथ की नेमि अरों में और अरे रथ की नाभि के आश्रित रहते हैं; उसी प्रकार ही ये समस्त भूत मात्राएँ प्रज्ञा मात्राओं में विद्यमान हैं एवं प्रज्ञा मात्राएँ प्राण में स्थित हैं। यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दस्वरूप, अजर-अमर है। यह न तो अच्छे कर्म से वृद्धि को प्राप्त होता है और न ही बुरे कर्म से छोटा होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञा रूप चैतन्य युक्त परब्रह्म ही इस देहाभिमानी पुरुष से श्रेष्ठ कार्य करवाता है। वह ऐसे श्रेष्ठ कृत्य उसी से करवाता है, जिसे वह इन प्रत्यक्ष लोकों से ऊर्ध्व की तरफ ले जाना चाहता है और जिसे वह इन श्रेष्ठ लोकों की अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है,उससे अशुभ कार्य करवाता है। यह आत्मा समस्त लोकों का अधिपति है एवं यही सभी का स्वामी है। इन सभी श्रेष्ठ गुणों से युक्त वह प्राण ही आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। वह प्राण ही हमारा आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। वह प्राण ही हमारा आत्मा है, ऐसा ही जानना चाहिए॥ ९ ॥

॥ चतुर्थोऽध्याय: ॥

काशी नरेश अजातशत्रु एवं ब्रह्मर्षि गार्ग्य का संवाद—

अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानःसंस्पृष्ट आस सोऽवददुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच। ब्रह्म ते ब्रवाणीति तं होवाचाजातशत्रुः। सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति॥ १ ॥

गर्ग गोत्र में प्रादुर्भूत बलाका ऋषि के पुत्र एवं गार्ग्य के नाम से प्रख्यात एक ब्राह्मण-ऋषि थे। उन्होंने चारों वेदों का पूर्ण अध्ययन किया था, साथ ही वेदों के अच्छे प्रख्यात वक्ता भी थे। उस समय जगत् में उनकी बड़ी ख्याति थी। उनका निवास उशीनर प्रदेश में था, किन्तु सतत गतिशील रहने के कारण, वे कभी मत्स्यदेश, तो कभी कुरु-पाञ्चाल में रहा करते थे। इस भाँति वे प्रख्यात गार्ग्य एक काशी के विद्वान् राजा अजातशत्रु के समीप में पहुँचे और अहंकार से युक्त वाणी में बोले-'हे राजन्! मैं आपके लिए ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करूँगा।' गार्ग्य के इस तरह से कहने पर उन प्रसिद्ध काशी नरेश ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आपकी इस बात पर हम आपको एक सहस्र गौएँ प्रदान करते हैं। अवश्य ही आज-कल लोग प्राय: जनक-जनक कहते हुए ही उनके पास में दौड़ जाते हैं (अर्थात् राजा जनक ही इस ब्रह्मविद्या के श्रोता एवं दानी हैं, इस प्रकार कहकर प्राय: लोग उन्हीं के समीप में जाते हैं, आज आप हमारे पास आकर विदेहराज जनक की भाँति हमारा गौरव बढ़ाया है, इसलिए हम आपको सहर्ष एक सहस्र गौएँ प्रदान करते हैं) ॥ १ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः। बृहन्पाण्डरवासा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति॥ २ ॥

तब वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र विप्रवर गार्ग्य जी कहने लगे-'हे राजन्! यह जो सूर्यमण्डल में अन्तर्यामी परमेश्वर स्थित है, मैं उसी की ब्रह्मबुद्धि से साधना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन श्रेष्ठ ऋषि से काशी नरेश अजातशत्रु बोले-'हे ब्रह्मन्! नहीं-नहीं, इस विषय में आप कुछ भी न कहें। अवश्य ही यह शुक्लवस्त्रधारी सभी से महान् है। यह सभी का अतिक्रमण करता हुआ सबसे उच्च स्थिति में केन्द्रित है, यह सबका शीश है। इस तरह से मैं इसकी उपासना करता हूँ, जो मनुष्य सूर्य मण्डल में स्थित उस विराट् पुरुष की इस तरह से उपासना करता है, वह सभी का अतिक्रमण कर सबसे उच्च स्थिति में पहुँचता है एवं समस्त भूत-प्राणियों का शीश माना जाता है ॥ २ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सोमो राजाऽन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो मेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति॥ ३ ॥

उन सुप्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! चन्द्रमण्डल में जो यह अन्तर्यामी विराट् पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्मरूप में मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुन करके उन (गार्ग्य) से राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन् ! नहीं-नहीं, इस विषय में आप कुछ भी न कहें। यह सोम ही राजा है एवं अन्न का आत्मा भी यही है। इस प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' इसी तरह वह भी, जो इस प्रसिद्ध चन्द्र मण्डल के अन्तर्गत इस पुरुष की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह निश्चय ही अन्न की आत्मा हो जाता है अर्थात् अन्न राशि से युक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठास्तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस आत्मा भवति ॥ ४ ॥

तब वे विप्रश्रेष्ठ गार्ग्य मुनि कहने लगे-'हे राजन्! विद्युत् मण्डल के अन्तर्गत जो यह अन्तर्यामी विराट् परब्रह्म है, मैं उसी का उपासक हूँ।' ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु तुरन्त बोले-'हे ब्रह्मन्! आप इस सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। मैं इस (विद्युत्) को प्रकाश की आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' इस प्रकार जो भी मनुष्य विद्युत्-मण्डल में स्थित ब्रह्म की उपासना करता है, वह प्रकाश स्वरूप आत्मा ही हो जाता है ॥ ४ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष स्तनयित्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः शब्दस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति ॥ ५ ॥

तदुपरान्त बलाका-तनय गार्ग्य ने पुनः कहना प्रारम्भ किया- 'हे राजन्! मेघमण्डल में गर्जना रूप में विद्यमान उस अन्तर्यामी अविनाशी परम ईश्वर की मैं साक्षात् परम ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन प्रख्यात नरेश अजातशत्रु ने उत्तर देते हुए कहा- हे ब्रह्मन्! आप इस सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। मैं इसे शब्द की आत्मा समझकर इस श्रेष्ठ तत्त्व की उपासना करता हूँ। इस भाँति से जो भी मनुष्य इस मेघमण्डल में विद्यमान परब्रह्म को शब्द की आत्मा मानकर उपासना करता है, वह मनुष्य स्वयं ही शब्द की आत्मा के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ५ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः पूर्णमप्रवर्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिः। नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् पुनः बलाका-नन्दन गार्ग्य ऋषि ने कहा-'हे राजन्! आकाश मण्डल में प्रतिष्ठित परब्रह्म परमेश्वर की मैं अविनाशी ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आपको इस सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहना चाहिए।' यह तो पूर्ण, प्रवृत्ति रहित (क्रिया रहित) एवं ब्रह्म अर्थात् सभी से विशाल है। अवश्य ही इसी रूप में मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी तरह जो भी मनुष्य इस प्रसिद्ध आकाश मण्डल के अन्तर्गत स्थित पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, न तो स्वयं वह और न उसकी संतान ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते। जिष्णुर्ह वापराजयिष्णुरन्यतस्त्यजायी भवति ॥ ७ ॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य पुनः कहने लगे-'हे राजन्! यह जो वायुमण्डल में स्थित विराट् पुरुष है, मैं (गार्ग्य) अविनाशी ब्रह्म के रूप में इसकी उपासना करता हूँ।' गार्ग्य से ऐसा सुनने पर उन प्रसिद्ध नरेश अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! आपको इस विषय में कुछ भी नहीं कहना चाहिए; यह इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ ऐश्वर्य से युक्त, वैकुण्ठ अर्थात् कहीं भी कुण्ठाग्रस्त न रहने वाला तथा कहीं भी न हारने वाली सेना है। अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूँ; इसी तरह से जो भी मनुष्य इस वायु मण्डल के मध्य में स्थित

विराट् पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, वह मनुष्य निश्चित ही सदा विजयी रहने वाला, दूसरों से कभी भी न हारने वाला एवं अपने को पराक्रम के द्वारा वश में करने वाला होता है॥ ७॥

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहिर्हैवान्वेष भवति॥ ८॥

तदनन्तर उन सुप्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! यह जो अग्नि मण्डल के मध्य में अन्तर्यामी विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस प्रकार कहे जाने पर वे राजा अजातशत्रु गार्ग्य ऋषि से कहने लगे-'हे ब्रह्मन्! इस सन्दर्भ में आप कृपा करके कुछ भी संवाद न करें। यह 'विषासहि' अर्थात् दूसरों के प्रहार को सहन करने की सामर्थ्य वाला है। अवश्य ही इसी भावना से मैं इस तत्त्व की उपासना करता हूँ।' इसी तरह से जो भी मनुष्य इस प्रसिद्ध अग्नि के मध्य में स्थित विराट् पुरुष की उपासना करता है, वह इस उपासना के बाद दूसरों का आवेग सहन करने में समर्थ हो जाता है॥ ८॥

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा नाम्न आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न आत्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्॥ ९॥

उन ख्याति प्राप्त बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन् ! जो यह जल मण्डल के मध्य में अन्तर्यामी विराट् पुरुष स्थित है, इसकी ही मैं ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन (गार्ग्य ऋषि) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! इस विषय में कृपा करके आप कुछ भी न कहें। यह नामधारी जीवात्मा है, ऐसा जानकर ही मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो मनुष्य इसी भाव से इसकी उपासना करता है, वह नामधारी समस्त प्राणिमात्र की आत्मा हो जाता है। इसे आधिदैवत उपासना कहा जाता है। आगे अब अध्यात्म उपासना का वर्णन करते हैं॥ ९॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः॥ १०॥

उन प्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य जी ने कहा- 'हे राजन्! जो यह दर्पण में विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी की मैं अविनाशी ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उन गार्ग्य मुनि से राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे मुने! इसके सन्दर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह प्रतिरूप (रूप का ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब) है, अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूँ।' इसी तरह से वह मनुष्य भी यदि इस दर्पण के मध्य में विराट् पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, तो वह उस प्रतिरूप गुण से विभूषित हो जाता है। उसकी संतानें उसके अनुरूप ही होती हैं। प्रतिकूल रूप व स्वभाव वाली नहीं होती॥१०॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयाद्द्वितीयवान्भवति॥ ११॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य फिर बोले- 'हे राजन्! जो यह विराट् पुरुष प्रतिध्वनि में स्थित है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस प्रकार उन गार्ग्य ऋषि से राजा अजातशत्रु ने कहा-हे ब्रह्मन्! आप इस

सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। यह 'द्वितीय' एवं 'अनपग' (एक ध्वनि के पुनरावृत्ति एवं प्रतिध्वनि में गति का अभाव) है। अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना के साथ उपासना करता हूँ।' ऐसे ही जो भी उपासक इस प्रतिध्वनिगत विराट् पुरुष की इस ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह अपने अतिरिक्त दूसरे अर्थात् स्त्री-पुत्रादि को प्राप्त कर लेता है और सदा द्वितीयवान् रहता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादि से वह वियोग को नहीं प्राप्त होता॥ ११ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्संमोहमेति ॥ १२ ॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य पुनः बोले- 'हे राजन्! जो यह गमन करते हुए विराट् पुरुष के पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसी अविनाशी परमात्मा की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! इस संदर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह प्राण स्वरूप है, इसलिए निश्चित रूप से इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो भी उपासक इस श्रेष्ठ तत्त्व की इस रूप में उपासना करता है, वह पूर्ण आयु के पहले मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है और न ही उसकी सन्तान ही पूर्ण आयु के पूर्व मृत्यु को प्राप्त होती है॥ १२ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष छायापुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रमीयते॥ १३ ॥

सुप्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य जी पुनः कहने लगे-'हे राजन्! शरीरधारी के साथ जो छाया विचरण करती है, मैं उसी छायारूप विराट् पुरुष की उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन गार्ग्य ऋषि से सुप्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह छाया तो मृत्युरूप है, मैं इसकी उसी भाव से उपासना करता हूँ।' जो उपासक उस विराट् ब्रह्म की इस रूप में उपासना करता है, वह समय से पहले मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है और न ही उसके पुत्र ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होते हैं॥ १३ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः॥ १४॥

गार्ग्य जी ने आगे कहा- 'हे राजन्! यह जो विराट् पुरुष शरीर में स्थित है, उसे मैं साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह प्रजापति स्वरूप है, इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो भी मनुष्य इस शरीर में निवास करने वाले पुरुष की प्रजापति भाव से उपासना करता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है॥१४

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्न्यया चरति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय यम्यते॥ १५ ॥

गार्ग्य जी पुनः बोले-'हे राजन्! यह जो प्रज्ञा से नित्य-युक्त प्राण स्वरूप आत्मा है, जिससे एकता को प्राप्त करके यह सोया हुआ विराट् पुरुष स्वप्न मार्ग से विचरण करता है (अर्थात् विभिन्न तरह के स्वप्नों का

अनुभव करता है), उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' यह सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! इस सन्दर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह यम राजा है, ऐसा जानकर मैं इसी भाव से इसकी उपासना करता हूँ।' जो मनुष्य इसकी इसी तरह से उपासना करता है, उस उपासक की श्रेष्ठता-अभिवर्धन हेतु यह समस्त संसार नियमपूर्वक चेष्टा करता है॥ १५॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचा-जातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा नाम्न आत्माऽग्नेरात्मा ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति॥ १६॥

पुनः गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! जो यह दाहिने नेत्र में विराट् पुरुष स्थित है, मैं उसी की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ।' ऐसा गार्ग्य ऋषि से सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! कृपया आप इस विषय में कुछ भी न कहें।' यह नाम, अग्नि एवं ज्योति की आत्मा है। इसकी मैं इसी भावना के अनुसार उपासना करता हूँ। इसी तरह से जो भी उपासक इसकी उपासना करता है, वह इन सभी की आत्मा के समान हो जाता है॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवतीति॥ १७॥

तब गार्ग्य पुनः बोले-'हे राजन्! यह जो बायें नेत्र में विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी श्रेष्ठ पुरुष की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन (गार्ग्य ऋषि) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह सत्य का, विद्युत् का एवं तेज का आत्मा है। इसकी मैं इसी भाव से उपासना करता हूँ।' जो भी उपासक इसकी इस भाव से उपासना करता है, वह सभी की आत्मा हो जाता है॥

तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास तं होवाचाजातशत्रुः। एतावन्नु बालाका३इ इत्येतावद्धीति होवाच बालाकिस्तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा समवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाच। यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तत्स्याद्यत्क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेत्। एहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुस्तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे। बृहन्पाण्डरवासः सोमराजन्निति। स उ ह तूष्णीमेव शिश्ये। तत उ हैनं यष्ट्याविचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ तं होवाचाजातशत्रुः। क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत्कुत एतदागा३दिति। तत उ ह बालाकिर्न विजज्ञौ॥१८

राजा अजातशत्रु के इस तरह से कहने के पश्चात् वे बलाका-तनय गार्ग्य जी मौन हो गये। तदनन्तर उन (गार्ग्य जी) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाके! क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है?' इस प्रश्न पर बलाका-पुत्र गार्ग्य ने कहा-'हाँ, इतना ही है।' तब राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! तब तो व्यर्थ ही आपने यह कहा कि तुम्हारे लिए ब्रह्म का उपदेश करूँगा।' निश्चय ही जो आपके द्वारा कहे हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषों का कर्त्ता है-वही जानने योग्य है। उन श्रेष्ठ राजा अजातशत्रु के इस तरह कहने पर वे प्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य हाथ में समिधा ग्रहण कर उनके पास जाकर कहने लगे-'हे राजन्! मैं आपको गुरु बनाने के लिए आपके पास आया हूँ।' ऐसा सुनकर राजा ने कहा-'यह विपरीत बात हो जायेगी, यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य

बनाने के लिए अपने पास बुलाये। अतः आप आयें (एकान्त स्थान की ओर चलें), वहाँ आपको निश्चय ही मैं स्वयं विराट् ब्रह्म का बोध कराऊँगा।' ऐसा कहकर राजा (अजातशत्रु) बलाका-तनय गार्ग्य का हाथ पकड़ करके वहाँ से चल दिये। वे दोनों (राजा एवं गार्ग्य) एक सोये हुए व्यक्ति के पास आये। वहाँ पर राजा अजातशत्रु ने उस सोये हुए व्यक्ति को जगाने का प्रयास करते हुए बुलाया-'हे ब्रह्मन्! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! इस तरह से सम्बोधन करने पर भी जब वह व्यक्ति सोया ही रहा, तब उस व्यक्ति के शरीर में छड़ी से प्रहार किया। जैसे ही उसके शरीर में प्रहार किया गया, वह सोया हुआ व्यक्ति उस छड़ी की चोट से उठकर खड़ा हो गया। ऐसा दृश्य देखकर बलाका-पुत्र गार्ग्य से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाके! यह व्यक्ति इस तरह अचेत सा रहकर कहाँ शयन करता था? किस प्रदेश में इसका शयन हुआ था? तथा इस जाग्रत्-अवस्था में यह कहाँ से आ गया है?'॥ १८॥

तं होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागादिति। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति। शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यस्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नैवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्यात्। विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः॥ १९॥

गार्ग्य इस रहस्य को न समझ पाये, तब पुनः उनसे राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाका-तनय! यह पुरुष इस तरह से अचेत-सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ शयन करता था और इस जाग्रत्-अवस्था में इसका जहाँ से आगमन हुआ है, वह स्थान इस प्रकार से जाना जाता है। 'हिता' नाम से प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं,जो कि हृदय-कमल से सम्बन्ध रखने वाली हैं। वे (नाड़ियाँ) हृदय--कमल से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत होकर फैली हुई हैं। इन नाड़ियों का परिमाण इस तरह से है-एक बाल के हजारवें भाग के बराबर ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म वे सभी नाड़ियाँ हैं। पिङ्गल अर्थात् विभिन्न तरह के रंगों का जो अति सूक्ष्मतम रस है, इससे वे पूर्ण हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत एवं रक्त आदि इन सभी रंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों से वे सम्पन्न हैं। उन्हीं समस्त नाड़ियों में यह पुरुष सुषुप्तावस्था के समय विद्यमान रहता है।

जिस समय यह सोया हुआ पुरुष किसी भी तरह का स्वप्न नहीं देखता, तब उस समय यह इस मुख्य प्राण तत्त्व में ही एकात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। उस समय वाणी अपने समस्त नामों सहित इस प्राणतत्त्व में विलीन हो जाती है। चक्षु भी अपने सभी रूपों के साथ इस प्राण में ही मिल जाता है। कर्णेन्द्रिय अपने सभी शब्दों के साथ इस प्राण में विलीन हो जाती है और मन भी सभी चिन्तनयुक्त विषयों के सहित इस प्राण-तत्त्व में विलीन हो जाता है। यह पुरुष जब जाग जाता है, तब उस समय जैसे जलती हुई अग्नि से सभी दिशाओं की तरफ चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती हैं, वैसे ही इस प्राण स्वरूप आत्मा से सभी वाणी आदि प्राणतत्त्व बहिर्गमन कर अपने-अपने भोग्य-स्थल की तरफ गमन कर जाते हैं। तत्पश्चात् प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवों का प्रादुर्भाव होता है एवं साथ ही देवताओं से लोक अर्थात् नाम आदि विषयों का प्राकट्य होता है। उस

श्रेष्ठ आत्मा की प्राप्ति का उदाहरण इस तरह से है-जैसे क्षुरधान (अर्थात् छुरा रखने हेतु निर्मित की हुयी चर्मयुक्त पेटी) में छुरा रखा रहता है, वैसे ही शरीर के अन्दर हृदय-कमल में अङ्गुष्ठ-मात्र पुरुष के रूप में परमात्म सत्ता की स्थिति होती है एवं जिस तरह अग्नि अपने नीड-भूत अरणी आदि काष्ठ में सभी जगह फैली रहती है, उसी प्रकार यह प्रज्ञावान् आत्मा इस 'आत्मा' नाम से सम्बोधित किये जाने वाले शरीर में नख से शिखा तक व्याप्त है॥ १९॥

तमेतमात्मामेनत आत्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठी स्वर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति। स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञे तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं परीयाय तथो एवैवं विद्वान्सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद॥ २०॥

उसी साक्षीरूप आत्मा का ये वाणी आदि आत्मा (इन्द्रियाँ) अनुगत सेवक की भाँति ठीक वैसे ही अनुसरण करती हैं, जैसे श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न धनी का, उसके आश्रय में जीवन-व्यतीत करने वाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं। जिस तरह धनी अपने आत्मीय जनों के साथ भोजन करता है और स्वजन जैसे उस धनी का ही उपभोग करते हैं, उसी प्रकार यह प्रज्ञा सम्पन्न आत्मा इन वाणी आदि आत्माओं के सहित उपभोग करता है और अवश्य ही इस आत्मा का ये वाणी आदि आत्मा उपभोग करते हैं।

वे प्रख्यात देवराज इन्द्र जब तक इस आत्मा को नहीं जान पाये थे, तब तक उन्हें समस्त दैत्य समूह पराजित करते रहते थे; किन्तु जैसे ही उन्होंने अपनी आत्मा को जाना, वैसे ही देवराज इन्द्र ने उन समस्त दैत्यों को विनष्ट कर, उन्हें परास्त करके सम्पूर्ण देवों में श्रेष्ठता का पद, स्वर्ग का राज्य एवं त्रिलोकी का अधिकार प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार आत्मा को जानने वाला ज्ञानी अपने समस्त पापों को मिटाकर सभी भूत-प्राणियों में श्रेष्ठ होकर स्वाराज्य और प्रभुता को प्राप्त कर सभी का स्वामी बन जाता है। जो भी उपासक इस प्रकार से उसे जानता है, उसे ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति हो जाती है॥ २०॥

वाङ्मे मनसि ....इति शान्तिः॥

॥ इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ क्षुरिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २५ मन्त्र हैं। यह उपनिषद् तत्त्व-ज्ञान के प्रतिबन्धक घटकों को काटने में क्षुरिका (छुरी-चाकू) सदृश समर्थ है। योग के अष्टांगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) में से धारणा की सिद्धि और उसके प्रतिफल की यहाँ विशेष रूप से चर्चा है।

इस उपनिषद् में कहा गया है कि सर्वप्रथम योग साधना के लिए दृढ़ आसन पर बैठकर प्राणायाम की विशेष क्रियाओं का अभ्यास करते हुए शरीर के सभी मर्म स्थानों में प्राण का संचार उसी प्रकार करे, जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा निर्मित अति सूक्ष्म तन्तुओं पर गतिशील रहती है। तत्पश्चात् क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते हुए हृदय कमल स्थित सुषुम्ना नाड़ी से प्राण तत्त्व का संचार करते हुए तथा अन्य ७२ हजार नाड़ियों का छेदन करते हुए उस परब्रह्म स्थान तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ पहुँचने पर जीव (हंस) समस्त बन्धनों को काट डालने में समर्थ हो जाता है। उस समय वह अपने समस्त कर्म बन्धनों को जलाकर परम तत्त्व में उसी प्रकार लय को प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार दीपक निर्वाण (बुझने) के समय तेल-बाती सभी को जलाकर परम ज्योति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार वह (जीव) पुनः कर्म बन्धन में नहीं बँधता-जीवन मुक्त हो जाता है। यही इस उपनिषद् का सार है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.................इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥१ ॥

योग की सिद्धि हेतु मैं धारणा रूपी छुरिका के सम्बन्ध में यहाँ वर्णन करता हूँ, जिसे प्राप्त करके योग युक्त हो जाने वाले मनुष्य को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥१

[सुझाई गयी धारणा का उपयोग करके मनुष्य बन्धन मुक्त होता है, इसलिए उसे बन्धन काटने वाली छुरी कहा गया है। संसारी व्यक्ति लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर भव-बन्धनों में बँधते हैं। योगी जन अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार की साधना करते हुए धारणा तक पहुँचते हैं, तो आत्म सत्ता, परमात्म सत्ता और दोनों के बीच आदान-प्रदान, इन तीन में अपने चित्त को बाँध लेते हैं। इस धारणा के प्रभाव से सांसारिक बन्धन छिन्न हो जाते हैं।]

मन्त्र क्र० २ से ५ तक निर्धारित धारणा के पूर्व प्राणायाम का वर्णन है—

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयंभुवा। निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः ॥ २ ॥
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च। मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः ॥ ३ ॥
पूरयेत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च। उरोमुखकटिग्रीवं किंचिद्धृदयमुन्नतम् ॥ ४ ॥
प्राणान्संधारयेत्तस्मिन्नासाभ्यन्तरचारिणः। भूत्वा तत्र गतप्राणः शनैरथ समुत्सृजेत् ॥ ५ ॥

जैसा कि स्वयंभू ब्रह्माजी का कथन है और जो भाव वेद के तत्त्वार्थ में सन्निहित है, तदनुसार कोलाहल रहित स्थान में इसके लिए उचित आसन में स्थित होकर जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने संकल्प से समेट लेता है, वैसे ही मन और हृदय (के भावों) को निरुद्ध (बिखरने से रोक) करे तथा ॐ कार की बारह मात्राओं के माध्यम से (उतने समय में) धीरे-धीरे प्राण रूप सर्वात्मा को (पूरक द्वारा) अपने अन्दर पूरित करे। इस समय (प्राण के) सभी द्वारों को (बन्धों के माध्यम से) रोक करके छाती, मुख, कमर, गर्दन (को ऊपर की ओर खींचकर सीधा) तथा हृदय को कुछ उन्नत रखे। इस स्थिति में नासिका द्वारा संचरित प्राण को (कुम्भक के द्वारा) सभी स्थानों में धारण करे। जहाँ-तहाँ प्राणों का संचरण हो जाने पर फिर धीरे-धीरे वायु को (रेचक क्रिया द्वारा) बाहर छोड़ दे ॥ २-५ ॥

[ॐ कार में तीन मात्राएँ होती हैं। १२ मात्रा का अर्थ हुआ, ४ बार ओंकार के सहज उच्चारण जितना समय लगाकर पूरक करे। उसी अनुसार कुम्भक एवं रेचक की मात्रा निश्चित करे।]

स्थिरमात्रादृढं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः। द्वे तु गुल्फे प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः ॥ ६ ॥
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः। वायोरायतनं चात्र नाभिदेशे समाश्रयेत् ॥ ७ ॥

धारणा युक्त उक्त प्राणायाम का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, पूरी सावधानी के साथ पैर के अँगूठे सहित टखनों में दो-दो बार, (टखनों और घुटनों के बीच के भाग) जंघाओं या पिंडलियों में तीन-तीन बार, घुटनों और ऊरु (जाँघों) में दो-दो बार तथा गुदा एवं जननेन्द्रिय में तीन-तीन बार (प्राणायाम द्वारा) प्राणों के संचार की धारणा करे। इसके बाद नाभि प्रदेश में प्राणों की धारणा करे ॥ ६-७ ॥

कटि प्रदेश से नीचे का भाग, जो मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों से सम्बद्ध है, उसमें प्राण-प्रवाह की धारणा स्थिर होने के बाद क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ एवं उससे ऊपर मन-बुद्धि (आज्ञा-सहस्रार आदि) तक प्राण-प्रवाह द्वारा धारणा को दृढ़ करने का संकेत आगे के मंत्रों में किया गया है-

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।
अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रविलोहिताः ॥ ८ ॥

वहाँ पर इड़ा, पिङ्गला आदि दस नाड़ियों से आवृत सुषुम्ना नाम की ब्रह्म नाड़ी स्थित है। वहाँ भी अनेक नाड़ियाँ स्थित हैं, जो अति सूक्ष्म, लाल, पीली, काली एवं ताँबे के रंग की हैं ॥ ८ ॥

अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत्प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना ॥ ९ ॥

वहाँ पर जो नाड़ी अति सूक्ष्म, पतली एवं शुक्ल वर्ण की है, उसका आश्रय प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपनी लार के तन्तुओं द्वारा गतिशील होती है, उसी प्रकार योगी को उस नाड़ी मण्डल में प्राणों को संचरित करना चाहिए ॥ ९ ॥

[मकड़ी अपने ही अंश से सूक्ष्म तन्तु पैदा करती है, फिर उन्हीं तन्तुओं के सहारे से इच्छित दिशाओं में गमन करती है। नाड़ी तन्तु प्राण द्वारा ही सृजित होते हैं और उन्हीं के माध्यम से प्राणशक्ति को काया तन्त्र में गतिशील किया जाता है।]

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते ॥ १० ॥
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन्यतः।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥ ११ ॥

उस (नाभि) के बाद वेदान्त में जिसे दहर या पुण्डरीक कहा गया है, वह महत् आयतन वाला हृदय क्षेत्र है। वह क्षेत्र रक्त कमल की तरह सदा प्रकाशित रहता है। उस (हृदयक्षेत्र) के बाद नाड़ियों को पूरित करता हुआ (प्राण-प्रवाह) कण्ठ में आता है। उसके बाद मन:क्षेत्र और उससे परे गुह्य, निर्मल और तीक्ष्ण बुद्धि का स्थान है॥ १०-११॥

पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत्। मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥ १२॥
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम्। तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत्॥१३॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्। चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कितः॥१४॥

इस प्रकार पैरों के ऊपर जो मर्म स्थान हैं, उनके नाम-रूप का चिन्तन करे। नित्य योगाभ्यास का आश्रय लेकर तीक्ष्ण मन के द्वारा जंघाओं से लगा हुआ जो 'इन्द्रवज्र' नामक क्षेत्र है, उसका छेदन करे। वहाँ उरुओं के बीच मर्म स्थलों का विमोचन करने वाले प्राण को ध्यान बल और धारणा के योग से स्थापित करके योगाभ्यास द्वारा मन की तीक्ष्ण धारणा से, नि:शंक होकर (मूलाधार से हृदय पर्यन्त) चारों मर्म स्थलों का छेदन (भेदन) करे॥ १२-१४॥

ततः कण्ठान्तरे योगी समूहं नाडिसंचयम्। एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिरा॥१५॥
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च॥१६॥

इसके बाद योगी कण्ठ के अन्दर स्थित नाड़ी समूह में प्राणों को संचरित करे। उस नाड़ी समूह में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनके मध्य में पराशक्ति स्थित है। सुषुम्ना नाड़ी परम तत्त्व में लीन रहती है और विरजा नाड़ी ब्रह्ममय है। इड़ा का निवास बायीं ओर है और पिङ्गला दाहिनी ओर स्थित है॥ १५-१६॥

तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्। द्वासप्ततिसहस्राणि प्रति नाडीषु तैतिलम्॥ १७॥

इन (इड़ा एवं पिङ्गला) दोनों नाड़ियों के मध्य में जो श्रेष्ठ स्थान है, उसे जो जानता है, वह वेद (अर्थात् शाश्वत ज्ञान) को जानने में समर्थ होता है। सभी सूक्ष्म नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है, जिन्हें तैतिल कहा गया है॥ १७॥

छिन्द्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते। योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥ १८॥
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभावादिह जन्मनि। जातीपुष्पसमायोगैर्यथा वास्यति वै तिलम्॥ १९॥

ध्यान योग के द्वारा समस्त नाड़ियों का छेदन किया जा सकता है; किन्तु एक सुषुम्ना ही ऐसी है, जिसका कि छेदन नहीं किया जाता। धीर पुरुष को इस जन्म में आत्मा के प्रभाव से अग्निवत् तेजोमयी एवं योग रूपी निर्मल धार से युक्त (धारणा रूपी) छुरी से सैकड़ों (सभी) नाड़ियों का छेदन करना चाहिए। इससे नाड़ियाँ उसी तरह से सुवास युक्त हो जाती हैं, जिस तरह जाती (चमेली) के पुष्प से तिल (का तैल) सुवासित हो जाते हैं॥ १८-१९॥

एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडी तां विभावयेत्। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः॥२०॥

इस प्रकार योगी को चाहिए कि वह शुभाशुभ भावों से युक्त विभिन्न नाड़ियों को समझे। उनसे परे सुषुम्ना नाड़ी में धारणा स्थिर करने से योगी पुनर्जन्म से रहित होकर शाश्वत परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २०

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः। निःसङ्गस्तत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः॥ २१॥

जिस व्यक्ति ने तप के द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, वह व्यक्ति शब्दरहित, एकान्त, निर्जन स्थान में स्थित होकर नि:सङ्ग तत्त्व के योग का अभ्यास करे तथा शनैः-शनैः निरपेक्ष हो जाए॥ २१॥

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः खमुत्क्रमेत्। छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥२२॥

जिस प्रकार बन्धन-जाल को काटकर हंस निःशंक होकर आकाश में गमन कर जाता है, उसी प्रकार योगी मनुष्य इस योग के अभ्यास द्वारा सभी बन्धनों के कट जाने के पश्चात् बन्धन-मुक्त होकर संसार-सागर से सदा के लिए पार हो जाता है॥ २२॥

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥ २३॥

जिस प्रकार निर्वाण काल में (बुझने के समय) दीप ज्योति (दीपक की तेल-बाती) सभी को जलाकर स्वयं परम प्रकाश में लीन हो जाती है, वैसे ही योगी मनुष्य अपने सभी कर्मों को योगाग्नि से भस्म करके अविनाशी परमात्म तत्त्व में लीन हो जाता है॥ २३॥

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तं तु न बध्यते॥ २४॥

वैराग्य रूपी पत्थर पर ॐकार युक्त प्राणायाम से घिसकर तीक्ष्ण की गयी धारणा रूपी छुरी से संसार के (विषयादि) सूत्रों के काटने वाले योगी को सांसारिक बन्धन बाँध नहीं पाते॥ २४॥

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्प्रमुच्यते। सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तन्तुं न बध्यते छित्त्वा तन्तुं न बध्यते। इत्युपनिषत्॥ २५॥

जब वह (योगी मनुष्य) कामनाओं से छूट जाता है तथा एषणाओं से रहित हो जाता है, तभी (वह) अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है और पुनः बन्धनों में नहीं बँधता। क्षुरिकोपनिषद् का यही रहस्य है॥ २५॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति क्षुरिकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ जाबालदर्शनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय है। इसे 'दर्शनोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें कुल दस खण्ड हैं, जिसमें भगवान् विष्णु के अवतार दत्तात्रेय जी और उनके शिष्य सांकृति का 'अष्टांगयोग' के विषय में विस्तृत प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन हुआ है।

प्रथम खण्ड में योग के आठ अंगों तथा दस यमों का उल्लेख हुआ है। द्वितीय खण्ड में दस नियमों का वर्णन है। तृतीय खण्ड में नौ प्रकार के यौगिक आसन बताए गये हैं। चतुर्थ खण्ड में नाड़ियों का परिचय तथा आत्मतीर्थ और आत्मज्ञान की महिमा वर्णित की गई है। पंचम खण्ड में नाड़ी शोधन की प्रक्रिया एवं आत्मशोधन की विधियों का वर्णन है। छठें खण्ड में प्राणायाम की विधि, उसके प्रकार, फल तथा प्रयोग का उल्लेख किया गया है। सातवें में प्रत्याहार के विविध प्रकारों तथा उसके फल का विवरण है। आठवें एवं नवें में धारणा तथा ध्यान का वर्णन है। दोनों के दो-दो प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम दसवें खण्ड में समाधि अवस्था का वर्णन हुआ है। साथ ही उसके फल का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस उपनिषद् को पूर्णतया 'योगपरक' कहा जा सकता है।

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः। चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः ॥ १ ॥
तस्य शिष्यो मुनिकरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान्। पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ॥२ ॥
भगवन्ब्रूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्। येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥३ ॥

समस्त भूत-प्राणियों के पालक चतुर्भुज भगवान् विष्णु, योगिराज भगवान् दत्तात्रेय के रूप में प्रादुर्भूत हुए। भगवान् दत्तात्रेय जी योग-साम्राज्य (के अधिपति रूप) में दीक्षित हैं। उनके शिष्य मुनिश्रेष्ठ साङ्कृति नाम से प्रख्यात हैं। वे गुरु के परम भक्त हुए। उन्होंने एक दिन एकान्त में अपने गुरुदेव से विनयावनत होकर पूछा-'हे भगवन्! अष्टांगयोग का मेरे लिए सविस्तार वर्णन कीजिए ,जिसे जानकर मैं जीवन्मुक्त हो सकूँ'॥

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्। यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च॥ ४॥
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम्। धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने॥ ५॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥ ६॥

महायोगी दत्तात्रेय जी ने अपने शिष्य से कहा- 'हे साङ्कृते! मैं अष्टांग योग दर्शन का वर्णन करता हूँ। तुम उसका श्रवण करो। हे ब्रह्मन्! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ही योग के आठ अंग हैं। इनमें यम के दस भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं-१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४.ब्रह्मचर्य, ५. दया, ६. क्षमा, ७. सरलता, ८. धृति, ९. मिताहार एवं १०. बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता॥ ४-६॥

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा॥ ७॥
आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो न ग्राह्य इति या मतिः। सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥

हे तपोधन! वेद में वर्णित विधि के अतिरिक्त मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा यदि किसी को किसी भी तरह से पीड़ित किया जाता है अथवा उससे प्राणों को शरीर से अलग कर दिया जाता है, तो वही वास्तविक हिंसा कही गयी है। इससे भिन्न और कोई हिंसा नहीं है। हे मुने! यह भाव रखना चाहिए कि आत्म तत्त्व सर्वत्र

व्याप्त है,शस्त्र आदि के द्वारा वह नष्ट नहीं हो सकता। हाथों या अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मा का ग्रहण होना असम्भव ही है। अतः इस तरह से जो श्रेष्ठ बुद्धि है, उसे ही वेदान्त के मर्मज्ञ विद्वानों ने श्रेष्ठ अहिंसा कहा है॥

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्॥ ९॥ सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः। तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगैः॥ १०॥ अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः॥११॥ आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम्। यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामुने ॥१२॥

हे साङ्कृते! चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से जो जिस रूप में देखा, सुना, सूँघा और समझा हुआ विषय है, उसको उसी रूप में वाक्-इन्द्रिय के द्वारा या फिर संकेत आदि के द्वारा कहना ही 'सत्य' है। इसके अतिरिक्त सत्य का और कोई भी स्वरूप नहीं है। सभी कुछ सत्य रूप परब्रह्म परमात्मा ही है, परमात्मा के अतिरिक्त अन्य और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस तरह का जो दृढ़ निश्चय है, उसी को वेदान्त ज्ञान के विशेषज्ञों ने सर्वश्रेष्ठ सत्य बताया है। दूसरे (व्यक्ति) के रत्न-आभूषण, सुवर्ण अथवा मणिमुक्तक आदि से लेकर तृण आदि के लिए मन में भी कभी प्राप्त करने की इच्छा न करना, दूसरों की बड़ी अथवा छोटी वस्तु के लिए मन में कभी लोभ-लालच न लाना ही अस्तेय है। विद्वज्जनों ने इसी को ही 'अस्तेय' अर्थात्- चोरी न करना कहा है। हे मुने! इस संसार के समस्त व्यवहारों में अनात्म बुद्धि रखकर आत्मा से दूर रखने का जो भाव है, उसी को आत्मज्ञानी जनों ने अस्तेय कहा है॥ ९-१२॥

कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्। ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥१३॥ ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप॥ १४॥ स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा। अनुज्ञा या दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः॥ १५॥

मन, वचन एवं शरीर के द्वारा स्त्रियों के सहवास का त्याग और ऋतुकाल में मात्र अपनी ही पत्नी से सम्बन्ध रखना 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है या फिर काम-क्रोधादि रिपुओं को कष्ट पहुँचाने वाले मन को परब्रह्म अविनाशी परमात्म तत्त्व के ध्यान में लगाये रखना सबसे श्रेष्ठ 'ब्रह्मचर्य' है। समस्त भूतप्राणियों को अपनी ही भाँति जानकर उनके प्रति मन, वचन एवं शरीर द्वारा आत्मीयता का अनुभव करना (अर्थात् अपनी ही तरह उनके दुःखों को दूर करने तथा अधिक से अधिक सुख पहुँचाने का प्रयास करना) ही वेदवेत्ता विद्वज्जनों के द्वारा 'दया' बताई गयी है॥ १३-१५॥

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम्। एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया॥ १६॥

पुत्र, मित्र, स्त्री, रिपु एवं स्व-आत्मा में भी सदैव मन का समान भाव रखना ही आर्जव (सरलता) है॥

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते। बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव॥ १७॥

हे श्रेष्ठ मुने! रिपुओं के द्वारा मन, वचन एवं शरीर से कष्ट दिये जाने पर भी बुद्धि में थोड़ा भी क्षोभ न आने देना ही 'क्षमा' कहलाता है॥ १७॥

वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः। अहमात्मा न चान्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः॥ १८॥

वेद-ज्ञान से ही सम्पूर्ण जगत् मोक्ष को प्राप्त होता है और अन्य किन्हीं भी कारणों से नहीं। ऐसा जो दृढ़ संकल्प है, उसी को ही वेदज्ञों ने धृति की उपाधि प्रदान की है या फिर 'मैं आत्मा हूँ,' आत्मा से पृथक् दूसरा और कुछ भी नहीं हूँ। इस प्रकार से कभी भी विचलित न होने वाली बुद्धि ही श्रेष्ठ-उत्तम 'धृति' है॥१८॥

अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम्। तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम्॥ १९॥

अल्प मात्रा में शुद्ध-सात्त्विक भोजन ग्रहण करना,पेट के दो भाग भोजन से,तृतीय भाग को जल से तथा चौथे भाग को वायु केलिए खाली छोड़ना ही योगमार्ग के अनुकूल भोजन है,वही मिताहार कहलाता है॥ १९॥

स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने। यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः। अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः॥ २०॥

हे महामुने! अपने शरीर के मल को मिट्टी एवं जल से परिमार्जित किया जाता है, इस कृत्य को 'बाह्य शौच' कहते हैं और मन के माध्यम से श्रेष्ठ, पवित्र भावों का जो चिन्तन-मनन किया जाता है, उसे 'मानसिक शौच' कहा गया है। इसके अतिरिक्त विद्वज्जन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ,' इस श्रेष्ठ ज्ञान को ही शौच कहते हैं॥ २०

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः। उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥ २१॥

यह शरीर अन्तः एवं बाह्य दोनों ओर से ही अत्यन्त मलिन है और शरीर को धारण करने वाला आत्मा अत्यन्त पवित्र, मलरहित है। इस प्रकार देह एवं आत्मा के अन्तर का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर फिर किसको पवित्रतम बनाया जाये॥ २१॥

ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः। स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत॥ २२॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥२३॥

हे श्रेष्ठव्रती मुने! ज्ञानरूप पवित्रता को भुलाकर जो साधक केवल बाहरी पवित्रता में ही रमा रहता है, वह सुवर्ण का त्याग करके मिट्टी के ढेलों का संग्रह करने वाले मूर्ख की ही भाँति है। जो योगी ज्ञानरूप अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हो जाता है, उसके लिए इस जगत् में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है और यदि रह जाता है, तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है॥ २२-२३॥

लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्॥ २४॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादि साधनैः। आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदनात्॥ २५॥

आत्मज्ञानी महान् आत्माओं के लिए तीनों लोकों में भी कहीं कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतः हे मुनीश्वर! तुम सभी तरह से प्रयत्न करके अहिंसा आदि साधनों के माध्यम से अनुभवयुक्त ज्ञान को प्राप्त करके आत्मा को अविनाशी ब्रह्म के रूप में जानो॥ २४-२५॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ १॥ एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु॥ २॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर की पूजा, लज्जा, जप, मति, व्रत एवं सिद्धान्त श्रवण करना-ये दस नियम बताये गये हैं। नीचे क्रमानुसार इनका उल्लेख करता हूँ॥ १-२॥

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः॥३॥

वेद में वर्णित कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर क्षीण करने को ही विद्वज्जन तप कहते हैं॥ ३॥

को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान्। इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः॥४॥

मोक्ष क्या है और आत्मा कैसे तथा किस कारण से संसार-बन्धन को प्राप्त हुआ है, इन सभी बातों के विचार को ही तत्त्वज्ञानी जन 'तप' कहते हैं ॥ ४ ॥

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्। तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ॥५॥ ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्। सर्वत्र विगतस्नेहः संतोषं परमं विदुः। श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ६ ॥

दैव-इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उतने मात्र से ही हृदय में जो प्रसन्नता सदैव बनी रहती है, ज्ञानी जन उसी को 'संतोष' मानते हैं अथवा सर्वत्र अनासक्त रहकर ब्रह्मा आदि देवताओं के लोक तक के सुखों से विरक्त होने के कारण मन में जो प्रसन्नता बनी रहती है, महान् पुरुष उसी को श्रेष्ठ संतोष मानते हैं। वेदों एवं स्मृति-ग्रन्थों में कहे हुए धर्म में दृढ़ आत्मविश्वास होने को ही 'आस्तिकता' कहते हैं ॥ ५-६ ॥

न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने। अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया ॥ ७ ॥

न्यायोपार्जित जो धन संकटग्रस्त, क्लेश आदि से पीड़ित वेदज्ञ पुरुषों अथवा श्रेष्ठ आचरण वालों को श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, उसी धन को मैं 'दान' की श्रेणी में मानता हूँ ॥ ७ ॥

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥ ८ ॥

राग आदि विकारों से मुक्त हृदय, असत्य भाषण आदि दोषों से परे वाणी एवं हिंसा आदि दोषों से मुक्त (श्रेष्ठ भगवत्-प्रीत्यर्थ) कर्म ही 'ईश्वर-पूजन' है ॥ ८ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्रुवम्। प्रत्यगित्यवगन्तव्यं वेदान्तश्रवणं बुधाः ॥ ९ ॥

यह सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सर्वोत्कृष्ट एवं नित्य है। अविचल एवं परमानन्द स्वरूप यही अन्तर्यामी आत्मा है। इस सिद्धान्त को बारम्बार श्रवण कर उसके अनुकूल विश्वास करना ही 'सिद्धान्त-श्रवण' है ॥ ९ ॥

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्। तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता। वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥ १० ॥

वैदिक एवं लौकिक मार्गों में जो निन्दित कार्य कहे गये हैं, उनको करने में जो स्वभावतः संकोच होता है, उसे ही लज्जा के रूप में जाना जाता है। वेदोक्त उपदेशों में पूर्णतः श्रद्धा रखना ही मति है ॥ १० ॥

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र संबन्धवर्जितः। वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥११॥

गुरुजनों के द्वारा अनुमति मिल जाने पर भी वेद के विरुद्ध मार्ग का अवलम्बन न प्राप्त कर वेदोक्त विधि से मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण करना ही 'जप' कहा गया है ॥ ११ ॥

कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके। इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया ॥ १२ ॥ जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥१३॥

वेद, कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण एवं इतिहास आदि में मन की वृत्तियों को लगाये रखना, मेरे विचार से 'जप' है। जप के दो प्रकार कहे गये हैं, प्रथम वाचिक जप एवं द्वितीय मानसिक जप ॥ १२-१३

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः। मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ॥ १४ ॥

वाचिक जप के दो प्रकार माने गये हैं, प्रथम 'उच्चस्वरयुक्त' और द्वितीय 'उपांशु' (फुसफुसाहट युक्त)। इसी तरह से मानसिक जप भी 'मनन' एवं 'ध्यान' के भेद से दो प्रकार का है ॥ १४ ॥

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते। मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥ १५ ॥ उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत्। नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥१६॥

'उच्च' अर्थात् ऊँचे स्वर से किये जाने वाले जप की अपेक्षा 'उपांशु' अर्थात् फुसफुसाकर किया गया जप सहस्रगुना श्रेष्ठ कहा गया है। इसी तरह उपांशु की अपेक्षा मानसिक जप सहस्रगुना अधिक उत्तम कहा गया है। उच्च स्वर से सम्पन्न किया गया जप सभी लोगों को भली-भाँति फल प्रदान करने वाला होता है,किन्तु यदि उस मन्त्र को निम्न स्तर के व्यक्तियों ने श्रवण कर लिया, तो वह व्यर्थ हो जाता है॥ १५-१६॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा। भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ॥१॥
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव। जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ॥२॥
समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत्। सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥३॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते। अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥४॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्। पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम् ॥५॥

हे मुनिश्रेष्ठ! आसन नौ प्रकार के कहे गये हैं-स्वस्तिक आसन, गोमुख आसन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, मुक्तासन, भद्रासन, मयूरासन तथा सुखासन। घुटनों एवं जाँघों के मध्य में अपने दोनों पैरों को भली-भाँति रखकर ग्रीवा, मस्तिष्क एवं शरीर को समान भाव से बनाये रखना ही स्वस्तिक आसन कहा जाता है; इस आसन का प्रतिदिन अभ्यास करने का प्रयास करना चाहिए। दाहिने पैर के टखने को बायीं ओर के पीछे भाग तक तथा बायें पैर के टखने को दाहिनी ओर के पीछे भाग तक ले जाये, इसी को गोमुखासन कहते हैं। हे विप्र! दोनों पैरों को दोनों जाँघों पर रखकर उनके अँगूठों को दोनों हाथों से पीठ के पृष्ठ भाग से पकड़ ले। इसी को पद्मासन कहा जाता है। यह आसन सभी तरह के रोगों का भय हटाने वाला है॥ १-५॥

दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत्। ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम्॥ ६॥

बायें पैर को दाहिनी जाँघ के ऊपर रखे तथा शरीर को सीधा करके बैठे, यही वीरासन है॥ ६॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरत्॥
हस्तौ जानौ समास्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च! व्यक्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिःसदा॥ ६.१-३॥

दोनों टखनों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वों में ले जाकर उन्हें इस तरह से रखे कि बायें टखने से सीवनी का दक्षिण पार्श्व और दक्षिण टखने से सीवनी का बायाँ पार्श्व सटा रहे। तदनन्तर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर अँगुलियों को फैला दे। मुँह खोलकर एकाग्रचित्त हो घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखे यही सिंहासन है॥ ६-१ से ३॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम्॥ ७॥

दोनों टखनों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में लगाकर रखे तथा दोनों हाथों से पार्श्वभाग एवं पैरों को दृढ़तापूर्वक बाँध करके एकाग्रतापूर्वक बैठे, इस स्थिति को भद्रासन कहते हैं। यह समस्त विषयुक्त रोगों का शमन करने वाला है॥ ७॥

निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं दक्षिणेतरगुल्फतः। वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत्॥ ८॥

सीवनी की सूक्ष्म रेखा को बायें टखने से दबाकर, दायें टखने से बायें को दबाने पर मुक्तासन होता है॥

मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं तथोपरि। गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने॥ ९॥

हे मुने! मेढ्र (जननेन्द्रिय) के ऊपर बायें टखने को रखे तथा उसके ऊपर दायाँ टखना रखे, यह स्थिति भी मुक्तासन कहलाती है॥ ९॥

कूर्परात्रे मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः। भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः॥ १०॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः। मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ११॥

हे मुनि श्रेष्ठ! अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में लगाये। तत्पश्चात् सिर एवं पैरों को ऊँचा करके आकाश में दण्ड के सदृश स्थित हो जाये। यह मयूर आसन है, जो सभी तरह के पापों को विनष्ट करने वाला है॥ १०-११॥

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते। तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥ १२॥

जिस किसी भी तरह से बैठने में सुख एवं धैर्य बना रहे, वह आसन ही सुखासन है। अशक्त साधकों को इसी सुखासन का ही आश्रय लेना चाहिए॥ १२॥

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्। अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु॥१३॥

जिसने इन आसनों को जीत लिया, उसने सम्पूर्ण त्रिलोकी को अपने वश में कर लिया। अतः हे साङ्कृते! इसी विधि से (योग) युक्त होकर तुम सदा ही प्राणायाम किया करो॥ १३॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

इस खण्ड में नाड़ी-परिचय, आत्मतीर्थ तथा आत्मज्ञान की महिमा का वर्णन है-

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्। देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्॥ १॥
त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते। गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः॥ २॥
देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहि सांकृते। कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ॥ ३॥

हे साङ्कृते! यह मानव शरीर अपने हाथ की माप से ९६ अंगुल का होता है। इस शरीर के मध्य भाग में अग्नि का स्थान निहित है। उसका वर्ण तपाये हुए स्वर्ण के सदृश कहा गया है। उसकी त्रिकोण आकृति है। यह हमने यथार्थ बात ही तुमसे बतायी है। गुदा भाग से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अंगुल नीचे की ओर जो स्थान है, उसे ही मनुष्य-देह का मध्य भाग समझना चाहिए। वही मूलाधार है, पर हे मुनिश्रेष्ठ! इस स्थान से नौ अंगुल ऊर्ध्व में कन्द स्थान है॥ १-३॥

चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव। कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥४॥

उस कन्द की लम्बाई-चौड़ाई चार-चार अंगुल की है तथा उसकी आकृति मुर्गी के अण्डे की भाँति है। वह ऊपर से चमड़े आदि के द्वारा सुसज्जित है॥ ४॥

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव। कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता॥ ५॥

हे मुनि पुङ्गव! उस कन्द स्थान के मध्य भाग में नाभि केन्द्र है, ऐसा योग विज्ञानियों ने कहा है। कन्द के बीच में जो नाड़ी स्थित है, उसका सुषुम्ना के नाम से उल्लेख किया गया है॥ ५॥

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो हि मुनिपुङ्गव। द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश॥ ६॥

सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती। पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी॥ ७॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी पयस्विनी। शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश॥ ८॥

उस कन्द के चारों तरफ ७२ हजार नाड़ियों का समूह स्थित है। उनमें सुषुम्ना, पिङ्गला, इड़ा, सरस्वती, वरुणा, पूषा, यशस्विनी, हस्तिजिह्वा, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरा, पयस्विनी, शंखिनी और गान्धारी— ये चौदह नाड़ियाँ प्रमुख मानी गयी हैं॥ ६-८॥

आसां मुख्यतमास्तिस्त्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा। ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥९॥

इन चौदह नाड़ियों में भी प्रथम तीन ही सबसे प्रमुख हैं। इन तीनों में भी एक ही नाड़ी सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। शास्त्रज्ञों ने इसे 'ब्रह्मनाड़ी' के नाम से सम्बोधित किया है॥ ९॥

पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत। सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता॥ १०॥

पीठ के मध्य में जो वीणा दण्ड (मेरुदण्ड) नाम से प्रसिद्ध है, वही हड्डियों का समुच्चय है। इससे होकर सुषुम्ना नाड़ी मस्तिष्क तक पहुँचती है॥ १०॥

नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम॥११॥
यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः। परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता॥१२॥

हे मुनीश्वर! नाभि-कन्द से दो अंगुल नीचे कुण्डलिनी स्थित है। इसको अष्टप्रकृति रूपा (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारयुक्त) कहा गया है। वह बायु—चेष्टा, जल और अन्न आदि का अवरोध करके सदैव नाभिकन्द के पार्श्वों को चारों ओर से आच्छादित करके विद्यमान रहती है॥ ११-१२॥

स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने। सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥ १३॥
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते। गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः॥ १४॥
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः। कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता॥१५॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता। पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी॥१६॥

हे मुने! यह अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढक कर रखती है। सुषुम्ना के बायें भाग में इड़ा और दाहिने भाग में पिङ्गला स्थित है। सरस्वती और कुहू सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में स्थित हैं। इड़ा के पृष्ठ भाग में गान्धारी तथा पूर्व भाग में हस्तिजिह्वा प्रतिष्ठित है। पिङ्गला के पृष्ठ भाग में पूषा और पूर्व भाग में यशस्विनी स्थित है। कुहू और हस्तिजिह्वा के मध्य विश्वोदरी नाड़ी विद्यमान है। यशस्विनी और कुहू के मध्य भाग में वरुणा नाड़ी स्थित है। पयस्विनी नाड़ी की स्थिति पूषा और सरस्वती के बीच में कही गई है॥ १३-१६॥

गान्धारायाःसरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी। अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा॥१७
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः। अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते॥
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुङ्गव। यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते॥ १९॥
पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः। पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः॥२०॥

शङ्खिनी का स्थान गान्धारी और सरस्वती के बीच में है। अलम्बुसा नाभिकन्द के मध्य भाग से होती हुई गुदा तक व्याप्त है। सुषुम्ना का द्वितीय नाम राका है, उसके पूर्वी क्षेत्र में कुहू नाम की नाड़ी है। यह नाड़ी ऊर्ध्व एवं अधः दोनों ओर प्रतिष्ठित है। इसकी स्थिति दाहिनी नासिका तक कही गयी है। इड़ा नामक नाड़ी बायीं नासिका तक स्थित है। यशस्विनी नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक व्याप्त है। पूषा पिङ्गला के पृष्ठ भाग से होती हुई बायें नेत्र तक पहुँचती है और पयस्विनी विद्वज्जनों द्वारा दाहिने कान तक फैली हुई बताई गयी है॥

सरस्वती तथा चोर्ध्वगता जिह्वा तथा मुने। हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते॥ २१॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते। गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः॥

सरस्वती नाड़ी ऊपर की ओर जिह्वा तक व्याप्त है। हस्तिजिह्वा नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक फैली है। शङ्खिनी नाम की नाड़ी बायें कान तक स्थित है। वेदज्ञों के द्वारा गान्धारी नाड़ी की स्थिति बायें नेत्र तक व्याप्त बतायी गई है॥ २१-२२॥

विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता। प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च॥२३॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः॥ २४॥
तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत। प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने॥ २५॥

विश्वोदरा की स्थिति नाभिकन्द के बीच में कही गयी है। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल), देवदत्त और धनञ्जय-ये दस प्राण वायु बताये गये हैं। ये प्राण समस्त नस-नाड़ियों में संचरित होते हैं। इन दसों में प्राण आदि पाँच वायु ही प्रमुख हैं। हे मुने! इन पाँचों में भी प्राण और अपान को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है॥ २३-२५॥

आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि। प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम॥ २६॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु। उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत॥ २७॥
व्यानः श्रोताक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि। प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव॥२८॥
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि। समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः॥ २९॥

इनमें से प्राण नामक वायु नासिका एवं मुख के बीच में, नाभि के मध्यभाग में और हृदय में हमेशा निवास करता है। अपान वायु गुदा, लिङ्ग, जाँघों, घुटनों, समस्त उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियों में भी सदा स्थित रहता है। व्यान वायु दोनों कानों, दोनों चक्षुओं, दोनों कन्धों, दोनों टखनों, प्राण के स्थानों और कंठ में भी व्याप्त रहता है। उदान वायु की स्थिति दोनों हाथों एवं पैरों में समझनी चाहिए। समान वायु निःसन्देह समस्त शरीर में फैल कर रहता है॥ २६-२९॥

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः। निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि सांकृते॥
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम्। समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव॥ ३१॥

नाग आदि पाँचों वायु त्वचा एवं अस्थि में निवास करते हैं। हे साङ्कृते! उच्छ्वास अर्थात् श्वास को अन्दर की ओर खींचना, निःश्वास अर्थात् श्वास को बाहर निकालना तथा खाँसना, ये तीनों कार्य प्राण वायु के द्वारा सम्पन्न होते हैं। मल-मूत्रादि कार्य का परित्याग अपान वायु के द्वारा होता है। हे मुनि पुङ्गव! समान वायु सम्पूर्ण शरीर को सम अवस्था में बनाये रखता है॥ ३०-३१॥

उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः। व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः॥ ३२॥
उद्गारादिगुणः प्रोक्तो नागाख्यस्य महामुने। धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते॥ ३३॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च। देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम्॥ ३४॥

उदान वायु ही ऊर्ध्व की ओर प्रस्थान करता है। वेदान्त तत्व के विशेषज्ञ विद्वज्जनों का मानना है कि व्यान वायु ही ध्वनि का व्यञ्जक है। हे श्रेष्ठ मुने! डकार, वमन आदि का कार्य नाग वायु के द्वारा पूर्ण होता है। इस सम्पूर्ण देह में सौन्दर्य आदि का सम्पादन धनञ्जय वायु का कार्य कहा गया है। आँखों का खोलना एवं

मूँदना आदि कूर्म नामक वायु की प्रेरणा से सम्पन्न होता है। कृकर (कृकल) नामक वायु के द्वारा भूख-प्यास की इच्छा होती है तथा तन्द्रा-आलस्य देवदत्त वायु का कार्य कहा गया है॥ ३२-३४॥

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः। पिङ्गलाया विरञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने॥ पूषाधिदेवता प्रोक्तो वरुणा वायुदेवता। हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत्॥३६॥

हे मुनीश्वर! सुषुम्ना नाड़ी के अधिष्ठाता देव शिव और इड़ा के देवता विष्णु तथा पिङ्गला नाड़ी के देवता भगवान् ब्रह्माजी हैं। सरस्वती नाड़ी के देवता विराट् हैं। पूषा नाड़ी के देवता पूषा नाम से युक्त आदित्य हैं। वरुणा के वायु देवता हैं। हस्तिजिह्वा नाड़ी के देवता वरुण हैं॥ ३५-३६॥

यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करस्तथा। अलम्बुसाया अम्ब्वात्मा वरुणः परिकीर्तितः॥ कुहोः क्षुद्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता। शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः॥३८॥

हे श्रेष्ठ मुने! भगवान् भास्कर यशस्विनी नाड़ी के देवता हैं। अलम्बुसा नाड़ी के देवता भी जलस्वरूप वरुण कहे गये हैं। कुहू नाड़ी की अधिष्ठात्री क्षुधा देवी हैं। गान्धारी के देवता चन्द्रमा हैं। ऐसे ही शंखिनी नाड़ी के देवता भी चन्द्रमा को कहा गया है। पयस्विनी नामक नाड़ी के देवता प्रजापति हैं॥ ३७-३८॥

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः। इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने॥ ३९॥ पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर। पिङ्गलायामिडायां तु वायोः संक्रमणं तु यत्॥ ४०॥ तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः। इडायां पिङ्गलायां तु प्राणसंक्रमणं मुने॥ ४१॥ दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः। इडापिङ्गलयोः संधिं यदा प्राणः समागतः॥ ४२॥ अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर।

विश्वोदरा नाड़ी के देवता भगवान् अग्निदेव हैं। हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ महर्षे! चन्द्रमा देवता सदा ही इड़ा नामक नाड़ी में और सूर्य देवता पिङ्गला नाम वाली नाड़ी में संचरित होते हैं। पिङ्गला नाड़ी से इड़ा नाड़ी में जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे विद्वज्जन महर्षियों ने उत्तरायण की संज्ञा प्रदान की है। इसी भाँति इड़ा से पिङ्गला में जो प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे दक्षिणायन के नाम से व्यक्त किया है। जब प्राण इड़ा और पिङ्गला की संधि में गमन करता है, तब उस समय हे महर्षे! इस देह के अन्दर अमावस्या कही गयी है॥ ३९-४२॥

मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम॥ ४३॥ तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम। प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा॥ ४४॥ तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः। निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत्॥ ४५॥ इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः। सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर॥ ४६॥ यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः। तदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव॥ ४७॥

जब प्राण मूलाधार में प्रविष्ट होता है, तब हे विद्वद्वर! तपस्वियों ने आद्य विषुव नामक योग का प्राकट्य कहा है। हे श्रेष्ठ मुने! जब प्राणवायु सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होता है, तब उस समय श्रेष्ठ तत्त्व का विचार करते हुए महान् ऋषियों ने अन्तिम विषुव योग की स्थिति कही है। सभी उच्छ्वास एवं निःश्वास मास-संक्रान्ति माने गये हैं। हे तत्त्वज्ञ शिरोमणे! जब प्राण इड़ा नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के पास आ जाता है, तब उस समय को चन्द्रग्रहण-काल कहा जाता है। ठीक ऐसे ही जब प्राण पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के क्षेत्र में आता है, तभी हे मुने! सूर्य ग्रहण का समय होता है॥ ४३-४७॥

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके। वाराणसीं महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥४८॥

अपने इस देह में सिर के स्थान पर श्रीशैल नाम से युक्त तीर्थ स्थित है। ललाट में केदार तीर्थ प्रतिष्ठित है। हे महाप्राज्ञ! नासिका एवं भृकुटी (दोनों भौंहों) के बीच में काशीपुरी स्थित है॥ ४८॥

कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे। चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम्॥४९॥

स्तन-द्वय मण्डलों में कुरुक्षेत्र का निवास है। कमलरूपी हृदय में तीर्थराज प्रयाग स्थापित है। हृदय के मध्यक्षेत्र में चिदम्बर तीर्थ विद्यमान है। मूलाधार-स्थान में कमलालय तीर्थ की स्थापना की गयी है॥ ४९॥

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्। करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते॥५०॥

जो ऐसे श्रेष्ठ आत्मतीर्थ का त्याग करके बाह्य क्षेत्र के तीर्थों में भ्रमण करता रहता है, वह हाथ में रखे हुए बहुमूल्य रत्न का परित्याग करके काँच को ही ढूँढ़ता रहता है॥ ५०॥

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु। अन्यथालिङ्ग्यते कान्ता अन्यथालिङ्ग्यते सुता॥५१॥

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान्। योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात्॥५२॥

भावतीर्थ ही सबसे उत्तम तीर्थ है। पत्नी एवं पुत्री दोनों का ही आलिङ्गन किया जाता है; किन्तु दोनों में भावना का बहुत अधिक अन्तर होता है, पत्नी का आलिङ्गन दूसरे भाव से और पुत्री का आलिङ्गन दूसरे भाव से किया जाता है। योगी मनुष्य अपने आत्मा के तीर्थ में ज्यादा से ज्यादा विश्वास एवं श्रद्धा रखने के कारण जल से पूर्ण तीर्थों एवं काष्ठ आदि से विनिर्मित देव-प्रतिमाओं की शरण नहीं प्राप्त करते॥ ५१-५२॥

बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने। आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम्॥५३॥

बाह्य जगत् के तीर्थ से अन्तः क्षेत्र के तीर्थ अति श्रेष्ठ हैं, ये महातीर्थ हैं, इन आन्तरिक तीर्थों के समक्ष अन्य सभी तीर्थ व्यर्थ हैं॥ ५३॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥५४॥

विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा। वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः॥५५॥

शरीर के अन्दर निवास करने वाला प्रदूषित चित्त बाहर के तीर्थों में गोते लगाने मात्र से पवित्र नहीं होता; क्योंकि मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार पवित्र जल में धोया जाये, तब भी उस घड़े के अन्दर मदिरा के रहने से वह अपवित्र ही बना रहता है। अपने शरीर में ही जो विषुव योग, उत्तरायण एवं दक्षिणायन काल तथा सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण हैं, उनमें नासिका एवं भौंहों के मध्य में वाराणसी आदि तीर्थों में भावनापूर्वक स्नान करके मनुष्य पवित्र हो सकता है॥ ५४-५५॥

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम्। भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव॥५६॥

अज्ञानियों के अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ज्ञानयोगियों के चरणों का जल ही उत्तम तीर्थ रूप है॥ ५६

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा। शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते॥५७॥

इसी शरीर में भगवान् शिव के रूप में परमात्मसत्ता विद्यमान है। इन भगवान् शिव को न जानने वाला मूढ़, अज्ञानी मनुष्य तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काष्ठ एवं पत्थर में ही सदैव भगवान् को ढूँढ़ता रहता है॥ ५७॥

अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते। हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः॥५८॥

हे साङ्कृते! जो अपने अन्तःकरण में नित्य-सतत स्थिर रहने वाले मुझ परमात्मतत्त्व की अवहेलना करके केवल मात्र बाहर की स्थूल प्रतिमाओं का ही सेवन करता है, वह हाथ में रखे हुए अन्न के ग्रास को फेंककर केवल अपनी कोहनी ही चाटता रहता है॥ ५८॥

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः। अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥५९

योगी मनुष्य अपनी आत्मा में ही भगवान् शिव का दर्शन करते हैं, प्रस्तर खण्ड एवं काष्ठ से विनिर्मित प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदयों में भगवान् शिव के प्रति भावना जाग्रत् करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गयी है॥ ५९॥

अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम्। प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति॥ ६०॥
नाडीपुञ्जं सदाऽसारं नरभावं महामुने। समुत्सृज्यात्मनाऽऽत्मानमहमित्येव धारय ॥६१॥

जिससे भिन्न न कोई पूर्व (कारण) है और न ही पर (कार्य) ही है। जो सत्यस्वरूप, अनुपम और प्रज्ञान घनस्वरूप है,ऐसे उस आनन्दमय ब्रह्म को जो स्वयं अपने आत्मा के रूप में दृष्टिपात करता है,वही वास्तव में यथार्थ देखता है। हे महामुने! यह मानव शरीर नाड़ियों का समुदाय मात्र है,जो सदा ही सारहीन है। इसके प्रति आत्मभाव का परित्याग करके बुद्धि के द्वारा यह निश्चय करो कि मैं स्वयं ही परमात्म स्वरूप हूँ॥

अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम्। आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति॥ ६२॥
विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥६३॥

जो इस शरीर में रहकर भी इससे सदा ही पृथक् है, महान् है, व्यापक है तथा सभी का ईश्वर है, उस आनन्दस्वरूप शाश्वत परमात्म तत्त्व को जानकर बुद्धिमान् धीर पुरुष कभी भी शोक को नहीं प्राप्त होता। हे श्रेष्ठ मुने! सद्ज्ञान के बल से भेदजनक अज्ञान का विनाश हो जाने पर कौन आत्मा एवं ब्रह्म में मिथ्या भेद की बात कहेगा॥ ६२-६३॥

॥ पञ्चमःखण्डः ॥

यहाँ आत्मशोधन की विधि कही जा रही है-

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन्नाडीशुद्धिं समासतः। यथा शुद्ध्या सदा ध्यायञ्जीवन्मुक्तो भवाम्य-हम्॥१॥

साङ्कृति ने भगवान् दत्तात्रेय जी से पुनः प्रश्न किया- 'हे ब्रह्मन्! नाड़ी शोधन की क्या प्रक्रिया है, यह मुझे ठीक तरह से एवं अति संक्षेप में बताइये, जिससे कि मैं नाड़ी शुद्धिपूर्वक सदा ही परमात्मतत्त्व का ध्यान करते हुए इस जीवन से मुक्ति प्राप्त कर सकूँ॥ १॥'

सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः। विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः॥२॥

तब भगवान् दत्तात्रेय जी ने कहा-हे साङ्कृते! मैं अति संक्षेप से नाड़ी शुद्धि का वर्णन आपके सम्मुख करता हूँ। शास्त्रादि के विधि वाक्यों द्वारा जो भी कर्म कहे गये हैं, उनके प्रति कर्त्तव्य बुद्धि से संलग्न रहना चाहिए। कामना एवं फलप्राप्ति के संकल्प को त्याग देना चाहिए॥ २॥

यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः। स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः॥३॥

योग के यम आदि आठों अंगों का उपयोग करते हुए शान्त एवं सत्य परायण रहना चाहिए। अपने आत्मा के ध्यान में सतत लगा रहे तथा ज्ञानी विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित होकर उनसे भली-भाँति शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए॥ ३॥

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा। मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः॥४॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा। समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम्। स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः॥६॥

तदनन्तर पर्वत शिखर, नदी-तट, बिल्व वृक्ष के पास में, एकान्त वन अथवा और अन्य किसी पवित्र एवं सुन्दर प्रदेश में आश्रम का निर्माण कर चित्त को एकाग्र करके वहाँ निवास करे। तत्पश्चात् वहाँ पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके किसी भी आसन से बैठे। ग्रीवा, मस्तक तथा शरीर को समान भाव से रखकर मुख बंद किये हुए ठीक प्रकार से स्थित हो जाये। नासिका के अग्र भाग पर चन्द्रमण्डल की भावना करनी चाहिए तथा वहाँ ओंकार रूप प्रणव के बिन्दु में तुरीयस्वरूप परमात्मतत्त्व को अमृत का स्रोत बहाते हुए आँखों के द्वारा प्रत्यक्ष देखना चाहिए। उस समय चित्त को पूर्णरूप से एकाग्र रखना चाहिए॥ ४-६ ॥

इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीयुतम् ॥७॥
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत्। पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक्प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥८॥
पुनः पिङ्गलयापूर्य वह्निबीजमनुस्मरेत् । पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ॥९॥
त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुर्वारमेव च । षट्कृत्वा विचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिषु॥ १०॥

इसके पश्चात् इड़ा नाड़ी के द्वारा अर्थात् नासिका के बायें छिद्र से प्राणवायु को आकृष्ट करके उदर में ग्रहण कर लेना चाहिए और शरीर के बीच में प्रतिष्ठित जो अग्नि तत्त्व है, उसी का चिन्तन करते हुए ऐसा भाव करना चाहिए कि उस वायु का सान्निध्य प्राप्त करके अग्निदेव ज्वालाओं के सहित मानो प्रज्वलित हो उठे हों। इसके पश्चात् प्रणव के बिन्दु एवं नाद से संयुक्त होकर अग्नि-बीज (रं) का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद श्रेष्ठ साधक पिङ्गला नाड़ी (अर्थात् नासिका के दक्षिण छिद्र के द्वारा) प्राणवायु को विधिपूर्वक धीरे-धीरे बहिर्गमन करे। फिर पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से पहले की भाँति प्राणवायु को अपने अन्दर धारण करके अग्नि बीज का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा फिर उसे शनैः-शनैः बाहर निकाल देना चाहिए। इस तरह से इस प्रक्रिया द्वारा एकान्त में लगातार तीन-चार दिनों तक अथवा प्रतिदिन त्रिकाल समय की संध्याओं में तीन-चार अथवा छः बार यह क्रिया करनी चाहिए॥ ७-१०॥

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः। शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जाठरवर्तिनः॥ ११॥
नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम्। यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत्॥ १२॥

इस क्रिया से उस (साधक) की नाड़ी पवित्र हो जाती है और इस नाड़ी शुद्धि के पृथक् चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। शरीर हल्का हो जाता है, जठराग्नि तीव्र हो उठती है और अनाहत नाद की अभिव्यक्ति होने लगती है। ये लक्षण ही सिद्धि के प्राकट्य का बोध कराते हैं। जब तक ये लक्षण दिखाई न दें, तब तक इसी तरह अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ११-१२॥

अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत्। आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयम्प्रभः॥
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो विभात्ययम्। अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः॥ १४॥

अथवा इन सभी का परित्याग करके मात्र आत्मा की शुद्धि का ही अनुष्ठान करना चाहिए। यह आत्मा सदैव पवित्र, नित्य, सुखरूप एवं स्वप्रकाशित है। अज्ञानता के कारण ही इसमें मलिनता प्रतीत होती है। ज्ञान होने पर यह सदैव विशुद्ध रूप से प्रकाशित होने लगता है, जो मनुष्य अज्ञानरूपी मल एवं कीचड़ को ज्ञानरूपी जल से धो डालता है, वही मनुष्य परम पवित्र है; जो मनुष्य ज्ञान की उपेक्षा करके लौकिक कर्मों में आसक्त रहता है, वह पवित्र नहीं है॥ १३-१४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

यहाँ प्राणायाम की विधि, उसके प्रकार, फल एवं विनियोग का वर्णन है-

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये सांकृते शृणु सादरम्। प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥१॥
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः। स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥२॥

भगवान् दत्तात्रेय जी ने कहा- 'हे साङ्कृते! अब मैं तुम्हारे लिए प्राणायाम का क्रमशः वर्णन करता हूँ, इस विधि का श्रद्धापूर्वक श्रवण करो। इन तीनों पूरक, कुम्भक एवं रेचक के द्वारा जो प्राणों का संयम पूर्ण होता है, उसे ही प्राणायाम बतलाया गया है। प्रणव के तीन वर्ण अकार, उकार तथा मकार हैं, उन्हें क्रमशः पूरक, रेचक एवं कुम्भक से समानता रखने वाला कहा गया है। इन तीनों वर्णों के समूह को ही ओंकार बताया गया है। इस कारण से प्राणायाम भी प्रणव रूप ही है'॥ १-२॥

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥ ३॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया । उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥ ४॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयेज्जपतत्परः। पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥ ५॥
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः। प्राणायामो भवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥ ६॥

इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु को शनैः-शनैः अन्दर की ओर खींचकर के उदर में धारण करे, उस (पूरक) काल में सोलह मात्राओं का प्रयोग करे और श्रेष्ठ अकार का ध्यान करे। तदनन्तर उदर में भरी हुई उस वायु को कुछ समय तक अन्दर धारण किये रहे। उस समय चौंसठ मात्राओं जितना समय लगाकर उकार प्रधान ॐकार का जप करे। जब तक सम्भव हो सके, तब तक जप में मन को एकाग्र करके वायु को आत्मसात् किये रहे। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष बत्तीस मात्राओं का समय लगाकर मकार प्रमुख ॐकार के भाव सहित पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से शनैः-शनैः धारण की हुई वायु को बाहर निकाले। इस प्रकार से यह एक प्राणायाम हुआ। इसी भाँति नित्य अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ३-६॥

पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा। अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः॥ ७॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं संजपन्वशी। उकारमूर्तिं स ध्यायंश्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥८॥

इसके पश्चात् पुनः पिङ्गला नाड़ी के द्वारा वायु को शनैः-शनैः अन्दर खींचते हुए षोडश मात्रा से अकार स्वरूप प्रणव का ध्यान मन को एकाग्र करके करना चाहिए। जब वायु पूरी तरह से उदर में भर जाये, तब विद्वज्जन मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए चौंसठ मात्राओं से उकार के ध्यान सहित ॐकार का जप करते हुए वायु को अन्दर धारण किये रहे॥ ७-८॥

मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम्। एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य बुद्धिमान् ॥ ९॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर। एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद् ज्ञानवान्भवेत्॥ १०॥

तत्पश्चात् बत्तीस मात्राओं से 'मकार' का ध्यान करते हुए इड़ा नाड़ी के द्वारा शनैः-शनैः वायु को बाहर निकाल दे। बुद्धिमान् मनुष्य इसी तरह बार-बार अभ्यास करे। हे श्रेष्ठ मुनीश्वर! इस तरह से प्रत्येक दिन प्राणायाम का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए। इस प्रकार से प्रतिदिन अभ्यास करते रहने से साधक मात्र छः मास में ही ज्ञान-सम्पन्न हो जाता है॥ ९-१०॥

वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत्। योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः॥ ११॥

प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति। बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥१२॥
संपूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्। बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः॥ १३॥

एक वर्ष तक लगातार ऊपर कही हुई विधि से प्राणायाम करने से साधक को अविनाशी ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। अतः प्राणायाम का नित्य ही अभ्यास किया जाना चाहिए। जो पुरुष योग के अभ्यास में संलग्न रहकर सदैव अपने धर्म के पालन में लगा रहता है। वह पुरुष प्राणायाम के द्वारा ही सद्ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त करके संसार-सागर से मुक्त हो जाता है। वायु को बाहर से खींचकर उदर के भीतर भरे जाने की प्रक्रिया को पूरक कहा गया है। जल से परिपूर्ण कुम्भ की भाँति वायु को उदर में स्थिर किये रहना ही कुम्भक कहा जाता है और उसे फिर उदर से बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहा जाता है॥ ११-१३॥

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः। कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमंविदुः॥ १४॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसंभवः। संभवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत्॥१५॥

जिस प्राणायाम के करने से शरीर में पसीना आ जाए, उसे सभी प्राणायामों में निम्न श्रेणी का माना गया है। यदि प्राणायाम करते समय शरीर काँपने लगे, तो उसे मध्यम श्रेणी का प्राणायाम कहा गया है और यदि प्राणायाम के समय में देह ऊर्ध्व की ओर उठता हुआ-सा लगे, तो उसे उत्तम कोटि का माना गया है। जब तक ऊपर की ओर उठने की अनुभूति वाले प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त न हो जाए, तब तक पूर्वोक्त विधि से दोनों तरह के प्राणायामों का ही अभ्यास करता रहे। उपर्युक्त उत्तम श्रेणी के प्राणायाम के पूर्ण हो जाने पर ज्ञानी मनुष्य सुखी हो जाता है॥ १४-१५॥

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत। चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योति र्व्यवस्थितः॥
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति। प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः॥ १७॥
देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानाद्विमुक्तता। रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्॥ १८॥

हे सुव्रत! प्राणायाम के द्वारा चित्त पवित्र हो जाता है एवं उस पवित्र चित्त में अन्तः प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्म तत्त्व का धीरे-धीरे साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाम में सदा रत रहने वाले श्रेष्ठ पुरुष का प्राण चित्त के साथ संयुक्त होकर परमात्मा में स्थित हो जाता है और उसका शरीर क्रमशः धीरे-धीरे ऊपर को उठने लगता है। इस प्राणायाम से ज्ञान को प्राप्त करके वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। रेचक एवं पूरक से मुक्त होकर विशेषरूप से कुम्भक का ही प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए॥ १६-१८॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्। मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥ ११॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामान्समभ्यसेत्॥ २०॥

(इस प्रकार से नित्य प्राणायाम करने वाला योगी) सभी तरह के पापों से मुक्त होकर श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह मनुष्य मन के सदृश वेगवान् एवं मनोजयी हो जाता है, बालों का पकना एवं अन्य दोष भी नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम में अटूट निष्ठा रखने वाले मनुष्य के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अतः मनुष्य को पूर्ण प्रयत्नशील रहते हुए प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए॥ १९-२०॥

विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत। संध्ययोर्ब्राह्मकालेऽपि मध्याह्ने वाऽथवासदा॥२१
बाह्यं प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेण च। नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत्॥ २२॥

हे सुव्रत! अब हम प्राणायाम के विनियोग (विशेष प्रयोग) तुम्हें बतलाते हैं। दोनों सन्ध्याओं के समय में अथवा ब्राह्ममुहूर्त में या फिर मध्याह्न काल में सतत बाह्य क्षेत्र की प्राण वायु को अन्दर खींचकर उदर में

भगन्दरं च नष्टं स्यात्सर्वरोगाश्च सांकृते। पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च॥ ४५॥
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम्। पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥४६॥

हे साङ्कृते! (इस प्राणायाम से) भगन्दर एवं अन्य सभी तरह के रोगों का भी शमन हो जाता है। बड़े से बड़े एवं छोटे से छोटे सभी तरह के पातक भी विनष्ट हो जाते हैं। पापों के विनष्ट हो जाने से चित्त परम पवित्र एवं दर्पण की भाँति निर्मल हो जाता है। तदनन्तर हृदय में ब्रह्मा आदि समस्त देवों के लोकों तक में मिलने वाले भोगजनित सुखों के प्रति वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है॥ ४५-४६॥

विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम्। तेन पाशापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवं सदाशिवम्॥४७
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति॥ ४८॥
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः। अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥ ४९॥
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः। क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः॥ ५०॥
रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम्। तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥५१॥

इस भाँति से जो भी मनुष्य इस संसार-सागर से विरक्त होता है, उसे कैवल्य मोक्ष के साधनभूत ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस ज्ञान से नित्य कल्याणमय परमात्मदेव का तत्त्व ज्ञात कर लेने के कारण सभी तरह के बन्धनों का समूल विनाश हो जाता है। जिस पुरुष ने एक बार भी ज्ञानरूपी अमृत का रसास्वादन प्राप्त कर लिया, वह समस्त कर्मों का परित्याग करके उसी ओर चल पड़ता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस सम्पूर्ण विश्व को ज्ञानस्वरूप ही कहते हैं, जिन मनुष्यों की दृष्टि कुत्सित है, वे दूसरे अज्ञानी मनुष्य इस विश्व को विषय रूप में ही देखते हैं। आत्मस्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष आदि का भी विनाश हो जाता है। राग आदि विषयों के न रहने से पाप-पुण्य का भी विलय हो जाता है और पुण्य-पाप आदि के न रहने से ज्ञानी मनुष्य को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है॥ ४७-५१॥

॥ सप्तमःखण्डः ॥

यहाँ प्रत्याहार के विविध प्रकार एवं फल का वर्णन किया जा रहा है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने। इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः॥ १॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते। यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः॥ २॥
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः। यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्॥ ३॥
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते। अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः॥ ४॥

हे महामुने! अब मैं प्रत्याहार का वर्णन करता हूँ। विषय-भोगों में स्वभाववश विचरण करने वाली समस्त इन्द्रियों को बलात् वहाँ से वापस लाने का जो प्रयत्न है, उसी को प्रत्याहार कहते हैं। 'मनुष्य जो कुछ भी देखता है', वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार समझते हुए ब्रह्म में चित्त को एकाग्र कर लेना ही प्रत्याहार है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। मनुष्य मृत्यु पर्यन्त जो कुछ भी पवित्र अथवा अपवित्र कार्य करता है, वह सभी कुछ परमात्मा को ही समर्पित कर देना चाहिए, यह भी प्रत्याहार कहा गया है अथवा नित्य एवं काम्य सभी तरह के कर्मों को भगवान् की सेवा-प्रार्थना के भाव से करना चाहिए॥१-४॥

काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते। अथवा वायुमाकृष्य स्थानात्स्थानं निरोधयेत्॥

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम्। उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत्॥ ६॥
नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत्। कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत्॥७॥
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे। तस्माज्जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत्॥ ८॥
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा। एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ९॥

सभी काम्य कर्मों के द्वारा भगवान् का पूजन करने को भी प्रत्याहार कहते हैं अथवा वायु को एक जगह से खींचकर दूसरी जगह पर प्रतिष्ठित करे, यथा-दाँत के मूलभाग से वायु को खींचकर के उसे कण्ठ में प्रतिष्ठित करे, कण्ठ से हृदय क्षेत्र में स्थिर करे, हृदय से खींचकर उसे नाभि-प्रदेश में ले जाये, नाभि प्रदेश से कुण्डलिनी में स्थापित करे, कुण्डलिनी क्षेत्र से हटाकर विद्वान् पुरुष उसे मूलाधार में रोके, तत्पश्चात् अपानवायु के स्थान से उस वायु को हटाकर कटि-प्रदेश के दोनों भागों में स्थिर करे और वहाँ से जाँघों के मध्य भाग में ले जाये। जाँघों से दोनों घुटनों में, घुटनों से पिण्डलियों में और पिण्डलियों से पैर के अँगूठे में उस प्राणवायु को स्थापित करे। प्रत्याहार में पारंगत विद्वानों ने प्राचीनकाल से उपर्युक्त इसी क्रिया को ही प्रत्याहार के नाम से बतलाया है॥ ५-९॥

सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत। नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥१०॥
पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम्। पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥ ११॥
नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके। भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत्॥ १२॥

इस भाँति प्रत्याहार की क्रिया में रत बुद्धिमान् पुरुष के सभी पाप एवं जन्म-मृत्युरूप समस्त व्याधियाँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं। स्वस्तिक-आसन का आश्रय प्राप्त कर ज्ञानी मनुष्य शान्त चित्त से स्थान ग्रहण करे तथा नासिका के दोनों छिद्रों से प्राणवायु को भीतर खींचकर, उसे पैर से लेकर सिर तक के सभी स्थानों में पूरा कर दे। दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकेन्द्र में, हृदय के मध्य भाग में, कण्ठ के मूल में, तालु में, भौंहों के बीच में, ललाट में एवं सिर में वायु को प्रतिष्ठित करे, (यह वायु प्रतिष्ठितात्मक प्रत्याहार है)॥ १०-१२॥

देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः। आत्मनाऽऽत्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः। एवमभ्यसतस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम्॥१४॥

ज्ञानी पुरुष चित्त को एकाग्र करके शरीर से आत्म-बुद्धि को अलग कर उसे, खुद ही निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्प स्वरूप में अपने अन्तरात्मा में स्थित करे। वेदान्ततत्त्व के ज्ञाता विद्वानों ने इसी को ही वास्तविक प्रत्याहार कहा है। इस प्रकार प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले मनुष्य के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

यहाँ धारणा के भेद-उपभेद का वर्णन है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत। देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याऽऽकाशं तु धारयेत्॥ १॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने॥ २॥
हयरावलकाराख्यं मंत्रमुच्चारयेत्क्रमात्। धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥ ३॥

हे सुव्रत! अब मैं तुम्हारे लिए पञ्च धारणाओं के सम्बन्ध में बतलाता हूँ। अपने शरीर के अन्दर जो आकाश तत्त्व स्थित है, उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिए। इसी प्रकार प्राण में बाह्य वायु तत्त्व

की, जठरानल में बाह्य अग्नितत्त्व की, देहगत जल के अंश में बाह्य जल तत्त्व की एवं शरीर के पार्थिव भाग में ही सम्पूर्ण पृथ्वी की धारणा करनी चाहिए तथा हर एक तत्त्व की धारणा के समय क्रमशः हं,यं,रं,वं,लं-इन बीजमंत्रों का उच्चारण करे। इस धारणा को सर्वोत्तम बताया है। यह पापों का विनाश करने वाली क्रिया है॥

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते। हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः। ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा॥५॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्॥६॥

पैर से लेकर घुटने तक का भाग पृथिवी का अंश कहा गया है। घुटने से लेकर गुदा तक का भाग जल का अंश बतलाया गया है। गुदा भाग से ऊपर हृदय प्रदेश तक का क्षेत्र अग्नि अंश माना गया है। हृदय से ऊपर भौंहों के मध्यभाग तक वायु का अंश निश्चित किया गया है और मस्तक का क्षेत्र आकाश तत्त्व का अंश कहा गया है। हे महाप्राज्ञ! पृथ्वी तत्त्व के अंश में ब्रह्माजी का, जल-तत्त्व के अंश में विष्णुजी का, अग्नि तत्त्व के अंश में महादेवजी का, वायु तत्त्व के अंश में ईश्वर का और आकाश तत्त्व के अंश में सदाशिव का चिन्तन करना चाहिए॥ ४-६॥

अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव। पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम्॥ ७॥
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये। ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे॥ ८॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् । साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत्प्रणवे मनः।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत्॥ ९॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अब तुम्हारे लिए एक और दूसरी धारणा का वर्णन करता हूँ। ज्ञानी मनुष्य अन्तर्यामी पुरुष (आत्मा) में सभी पर शासन करने वाले बोधमय, आनन्दस्वरूप तथा कल्याणमय अविनाशी परमात्मतत्त्व की प्रत्येक दिन धारणा करे। इससे सभी तरह के पापों का शमन हो जाता है। कार्यस्वरूप ब्रह्मा आदि का अपने-अपने कारण में लय करके सभी के परम कल्याण, अनिर्वचनीय एवं बुद्धि से परे जो अव्यक्त परमात्मतत्त्व है, ऐसे उन श्रेष्ठ परमात्मा को अपनी आत्मा में धारण करे अर्थात् ये साक्षात् पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही अन्तर्यामी आत्मा के रूप में विद्यमान हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय करे और इस प्रकार से आत्म धारणा करते समय अपने मन को सभी कलाओं से युक्त प्रणवस्वरूप परमात्मा में ही स्थित करे। इसके साथ ही मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को भी अपने-अपने विषयों से अलग कर के आत्मा में नियोजित कर दे॥ ७-९॥

॥ नवमः खण्डः ॥

यहाँ दो प्रकार के ध्यान तथा उनका फल बताया जा रहा है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम्॥ १॥
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥ २॥

अब मैं जगत् के बन्धनों का विनाश करने वाले ध्यान का वर्णन करता हूँ, जो समस्त संसाररूपी रोग के एक मात्र औषध रूप, ऊर्ध्वरेता, विषम नेत्रों वाले, योगीश्वरों के भी ईश्वर, विश्वरूप एवं महेश्वररूप हैं, उन ऋत एवं सत्यस्वरूप अविनाशी परब्रह्म परमात्मा का अपनी आत्मा के रूप में आदरपूर्वक ध्यान करे। अपनी बुद्धि में यह भाव पूर्ण निष्ठा से प्रतिष्ठित करे कि वह अविनाशी परमात्मस्वरूप परब्रह्म मैं ही हूँ॥ १-२॥

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम्। अत्यर्थममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम्॥३॥
तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् । न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥४॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत। अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥५॥

ध्यान का दूसरा भेद इस प्रकार है-जो सत्यरूप, सर्वेश्वर, ज्ञानमय, आनन्दस्वरूप, अनुपम, अतिनिर्मल, नित्य एवं आदि, मध्य तथा अन्त रहित है, स्थूल प्रपञ्च से वह सर्वथा परे है, आकाश से अलग, स्पर्श में आने वाली वायु से भी विलक्षण है, चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाले अग्नितत्त्व से भी हमेशा पृथक् है, रसस्वरूप जल एवं गन्धस्वरूप पृथिवी से भी सर्वथा विलक्षण है, जिसकी स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, जो अनुपम है, शरीर से अतीत है, ऐसे उस सत्-चित्, आनन्दमय एवं अन्तरहित परब्रह्म का अपनी आत्मा के रूप में चिन्तन करे, बुद्धि के द्वारा यह निश्चित करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं स्वयं ही हूँ। इस तरह से किया हुआ ध्यान मोक्ष प्रदान करने वाला होता है॥ ३-५॥

एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः। क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः॥ ६॥

इस प्रकार से ध्यान के अभ्यास में जो भी बुद्धिमान् पुरुष लगा रहता है, उसे वेदान्त वर्णित ब्रह्म तत्त्व का निःसन्देह ही विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है-इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ६॥

॥ दशमः खण्डः॥

यहाँ समाधि एवं उसके फल का वर्णन प्रस्तुत है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम्। समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥१॥

अब मैं इन समस्त सांसारिक-बन्धनों का विनाश कर देने वाली समाधि का वर्णन करता हूँ। परमात्मा तथा जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्राकट्य होना ही समाधि है॥ १॥

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः संभिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः॥२

यह आत्मा अविनाशी, नित्य, सर्वव्यापी, एकरस एवं सर्वदोषहीन है। यह एक होते हुए भी माया द्वारा उत्पन्न हुए भ्रम के कारण इसकी पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। यथार्थ में उसमें कोई भी भेद नहीं है॥२॥

तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः। यथाकाशो घटाकाशो मठाकाश इतीरितः॥ ३॥
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना। नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि॥४॥
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः। इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते॥५॥

इस कारण केवल अद्वैत ही सत्य स्वरूप है। प्रपञ्च या संसार नामक कोई भी वस्तु नहीं है। जिस प्रकार आकाश को घटाकाश एवं मठाकाश भी कहा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य एक ही परमात्मा को जीव एवं ईश्वर-इन दो रूपों में मानते हैं। न मैं शरीर हूँ, न प्राण हूँ, न इन्द्रिय समूह हूँ और न ही मैं मन हूँ, सदैव साक्षीरूप में स्थित होने के कारण मैं एक मात्र शिवस्वरूप परमात्म तत्त्व हूँ। हे श्रेष्ठ मुने! इस प्रकार की जो श्रेष्ठ निश्चयात्मिका बुद्धि है, उसी को यहाँ समाधि कहा गया है॥ ३-५॥

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन। यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः॥ ६॥
समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते। तस्मान्मनः पृथङ्नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥७॥

मैं ही वह परमेश्वर हूँ, संसार के बन्धनों में पड़ा हुआ जीव नहीं हूँ, अतः मुझसे भिन्न किसी वस्तु का किसी भी काल में अस्तित्व नहीं रहा है। जिस प्रकार फेन और लहरें समुद्र से उठते ही फिर समुद्र में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत् मुझसे ही प्रकट होता है और मुझमें ही विलीन हो जाता है। इसलिए सृष्टि का कारणभूत मन भी मुझसे पृथक् नहीं है। इस जगत् और माया का भी मुझसे भिन्न अस्तित्व नहीं है॥ ६-७॥

यस्यैवं परमात्माऽयं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः। स तु याति च पुंभावं स्वयं साक्षात्परा मृतम्॥८॥

इस प्रकार से जिस पुरुष को यह परमात्मा अपनी आत्मा के रूप में अनुभव होने लगता है, वह परम पुरुषार्थरूप साक्षात् परम अमृतस्वरूप परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है॥ ८॥

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा। योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम्॥ ९॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १०॥

जिस समय योगी के मन में सर्वत्र व्यापक आत्म चैतन्यस्वरूप का अपरोक्ष रूप में अनुभव होने लगता है, तब उस समय वह स्वयं ही परमात्मस्वरूप में स्थापित हो जाता है। जब वह श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य सब भूत-प्राणियों को अपने में ही अवलोकन करता है तथा अपने को ही सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है॥ ९-१०॥

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति। एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवतिकेवलः॥११॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः। मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः॥१२॥

जब समाधिस्थ पुरुष परमात्मा से एकत्व प्राप्त करके अपने से अलग किसी भी भूत-प्राणी को नहीं देखता, तब वह केवल परमात्मरूप से ही प्रतिष्ठित हो जाता है। जब पुरुष केवल अपनी आत्मा को ही परमार्थ सत्यस्वरूप में देखता है, सम्पूर्ण विश्व को माया का विलास मात्र मानता है, तब वह परमानन्द को प्राप्त कर लेता है॥ ११-१२॥

एवमुक्त्वा स भगवान्दत्तात्रेयो महामुनिः। सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुखमास्तेऽतिनिर्भयः॥१३

इस प्रकार महाज्ञानी भगवान् दत्तात्रेय जी उपदेश देकर मौन हो गये एवं मुनीश्वर साङ्कृति उस उपदेश को हृदयंगम करके अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित एवं भयमुक्त होकर आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ १३॥

ॐ आप्यायन्तु.......................... इति शान्तिः॥

॥ इति जाबालदर्शनोपनिषत्समाप्ता॥

॥ जाबालोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भगवान् बृहस्पति एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है, जिसमें प्राण विद्या का विवेचन है। याज्ञवल्क्य ने प्राण का स्थान, ब्रह्म सदन तथा देवयजन का एक मात्र स्थान, 'अविमुक्त' (ब्रह्मरन्ध्र-काशी) कहा है। वहीं रुद्रदेव विद्यमान रह कर अन्तिम क्षणों में तारक ब्रह्म का उपदेश देकर जीव को विमुक्त करते हैं। द्वितीय खण्ड में अत्रि मुनि एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है, जिसमें 'अविमुक्त' क्षेत्र को भृकुटि-मध्य में बताया गया है। इसकी उपासना से प्राप्त ज्ञान के आधार पर दूसरों को आत्मज्ञान का उपदेश देना सम्भव होता है। तृतीय खण्ड में याज्ञवल्क्य द्वारा अमृतत्व प्राप्ति का उपाय बताया गया है। वह उपाय है शतरुद्रीय का जप। साधक इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। चतुर्थखण्ड में विदेहराज के द्वारा संन्यास के सम्बन्ध में पूछे जाने पर ऋषि याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण करने का क्रम, उसकी विधि-व्यवस्था, उसके करणीय कृत्य आदि का वर्णन किया है। पंचम खण्ड में पुनः अत्रि मुनि ने संन्यासी के यज्ञोपवीत, वस्त्र, मुण्डन, भिक्षा आदि विषयों पर याज्ञवल्क्य से मार्गदर्शन प्राप्त किया है, जिसका निष्कर्ष है, संन्यासी को मन-वाणी से पूर्णतया विषय-विकार से दूर रहना चाहिए। षष्ठ खण्ड में प्रसिद्ध संन्यासियों- संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु आदि के आचरण की समीक्षा की गई है और अन्त में दिगम्बर परमहंस का लक्षण बताया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येत तदविमुक्तमेव। इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत अविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥ १ ॥

भगवान् बृहस्पति ऋषि याज्ञवल्क्य से बोले-प्राणों का कौन सा स्थान (क्षेत्र) है? इन्द्रियों के देवयजन का क्या अभिप्राय है? एवं समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए कहा- अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है। उसे ही इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है। अस्तु, किसी भी स्थान पर जाने वाले को यही समझना चाहिए। वही (कुरुक्षेत्र) प्राण-स्थान इन्द्रियों का देवयजन है और समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन (ब्रह्मस्थान) है। जब इस जगत् में जीव के प्राण का उत्क्रमण होता है, उस समय रुद्रदेव तारक ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं, जिससे वह जीव अमृतत्त्व पाकर मोक्ष पद की प्राप्ति करता है। इसीलिए प्राणी के लिए उचित है कि वह सदैव अविमुक्त की उपासना करता रहे, उसे कभी न छोड़े। इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने यह तथ्य प्रतिपादित किया ॥ १ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् अत्रि मुनि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा- 'इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा को किस प्रकार जाना जा सकता है'? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि वह अनन्त और अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है'॥ १॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नासी भवतीति। कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्योर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति। एतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद उपासत इति सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेतदेवं वेदेति॥ २॥

यह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है? यह पूछे जाने पर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'यह वरणा और नासी के मध्य में विराजमान है।' अत्रि मुनि ने पुनः पूछा-यह वरणा और नासी क्या है? ऋषि ने उत्तर दिया-'समस्त इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) द्वारा किये गये पापों (दोषों) का जो निवारण करती है, वह वरणा है तथा जो समस्त इन्द्रियों द्वारा किये गये पापों को विनष्ट करती है, वह नासी है।' उनके पुनः यह पूछने पर कि इसका स्थान कौन सा है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'भृकुटी और नासिका का सन्धि स्थल ही इसका स्थान है। इसी को इस द्यु लोक और परलोक का संगम स्थल भी कहा गया है। ब्रह्मविद् इस सन्धि स्थल (भ्रू-घ्राण सन्धि) की उपासना करते हैं। अस्तु, वह अविमुक्त ही उपास्य है। इस प्रकार अविमुक्त की उपासना के फलस्वरूप जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही दूसरों को आत्मा के सन्दर्भ में उपदेश करने में समर्थ है'॥

॥ तृतीयः खण्डः॥

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह वा अमृतो भवतीति॥ १॥

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी शिष्यों ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा-किसका जप करने से अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'शतरुद्रीय जप के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। इसके द्वारा वह (साधक) मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है'॥ १॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

अथ ह जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥ १॥

एक बार विदेहराज जनक ने ऋषि याज्ञवल्क्य के समीप पहुँचकर सविनय यह कहा-'हे भगवन्! मुझे संन्यास के सम्बन्ध में बताइये।' ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। उसे समाप्त करके गृहस्थ बनना चाहिए। गृहस्थ बनकर तब वानप्रस्थ (वानप्रस्थी) बनना चाहिए। वानप्रस्थ होकर प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि (विषयों से) विरक्ति हो जाये, तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ किसी भी आश्रम के पश्चात् प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास में प्रवेश किया जा सकता है। इसी प्रकार

व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अग्नि ग्रहण करके त्याग किया हो अथवा अग्नि ग्रहण करके संस्कार न किया गया हो, चाहे जो भी स्थिति हो, जब मन विषयों से पूर्ण विरक्त हो जाए, तभी प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए'॥ १ ॥

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यादाग्नेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्ह वै प्राणः। प्राणमेवैतया करोति पश्चात्त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धयरयिम् इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः। प्राणं गच्छ स्वाहेत्येव मेवैतदाह॥

(इस अवसर पर)कुछ लोग प्राजापत्य इष्टि करते हैं; किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्हें आग्नेयी इष्टि करनी चाहिए; क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इसकी इष्टि करने से प्राणाभिवर्धन होता है। इसके पश्चात् त्रिधातु इष्टि करनी चाहिए। सत, रज और तम ये तीन धातुएँ हैं (सत शुक्ल वर्ण है, रज लोहित वर्ण है और तम कृष्ण वर्ण है)। इन इष्टियों के पश्चात् इस मन्त्र से अग्नि का अवघ्राण करना चाहिए-हे अग्ने! यह प्राण सामान्य कारण स्वरूप है, क्योंकि आपकी उत्पत्ति इस प्राण से ही हुई है। हे अग्ने! आप प्राण को दग्ध करने वाले हैं, आप प्रकाश और वृद्धि को प्राप्त करने वाले हैं। आप हमारी भी वृद्धि करें। जो अग्नि की योनि (अग्नि का उत्पादक) है, वह प्राण है। अतः हे अग्निदेव! आप उस प्राण में प्रविष्ट हों-यह कहकर आहुति दी जानी चाहिए ॥ २ ॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत्। यद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः। सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वा समुद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयं मोक्षमन्त्रस्त्रय्येवं विन्देत्। तद्ब्रह्मैतदुपासितव्यम्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥३॥

ग्राम से (गाँव के किसी श्रोत्रिय के गृह से) अग्नि को लाकर पूर्व वर्णित मन्त्र द्वारा उसका अवघ्राण करना (सूँघना) चाहिए। यदि अग्नि प्राप्त न हो, तो जल में आहुति प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि जल ही समस्त देवता रूप है। मैं समस्त देवताओं को आहुति प्रदान कर रहा हूँ, ऐसा भाव करके जल में आहुति प्रदान करके घृत युक्त उस अवशिष्ट हविष्यान्न को उठाकर ग्रहण करे। मोक्षमन्त्र तीन अक्षरों (अ उ म् - ॐ) वाला है, ऐसा जानना चाहिए। वही ब्रह्म है और वही उपासना के योग्य है। ऐसा भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ ३ ॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्य अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्यायं विधिः परिव्राजकानाम्॥ १ ॥

इसके बाद अत्रि मुनि ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया-'मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है, वह ब्राह्मण किस प्रकार हो सकता है?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'उसका आत्मा ही उसका यज्ञोपवीत होता है। वह जल से (तीन बार) प्राशन और आचमन करे। यह संन्यासियों (परिव्राजकों) की विधि है'॥ १ ॥

वीराध्वाने वाऽनाशके वाऽपां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वाऽथ परिव्राड् - विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदित्येवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥ २ ॥

वीर पथ में, अनशन की स्थिति में, (गंगा आदि के) जल में प्रवेश करने पर, अग्नि प्रवेश में और महाप्रस्थान में परिव्राजक संन्यासी के लिए यही धर्म निश्चित है कि वह भगवा वस्त्र धारण करके मुण्डित होकर, अपरिग्रही बनकर, पवित्र और द्रोहरहित होकर भिक्षावृत्ति (लोकमंगल के लिए) अपनाकर जीवित रहे। यदि कोई संन्यास के लिए आतुर है, तो उसे मन और वाणी से (विषयों का) परित्याग करना चाहिए (विषयों से संन्यस्त होना चाहिए)। यह ज्ञान का पन्थ वेद प्रतिपादित है। इसीलिए संन्यासी के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि संन्यासी ब्रह्मविद् होता है। इस प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य ने यह मत प्रकट किया॥ २॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः॥ १॥

संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय और रैवतक आदि जो परमहंस संन्यासी हुए हैं, वे सभी अव्यक्त लिङ्ग अर्थात् संन्यास के चिह्नों से रहित थे। उनका आचरण भी अव्यक्त था। वे अन्दर से उन्मत्त न होते हुए भी बाहर से उन्मत्त लगते थे॥ १॥

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्॥ २॥

ऐसे (उपर्युक्त स्थिति वाले) संन्यासी को चाहिए कि वह त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्य (छींका भिक्षाधार पात्र), जल-पवित्र, शिखा और यज्ञोपवीत आदि प्रतीकों को 'भूः स्वाहा', ऐसा कहते हुए जल में विसर्जित कर दे। इसके उपरान्त संन्यासी को आत्मा का ही अनुसन्धान करना चाहिए॥ २॥

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिन गिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नामेति॥३॥

संन्यासी (परमहंस) यथा जातरूप धारण करने वाला अर्थात् निश्छल-निःस्पृह होता है। वह निर्द्वन्द्व, अपरिग्रही, तत्त्व ब्रह्म मार्ग में निरन्तर गतिमान् तथा शुद्ध मन वाला होता है। जीवन्मुक्त होने पर भी वह प्राण धारणार्थ भिक्षा आदि के द्वारा आहार को उचित समय पर 'उदर' रूपी पात्र में डाल देता है। उसे किसी प्रकार के लाभ और अलाभ की चिन्ता नहीं होती ; अतः उन्हें समान समझता है। वह शून्य स्थल, देवगृह, तिनकों के समूह, सर्प की बाँबी (बिल), वृक्ष के मूल, कुम्हार के घर, अग्निहोत्र स्थल, नदी तट, पर्वत, खाई या गुफा, खोह और निर्झर आदि विशुद्ध प्रदेश में पूर्व घर का ध्यान न रख, ममता रहित होकर रहता है। वह सतत शुक्ल (सात्त्विक) ध्यान में तल्लीन रहकर अध्यात्मनिष्ठ होकर शुभ और अशुभ कर्मों को निर्मूल करता रहता है, ऐसा (संन्यास धर्म का पालन)करते हुए जो संन्यासी देह का परित्याग कर देता है, वह परमहंस कहलाता है॥ ३॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति जाबालोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ जाबाल्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २३ मन्त्र हैं, जिसमें पिप्पलाद पुत्र पैप्पलादि और भगवान् जाबालि का परम तत्त्व के विषय में प्रश्नोत्तर है।

प्रमुख प्रश्न है, तत्त्व क्या है, जीव कौन है, पशु कौन है, ईश कौन है और मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है? इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर क्रमशः जाबालि मुनि ने दिया है। अन्त में उपनिषद्-प्रतिपादित ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए प्रश्नोत्तर को विराम दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- आरुण्युपनिषद्)

अथ हैनं भगवन्त जाबालिं पैप्पलादिः पप्रच्छ भगवन्मे ब्रूहि परमतत्त्वरहस्यम् ॥ १ ॥ किं तत्त्वं को जीवः कः पशुः क ईशः को मोक्षोपाय इति ॥ २ ॥ स तं होवाच साधु पृष्टं सर्वं निवेदयामि यथाज्ञातमिति ॥ ३ ॥ पुनः स तमुवाच कुतस्त्वया ज्ञातमिति ॥ ४ ॥ पुनः स तमुवाच षडाननादिति ॥ ५ ॥ पुनः स तमुवाच तेनाथ कुतो ज्ञातमिति ॥ ६ ॥ पुनः स तमुवाच तेनेशानादिति ॥ ७ ॥ पुनः स तमुवाच कथं तस्मात्तेन ज्ञातमिति ॥ ८ ॥ पुनः स तमुवाच तदुपासनादिति ॥ ९ ॥ पुनः स तमुवाच भगवन्कृपया मे सरहस्यं सर्वं निवेदयेति ॥ १० ॥

ऋषि पैप्पलादि (पिप्पलाद के पुत्र) ने भगवान् जाबालि से प्रश्न किया-हे भगवन्! मेरे प्रति परम तत्त्व के रहस्य का वर्णन कीजिए। तत्त्व क्या है? जीव कौन है? पशु कौन है? ईश कौन है? मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है? महर्षि जाबालि ने कहा-आपने बहुत श्रेष्ठ प्रश्न किया। जो मुझे ज्ञात है, वह सब मैं आपसे निवेदन करता हूँ। पैप्पलादि ने पूछा-यह सब आपको कहाँ से ज्ञात हुआ? जाबालि ने कहा-षडानन से ज्ञात हुआ। पैप्पलादि ने पुनः पूछा-उन (षडानन) को कहाँ से यह ज्ञान प्राप्त हुआ? जाबालि ने कहा-उन्हें यह ज्ञान ईशान से प्राप्त हुआ। पैप्पलादि ने पुनः प्रश्न किया कि उन्होंने यह कैसे प्राप्त किया? जाबालि ने उत्तर दिया कि उन्होंने (ईशान ने) उपासना के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया। (यह सुनकर) पैप्पलादि ने कहा-हे भगवन्! मुझे यह सब कुछ रहस्य सहित बताइये ॥ १-१० ॥

स तेन पृष्टः सर्वं निवेदयामास तत्त्वम्। पशुपतिरहंकाराविष्टःसंसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ॥ ११ ॥ के पशव इति पुनः स तमुवाच ॥ १२ ॥ जीवाः पशव उक्ताः। तत्पतित्वात्पशुपतिः ॥ १३ ॥ स पुनस्तं होवाच कथं जीवाः पशव इति। कथं तत्पतिरिति ॥ १४ ॥ स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः। यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः ॥ १५ ॥ तज्ज्ञानं केनोपायेन जायते ॥ १६ ॥ पुनः स तमुवाच विभूतिधारणादेव ॥ १७ ॥ तत्प्रकारः कथमिति। कुत्र कुत्र धार्यम् ॥ १८ ॥

पैप्पलादि द्वारा पूछे जाने पर जाबालि ने कहा-मैं सम्पूर्ण तत्त्व कहता हूँ। स्वयं पशुपति ही अहंकार युक्त होकर संसारी जीव हो जाता है। वही पशु है। सर्वज्ञ और पञ्च कृत्यों से सम्पन्न, सर्वेश्वर ईश ही पशुपति है। पैप्पलादि ने पुनः प्रश्न किया-पशु कौन है ? जाबालि ने कहा-जीव को ही पशु कहा गया है। जीवों के पति होने के कारण उन्हें पशुपति कहते हैं। उन्होंने फिर पूछा-जीव पशु किस तरह है ? और (पशुपति) उनके पति कैसे हैं ? महर्षि जाबालि ने उत्तर दिया-जिस प्रकार घास का सेवन करने वाले, विवेक हीन, किसी अन्य के दास, कृषि आदि कार्यों में नियोजित अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करने वाले, अपने स्वामी के बन्धन में बँधे हुए गौ आदि पशु होते हैं (उसी प्रकार ये जीव भी ईश्वर के बन्धन में बँधे रहते हैं)। जैसे-उन पशुओं के स्वामी (कोई मनुष्य) होते हैं उसी प्रकार समस्त जीवों के स्वामी (पति) सर्वज्ञ, ईश्वर-पशुपति होते हैं। पैप्पलादि ने पुनः पूछा- वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? जाबालि ने कहा-विभूति धारण के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। पैप्पलादि ने पूछा-उसे धारण करने की विधि क्या है ? उसे कहाँ-कहाँ धारण करना चाहिए ?॥ ११-१८॥

पुनः स तमुवाच सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य जलेन संसृज्य त्र्यायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेष्विति तिसृभिस्त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत। व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति। तत्समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय॥ १९॥

ऋषि जाबालि ने कहा- 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्म मन्त्रों से भस्म का संग्रह करे, फिर 'अग्निरिति' इस मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे, 'मानस्तोक' (यजु० १६.१६) इस मंत्र से उसे उठाये, तत्पश्चात् उसे जल से गीला करके 'त्र्यायुषम्' (यजु० ३.६२) इस मंत्र से सिर, ललाट, वक्षस्थल, कन्धों पर धारण करे। इसके बाद तीन त्र्यायुष और तीन त्र्यम्बक (यजु० ३.६०) मन्त्रों से तीन रेखायें खींचे। वेदों में यह शाम्भव व्रत वेदवादियों के द्वारा बतलाया गया है। इसका (इस व्रत का) आचरण करने वाले मुमुक्षु का पुनर्जन्म नहीं होता॥ १९॥

[यहाँ जिन मन्त्रों का संक्षिप्तांश दिया है, उनमें जो मन्त्र यजुर्वेद के हैं, उनके सन्दर्भ दे दिये गये हैं। शेष के मन्त्र इस प्रकार हैं- सद्योजातादि पाँच मन्त्र- ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवेभवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः॥ १॥ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः। श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः। कालाय नमः कल विकरणाय नमो बल विकरणाय नमः॥ २॥ बलाय नमो बल प्रमथनाय नमः। सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः॥ ३॥ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्व शर्वेभ्यो नमस्तेऽअस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ ४॥ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥ ५॥ (रुद्राष्टाध्यायी) अग्निरिति-ॐ अग्निरिति भस्म। वायुरिति भस्म। जलमिति भस्म। स्थलमिति भस्म। व्योमेति भस्म। सर्व ँ ह वा इदं भस्म। मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि इति॥ (आह्निक सूत्रावलिः पृ. ६५)]

अथ सनत्कुमारः प्रमाणं पृच्छति । त्रिपुण्ड्रधारणस्य

त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोराभ्रुवोर्मध्यतश्च॥ २०॥

प्रमाण के विषय में पूछने पर सनत्कुमार ने बताया कि त्रिपुण्ड्र धारण करने के लिए तीन आड़ी रेखायें सम्पूर्ण ललाट के मध्य, भौंहों और नेत्रों तक खींचे॥ २०॥

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिः ऋग्वेदः प्रातःसवनं प्रजापतिर्देवो देवतेति। याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनसवनं विष्णुर्देवो देवतेति। याऽस्य

तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ॥ २१ ॥

जो इसकी प्रथम रेखा है, वह गार्हपत्य अग्नि रजोगुण 'अ' कार भूलोक, अपनी आत्मा की क्रिया - शक्ति स्वरूप, ऋग्वेद रूप और प्रातः सवन स्वरूप है, इसके देवता स्वयं प्रजापति हैं। जो इसकी द्वितीय रेखा है, वह दक्षिणाग्नि स्वरूप, सत्त्वगुण रूप, 'उ' कार रूप, अन्तरिक्ष स्वरूप, अपनी अन्तरात्मा की इच्छा-शक्ति रूप, यजुर्वेद रूप और माध्यन्दिन सवनरूप है, इसके देवता विष्णु हैं। जो इसकी तृतीय रेखा है, वह आहवनीय अग्निरूप, 'म' कार रूप, तमोगुण स्वरूप, द्युलोकरूप, परमात्मा की ज्ञान-शक्ति स्वरूप, सामवेद रूप तथा तृतीय सवन स्वरूप है, इसके देवता स्वयं महादेव (शिव) हैं ॥ २१ ॥

त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति। स सर्वान् वेदानधीतो भवति। स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ॥ इति ॥ २२ ॥ ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥ २३ ॥

जो विद्वान् ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी या यति भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण करता है, (पूर्वमंत्र में दर्शाये गये त्रिपुण्ड्र के मर्म को आत्मसात् करता है।) वह महापातकों और उपपातकों से विमुक्त हो जाता है। वह समस्त वेदों का अवगाहन करने वाला, समस्त देवताओं का ध्यान करने वाला, समस्त तीर्थों के स्नान का पुण्य प्राप्त करने वाला और सकल रुद्र मन्त्रों का जप कर्त्ता हो जाता है। उसका (ऐसा करने वाले का) इस जगत् में पुनरावर्तन नहीं होता, पुनरावर्तन नहीं होता। यह सत्य है (इस प्रकार) यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥ २२-२३ ॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥

॥ इति श्रीजाबाल्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ तुरीयातीतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसे तुरीयातीतावधूतोपनिषद् भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में पितामह ब्रह्माजी तथा आदिनारायण का प्रश्नोत्तर विद्यमान है, जिसमें पितामह ब्रह्माजी ने अपने पिता आदिनारायण से तुरीयातीत-अवधूत का मार्ग पूछा है। आदिनारायण ने इस मार्ग पर चलने वालों की दुर्लभता बताते हुए अवधूत का आचरण-व्यवहार, चिन्तन-मनन आदि की वह कार्यपद्धति बताई है, जिस पर चल कर व्यक्ति अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। अन्त में इस उपनिषद् की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अध्यात्मोपनिषद्)

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वलोक पितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच। तमाह भगवान्नारायणो योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते। महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य हंसः परमहंसो भूत्वा स्वरूपानुसंधानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा दण्डकमण्डलुकटिसूत्रकौपीनाच्छादनं स्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्व-पुण्ड्रादिकं विहाय लौकिकवैदिकमप्युपसंहृत्य सर्वत्र पुण्यापुण्यवर्जितो ज्ञानाज्ञानमपि विहाय शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्य वासनात्रयपूर्वकं निन्दाऽनिन्दागर्वमत्सर-दम्भदर्पेच्छाद्वेषकामक्रोधलोभमोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा स्ववपुः कुणपाकारमिव पश्यन्नयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या प्राणसंधारणं कुर्वन्यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं भस्मीकृत्य स्वरूपं गोपयित्वा ज्येष्ठाऽज्येष्ठत्वानपलापकः सर्वोत्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्योऽस्तीति देवगुह्यादिध-नमात्मन्युपसंहृत्य दुःखेन नोद्विग्नः सुखेन नानुमोदको रागे निःस्पृहः सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः सर्वेन्द्रियोपरमः स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्म-प्राभवमननुस्मरन्त्यक्तवर्णाश्रमाचारः सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः सर्वत्र सर्वदा संचारशीलो देहमात्रावशिष्टो जलस्थलकमण्डलुः सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्नसंभाषणपरः स्वरूपध्यानेन निरालम्बम-वलम्ब्य स्वात्मनिष्ठानुकूलेन सर्वं विस्मृत्य तुरीयातीतावधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥

(एक बार) समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा ने अपने पिता आदिनारायण के निकट जाकर उनसे पूछा-भगवन् तुरीयातीत अवधूत का मार्ग कौन सा है और उसकी कैसी स्थिति होती है?

भगवान् नारायण ने उनसे कहा-अवधूत पथ पर चलने वाले इस लोक में दुर्लभ हैं, वे बहुत नहीं होते, यदि एकाध होता भी है, तो वह नित्य पवित्र, वैराग्य मूर्ति, ज्ञानाकार और वेद पुरुष होता है, ऐसा विद्वज्जन मानते हैं। ऐसा महापुरुष अपने चित्त को मुझ में अवस्थित रखता है और मैं उसी में स्थित होता हूँ। वह प्रारम्भ में कुटीचक होता है, तत्पश्चात् बहूदकत्व प्राप्त करके हंसत्व का अवलम्बन लेता है। हंस होकर फिर परमहंस बनता है। वह निजस्वरूप के अनुसन्धान द्वारा समस्त प्रपञ्चों के रहस्य को जानकर, दण्ड, कमण्डलु, कटिसूत्र, कौपीन, आच्छादन वस्त्र और विधिपूर्वक की जाने वाली नित्य क्रियाओं को जल में विसर्जित कर देता है और दिगम्बर होकर जीर्ण वल्कल और अजिन (मृग) चर्म के भी परिग्रह को छोड़कर समस्त प्रकार का निषेध करके (अमन्त्रवत् होकर), क्षौर कर्म (केश-कर्तन-दाढ़ी बाल आदि बनवाने), अभ्यङ्ग स्नान (उबटन लगाकर स्नान करने) तथा ऊर्ध्व पुण्ड्र (मस्तक पर तिलक) लगाने को भी छोड़कर, वैदिक और लौकिक कर्मों का उपसंहार करके, सर्वत्र पुण्य और अपुण्य को भी त्याग कर ज्ञान और अज्ञान को भी छोड़ देता है। वह शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी), सुख-दु:ख, मान-अपमान को भी जीत लेता है। वह शरीर की तीनों वासनाओं सहित निन्दा-अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प,इच्छा, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया और आत्म संरक्षण आदि को (भावाग्नि में) जलाकर, अपनी काया को मुर्दे की तरह देखता हुआ, प्रयत्न और नियम के बिना लाभ और हानि को समान करके, गोवृत्ति से (गौ की तरह) जो कुछ मिल गया, उसी में सन्तोष करके प्राण धारण किए रहता है। वह सब प्रकार से लालचरहित होकर समस्त विद्याओं और पाण्डित्य को भस्मीभूत करके, अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते हुए, छोटे-बड़े के भाव को (बाह्य व्यवहार में) पूर्ववत् (अज्ञानी के समान) बनाये रखता है। सर्वोत्कृष्ट सर्वात्मक रूप अद्वैत की कल्पना करके उसका यह मानना होता है कि मेरे अतिरिक्त कुछ और नहीं है। वह देव रहस्य (गुह्य) आदि धन को अपने अन्दर समेट करके (अर्थात् देव रहस्यों को अपने में गोपनीय करके) न दु:ख में उद्विग्न होता है और न सुख में प्रसन्न होता है। वह राग में स्पृहा नहीं रखता और न शुभ-अशुभ किसी बात से स्नेह रखता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने पूर्व के आश्रम, विद्या, धर्म, प्रभाव का स्मरण नहीं करता और वर्णाश्रम आचार का परित्याग कर देता है। दिन और रात के प्रति समान भाव रखने के कारण वह कभी सोता नहीं (अर्थात् सदैव जाग्रत् रहकर सावधान रहता है)। वह सतत सर्वत्र विचरणशील रहता है। उसका शरीर मात्र अवशिष्ट रहता है (अर्थात् वह सदैव ब्रह्मरूप होकर शरीर में रहता है और शरीर द्वारा व्यवहार करता है)। जलस्थल (सरोवर-कूप आदि) उसका कमण्डलु होता है। वह सदा अनुन्मत्त रहता है, किन्तु बाहर से बालक,उन्मत्त और पिशाच आदि के समान एकाकी विचरण करता हुआ किसी से सम्भाषण नहीं करता और अपने वास्तविक रूप के ध्यान द्वारा निरालम्ब का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मनिष्ठा की अनुकूलता से (अर्थात् आत्मनिष्ठ होकर) सब को भुला देता है। इस प्रकार से जो तुरीयातीत अवधूत के वेश वाला सतत अद्वैत निष्ठा परायण होकर 'प्रणव' भाव में निमग्न होकर शरीर का परित्याग करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, यही इस उपनिषद् का प्रतिपादन है॥

ॐ पूर्णमद: .... इति शान्ति: ॥

॥ इति तुरीयातीतोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ द्वयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है, यह तथ्य अभी अज्ञात है। इस उपनिषद् में कुल सात मन्त्र हैं, जिसमें 'द्वय' की उत्पत्ति और स्वरूप का बड़े ही रहस्यमय ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

ॐ अथातः श्रीमद्द्वयोत्पत्तिः। वाक्यो द्वितीयः। षट्पदान्यष्टादश। पञ्चविंशत्यक्षराणि। पञ्चदशाक्षरं पूर्वम्। दशाक्षरं परम्। पूर्वो नारायणः प्रोक्तोऽनादिसिद्धो मन्त्ररत्नः सदाचार्यमूलः।

अब श्रीमद्द्वय की उत्पत्ति विवेचित की जाती है (इसकी महत्ता वर्णित की जाती है)। द्वितीय वाक्य है। षट्पद अष्टादश संख्या वाले हैं। इसमें पच्चीस अक्षर हैं। पन्द्रह अक्षर पहले और दस अक्षर बाद में हैं। पूर्व में नारायण को अनादि सिद्ध कहा गया है, जो सदाचार के मूल और मंत्रों में रत्न स्वरूप हैं।

[यह उपनिषद् श्रीमद् (श्रीसम्पन्न) द्वय (दो) की उत्पत्ति के संकल्प के साथ प्रारम्भ होता है। 'वाक्य' को द्वितीय कहने से स्पष्ट होता है कि प्रथम 'अक्षर' को माना गया है। अक्षर अविनाशी-अव्यक्त भी है, जो सदैव से है, अतः प्रथम है; वाक्य उसकी अभिव्यक्ति होने से द्वितीय है। ऋषि ने उस प्रथम या पूर्व को अनादिसिद्ध-मन्त्ररत्न नारायण कहा है, इस आधार पर वह प्रथम अक्षर 'ॐ' कहा जा सकता है। ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति अक्षर या नारायण है, वह द्वितीय वाक्य या आचार्य रूप गुरु का मूल है। इस द्वितीय आचार्यरूप गुरु का विवेचन आगे के मन्त्रों में किया गया है।]

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदामन्त्राश्रयः शुचिः ॥ १ ॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषवित्। एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ २ ॥

जो आचार्य वेद सम्पन्न, मंत्रों का ज्ञाता, मंत्रों का भक्त, मंत्रों का आश्रय लेने वाला, पुराणज्ञ, विशेषज्ञ, पवित्र, ईर्ष्यारहित, विष्णु भक्त और गुरु भक्त है, ऐसे लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति को 'गुरु' कहते हैं ॥१-२॥

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते ॥ ३ ॥

जो शास्त्रों के अर्थ को सम्यक् प्रकार से चुनता है (समझता है) और सदाचार की न केवल स्थापना करता है, वरन् स्वयं भी वैसा ही आचरण (सदाचरण) करता है, उसे आचार्य कहते हैं ॥ ३ ॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ ४ ॥

गुरु शब्द में 'गु' का अर्थ अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ उसका (अन्धकार का) निरोधक है। (अज्ञान के) अन्धकार को रोकने के कारण ही (अन्धकार रोकने वाले व्यक्ति को) गुरु कहते हैं ॥ ४ ॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः। गुरुरेव परं विद्या गुरुरेव परं धनम् ॥ ५ ॥

गुरु ही परम ब्रह्म है, गुरु ही परागति है, गुरु ही परम विद्या है और गुरु को ही परम धन कहा गया है ॥

गुरुरेव परः कामः गुरुरेव परायणः। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ॥ ६ ॥

गुरु ही सर्वोत्तम अभिलषित वस्तु है, गुरु ही परम आश्रय स्थल है तथा परम ज्ञान का उपदेष्टा होने के कारण ही गुरु महान् (गुरुतर) होता है ॥ ६ ॥

यस्सकृदुच्चारणः संसारविमोचनो भवति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ ७ ॥

'गुरु' शब्द का उच्चारण एक बार भी कर लेने से संसार से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उसके (गुरु उच्चारण से) सभी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। फिर वह कदापि इस संसार में पुनरागमन नहीं करता, कभी पुनरावर्तन नहीं करता, यह सत्य है। जो इसे ठीक प्रकार समझता है (उसे सभी फल प्राप्त होते हैं) ॥ ७ ॥

॥ इति द्वयोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें परिव्राजक-संन्यासी के सिद्धान्तों, आचरणों आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके नाम से ही प्रकट है कि इस उपनिषद् के उपदेष्टा देवर्षि नारदजी हैं, जो परिव्राजकों (परितः व्रजन्ति इति परिव्राजकः) के सर्वोत्कृष्ट आदर्श हैं।

इस उपनिषद् के कुल नौ प्रखण्ड हैं, जिन्हें 'उपदेश' की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रथम उपदेश में शौनक आदि अनेक ऋषियों ने देवर्षि नारद जी से संसारबन्धन से मुक्ति का उपाय जानना चाहा है, उसी के उत्तर में नारद जी ने विस्तार से वर्णाश्रम धर्म का विवेचन किया है। द्वितीय उपदेश में शौनक जी ने 'संन्यास' की विधि के विषय में नारद जी से पूछा है। तृतीय उपदेश में नारदजी ने संन्यास का सच्चा अधिकारी कौन है? यह प्रश्न पितामह से पूछा है। इसके बाद आतुर संन्यास का विवेचन किया गया है। चतुर्थ-पंचम उपदेश में संन्यास धर्म के पालन का महत्त्व एवं संन्यास-धर्म ग्रहण करने की शास्त्रीय विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही संन्यासी के भेद भी वर्णित किए गए हैं। षष्ठ उपदेश में तुरीयातीत पद की प्राप्ति के उपाय तथा परिव्राजक (संन्यासी) की जीवनचर्या पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सातवें उपदेश में संन्यास धर्म के सामान्य नियमों का तथा कुटीचक, बहूदक आदि संन्यासियों के विशेष नियमों का उल्लेख किया गया है। अष्टम उपदेश में प्रणवानुसन्धान के क्रम में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम नवें उपदेश में ब्रह्म के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है, साथ ही आत्मवेत्ता संन्यासी का लक्षण बताकर उसके द्वारा परमपद प्राप्त करने की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अथर्वशिर उपनिषद्)

॥ प्रथमोपदेशः ॥

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य चित्तशुद्धिं प्राप्य निर्वैरः शान्तो दान्तः सर्वतो निर्वेदमासाद्य स्वरूपानुसंधानमनुसंधाय नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिषारण्यं पुण्यस्थलमवलोक्य सरिगमपधनिससंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैःप्रापञ्चिकपराङ्-मुखैर्हरिकथालापैःस्थावरजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिंपुरुषामरकिंनराप्सरो गणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा नत्वा यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा स्वयं सर्वेऽप्युपविष्टा भो भगवन् ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम्॥ १ ॥

एक बार परिव्राजकों में सर्वश्रेष्ठ देवर्षि नारद जी समस्त लोकों में भ्रमण करते हुए अत्यन्त पुण्यदायी स्थानों एवं तीर्थ स्थलों में गये। वे समस्त स्थल उनके शुभागमन से और भी अधिक पवित्र हो गये। उन सभी तीर्थों के दर्शन मात्र से ही उन देवर्षि ने अपने चित्त की शुद्धि प्राप्त की। उन देव ऋषि का मन अत्यधिक शान्त था, सभी इन्द्रियाँ उनके वश में थीं, वे सभी तरफ से विरक्त थे तथा उनके मन में किसी भी जीव के प्रति द्वेष-

भाव नहीं था। वे सभी तरफ से विरक्त हो, स्वयं के स्वरूप के अनुसंधान में लगे हुए थे। भ्रमण करते-करते वे नैमिषारण्य में आये, जो नियम-संयम से आनन्दित करने के कारण विशेष गणना करने योग्य पवित्र तीर्थ है। उस तीर्थ में अनेकों ऋषि-मुनि निवास करते थे। उन देवर्षि नारद जी ने उस पुण्य भूमि का दर्शन किया, वहाँ वैराग्य का बोध कराने वाले विशेष वीणा के स्वर झंकृत हो रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से परे रहकर भगवान् की वीणा द्वारा मधुर कथा के गीतों में रस लेते थे। उन देवर्षि के गीतों का श्रवण करके समस्त स्थावर-जंगम प्राणिसमुदाय आनन्द से झूम उठता था। उनका भक्ति रस से परिपूर्ण संगीत मनुष्य, पशु, देवता, किन्नर, गन्धर्व एवं अप्सरा आदि को भी आकृष्ट कर रहा था। उस समय उस सुप्रसिद्ध स्थल पर बारह वर्षीय सत्र-याग सम्पन्न किया जा रहा था। उस महान् यज्ञ में समस्त देवगण, तपस्वीजन, ज्ञान-वैराग्य से ओत-प्रोत शौनक आदि महर्षि जन सम्मिलित हुए। उन महर्षिजनों ने परम भागवत देवर्षि नारद को आया देखकर अतिभव्य स्वागत-सत्कार किया। उनके चरणों में मस्तक झुकाया तथा उन्हें सर्वश्रेष्ठ आसन पर प्रतिष्ठित किया। तदनन्तर समस्त महर्षिजन अपने-अपने आसनों पर सुशोभित हुए, फिर शौनक आदि ऋषियों ने उनसे नम्रतापूर्वक प्रश्न किया-हे देवर्षे! संसार के बन्धनों से मुक्ति का क्या उपाय है? कृपा करके हमें यह बताने का अनुग्रह करें॥ १॥

इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधं गार्हस्थ्यं चतुर्विधं वानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसंपन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्युपनिषत्॥ २॥

उन शौनकादि महर्षिजनों के इस प्रकार प्रश्न करने पर उन त्रिलोक-प्रसिद्ध देवर्षि नारद जी ने कहा-श्रेष्ठ कुल में प्रादुर्भूत पुरुष यदि उपनयन संस्कार में संस्कृत न हुआ हो, तो सर्वप्रथम उसका विधिवत् उपनयन-संस्कार सम्पन्न कराये। तदनन्तर चवालीस संस्कारों से सम्पन्न होकर तथा अपने मनोनुरूप गुरु के समीप आश्रम में प्रतिष्ठित हो। वहाँ (आश्रम में) गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए सर्वप्रथम अपनी (वेद की) शाखा का अध्ययन करे। तदनन्तर क्रमानुसार समस्त विद्याओं का अभ्यास करते हुए बारह वर्षों तक गुरु सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे। इसके पश्चात् क्रमशः पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ-धर्म का तथा पच्चीस वर्षों तक वानप्रस्थ धर्म का विधिवत् पालन करना चाहिए। प्रबुद्धजन चार तरह का ब्रह्मचर्य बतलाते हैं, गार्हस्थ्य छः प्रकार का तथा वानप्रस्थ चार तरह का बतलाया गया है। इन सभी आश्रमों का भलीभाँति अभ्यास करते हुए उन-उन आश्रमों के सभी कर्मों का समुचित अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् साधन चतुष्टय से युक्त होकर सम्पूर्ण विश्व से ऊपर उठकर मन, वाणी, कर्म, देह आदि के द्वारा सभी तरह की आशा का परित्याग करे और वासनाओं एवं एषणाओं का भी सर्वथा त्याग कर दे। इसके बाद सभी के प्रति वैरभाव का परित्याग करके मन एवं इन्द्रियों को वश में रखते हुए संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए तथा संन्यास आश्रम में रहकर अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान करते रहना चाहिए। इस प्रकार से चिन्तन में लीन हुआ जो पुरुष शरीर का परित्याग करता है वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। यही उपनिषद् (गूढ़ रहस्य युक्त विशिष्ट ज्ञान) है॥ २॥

॥ द्वितीयोपदेशः ॥

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन् संन्यासविधिं नो ब्रूहीति तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठावरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यं त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः। किमिति चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः। पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारं निरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम्।

भो नारद विधिवदादावनुपनीतोपनयनानंतरं तत्सत्कुलप्रसूतः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवंतमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदकस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव वनस्थो भूत्वा पुरग्रामप्राक्तनसंचारं विहाय निकिर विरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत्॥ १ ॥

इसके पश्चात् वे शौनक आदि महर्षिजन पुनः देवर्षि नारद जी से प्रार्थना करते हुए कहने लगे—हे भगवन्! आप हम सभी को संन्यास की विधि बताने की कृपा करें। नारद जी ने उन सभी पर स्नेहपूरित दृष्टिपात किया और कहने लगे- 'हे महर्षे! संन्यास का सम्पूर्ण स्वरूप लोक पितामह ब्रह्माजी के श्रीमुख से ही श्रवण करना श्रेयस्कर होगा।' ऐसा कहकर सत्र-याग के सम्पन्न होने पर उन सभी के सहित वे देवर्षि नारद ब्रह्मलोक में आकर परब्रह्म का चिन्तन करते हुए, नमन-वन्दन करते हुए ब्रह्माजी की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ब्रह्माजी ने सभी को यथोचित आसन पर बैठने को कहा। तत्पश्चात् नारद जी भगवान् ब्रह्माजी की स्तुति करते हुए कहने लगे- 'ब्रह्मन्! आप हम सभी के गुरु एवं पिता हैं। आप सभी कुछ जानने वाले तथा सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता हैं। अतः आप हमारे एक अत्यन्त-प्रिय रहस्य को प्रकट करने का अनुग्रह करें। आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है, जो हम सभी के इच्छित रहस्य को भली प्रकार से स्पष्ट कर सके। यदि आप हमारे अभीष्ट विषय के रहस्य को बताने के लिए तैयार हों, तो सर्वप्रथम कृपा करके आप 'परिव्राजक के स्वरूप एवं क्रम (नियम) को हम सभी के समक्ष उपदेश करने की कृपा करें। देवर्षि नारद के द्वारा इस प्रकार की जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर ब्रह्मा जी ने एक बार देखा तथा दो घड़ी के लिए समाधिस्थ होकर जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय खोजने लगे- ''हे नारद! पुरातन समय में 'पुरुषसूक्त' में तथा उपनिषदों में वर्णित

किये गये गूढ़ रहस्यानुकूल अति श्रेष्ठ दिव्य विग्रहधारी विराट् पुरुष ने जो मेरे लिए उपदेश किया था, उसी दिव्य ज्ञान को तुम सभी के समक्ष प्रकट कर रहा हूँ''।

परिव्राजक का स्वरूप एवं क्रम अत्यधिक रहस्यमय है। उसको तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। माता-पिता की आज्ञा मानने वाले सर्वश्रेष्ठ कुल में प्रादुर्भूत बालक का यदि उपनयन संस्कार न सम्पन्न हुआ हो, तो सर्वप्रथम उस बालक का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार सम्पन्न कराना चाहिए। तदनन्तर उस बालक को अपने माता-पिता के समीप न रहकर किसी उच्चकुलीन उत्पन्न सद्गुरु के आश्रम में जाकर निवास करना चाहिए। वे महान् गुरु श्रोत्रिय शास्त्र के प्रति अनुराग रखने वाले श्रद्धावान्-एवं गुणवान् हों। उन समर्थ गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनके चरणों में नमन-वन्दन करते हुए उन पर सर्वस्व समर्पित कर देना चाहिए। तत्पश्चात् उन की आज्ञा प्राप्त करके बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए समस्त विद्याओं का अभ्यास करना चाहिए। अध्ययन पूर्ण हो जाने के पश्चात् कुलानुरूप किसी श्रेष्ठ कन्या से गुरु की आज्ञा प्राप्त करके विवाह करे तथा पच्चीस वर्षों तक गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए। अपने वंश की अभिवृद्धि हेतु पुत्रोत्पत्ति कर्म पूर्ण करे। गृहस्थ के पच्चीस वर्ष पूर्ण करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम में सतत परिव्रज्या करते हुए पच्चीस वर्ष तक निवास करे। तीनों संध्याओं में स्नान एवं दिवस के चौथे प्रहर में एक बार भोजन ग्रहण करे। ग्राम या नगर के परिचित मार्गों का परित्याग करके अकेला ही वन में विचरण करे। बिना जोती-बोई हुई भूमि में उत्पन्न हुए चावल आदि इकट्ठा करके उसी से आश्रमानुरूप धर्म का पालन करते हुए दृश्य-श्रव्यादि विषयों से विरक्त होकर चालीस संस्कारों से युक्त होकर चित्त को सर्वतोभावेन सदैव के लिए पवित्र कर ले। आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार आदि का परित्याग करके साधन चतुष्टय से परिपूर्ण हो जाए। इन सभी से युक्त होकर वह संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी बन जाता है॥१॥

॥ तृतीयोपदेशः ॥

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ भगवन् केन संन्यासाधिकारी वेत्येवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते अवहितः शृणु। अथ षण्ढः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशेनाधिकारिणः पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी॥ १॥

इसके पश्चात् देवर्षि नारद ने पितामह ब्रह्माजी से प्रश्न किया—भगवन्! संन्यास किसके द्वारा लिया जाता है तथा संन्यास का अधिकारी कौन है? ब्रह्माजी ने कहा—पहले यह निरूपण करते हैं कि संन्यास का अधिकारी कौन है? तत्पश्चात् संन्यास धारण करने की विधि पर प्रकाश डालेंगे। सावधानी पूर्वक सुनो—नपुंसक, पतित, अंगविहीन, अत्यधिक स्त्री आसक्त, बधिर, गूँगे, बालक, पाखण्डी, चक्री (कुचक्र रचने वाला), लिङ्गी (वेषधारण करने वाला), वैखानस (वानप्रस्थी), हरद्विज (शिवभक्त), वेतन लेकर शिक्षण करने वाले अध्यापक, शिपिविष्ट (गंजे या कोढ़ी), अग्निहोत्र न करने वाले ये सभी विरक्त होने पर भी संन्यास ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। यदि वे किसी प्रकार संन्यास ग्रहण कर भी लें, तो भी महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। जो पूर्व से (ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम के समय से) ही संन्यासाश्रम के अनुसार आचरण करने वाले हैं,वे ही संन्यास धारण करने के अधिकारी हैं॥ १॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा। अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥ २ ॥

जो दूसरों से न भयभीत होता है और न ही स्वयं दूसरों को भयभीत करता है, वही वस्तुतः परिव्राजक है, ऐसा स्मृतियों का कथन है ॥ २ ॥

षण्ढोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी। पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥ ३ ॥ चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः। द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च। एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ४ ॥

नपुंसक, विकलाङ्ग, अन्धे, बालक, पातकी, पतित, परस्त्रीरत, वैखानस, हरद्विज (शिवभक्त), कुचक्र रचने वाले, लिङ्गी (वेषधारी), पाखण्डी, शिपिविष्ट, अयाज्ञिक, वेतनभोगी शिक्षक तथा दो-तीन बार संन्यास ले चुकने वाले ये सभी आतुर संन्यास लेने योग्य हो सकते हैं, क्रमशः संन्यास लेने योग्य नहीं ॥ ३-४ ॥

आतुरकालः कथमार्यसम्मतः। प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः। नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥ ५ ॥ आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम्। मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥ ६ ॥ आतुरेऽपि क्रमे वापि प्रैषभेदो न कुत्रचित्। न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ ७ ॥ अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत्। मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ ८ ॥ विध्युक्तकर्म संक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरःस्मृतः। तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ ९ ॥

(नारद का प्रश्न) आतुर संन्यास का कौन सा समय विद्वज्जनों द्वारा माना गया है? (ब्रह्मा का उत्तर-) प्राणों के निकलने का समय जब अत्यन्त निकट हो, तभी आतुर संन्यास लेने का उचित समय माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई समय उचित नहीं है। आतुर संन्यास यदि ठीक समय पर सम्पन्न हो जाये, तो वह मुक्ति प्रदायक होता है। आतुर संन्यास ग्रहण में भी विद्वान् पुरुष शास्त्र विहित मन्त्रों का विधिवत् उच्चारण करके ही संन्यास ग्रहण करे। आतुर संन्यास और क्रम संन्यास के विधान में प्रायः कोई भेद नहीं है। प्रत्येक मन्त्र कर्म से ही सम्बन्धित होता है और कर्म मन्त्र द्वारा प्रेरित होता है। मन्त्र के बिना किया गया कोई भी कर्म वस्तुतः कर्म नहीं है। अस्तु, मन्त्र का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। मन्त्ररहित किया गया कोई भी कर्म भस्म (राख) में छोड़ी हुई आहुति के समान व्यर्थ होता है। हे मुने! शास्त्र वर्णित कर्म के संक्षेप में करने से आतुर संन्यास की विधि पूर्ण होती है। इसलिए इस (प्रक्रिया) में मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण शास्त्र सम्मत एवं उचित है ॥ ५-९ ॥

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि। प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥ १० ॥ मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथ वा जले। श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा। समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

यदि अग्निहोत्र सम्पन्न करने वाला पुरुष किसी अन्य देश में गया हो और वहाँ उसे वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तो जल में प्राजापत्य इष्टि सम्पन्न करके संन्यास ग्रहण कर ले। यह प्राजापत्य याग केवल मन से करे अथवा शास्त्र विहित मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक अथवा वेदोक्त विधान से कर्मानुष्ठान पूर्वक सम्पन्न करे। यह सब करके ही विद्वान् पुरुष संन्यास ले, अन्यथा वह अपने धर्म से च्युत हो जाता है ॥ १०-११ ॥

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु। तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥ १२ ॥ विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत्। सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः ॥ १३ ॥

जब मन में सभी पदार्थों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करनी चाहिए। इससे विपरीत आचरण से मनुष्य पतित हो जाता है। जिसके मन में सम्पूर्ण वैराग्य हो, उसी बुद्धिमान् पुरुष को संन्यास लेकर प्रव्रज्या करनी चाहिए और रागवान् को घर में ही रहना चाहिए। जो अधम द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह नरक को प्राप्त होता है॥ १२-१३॥

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः। संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्॥१४॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः॥ १५॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्। तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥ १६॥

जिसकी रसना (जिह्वा), उपस्थेन्द्रिय, उदर और हस्त-पाद आदि इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण वश में हों अथवा जिसने विवाह न किया हो, ऐसा ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। विद्वान् पुरुष संसार को निस्सार समझकर सार तत्त्व पाने की कामना से अविवाहित रहकर ही वैराग्याश्रित होकर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कर्म प्रवृत्ति का लक्षण है तथा ज्ञान संन्यास का मुख्य लक्षण है। अस्तु, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह ज्ञान को लक्ष्य करके ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करे॥ १४-१६॥

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्। तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥१७॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि। सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति॥ १८॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत्। तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक्॥ १९॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्। इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक्॥ २०॥
यस्मिन्शान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम्। अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२१॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्। कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक्॥ २२॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः। वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥ २३॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ २४॥
अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि। प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत्॥ २५॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः। शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२६॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२७॥

जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान हो जाए, तब एक दण्ड धारण करके शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए। जो परमात्मा में अनुरक्त है तथा उससे भिन्न समस्त वस्तुओं के प्रति विरक्त है, जो सभी एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा) से मुक्त है, वही भिक्षा का अन्न ग्रहण करने का अधिकारी है। अपनी पूजा और वन्दना किये जाने पर जिस प्रकार सामान्य जन प्रसन्न होते हैं, डण्डों से पीटे जाने पर भी जिसे उसी प्रकार की प्रसन्नता हो, वही भिक्षु होने के योग्य है। जिसके मन में इस प्रकार का भाव दृढ़ हो गया है कि मैं ही वासुदेव नाम प्रख्यात अद्वितीय, अक्षर ब्रह्म हूँ; वही भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी है। जिसमें शान्ति, शम (शमन), दम (दमन), शौच (पवित्रता), सत्य, सन्तोष, सरलता, अपरिग्रह का भाव तथा दम्भ का अभाव हो, वही कैवल्याश्रम (संन्यासाश्रम) में प्रवेश करने का अधिकारी है। जो मन, वचन कर्म से भी किसी के प्रति पाप का भाव नहीं रखता, वही भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी होता है। (मनुकथित) धर्म के दस लक्षणों को जीवन में एकाग्रता पूर्वक उतार कर जो सविधि वेदान्त श्रवण, स्वाध्याय तथा ब्रह्मचर्य पालन करते हुए तीनों ऋणों (ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण) से मुक्त हो (ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्याय

द्वारा ऋषिऋण से, यज्ञानुष्ठान द्वारा देवऋण से तथा पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति का प्रयास करे) वही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। धैर्य, क्षमा, दमन (मन को वश में रखना), अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, धी (सद्बुद्धि), विद्या, सत्य एवं अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं। जो पुरुष अतीत के भोगों का चिन्तन नहीं करता, वर्तमान में प्राप्त भोगों का अभिनन्दन (स्वागत) नहीं करता तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता, वही संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार रखता है। जो पुरुष अन्तःकरण में विराजमान इन्द्रियों तथा बाह्याभ्यन्तर के विषयों को मन में स्थान न दे, वही कैवल्याश्रम (संन्यास) में रहने के योग्य है। जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार जो व्यक्ति प्राणों के रहने पर भी सुख-दुःख का अनुभव न करे, वही संन्यास लेने के योग्य है॥ १७-२७॥

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः। यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते॥ २८॥
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम्। रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते॥ २९॥
विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु। कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जितम्॥ ३०॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः। एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥ ३१॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः। यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेद्यतिः॥ ३२॥

दो कौपीन, एक कन्था (गुदड़ी) तथा एक दण्ड इनसे अधिक वस्तुएँ संग्रह करने का परमहंस (संन्यासी) को अधिकार नहीं है। यदि वह इनसे अधिक वस्तुएँ संग्रह करता है, तो वह मरणोपरान्त रौरव नामक नरक में जाता है, तत्पश्चात् तिर्यक् (पशु-पक्षी आदि) योनियों में जाता है। संन्यासी को चाहिए कि वह शीत आदि से रक्षा के लिए जीर्ण-शीर्ण; किन्तु साफ-सुथरे वस्त्रों को सिलकर कन्था (गुदड़ी) बनाये और नगर या ग्राम से बाहर निर्जन स्थान में जाकर रहे तथा गेरुआ वस्त्र धारण करे। संन्यासी एक वस्त्र धारण करे अथवा वस्त्रहीन रहे। दृष्टि को इधर-उधर न रखकर एकाग्रचित्त रहे तथा समस्त वस्तुओं के प्रति अलोलुप रहे। वह सतत एकाकी ही विचरण करे और वर्षाकाल (चातुर्मास) में एक स्थान पर निवास करे। स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब, वेदाङ्गों के ग्रन्थ (व्याकरण आदि), यज्ञ और यज्ञोपवीत को सर्वथा विसर्जित करके संन्यासी को सदैव अपने को गूढ़ बनाकर (अपना विज्ञापन किये बिना) विचरण करना चाहिए॥ २८-३२॥

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये। तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत्॥३३॥
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः। प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिस्पृहः॥३४॥
दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः। आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात्॥३५॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः। संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति॥ ३६॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ ३७॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥३९॥
संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥४०॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि समस्त दोषों का परित्याग करके संन्यासी को सब ओर से निर्मम (ममतारहित) हो जाना चाहिए। उसे समस्त रागों से विरक्त होकर मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव रखना चाहिए। उसे हिंसा से परे और निस्पृह हो जाना चाहिए। जो संन्यासी दम्भ, अहंकार, हिंसा, परनिन्दा आदि दोषों से दूर है तथा आत्मज्ञान उपलब्ध कराने वाले गुणों से सुशोभित है, वही मुक्ति का अधिकारी है।

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने पर व्यक्ति नि:सन्देह दुर्गुणों से लिप्त हो जाता है; परन्तु इन्हीं इन्द्रियों को वह सम्यक् रूप से वश में कर ले, तो (मुक्ति रूप) सिद्धि को प्राप्त करता है। सांसारिक भोगों का निरन्तर उपभोग करने से, उन्हें भोगने की कामना कभी शान्त नहीं होती, वह उसी तरह और बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि में घृत डालने पर वह और अधिक प्रज्वलित होती है। जो (साधक) मृदु या कटु वचनों का श्रवण करके, स्वादिष्ट या स्वादरहित भोजन करके, सुन्दर या कुरूप दृश्य देखकर तथा सुगन्धित या दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ सूँघ कर न तो हर्षोल्लसित होता है और न ही ग्लानि का अनुभव करता है, उसी को जितेन्द्रिय जानना चाहिए। जिसका मन और वाणी पवित्रता से ओत-प्रोत है, जो सभी प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त है, वही वेदान्त सुनने का फल प्राप्त करता है। ब्राह्मण को चाहिए कि वह सम्मान को विष तुल्य उद्विग्नकारी तथा अपमान को अमृत तुल्य मानकर सदा उसकी कामना करे॥ ३३-४०॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ ४१॥ अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४२॥ क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ ४३॥ अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ४४॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ४५॥ अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्। चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥ ४६॥ जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्॥ ४७॥ मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ। देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः॥ ४८॥ सा कालपुत्रपदवी सा महावीचिवागुरा। सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः॥ ४९॥ सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते। स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी॥ ५०॥ प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम्॥ ५१॥ अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान्शनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ ५२॥ एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः। सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते॥ ५३॥

अपमान प्राप्त करने वाला पुरुष सुखपूर्वक शयन करता, सुखपूर्वक जागता और इस संसार में सुखी होकर विचरता है, परन्तु (किसी का) अपमान करने वाला व्यक्ति अपने आप ही विनष्ट हो जाता है। दूसरों के कठोर वचनों (अतिवादों) को सहन करने का अभ्यास करे, किसी का भी अनादर न करे तथा इस नाशवान् शरीर के लिए किसी से वैर न करे। जो अपने ऊपर क्रोध करे, उसके प्रति क्रोधित न हो, यदि कोई अपशब्द कहे तो उसके प्रति भी मधुर वचन कहे। सप्तद्वारों (दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र और एक मुख) से सम्बद्ध जिह्वा को कभी अनृत भाषण (झूठ बोलने) के लिए प्रयुक्त न करे। सुख प्राप्ति की इच्छा वाले को चाहिए कि वह आध्यात्मिक विषयों में मन को संलग्न करके, स्थिर भाव से बैठे,किसी से कुछ अपेक्षा न रखे, मन से समस्त कामनाओं को निष्कासित कर दे और अपने आप अपनी सहायता करते हुए इस संसार में एकाकी ही विचरता रहे। इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखे, राग-द्वेष को समाप्त कर दे एवं किसी की भी हिंसा न करे। ऐसा करने से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। यह काया रोगों का आगार है, जिसमें अस्थिरूपी स्तम्भ लगे हैं, जिसमें स्नायुओं का जाल डोरियों के रूप में पूरित है, जिस पर रक्त और मांस का लेपन (प्लास्टर) है तथा जिसे चर्म से मानो मढ़ दिया गया है। यह सदैव मल-मूत्र से पूरित रहता है, जिसमें दुर्गन्ध भरी है। इस (शरीर)

में जरावस्था और रोगों के कारण निरन्तर संताप और आतुरता रहती है। रज और वीर्य से उत्पन्न होने के कारण यह शरीर रजस्वल (रजोगुण प्रधान अथवा धूलि से भरा-विकारों से भरा) है। यह शरीर अनित्य है अर्थात् किस दिन इसका अवसान हो जायेगा, यह पता नहीं है। पञ्च महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश) सदैव डेरा डाले रहते हैं, अत: इसे त्याग देना चाहिए अर्थात् इसके प्रति मोह को त्याग देना चाहिए। यदि कोई मनुष्य रक्त, रस, मांस, मज्जा, अस्थि, मल-मूत्र और नाड़ियों से निर्मित इस शरीर से प्रेम करता है, तो वह नरक से भी अवश्य प्रेम करेगा। शरीर में स्थित अहंभाव ही कालसूत्र नामक नरक को ले जाने वाला है, वही कालवीचि नरक में भी ले जाने वाले जाल के रूप में भी बिछा है। वही (अहं) असिपत्र वन नामक नरक की कोटि का है। शरीर में स्थित अहंता कुत्ते का मांस भक्षण करने वाली चण्डालिनी के समान है। सभी प्रकार के उपाय करके इस अहंता को त्याग देना चाहिए। कल्याण कामी पुरुष को चाहिए कि वह सर्वनाश उपस्थित हो जाने पर भी इस अहंता का स्पर्श तक न होने दे। अपने प्रिय जनों में स्थित पुण्य और अप्रियजनों में स्थित दुष्कृत्यों (पाप) के अतिरिक्त स्वयं उनसे किसी प्रकार भी सम्बन्ध न रखे। ऐसा करने वाला साधक ध्यान योग के द्वारा सनातन पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति करता है। इस तरह समस्त विषयों से धीरे-धीरे आसक्ति का परित्याग करके संन्यासी समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर परब्रह्म परमेश्वर में स्थित हो जाता है। सिद्धि के इच्छुक साधक को चाहिए कि वह असहायक बनकर सतत एकाकी ही विचरण करे। संन्यासी किसी की सिद्धि को देखकर अपनी साधना नहीं छोड़ता और वह सिद्धि से वञ्चित भी नहीं होता॥ ४१-५३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ ५४॥
सर्वभूतहित: शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलु:। एकाराम: परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्॥ ५५॥
एको भिक्षुर्यथोक्त: स्याद्द्वावेव मिथुनं स्मृतम्। त्रयो ग्राम: समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥५६॥
नगरं नहि कर्त्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा। एतत्त्रयं प्रकुर्वाण: स्वधर्माच्च्यवते यति:॥ ५७॥
राजवार्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्ता परस्परम्। स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशय:॥ ५८॥
एकाकी नि:स्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत्। दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यति:॥ ५९॥
एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभि:। मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन॥ ६०॥
कालमेव प्रतीक्षेत यावदायु: समाप्यते। नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ ६१॥

जल पीने के लिए कपाल (नारियल अथवा लकड़ी का पात्र), निवास करने के लिए किसी वृक्ष का मूल, धारण करने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, सदैव अकेले रहने का स्वभाव एवं समस्त जीव-धारियों के प्रति समत्व का भाव ये सभी जीवनमुक्त पुरुष के लक्षण हैं। संन्यासी को समस्त प्राणियों का हितैषी होना चाहिए। उसे शान्तचित्त रहकर सतत त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करके केवल आत्मा में ही रमण करते रहना चाहिए। वह सब कुछ त्यागकर अकेला ही विचरण करे, जब भिक्षा लेना हो तभी ग्राम में प्रवेश करे। शास्त्रों में एकाकी रहने वाले संन्यासी को ही भिक्षु कहा गया है; क्योंकि एक से दो होते ही उसे मिथुन (युगल) माना जाता है। दो से तीन हो, तो ग्राम और इससे अधिक व्यक्तियों का समुदाय एक साथ हो जाय, तब तो नगर ही कहा जायेगा। संन्यासी को अपने पास किसी अन्य को आने का अवसर नहीं देना चाहिए; ताकि मिथुन, ग्राम या नगर की स्थिति न बने। ऐसा करने से वह अपने धर्म से पतित हो जाता है। अनेक व्यक्तियों का एक साथ संयोग होने से उनमें विभिन्न चर्चाएँ प्रारम्भ हो जायेंगी और उनमें राजा, सेठ आदि के विषय में तथा कहाँ-कैसी

भिक्षा मिलती है, इस पर चर्चा होगी। इसके पश्चात् विभिन्न बातों के फलस्वरूप परस्पर राग-द्वेष, चुगली आदि के भाव उत्पन्न होंगे ही, इसमें कोई संशय नहीं है। इसीलिए शास्त्रों ने संन्यासी को निस्पृह भाव से एकाकी ही रहने का आदेश दिया है। वह किसी के साथ व्यर्थ बातचीत न करे। दूसरों की बात या नमन का उत्तर नारायण कहकर दे। निर्जन स्थान में अकेले रहकर मन, वचन, शरीर और क्रिया द्वारा एकमात्र ब्रह्म का ही ध्यान करता रहे। ज़ीवन अथवा मृत्यु का कभी अभिनन्दन न करे। मृत्युकाल आने तक की प्रतीक्षा करता रहे। संन्यासी जीवन और मृत्यु में से किसी की प्रतीक्षा न करे। साधक को चाहिए कि वह भृतक (वैतनिक कर्मचारी) के द्वारा अपने स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करने की तरह एकमात्र काल की प्रतीक्षा करता रहे॥ ५४-६१ ॥

अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥ ६२ ॥
इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति । हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥ ६३ ॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्। शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥६४ ॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च। योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥ ६५ ॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्। चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥ ६६ ॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत् । श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ॥ ६७ ॥
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः। सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते॥ ६८ ॥
नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा। भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन॥ ६९ ॥
रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु। षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत्॥ ७० ॥
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथालौल्यमेव च। दिवा स्वापं च यानं च यतीनां पातनानि षट्॥७१ ॥
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः । सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ॥ ७२ ॥
न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः। न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत्॥७३ ॥
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्। इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ ७४ ॥
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः। निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च॥ ७५ ॥
निर्ममो निरहंकारो निरपेक्षो निराशिषः। विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशय इति ॥ ७६ ॥

नपुंसक (काम भाव शून्य), अन्धे, लूले, बहरे, मुग्ध (जड़) और अजिह्व के समान रहने वाला भिक्षु उपर्युक्त छः गुणों से सम्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। जो स्वाद-अस्वाद को न देखकर भोजन ग्रहण करता है और हितकर, मृदु तथा सत्य बोलता है उसे 'अजिह्व' कहा जाता है। जो पुरुष नवजात कन्या, षोडशी युवती और शतवर्षा वृद्धा को देखकर मन में किसी प्रकार का राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने देता, उसे 'षण्डक' कहते हैं। जो भिक्षु मात्र भिक्षा अथवा मल-मूत्र त्याग के लिए ही भ्रमण करता है तथा एक दिन में एक योजन (चार कोस) से अधिक गमन नहीं करता (शेष समय ध्यानादि करते हुए खड़े होकर व्यतीत करता है) वह पङ्गु ही है। चलते हुए या खड़े होकर जिसकी आँखें चार युग (प्रायः दस हाथ) भूमि की दूरी तक ही देखती हैं, उसे 'अन्ध' कहते हैं। हित अथवा अहित की तथा सुख अथवा दुःख की बात को जो नहीं सुनता (इस प्रकार की बात सुनकर भी उससे प्रभावित होकर कोई ध्यान नहीं देता), वह 'बधिर' (बहरे के समान) है। विषयों की समीपता, शरीर में सामर्थ्य और इन्द्रियों में स्वस्थता होते हुए भी जो भिक्षु सोये हुए के समान उन विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता, उसे 'मुग्ध' (जड़ या भोला-भाला) कहा गया है। भिक्षु (संन्यासी) को चाहिए कि वह

अपने सम्बन्धियों, नटों के खेल, द्यूतक्रीड़ा, युवती स्त्री, भोज्य पदार्थ तथा रजस्वला स्त्री इन छः की ओर कभी दृष्टिपात न करे। दूसरों के प्रति द्रोह, अपनों के प्रति मोह, मद, माया और राग-द्वेष इन (दोषों) से सदैव अलग रहे तथा मन में भी इनके प्रति कभी विचार तक न आने दे। मञ्च (कुर्सी आदि), श्वेत वस्त्र, स्त्रीचर्चा, इन्द्रियलोलुपता, दिवा-शयन और सवारी पर यात्रा करना—ये छः (दोष) संन्यासी के लिए पातक रूप हैं। आत्म चिन्तन की कामना वाले संन्यासी के लिए उचित है कि वह दूर की यात्रा न करने का प्रयत्न करता रहे और मोक्ष प्रदायिनी उपनिषद् विद्या का सतत अभ्यास करे। संन्यासी के लिए अधिक तीर्थ सेवन तथा अधिक उपवास उचित नहीं है। अधिक विद्याओं के पठन-पाठन का स्वभाव भी वह न बनाए। सभाओं में व्याख्यान भी न दे और पाप, दुष्टता तथा कुटिलता पूर्ण व्यवहार न करे। जिस प्रकार कछुआ सभी तरफ से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासी भी सभी विषयों की ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट ले तथा इन्द्रियों और मन के कार्य-व्यापारों को क्षीण कर दे। कामना और परिग्रह को त्यागकर हर्ष-शोक से विरत हो जाए। वह नमस्कार (देव स्तुति) और स्वधा (श्राद्ध-तर्पण) को भी त्याग दे। वह ममता और अहंकार से शून्य होकर किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करे। सदैव एकान्तवास करे। इस प्रकार उपर्युक्त ढंग से जीवनयापन करने से वह संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है॥ ६२-७६॥

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वाऽथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्त्यथवा न कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यादग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति तस्मात्त्रैधातवीयामेव कुर्यादेतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति॥ ७७॥ अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया रयिम्॥ ७८॥ इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेदेष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः"प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेद्यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयं मोदमिति शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्यात्मविन्मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विधेस्तद्ब्रह्म तदुपासितव्यमेवैतदिति॥ ७९॥

कोई भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थी जो ज्ञान, कर्म, और भक्ति से युक्त है तथा प्रमादरहित होकर आत्मा के अधीन रहता है, उसे यदि वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तो वह संन्यास ग्रहण कर सकता है। यदि वैराग्य परिपक्व न हुआ हो, तो क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पूरी करके गृहस्थ में प्रविष्ट हो, तत्पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में जाए और उसकी भी अवधि पूर्ण करके संन्यास ग्रहण करे। यदि वैराग्य तीव्र हो जाए, तो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद सीधे ही संन्यास ग्रहण कर ले। गृहस्थाश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम में यदि तीव्र वैराग्य हो जाए, तो उसके बाद भी सीधे ही संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्मचारी-अब्रह्मचारी, स्नातक-अस्नातक, अग्निहोत्री-अनग्निहोत्री (अग्निहोत्र का त्याग कर चुकने वाला कोई भी हो), जब उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाये, तभी गृह-त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होते समय कुछ विद्वान् प्राजापत्य इष्टि सम्पन्न करते हैं, (तीव्र वैराग्य होने पर) उसे भी करना आवश्यक नहीं है अथवा केवल आग्नेयी इष्टि ही सम्पन्न करे। अग्नि ही प्राण है, इस इष्टि से साधक प्राण का ही पोषण करता है अथवा त्रैधातवी (जो

इन्द्र से सम्बन्धित है) इष्टि ही सम्पन्न करे। सत्त्व, रज और तम ये तीन ही धातुएँ हैं। इस इष्टि द्वारा साधक इन्हीं तीनों का हवन करता है। विधिवत् इष्टि करके 'अयं ते योनिः' इस मंत्र से अग्नि को सूँघे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- 'हे अग्निदेव! यह समष्टिगत प्राण ही तुम्हारी उत्पत्ति का मूल है। इसी कारण तुम उत्तम कान्ति से सुशोभित हो रहे हो। तुम अपने उत्पादक प्राण को जानकर इसमें विराजो। इस प्रकार हमारे प्राण में प्रतिष्ठित होकर हमारे ज्ञान-धन को समृद्ध करो।' निश्चय ही यह प्राणतत्त्व अग्नि के प्राकट्य का हेतु है। अतः इस कारण मन्त्र में अग्नि एवं प्राण की एकात्मता सिद्ध हुई है। आहवनीय अग्नि में से अग्नि प्राप्त कर उपर्युक्त तरीके से इष्टि करके अग्नि का अवघ्राण करे। यदि किसी कारणवश अग्नि प्राप्त न हो सके, तो जल में ही यजन कृत्य पूर्ण कर लेना चाहिए। अवश्य ही समस्त देवगण जलरूप हैं। समस्त देवों के लिए मैं यजन-कृत्य कर रहा हूँ, यह हवि उन देवों को प्राप्त हो (ऐसा भाव करना चाहिए)। तत्पश्चात् उस जल-राशि में से थोड़ा सा जल लेकर उससे आचमन कर लेना चाहिए। वह घृत मिश्रित जल आरोग्यप्रद एवं मोक्षप्रदाता होता है। तदनन्तर शिखा (चोटी), यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन-अध्यापन तथा अन्यान्य विभिन्न तरह के मन्त्रों का परित्याग कर देने वाला ही आत्मवेत्ता मनुष्य परिव्राजक होता है। त्रैधातवीय मोक्ष से सम्बन्धित मन्त्रों से ब्रह्म को जानना चाहिए। जो शाश्वत सत्य एवं ज्ञान आदि श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न है, वही परब्रह्म परमेश्वर है, वही उपासना के अनुकूल है। उसी की ही उपासना करनी चाहिए। यह ठीक इसी प्रकार ही है॥ ७७-७९ ॥

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति। तमाह पितामहः॥ ८०॥ सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ८१॥ सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥ ८२॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः॥ ८३॥ बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः। धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्॥ ८४॥ सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ ८५॥ ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते॥ ८६॥ अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः॥८७॥ कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः। तैर्विधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्॥ ८८॥ शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति॥८९॥

देवर्षि नारद जी ने पितामह ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया- 'हे ब्रह्मन्! मनुष्य यज्ञोपवीत को धारण न किये रहने से ब्राह्मण कैसे हो सकता है? तब पितामह ने उन देवर्षि नारद से कहा-हे नारद! ज्ञानवान् पुरुषों को शिखा के सहित सिर के सभी केशों का मुण्डन कराके शरीर पर यज्ञोपवीत के रूप में धारण किये हुए बाह्य सूत्र का परित्याग कर देना चाहिए तथा जो अविनाशी शाश्वत परब्रह्म परमेश्वर है, उसी को सभी में व्याप्त सूत्र रूप में जान करके अपने अन्तः में धारण करे। जो सूचना अर्थात् जानकारी का कारण हो, उसे ही सूत्र कहते हैं। इसके कारण से 'सूत्र' परमपद का नाम है। जिस ज्ञानी पुरुष ने उस परमपद रूप सूत्र को जान लिया, वही वेदों का जानने वाला श्रेष्ठ ब्राह्मण है। जिस प्रकार सूत्र (धागे) में मनके (दाने) पिरोये होते हैं, उसी प्रकार जिस अविनाशी परमात्मतत्त्व में यह सम्पूर्ण संसार पिरोया हुआ है, वही सूत्र है। योग-विद्या का जानकार तत्त्वज्ञ योगी उसी श्रेष्ठ सूत्र को अपने अन्तः में धारण करे। ज्ञानी मनुष्य श्रेष्ठ योग का आश्रय प्राप्त करके बाह्य सूत्र का त्याग

कर दे; क्योंकि इस ब्रह्मरूप सूत्र के धारण करने से परिव्राजक न तो कभी उच्छिष्ट (जूठा) होता है और न ही कभी अपवित्र होता है। सद्ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले जिन परिव्राजकों के अन्तःकरण में वह ब्रह्मरूप सूत्र प्रतिष्ठित है, वे ही इस जगत् में सूत्र के यथार्थ रूप को जानने वाले तथा यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं। परिव्राजक(संन्यासी) ज्ञानरूपी शिखा को धारण करते हैं, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होते हैं तथा ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को ही धारण करते हैं। उन परिव्राजकों के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ होता है। ज्ञान को ही सबसे पवित्र कहा गया है। जिस तरह से अग्नि की शिखा उसके स्वरूप से अलग नहीं होती, उसी तरह जिस श्रेष्ठज्ञानी परिव्राजक ने ज्ञानरूपी शिखा को धारण कर रखा है, वही शिखाधारी कहा जाता है; दूसरे अन्य लोग जो मात्र केश को धारण करते हैं, वे वास्तविक शिखा को धारण करने वाले नहीं होते। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मादि के श्रेष्ठ अधिकारी माने जाते हैं, उन्हीं श्रेष्ठजनों को यह बाह्य सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही कर्म का श्रेष्ठ अंग माना गया है। जिन परिव्राजकों के पास ज्ञानरूपी शिखा एवं ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत है, उसी परिव्राजक में पूर्णरूपेण ब्राह्मणत्व विद्यमान है। ब्रह्मज्ञानी जन ऐसा ही मानते हैं॥ ८०-८९॥

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेदथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा सपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितो निन्दाहंकारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छाद्वेषसुखदुःख-कामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा स्वव्यतिरिक्तं सर्वमन्तर्बहिरमन्य-मानः कस्यापि वन्दनमकृत्वा न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्यदृच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेन्नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक् नापृथक् न त्वन्यत्र सर्वत्रानिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृह तृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेषु वने वा श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासःसंवर्तकदत्तात्रेयरैवतकवदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालो-न्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्तवदाचरंस्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भूःस्वाहेत्यप्सु परित्यज्य॥ ९०॥

इस प्रकार से ब्राह्मण उपर्युक्त सभी नियमोपनियम जानकर घर का परित्याग करके संन्यासी हो जाए; मात्र एक ही वस्त्र धारण करे, सिर के बालों का मुण्डन करा ले तथा किसी भी तरह की वस्तुओं, पदार्थों आदि का संग्रह न करे। यदि वह शारीरिक क्लेशों को सहने में सक्षम न हो, तो उसे कौपीन (लँगोटी) धारण कर लेनी चाहिए और यदि शारीरिक क्लेशों-परेशानियों को सहने में समर्थ हो, तो विधिवत् संन्यास धर्म को ग्रहण कर वस्त्र रहित हो, जीवन-यापन करे। (वह) अपने मित्र, पुत्र, स्त्री, श्रेष्ठ गुरुजन एवं बन्धु-बान्धव, भाई आदि को त्यागकर विचरण करे। स्वाध्याय तथा वैदिक कर्मों के अनुष्ठान को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के साथ अपना सम्बन्ध परित्याग कर दे। अपने पास कौपीन, दण्ड एवं अंगाच्छादन हेतु वस्त्रादि ही रखे। सभी तरह के द्वन्द्वों को पूर्णरूपेण सहन करते हुए सर्दी-गर्मी आदि पर ध्यान न दे; न कभी सुख की इच्छा करे और न ही कभी दुःख आदि द्वन्द्वों से परेशान हो। निद्रा की भी चिन्ता न करे। मान-अपमान में सदैव सम भाव से रहे। छहों प्रकार की ऊर्मियों से वह कभी भी प्रभावित न हो। निन्दा, मत्सर (डाह), अहंकार, गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, दोष-दृष्टि, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का परित्याग कर अपने शरीर को मृतवत् मानकर, आत्मा के अलावा दूसरी अन्य किसी भी वस्तु को बाह्य एवं अन्तः से स्वीकार न करते हुए कभी भी किसी के

समक्ष सिर न झुकाये और न ही यज्ञ एवं श्राद्धादि करे, किसी की निन्दा एवं स्तुति (अनुनय-विनय) आदि भी न करे। एकाकी ही स्वच्छन्द सर्वत्र विचरण करता रहे। ईश्वरेच्छा से जो कुछ भी भोजन आदि मिले, उस पर ही सन्तोष रखे। स्वर्णाभूषण आदि रत्नों का कभी भी अपने पास संग्रह न करे। न कभी किसी का आवाहन करे और न ही कभी विसर्जन। मन्त्रादि का न तो प्रयोग करे और न ही उसका त्याग करे। ध्यान एवं उपासनादि भी न करे। न कोई उसका लक्ष्य हो तथा लक्ष्यहीनता भी नहीं होनी चाहिए। न कभी किसी से अलग रहे और न ही कभी किसी के साथ रहे। न कभी किसी एक स्थान पर निवास करने का आग्रह करे और न ही किसी दूसरी जगह जाने का अनुरोध करे। उस ब्राह्मण का अपना निज का कोई आश्रम अथवा घर आदि भी नहीं होना चाहिए। उसकी बुद्धि सदैव स्थिर रहनी चाहिए। परिजनों से रहित भवन, वृक्ष की जड़, मन्दिर, पर्णकुटी, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निदिगन्तर (आग्नेयदिशा), नदी का किनारा, कछार, भूगृह अर्थात् गुफा, पर्वतीय गुफा, झरने के समीप चबूतरे या वेदी या फिर जंगल में निवास करे। ऋभु, श्वेतकेतु, निदाघ, ऋषभ, संवर्तक, दुर्वासा, दत्तात्रेय एवं रैवतक की भाँति न कोई चिह्न स्वीकार करे और न ही अपने आचरण को ही किसी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने दे। उन्मत्त बालक अथवा पिशाच की तरह से व्यवहार करे। उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त की तरह से आचरण करे। त्रिदण्ड, पात्र, झोली, कमण्डलु, कटिसूत्र एवं कौपीन आदि सभी कुछ 'भूः स्वाहा' कहकर के जल में विसर्जित कर दे॥ ८९-९०॥

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं। सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्॥ ९१॥

आत्मानमन्विच्छेद्यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणान्येन वा याचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत्॥ ९२॥

परिव्राजक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र एवं कमण्डलु आदि सभी को (नदी या सरोवर के) जल में विसर्जित करके वस्त्र रहित हो सर्वत्र विचरण करे। अपनी ही आत्मा का सतत अनुसंधान करता रहे, दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर द्वन्द्वों (विकारों) को सहन करता रहे। उन द्वन्द्वों से प्रभावित न हो। किसी भी तरह की वस्तुओं का संग्रह कदापि न करे। आत्मतत्त्व एवं परब्रह्म परमात्मा का बोध कराने वाले ज्ञान-मार्ग में दृढ़निश्चय होकर प्रतिष्ठित रहे। अपने मन को सदा पवित्र रखे। (अपने) प्राणों की रक्षा के लिए निश्चित समय पर कर (हाथ) रूपी पात्र से या फिर किसी पात्र से, बिना किसी से याचना किये ही जो कुछ मिल जाए, उसी आहार (भोजन) को स्वीकार करे। हानि-लाभ को समान समझते हुए ममता से विलग हो जाए। मात्र अविनाशी शाश्वत परब्रह्म का ही सतत चिन्तन करे। अध्यात्म के चिन्तन में ही अपनी निष्ठा को सतत नियोजित किया करे। शुभ एवं अशुभ कर्मों का मूल्यांकन करता हुआ सदैव अपने आत्मा के उत्थान के अतिरिक्त सभी प्रिय वस्तुओं-पदार्थों का हमेशा के लिए परित्याग कर दे। एक मात्र आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार से युक्त हो, 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो भ्रमर का ध्यान करने वाले कृमि-कीट की भाँति एक मात्र परब्रह्म स्वरूप ॐकार का ही ध्यान करता रहे। तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर) के प्रति अहंकार एवं मोह के भाव का परित्याग करके, सर्वस्व विसर्जित करके ही परिव्राजक अपने शरीर का परित्याग करे। इस तरह से उपर्युक्त बताये हुए नियमों को जो भी संन्यासी अपनाता है, वह कृतार्थ हो जाता है। ईश्वर सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है, यह ऐसा ही उपनिषद् है॥ ९१-९२॥

॥ चतुर्थोपदेशः ॥

[संन्यास-धर्म के पालन का महत्त्व एवं संन्यास-धर्म को धारण करने की शास्त्रीय विधि]

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च। आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम्॥१॥ नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम्। वयो वृत्तं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः॥२॥ न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्। कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि॥३॥ एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः। चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति॥४॥ तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये। शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागपरिग्रहः॥५॥ अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्। प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः। प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥६॥ आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा। सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः॥७॥ प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत्। प्रेरयेद्वा तया भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन॥८॥ जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम्। श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः॥९॥ अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम्॥१०॥ अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः। उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा॥११॥ ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः। एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्॥१२॥

जो ज्ञानी मनुष्य लोक, वेद, विषय-वासनाओं के भोग एवं समस्त इन्द्रियों की अधीनता का परित्याग करके एक मात्र अपने आत्मा के उत्थान में सतत स्थिर रहता है, वही परिव्राजक (संन्यासी) श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। उत्तम परिव्राजक नाम, गोत्र आदि के वरण, देश, काल, शास्त्रीय ज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत-उपवास एवं शील आदि का प्रकाशन (प्रचार-प्रसार) कदापि न करे। (वह) किसी भी स्त्री से वार्तालाप कभी न करे। पूर्व में देखी हुई किसी भी परिचित स्त्री का अपने मन में स्मरण तक भी न करे, उन स्त्रियों की चर्चा से सदैव दूर रहे और उनके चित्र आदि को भी कभी न देखे। भाषण-सम्भाषण, स्मरण, चर्चा एवं चित्रों को देखना, स्त्रियों से सम्बन्धित इन चार तरह की बातों का जो (मनुष्य) मोह के वश हुआ आचरण करता है, निश्चय ही उसके चित्त में विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उन विकारों से उसका धर्म अवश्य ही नष्ट हो जाता है। संन्यासियों के लिए आसक्ति, क्रोध, झूठ, माया, मोह, लोभ, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यान करना, कामना, राग, संग्रह, अहंकार, परगृह निवास, चिकित्सा का व्यवसाय, ममता, धर्म के लिए साहसिक कार्य, मन्त्र प्रयोग, औषधि-वितरण, जहर देना, आशीर्वाद देना आदि ये सभी कार्य वर्जित हैं। इनका उपयोग करने वाला परिव्राजक अपने धर्म (लक्ष्य) से पदच्युत हो जाता है। मोक्ष धर्म में सतत संलग्न रहने वाला ज्ञानी संन्यासी अपने किसी हितैषी (शुभचिन्तक) के लिए भी आओ, जाओ, रुको आदि स्वागत एवं सम्मान की बात कभी न करे। स्वप्न में भी कभी किसी के द्वारा दिया हुआ दान स्वीकार न करे। दूसरे अन्य किसी को भी न दिलवाए और न खुद ही किसी को देने-लेने के लिए बाध्य करे। स्त्री-पुरुष आदि भी आत्मीय स्वजनों के शुभ अथवा अशुभ समाचारों को सुनकर-देखकर कभी भी अपने लक्ष्य से विचलित न हो, दुःख-सुख को सदैव के लिए त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, अपरिग्रह (आदि का पालन करना), उद्दण्डता के भाव से रहित होना, किसी व्यक्ति विशेष के समक्ष दीन-हीन न होना, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता,

अस्नेह (किसी से अत्यधिक लगाव न रखना), गुरु की सेवा-शुश्रूषा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियों का संयम, मन का निग्रह, सभी प्रियजनों के प्रति उदासीनता का भाव, धीरता, मृदुलता, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता , स्वल्प आहार एवं धृति (धैर्य), ये सभी मन को वश में रखने वाले परिव्राजकों (संन्यासियों) के श्रेष्ठ प्रख्यात धर्म हैं॥ १-१२॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः। तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः॥ १३॥ एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्। वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत्॥ १४॥ द्विरात्रं न वसेद्ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा। रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत्॥ १५॥ ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्माऽनिकेतनः। पर्यटेत्कीटवद्भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥१६॥ एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः । अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत्॥ १७॥ शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन्। पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम्॥ १८॥ न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोर्नैव पर्यटन् । न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च॥ १९॥ एकरात्रं वसेद्ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् । पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् । वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥ २०॥ आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्। अन्धवत्कुब्जवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत्॥ २१॥ स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः । हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२॥

द्वन्द्व आदि विकारों से रहित होकर, सात्त्विक गुणों में सर्वदा प्रतिष्ठित रहकर सर्वत्र सम दृष्टि रखने वाला तुरीयावस्था में स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् भगवान् श्रीमन्नारायण का साकार रूप है। (वह) गाँव में एक रात्रि ही निवास के लिए रहे और बड़े नगर में मात्र पाँच रात्रि ही व्यतीत करे, परन्तु यह नियम वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय के लिए ही निर्धारित है। वर्षाकाल में वह (संन्यासी) चार माह तक किसी एक निश्चित स्थान पर वास करे। संन्यासी एक गाँव में दो रात्रियाँ कभी न रहे। यदि वह रहता है, तो सम्भव है कि उसके अन्तःकरण में राग आदि विकारों का भाव आ जाय। इन विकारों से वह नरक में गमन करने वाला हो जाता है। गाँव से बाहर किसी एकान्त स्थल में मन एवं इन्द्रियों को संयमित करके निवास करे। कहीं पर भी (वह) अपने निवास के लिए आश्रम या कुटी (मठ) आदि न बनाये। जिस तरह से कृमि-कीट हमेशा यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं, उसी तरह से आठ मास तक परिव्राजक इस वसुन्धरा पर विचरण करता रहे। मात्र वर्षाकाल चार मास वह एक ही स्थल पर निवास करे। संन्यासी मात्र एक ही वस्त्र अपने शरीर पर धारण करे या फिर वस्त्ररहित होकर रहे। उस (संन्यासी) की दृष्टि यत्र-तत्र अस्थिर (चंचल) न होकर एक लक्ष्यविशेष पर ही केन्द्रित रहे। कभी भी विषयभोगों में आसक्त न होकर एवं सज्जन पुरुषों के मार्ग को कलुषित न करते हुए सतत परमात्मा के ध्यान में स्थित होकर पृथ्वी पर विचरण करे, वह अपने धर्म का निर्वाह करते हुए सदैव पवित्र स्थल पर ही निवास करे। योग-परायण परिव्राजक पृथ्वी तल पर (नीचे की ओर) दृष्टि रखते हुए ही सर्वदा विचरण करता रहे। रात्रि को, मध्याह्न में तथा दोनों सन्ध्याओं (प्रातः-सायं) के समय कभी भी इधर-उधर भ्रमण न करे और ऐसे स्थलों पर भी भ्रमण न करे, जो निर्जन, दुर्गम एवं समस्त प्राणियों के लिए बाधा पहुँचाने वाले हों। गाँव में एक रात्रि, पुरवे में दो दिन, पत्तन अर्थात् छोटे शहर-कस्बे में तीन दिन तथा नगर में पाँच रात्रियों तक परिव्राजक को ठहरना चाहिए। वर्षाकाल में किसी एक विशेष स्थल पर, जो चारों तरफ से शुद्ध जल से घिरा हुआ हो, अपना निवास बनाए। परिव्राजक समस्त भूत-प्राणियों को अपने ही सदृश देखता हुआ

अंधे, मूर्ख, बधिर, पागल तथा गूँगे की तरह से इच्छा रखता हुआ भूमि पर विचरता रहे। बहूदक एवं वन में स्थिर संन्यासियों के लिए त्रिकाल स्नान कहा गया है, लेकिन 'हंस' नामक संन्यासी के लिए दिन में मात्र एक ही बार स्नान करने का नियम है। 'हंस' नामक संन्यासी से श्रेष्ठ-उच्च स्थिति वाले 'परमहंस' नामक संन्यासी के लिए स्नान आदि का कोई विशेष नियम नहीं है॥ १३-२३॥

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता। निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम्॥ २३॥
परहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः। अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत्॥ २४॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोस्थिसंहतौ। विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥ २५॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः। क्व चाङ्गशोभा सौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ। देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ २७॥
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च। अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८॥
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्। ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम्॥ २९॥
न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः। निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥३०॥
मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः। एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१॥
लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिञ्ज्ञानमेव हि कारणम्। निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥३२॥
यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥ ३३॥
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम्। गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ३४॥
संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः। अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥ ३५॥
तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः। लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनमिति ॥३६॥

एकदण्डी संन्यासियों के पालन करने योग्य ये सात प्रकार के नियम- 'वाणी का मौन, योगासन, योग, तप-तितिक्षा, एकान्तवास, निःस्पृहभाव एवं समभाव' बतलाये गये हैं। जो परिव्राजक परमहंस की उच्च श्रेणी में पहुँच चुका है, उसके लिए स्नान आदि आवश्यक न होने के कारण केवल वह समस्त चित्त-वृत्तियों का त्याग मात्र करे। त्वचा, मांस, रक्त, नाड़ी, मेद, मज्जा एवं अस्थि सहित इस देह में रमण करने वाले पुरुषों और मल-मूत्र एवं पीप में रहने वाले कृमि-कीटकों में कितना अन्तर है? कहाँ समस्त कफ आदि घृणित पदार्थों का एकत्रित विशाल रूप यह शरीर और कहाँ अंग-अवयवों की शोभा, विशेष सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण। अज्ञानी मनुष्य रक्त, मांस, पीप, मल-मूत्र, मज्जा, नाड़ी एवं अस्थियों के सहित इस देह में यदि प्रीति करता है, तो उसे नरक की निश्चय ही प्राप्ति होगी। उच्चारण न करने योग्य स्त्रियों के गुप्ताङ्ग तथा सड़े हुए नाड़ी के घाव में विशेष कोई अन्तर न होने पर भी व्यक्ति अपने अन्तःकरण की मान्यता के भेद से प्रायः वंचित किया जाता है। आखिर स्त्रियों का वह गुप्ताङ्ग क्या है?- दो भागों में विदीर्ण हुआ चर्मखण्ड मात्र और वह भी अपान वायु के निष्क्रमण से दुर्गन्धयुक्त रहता है। जो मनुष्य सतत उसमें रमण करते रहते हैं, उन्हें नमस्कार है। इससे अधिक बड़ा दुस्साहस और क्या हो सकता है? ज्ञानी परिव्राजक के लिए न कोई कर्त्तव्य शेष रहता है और न ही चिह्न विशेष को धारण करने की कोई विशेष आवश्यकता। वह संन्यासी ममता-विहीन, भय रहित, शान्त, द्वन्द्वरहित, जाति-वर्ग आदि के अहं से रहित तथा भोजन आदि के उपार्जन की चेष्टा से रहित होता है। संन्यासी मुनि लँगोटी धारण करके ही रहे या फिर वस्त्र रहित होकर नग्नावस्था में रहता हुआ परमात्मा के चिन्तन में सदा लगा रहे। इस तरह से ज्ञानपरायण यति ब्रह्म के भाव की प्राप्ति में सक्षम होता है। परिव्राजक का

चिह्न विशेष होते हुए भी उसमें ज्ञान ही विशेष रूप से मुक्ति का माध्यम होता है। प्राणियों के लिए विभिन्न तरह के चिह्नों का धारण मोक्ष साधक ज्ञान के अभाव में व्यर्थ ही होता है। जिस (व्यक्ति) के सन्दर्भ में कोई भी यह न जानने में समर्थ हो कि वह साधु है या असाधु, अज्ञानी है या ज्ञानवान् या फिर वह सदाचारी है या दुराचारी, वास्तव में वही सच्चा ब्रह्मपरायण ब्राह्मण है। इस कारण ज्ञानी परिव्राजक चिह्न विशेष को न धारण करके अपने धर्म का ज्ञान रखते हुए सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमात्म सत्ता के ध्यान-व्रत का पालन करे। वह गूढ़ातिगूढ़ धर्म का आश्रय प्राप्त करके ऐसा आचरण करे, जिससे उस संन्यासी के आचरण के सम्बन्ध में कोई भी बात दूसरे अन्य लोगों पर परिलक्षित न हो। समस्त प्राणिजनों के लिए संदेह का विषय बना हुआ वह वर्ण-जाति एवं आश्रय से विहीन होकर अन्धे, जड़ एवं गूँगे के सदृश भूमि पर विचरण करता रहे। ऐसे श्रेष्ठ शान्तचित्त परिव्राजक का दर्शन करके देवगण भी उसके जैसी स्थिति पाने के लिए सर्वदा आतुर होते रहते हैं। जब अपनी आत्मसत्ता के सिवाय दूसरी अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व का चिह्न भी शेष न रह जाए, तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही यह ब्रह्मतत्त्व का विशेष दिव्य सन्देश है॥ २३-३६॥

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ। पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्याद्देवर्षिदिव्यमनुष्यभूत पितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरानृषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन् दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमारसनत्सुजातान्भूतश्राद्धे पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान्पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्मातृश्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीरात्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहाञ्जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेदेकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा शेषकर्मसिद्ध्यर्थं सप्तकेशान्विसृज्य- 'शेषकर्मप्रसिद्ध्यर्थं केशान्सप्ताष्ट वा द्विजः। संक्षिप्य वापयेत्पूर्वं केशश्मश्रुनखानि च' इति सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा सायंसंध्यावन्दनं निर्वर्त्य सहस्रगायत्रीं जप्त्वा ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वाहुतिविधिं समाप्यात्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वाचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा चतुर्थयामान्ते स्नात्वा तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा पुरुषसूक्तेनान्नस्य षोडशाहुतीर्हुत्वा विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णपात्रं धेनुं दत्त्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा। सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा इति। या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्। अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि। यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः स क्षय एधीत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य ध्यात्वाग्निं प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य प्रातःसंध्यामुपास्य सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा

प्राणियों को अभयदान प्रदान किया गया है, मुझमें ही सबकी प्रवृत्ति होती है।) जल का आचमन करके पूर्व दिशा की ओर पूरी अञ्जलि भरकर जल डालकर 'ॐ स्वाहा' कहकर शेष बचे हुए शिखा के बालों को उखाड़ डाले। इसके पश्चात् अगले मन्त्र ''यह यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह पूर्वकाल में प्रजापति भगवान् ब्रह्मा जी के साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है। यह सर्वश्रेष्ठ एवं आयुष्य की वृद्धि करने वाला है। यज्ञोपवीत को बाहर न रखना चाहिए। हे यज्ञमय सूत्र! आप मेरे अन्तः में प्रविष्ट होकर आत्मा के साथ निरन्तर एकाकार होकर रहें। आप परम पवित्र हैं। मुझे सुयश, बल, ज्ञान, वैराग्य एवं धारण शक्ति प्रदान करें।''(यह मन्त्र पढ़कर) यज्ञोपवीत को तोड़ डाले और जलाञ्जलि के साथ उसे हाथ में लेकर 'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'—इस मन्त्र के द्वारा जल में हवन (विसर्जन) कर दे। तदनन्तर 'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया'-इस प्रकार तीन बार इस मन्त्र को पढ़कर तीन बार जल को अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करे। इसके बाद 'ॐ भूः स्वाहा' कहता हुआ वस्त्र एवं कटि सूत्र को भी जल में समर्पित कर दे। तत्पश्चात् इस बात को याद करते हुए कि मैं समस्त कर्मों का त्यागी हूँ, दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर अपने आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए ऊपर की ओर बाँह उठाये हुए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर जाए॥ ३७॥

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेद्गुरोः सकाशात्प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति फलपत्रोदकाहारः पर्वतवनदेवतालयेषु संचरेत्संन्यस्याथ दिगम्बरः सकलसञ्चारकः सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणायामपरायणः फलरसत्वक्पत्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेदेहं स्मरंस्तारकम्॥ ३८॥

यदि पूर्व की भाँति विद्वान्-संन्यासी हो, तो वह गुरु से ॐकार एवं महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करके, मेरे से भिन्न और दूसरा कोई नहीं है, इस निश्चय दृष्टिकोण के साथ आनन्दपूर्वक भ्रमण करता रहे। पत्र, पुष्प, फल एवं जल का ही आहार ग्रहण करे। पर्वत, वन एवं देवालयों में ही विचरण करता हुआ निवास करे। संन्यास के पश्चात् यदि वह दिगम्बर (वस्त्र रहित) हो गया हो, तो वह अपने हृदय कमल में स्थित सदैव आनन्द-स्वरूप आत्मा की ही अनुभूति को भरकर, कर्मों के द्वारा अत्यधिक दूर रहने में ही लाभ मानता हुआ, प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ (फल-फूलों के) रस, छिलके, पत्ते, मूल (जड़) तथा जल के माध्यम से प्राण तत्त्व को धारण करे एवं मात्र मोक्ष की ही इच्छा रखकर पर्वत की गुफाओं में रहकर तारक मन्त्र (अथवा परब्रह्म) का सतत जप एवं चिन्तन करते हुए अपने शरीर का परित्याग कर दे॥ ३८॥

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैस्तिष्ठ तिष्ठ महाभाग दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुं पादादिमस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकालपृष्ठं सलक्षणं वैणवं दण्डमेकमाचमनपूर्वकं सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति दण्डं परिग्रहेज्जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य कौपीनाधारं कटिसूत्रमोमिति गुह्याच्छादकं कौपीनमोमिति शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणमोमिति कटिसूत्रकौपीनवस्त्रमाचमनपूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युपनिषत् ॥ ३९॥

'यदि ज्ञान को प्राप्त करने की आकांक्षा से परिव्राजक (संन्यास) धर्म का वरण किया हो, तो वह सौ कदम आगे की ओर चलने के पश्चात् आचार्य आदि गुरुजनों-ब्राह्मणों के द्वारा यों कहकर बुलाये जाने पर कि

'हे महाभाग! रुको, रुको; यह ब्रह्मदण्ड, वस्त्र एवं कमण्डलु धारण करो। तुम्हें ॐकार एवं महावाक्य का उपदेश स्वीकार (ग्रहण) करने के लिए गुरु के समीप आ जाना चाहिए। गुरु के समीप आ जाने के पश्चात् गुरुजनों एवं आचार्यों द्वारा प्रदान किये जाने पर ही दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक शाटी (चादर) तथा एक कमण्डलु अपने पास धारण करे। दण्ड बाँस का ही हो। उसकी ऊँचाई पैरों से लेकर सिर तक ही होनी चाहिए। वह खरोंच अथवा छेद से रहित, बराबर, चिकना तथा श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न हो। उस दण्ड का रंग काला न हो। इन सभी वस्तुओं को ग्रहण करने से पूर्व आचमन आदि कृत्य पूर्ण कर ले, तत्पश्चात् निर्धारित मन्त्र- 'सखा मा गोपायौजः ....तन्निवारय।' (अर्थात्-'हे दण्ड! आप मेरे सखा अर्थात् प्राण शक्ति की रक्षा करें। आप ही मेरे सखा हैं, जो इन्द्र के हाथ में वज्र के रूप में रहते हैं। आपने ही वज्ररूप से आहत करके वृत्रासुर का विनाश किया है। आप हमारे लिए कल्याण रूप बनें। हमारे अन्दर जो भी पाप हों, उनका शमन करें)' का उच्चारण करके दण्ड को हाथ में धारण करे, तदनन्तर 'जगज्जीवनं ....सर्वसौम्य' मन्त्र के साथ ॐकार का उच्चारण करते हुए कमण्डलु को धारण करे। तदुपरान्त 'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' ऐसा कहकर कटिसूत्र धारण करे। 'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्', यह कहकर कौपीन (लँगोटी) धारण करे और 'शीतवातोष्ण त्राणकरं देहैक रक्षणमोम्' इस मन्त्र का उच्चारण करने के पश्चात् ही वस्त्र धारण करे। इसके बाद पुनः आचमन करके योगपट्टाभिषिक्त हो 'मैं कृतार्थ हो गया,' ऐसा मानता हुआ अपने आश्रम के उचित सदाचार के पालन में संलग्न हो जाए। ऐसी ही है यह उपनिषद्॥ ३९॥

॥ पञ्चमोपदेशः ॥

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ भगवन्सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते। ततः पितामह उवाच। शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्थाः सन्ति। तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति। तथैव चेद्भगवन्संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति। तथेत्यङ्गीकृत्य तं पितामहेन॥ १॥

(संन्यास एवं संन्यासी के प्रकार और संन्यास धर्म तथा उसके पालन का महत्त्व)

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी से देवर्षि नारद ने पूछा- 'हे भगवन्! आप ने ही कहा है कि संन्यास आश्रम समस्त कर्मों का निवृत्तिकारक है; पुनः यह भी कहते हैं कि संन्यासी अपने आश्रमोचित आचार-विचार के पालन में संलग्न हो जाएँ। इस विषय में समाधान करने की कृपा करें। तदनन्तर ब्रह्मा जी ने कहा-'हे नारद! शरीर में प्रतिष्ठित देहधारी प्राणी की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय-ये चार अवस्थाएँ होती हैं। इन्हीं अवस्थाओं के अधीन रहकर पुरुष कर्म, ज्ञान तथा वैराग्य के प्रवर्तक होते हैं। सभी प्राणी इन्हीं चारों अवस्थाओं के अधीन रहकर जब-जब जिस अवस्था में स्थित होते हैं, उसी के अनुकूल रहते हुए आचरण करते हैं। संन्यासी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के द्वारा आवश्यक रूप से सेवनीय तथा श्रौत-स्मार्त कर्मों का ही संन्यासी अपने आश्रमोचित सदाचार के पालन में संलग्न हो जाए। ऐसा सुनकर नारद जी ने कहा-'हे भगवन्! आप अब कृपा करके यथार्थ रूप से संन्यास के कितने प्रकार हैं तथा उनके अनुष्ठान में क्या अन्तर है, बतलाएँ?॥ १॥

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत्तत्त्वतस्त्वेक एव संन्यासः अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य वैराग्यसंन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति

चातुर्विध्यमुपागतः ॥ २ ॥ तद्यथेति दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ ३ ॥ शास्त्रज्ञानात्पाप पुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतः क्रोधेर्ष्यासूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वृत्य दारेषणाधनेषणालोकेषणात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ ४॥ क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्यभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्यसंन्यासी। विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥ ७॥

ब्रह्माजी ने कहा- 'हे नारद! संन्यास के भेद से आचरण के भेद में क्या अन्तर पड़ता है, यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ; श्रवण करो। वास्तव में संन्यास एक ही प्रकार का है; किन्तु ज्ञानरहित होने के कारण, असमर्थतावश तथा कर्मलोप के कारण तीन भेदों में बँटकर वैराग्य-संन्यास, ज्ञान-संन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास तथा कर्म-संन्यास' इन चार भेदों को प्राप्त होता है। जो मन में दूषित भावनाओं का अभाव होने पर विषय वासनाओं में आसक्त न होकर पूर्व जन्म के पुण्य कर्म के प्रभाव से संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह वैराग्य संन्यासी कहलाता है। जो मनुष्य शास्त्रों की जानकारी प्राप्त करने से तथा पापरूप और पुण्यरूप लोकों का अनुभव तथा श्रवण करने के कारण प्रपञ्चादि से स्वभावतः विरक्त हो गया है; क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दृष्टिदोष), अहंकार तथा अभिमान ही जिसके प्रत्यक्ष स्वरूप हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत् को अपने मन से रहित करके, स्त्री कामना, धन कामना तथा लोक में प्रसिद्धि की कामना आदि त्रिविध रूपों वाली दैहिक-वासना, शास्त्र-वासना एवं लोक-वासना का परित्याग कर देता है और जैसे सामान्यजन वमन किए हुए भोजन को त्याज्य समझते हैं, वैसे ही इन सभी तरह के भोगों को त्याज्य मानते हुए जो व्यक्ति साधन-चतुष्टय से युक्त हो, वही संन्यास ग्रहण करता है, वही ज्ञान संन्यासी कहलाने का अधिकारी होता है। जो मनुष्य क्रमानुसार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि का) अभ्यास करता हुआ, सभी कुछ अनुभव में लाकर के ज्ञान तथा वैराग्य के द्वारा निरन्तर अपने ही स्वरूप-मात्र का ध्यान करता हुआ जातरूपधर (बालकवत् निश्छल) हो जाता है, वही ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी कहलाता है। जो ब्रह्मचर्य धर्म को पूर्ण करके गृहस्थ होकर एवं गृहस्थ से वानप्रस्थ-धर्म में प्रविष्ट हो करके पूर्ण वैराग्य न होने पर भी आश्रम-क्रमानुसार सबसे बाद में जो संन्यास ग्रहण करता है, वही कर्म-संन्यासी है अथवा ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यास ग्रहण कर संन्यास-धर्म से जो जातरूपधर हो जाता है, वही वैराग्य संन्यासी कहलाता है। विद्वान् संन्यासी ही ज्ञान संन्यासी है और विविदिषा संन्यासी ही कर्म संन्यासी बतलाया गया है॥

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः। अनिमित्तः क्रमसंन्यासः। आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः सनिमित्त-संन्यासः। दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य॥ ८-९ ॥ हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ १०॥

"कर्म संन्यास के भी दो भेद होते हैं-प्रथम निमित्त संन्यास तथा द्वितीय अनिमित्त संन्यास। आतुर-संन्यास ही निमित्त संन्यास कहा जाता है तथा क्रम-संन्यास को अनिमित्त संन्यास कहते हैं। रोगादि के कारण

जिसमें समस्त कर्म लुप्त हो जाते हैं, अर्थात् जिसमें नित्य-नैमित्तिक आदि कोई भी कर्म निर्मित नहीं हो सकते एवं जो प्राण के परित्याग करने के समय ग्रहण किया जाता है, ऐसा वह संन्यास ही निमित्त संन्यास कहा गया है, इसे ही आतुर-संन्यास भी कहते हैं। शरीर के बलवान् होने पर जो विचार द्वारा यह दृढ़-निश्चय करके कि प्रादुर्भूत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुएँ नाशवान् हैं और इसी तरह से शरीर को भी त्याज्य मान लेता है "वह परमात्मा आकाश में विचरण करने वाला हंस (सूर्य) है, वही अन्तरिक्ष में स्वेच्छापूर्वक विचरण करने वाला वसु है। वही होता तथा यज्ञ-वेदी पर प्रतिष्ठित रहने वाला अग्नि रूप है। सद्गृहस्थों के भवनों में आतिथ्यरूप में आश्रय प्राप्त करने वाला भी वही है। पुरुषों में उसकी ही सत्ता सर्वश्रेष्ठ है। अत्यधिक श्रेष्ठ एवं अनुपम वस्तुओं में उसका ही अस्तित्व है। शाश्वत सत्य में उसी का निवास है। आकाश में वही सत्य रूप है। वही जल से प्रादुर्भूत होता है। वही गौ अर्थात् पृथ्वी एवं वाणी से उत्पन्न होने वाला है। सत्य से भी उसी का प्राकट्य होता है। वही पर्वतों से उत्पन्न होकर इन सभी से भिन्न एवं अति विलक्षण एक मात्र महान् सत्य है"॥ ८-१०॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्याथो क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमित्त-संन्यासः॥ ११॥ संन्यासः षड्विधो भवति। कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति॥ १२॥ कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः। बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टक-वलाशी॥ १३॥ हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्ड-तुण्डधारी॥ १४॥ परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी॥१५॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र के भावार्थानुसार) जो केवल परब्रह्म परमात्मा को ही सत्य-स्वरूप जानता है तथा ब्रह्म से अलग और सभी कुछ नाशवान् है, ऐसा दृढ़-निश्चय करता हुआ क्रमशः संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होता है। उसका यही संन्यास अनिमित्त संन्यास कहलाता है। संन्यासी के छह भेद इस प्रकार कहे गये हैं-१ कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस, ४. परमहंस, ५. तुरीयातीत, तथा ६. अवधूत। कुटीचक संन्यासी शिखा एवं सूत्र (यज्ञोपवीत) से सम्पन्न होता है। वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन एवं कन्था (कथरी) को धारण करता है। माता, पिता तथा गुरु की सेवा में निरन्तर लगा रहता है। पात्र, खनती (मिट्टी खोदने वाला) तथा झोली आदि को सतत अपने साथ रखता है और मन्त्रादि की साधना में सदैव तत्परतापूर्वक लगा रहता है। एक ही स्थान पर भोजन करता है, श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र (ऊर्ध्वमुख तिलक) धारण करता तथा त्रिदण्ड को भी धारण किये रहता हैं। बहूदक भी कुटीचक की तरह से शिखा (चोटी) यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन (लँगोटी) और कन्था (कथरी) को धारण करता है। मस्तक में त्रिपुण्ड्र धारण किये रहता है। सभी के प्रति समान भाव रखने वाला होता है और मधुकरी वृत्ति से विभिन्न गृहों से अन्न प्राप्त करके मात्र आठ ग्रास भोजन ही ग्रहण करता है। हंस नाम वाला संन्यासी जटा-जूट धारण करने वाला होता है, त्रिपुण्ड्र एवं ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है, अनिश्चित गृहों से मधुकरी (भिक्षा) लाकर भोजन करने वाला तथा कौपीन खण्ड एवं तुम्बी धारण करने वाला होता है। परमहंस नामक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत को धारण नहीं करता है। यह संन्यासी पाँच घरों से अन्न (भोजन) प्राप्त करके केवल एक रात ही भोजन करता है अर्थात् दूसरे दिन दूसरे अन्य पाँच घरों से अन्न प्राप्त करता है। एक कौपीन, एक ओढ़ने का वस्त्र तथा एक बाँस का दण्ड अपने पास में रखता है। यह संन्यासी या

तो एक चादर अपने शरीर में सदैव ओढ़कर रहता है अथवा सम्पूर्ण अंगों में भस्म धारण किये रहता है, परमहंस सर्वत्यागी होता है॥ ११-१५॥

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी। अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः॥ १६॥ अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्व-जगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः॥ १७॥

तुरीयातीत संन्यासी गौ के सदृश ईश्वरेच्छा से जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, उसी में निर्वाह कर लेता है। यह संन्यासी कभी किसी से कुछ नहीं माँगता। यह प्रायः फलाहारी ही होता है और यदि अन्नाहार करता है, तो केवल तीन घरों से ही अन्न लेता है। शरीर के अतिरिक्त उसके पास और कुछ भी नहीं होता। वह दिगम्बर (नग्न) रहते हुए अपनी इन्द्रियों को मृतकों की भाँति चेष्टारहित बना लेता है। अवधूत नामक संन्यासी किसी भी तरह के बन्धन को नहीं मानता। कलंक युक्त और पथ-भ्रष्ट मनुष्यों को त्यागकर बिना-किसी वर्ण-भेद के अजगर वृत्ति से अन्न प्राप्त करते हुए अपने आत्मा के स्वरूप के चिन्तन में सतत संलग्न रहता है॥ १६-१७॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः॥ १८॥

आतुर मनुष्य संन्यास स्वीकार करने के बाद जीवित रहे, तो उसे क्रम-संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए॥

कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः॥ १९॥

कुटीचक, बहूदक तथा हंस नामक इन तीन तरह के संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के क्रमानुसार ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का नियम है॥ १९॥

परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः। सार्ववर्णैकभैक्षा-टनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेन्न कन्थावेशो नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किंचित्प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि बृहच्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा पाण्यादिना संभाषणं नान्यस्माद्वा विशेषेण न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणं न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः॥ २०॥

परमहंस, तुरीयातीत एवं अवधूत संन्यासियों के लिए कटिसूत्र, कौपीन दण्ड, कमण्डलु एवं वस्त्रादि धारण करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वे जातरूपधर रहकर समस्त वर्ण-जाति के घरों से भिक्षा याचना के लिए स्वतन्त्र हैं। संन्यास धर्म स्वीकार करने के समय 'मैंने जितना भी कुछ अध्ययन किया है, वह अपने आप में पर्याप्त है' इस तरह का दृढ़-निश्चय जब तक न हो जाए, तब तक अध्ययन करते रहना चाहिए। तत्पश्चात् कौपीन, कटिसूत्र आदि को जल में विसर्जित कर देना चाहिए। यदि वह दिगम्बर (वस्त्र से रहित) हो, तो फिर वह कन्था (कथरी) आदि अपने पास न रखे, पठन-पाठन न करे, प्रवचन, कथा-स्तुति आदि श्रवण न करे तथा उसे व्याख्यान आदि भी नहीं देना चाहिए। तर्कशास्त्र एवं शब्दशास्त्र आदि कुछ भी पढ़ने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। उसे मात्र प्रणव रूपी ॐकार का ही जप करना चाहिए। वाणी का व्यर्थ में अपव्यय करना वर्जित है। संकेत मात्र से बात करना भी निषिद्ध है। वह शूद्र, पदच्युत एवं स्त्री से बात बिल्कुल न करे। रजस्वला स्त्री से तो भूलकर भी बात न करे। विशेष उत्सव समारोह-पूजा आदि देखना, तीर्थ यात्रा करना या देवताओं का पूजन-अर्चन आदि भी यति के लिए आवश्यक नहीं है॥ २०॥

पुनर्यतिविशेषः। कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा बहूदकस्यासंक्लृप्तं माधूकरं हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकवलं परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रं फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्यावधूतस्याजगरवृत्तिः सार्ववर्णिकेषु यतिर्नैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत्तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठो यो न स्वरूपज्ञः। स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठो हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानादिरूढो न क्रयविक्रयपरो न किंचिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी न यतेः किंचित्कर्तव्यमस्त्यस्ति चेत्सांकर्यम्। तस्मान्मननादौ संन्यासिनामधिकारः॥ २१॥

अब संन्यासियों के फिर से कुछ विशेष नियमोपनियम वर्णित किये जाते हैं। कुटीचक संन्यासी के लिए एक ही स्थान विशेष पर भिक्षा स्वीकार करने की विधि है। बहूदक संन्यासी के लिए निश्चयरहित घरों से मधुकरी (भिक्षा) प्राप्त करने का नियम है। हंस संन्यासी के लिए आठ गृहों से मात्र आठ ग्रास अन्न लेकर भोजन ग्रहण करने का विधान है। परमहंस के लिए पाँच गृहों से अन्न (भोजन) प्राप्त करने का विधान है। हाथ ही उसका पात्र है, इस कारण उसे 'करपात्री' भी कहते हैं। तुरीयातीत के लिए गोमुख-वृत्ति से फलाहार का ही विधान है। यानी जिस प्रकार गाय को जो कुछ भी भोजन कराया जाय, वह मुँह खोलकर ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार दैव इच्छा से जो भी कुछ फल-फूल प्राप्त हो जाए, उसे ही ले लेना चाहिए। अवधूत संन्यासी के लिए समस्त वर्ण-जाति के लोगों के यहाँ से अजगर-वृत्ति के अनुसार अन्न-प्राप्त करने का विधान है। यति (संन्यासी) किसी गृहस्थ के घर एक रात्रि भी निवास न करे। किसी को भी नमन-वंदन न करे। तुरीयातीत एवं अवधूत इन दोनों संन्यासियों में अवस्थानुसार न कोई बड़ा होता है और न ही कोई छोटा होता है। जिसे अपने स्वरूप का ही बोध नहीं है, वह अवस्था में बड़ा होते हुए भी छोटा ही कहा जायेगा। संन्यासी को कभी भी तैरकर नदी पार नहीं करनी चाहिए। वृक्षों पर भी नहीं चढ़ना चाहिए। सवारी पर न चले। क्रय-विक्रय आदि कुछ भी न करे। किसी भी वस्तु की अदला-बदली न करे। दम्भी (अहंकारी) एवं असत्यवादी कदापि न बने। यति के लिए कुछ भी करना कर्त्तव्य नहीं है। संन्यासियों का चिन्तन-मनन में ही समग्र रूप से पूर्ण अधिकार है॥ २१॥

आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ बहूदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपोलोकः परमहंसस्य सत्यलोकस्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत्॥२२ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम्॥ २३॥

आतुर एवं कुटीचक नाम वाले संन्यासी पृथिवी लोक और भुवः लोक को प्राप्त करते हैं। बहूदक संन्यासी स्वर्ग को अर्थात् स्वः लोक को तथा हंस-संन्यासी को तपोलोक की प्राप्ति होती है। परमहंस संन्यासी को सत्यलोक की प्राप्ति होती है। तुरीयातीत एवं अवधूत संन्यासी अपनी अन्तरात्मा में एकमात्र कैवल्य प्राप्ति का ही अधिकारी होता है। वह भ्रमर का ध्यान करने वाले कृमि-कीटकों के सदृश सतत अपने स्वरूप का अनुसंधान करते रहने के कारण आत्मस्वरूप ही हो जाता है। व्यक्ति मृत्यु के समय जिस-जिस भाव का ध्यान करते हुए अपने शरीर का परित्याग करना है, वह उसी-उसी भाव को प्राप्त करता है, यह बात व्यर्थ नहीं है,यह श्रुति-सम्मत उपदेश है॥ २२-२३॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्तदाचारवशात्तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः

कार्यभेदात्कारणभेदस्तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम्। वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति । तत्तद्वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४॥

अतः इस तरह से समझकर संन्यासी को चाहिए कि वह अपने आत्मस्वरूप के चिन्तन के अतिरिक्त और किसी भी आचार में संलग्न न रहे। अलग-अलग आचारों का अनुष्ठान संकल्प लेने से तदनुकूल लोकों की प्राप्ति होती है; किन्तु ज्ञान-वैराग्य से युक्त संन्यासी की अपने आप में अर्थात् स्वयं में ही मुक्ति प्राप्त होती है। अन्य और किसी भी आचार में आसक्त न होना ही उसका अपना विशिष्ट आचार है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों स्थितियों में वह एक रूप होता है। जाग्रत् अवस्था में वही विश्वरूप, स्वप्नावस्था में तैजस-सम्पन्न तथा सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ-स्वरूप कहलाता है। काल-भेद से उन-उन अवस्थाओं के स्वामी में भेद होता है, कार्यभेद से ही कारण भेद की जानकारी प्राप्त होती है। जाग्रदादि अवस्थाओं में चौदह करणों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण) की जो बाह्य वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान कारण एक ही है अन्तः की वृत्तियाँ। अन्तः की चार वृत्तियाँ-मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार बतलायी गई हैं। उन-उन वृत्तियों के व्यापार-भेद से अलग-अलग आचरण भेद होते हैं॥ २४॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥ २५ ॥ तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि तादृगवस्था भवति। स जीवन्मुक्त इति वदन्ति। सर्वश्रुत्यर्थप्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति। भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः। यद्यपेक्षास्ति तदनुरूपो भवति। स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैरुष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थो न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छवालंकारवच्चर्मकारवदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरो न प्रणवकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवदतः सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद्भिक्षुः। बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति॥ २६ ॥

जाग्रत् अवस्था तथा उसके नियन्ता विश्व की स्थिति नेत्र के अन्दर निहित है। स्वप्न एवं उसके अधिष्ठाता तैजस का कण्ठ में निवास है। सुषुप्ति तथा उसके स्वामी प्राज्ञ की स्थिति हृदय क्षेत्र में है और तुरीय तथा उसके स्वामी परमेश्वर का निवास ब्रह्मरन्ध्र (सिर) में कहा गया है। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का वर्णन करते हुए तुरीयरूप में जिसकी स्थिति कही गई है, वह तुरीय स्वरूप अविनाशी परमात्मतत्त्व मैं ही हूँ, ऐसा जानकर जो जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त की स्थिति में रहता है; जो-जो सुनी तथा जो-जो दृष्टिपात की हुई वस्तुएँ हैं, वे सब मानों अपरिचित सी हैं। इस तरह से उनकी ओर चिन्तन न करते हुए, जो स्थित रहता है, उसकी स्वप्नावस्था में भी वैसी ही स्थिति बनी रहती है अर्थात् वह स्वप्न में उपलब्ध पदार्थों को भी स्वीकार नहीं करता है। इस तरह का पुरुष जीवनमुक्त है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। समस्त श्रुतियों का मन्तव्य भी यही है कि उसी की मुक्ति होती है। भिक्षु इस लोक एवं परलोक के विषयों की भी आकांक्षा नहीं रखता है; किन्तु यदि उसकी उसके प्रति आकांक्षा हो, तो वह तदनुरूप ही हो जायेगा। अपने स्वरूप के अनुसंधान को त्यागकर दूसरे शास्त्रों का अभ्यास उसके लिए उसी तरह से बेकार है, जिस तरह से ऊँट की पीठ पर लदा हुआ केसर का भार। उस यति की योगशास्त्र में रुचि नहीं रहनी चाहिए। उसको सांख्य-शास्त्र का अभ्यास एवं मन्त्र-तन्त्र का व्यापार भी उचित नहीं है। यदि संन्यासी की रुचि अन्यान्य शास्त्रों में होती है, तो वह सभी कुछ उसके लिए

मृतक को धारण कराये हुए आभूषणों के सदृश हैं। चर्मकार की तरह से सभी से अत्यधिक दूर रहकर कर्म-आचरण एवं विद्या से भी दूर रहना चाहिए। ॐकार का भी ऊँचे स्वर से कीर्तन नहीं करना चाहिए; क्योंकि व्यक्ति जो-जो कार्य करता है, उन-उन सबका फल भी उसे भुगतना पड़ता है। इस कारण सभी को अंडी (एरण्ड) के तेल के फेन की तरह से साररहित जानकर छोड़ देना चाहिए और परमात्मा के ध्यान में रत रहकर मनोमय दण्ड तथा हाथ रूपी पात्रों को ग्रहण करने वाले दिगम्बर (वस्त्ररहित) संन्यासी का दर्शन करके उसके आदर्श को अपने समक्ष रखकर संन्यासी सर्वत्र भ्रमण करे। वह बालक, मतवाला तथा पिशाचों की तरह से जीवन अथवा मृत्यु की इच्छा न करे। आज्ञापालक भृत्य (नौकर) की तरह से परिव्राजक को मात्र काल की ही प्रतीक्षा करते रहना चाहिए अर्थात् समय के अनुसार चलना चाहिए।॥ २५-२६ ॥

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः। भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥२७॥ न दण्डधारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः।॥ २८॥ ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञितान्॥ २९॥ प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः। तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥ ३०॥ अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्। परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया॥ ३१॥ स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः। ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम्॥ ३२॥ अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥ ३३॥ अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः। अभिपूजितलाभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते॥ ३४॥

जो संन्यासी सहनशील, ज्ञान, वैराग्य तथा शम-दम आदि श्रेष्ठ गुणों से रहित रहते हुए भिक्षा मात्र से ही जीवनयापन करता है, वह संन्यासी संन्यासवृत्ति का हनन करने वाला कहा गया है। केवल दण्ड ग्रहण करने, सिर मुँड़ाने, विभिन्न तरह के वेश बनाने तथा प्रदर्शनात्मक दृष्टि से किसी भी तरह के आचरण करने से मुक्ति नहीं मिलती। जिस यति ने ज्ञान-स्वरूप दण्ड को ग्रहण किया है, वही एकदण्डी होता है। जिस संन्यासी ने लकड़ी का दण्ड तो धारण कर लिया है; लेकिन मन में सभी तरह की इच्छाओं को स्थान दे रखा है और जो सर्वथा ज्ञान से रहित है, वह संन्यासी महारौरव आदि नाम वाले भयानक नरक को प्राप्त होता है। महान् ऋषि-मनीषियों ने प्रतिष्ठा को शूकरी के मल (विष्ठा) के सदृश बतलाया है। इस कारण से संन्यासी प्रतिष्ठा को छोड़कर कृमि-कीटकों की तरह से यत्र-तत्र भ्रमण करता रहे। दिगम्बर (वस्त्र रहित) संन्यासी बिना याचना के जो कुछ प्राप्त हो जाए, वही भोजन करे तथा वैसे ही वस्त्रादि से अपने तन को ढककर रहे। वह अन्य दूसरों के कहने से वस्त्रों को धारण करे तथा दूसरों की ही इच्छा से स्नानादि सम्पन्न करे। जो संन्यासी स्वप्नावस्था में भी जाग्रदवस्था के सदृश ही विशेष रूप से सतर्क होकर के वैसी ही चेष्टा निरन्तर करता है,वही ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ माना गया है। भिक्षा आदि न प्राप्त होने पर विषाद नहीं करना चाहिए तथा भिक्षा के प्राप्त हो जाने पर अत्यधिक हर्षान्वित न हो जाए। भिक्षा उतनी ही स्वीकार करे, जितने से प्राणों की रक्षा हो सके। रूप, रस और शब्दादि विषयों की आसक्ति से सदैव दूर रहे। सम्मान मिलने को वह सभी तरह से घृणा की दृष्टि से ही देखे। सम्मान का लाभ प्राप्त करने वाला संन्यासी मुक्ति प्राप्त करने पर भी आबद्ध हो जाता है॥ २७-३४॥

[ऋषि ने आन्तरिक स्तर पर वैराग्य भाव न होने पर भी संन्यासी जैसा वेश बनाने की प्रवृत्ति को नर्क का मार्ग कहा है। दण्ड आत्मानुशासन का प्रतीक है। यदि वह न हो, तो उसे धारण करना व्यर्थ है। प्रतिष्ठा- सम्मान प्राप्त करने की

इच्छा को लोकैषणा कहा जाता है। कामासक्ति और अर्थासक्ति से छुटकारा पा लेने पर भी यथाशक्ति पीछा नहीं छोड़ती। सम्मान की आकांक्षा के कारण सम्मान-सुविधा देने वालों के प्रति भी आसक्ति होने लगती है। आसक्ति ही बन्धन है, जो मुक्ति में बाधक है।]

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। काले प्रशस्ते वर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद्‌गृहान्॥३५॥
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत्। तिष्ठन्भुञ्ज्याच्चरन्भुञ्ज्यान्मध्येनाचमनं तथा॥ ३६॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ ३७॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः। तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ३८॥
अनिन्द्यं वै व्रजेद्‌गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्। अनावृते विशेद्द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत्॥ ३९॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः। वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ४०॥

जब चूल्हे की अग्नि बुझ जाए अर्थात् भोजन बनकर तैयार हो जाए और घर के सभी सदस्य भोजन प्राप्त कर लें, तब ऐसे ही उपयुक्त समय में संन्यासी श्रेष्ठ वर्ण वाले गृहस्वामियों के घर भिक्षार्थ गमन करे। भिक्षा का उद्देश्य केवल प्राण यात्रा का निर्वाह ही होना चाहिए। हाथों को ही पात्र रूप निर्मित करके भ्रमण करने वाला करपात्री संन्यासी बार-बार भिक्षा की याचना न करे। एक ही बार में जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसे खड़े-खड़े ही ग्रहण कर ले या फिर चलते-चलते ही भोजन ग्रहण कर ले। हाथ का भोजन जब तक पूर्ण न हो जाए, बीच में जल कदापि ग्रहण न करे। संन्यासी को समुद्र के सदृश मर्यादित होकर के रहना चाहिए। उन श्रेष्ठ महाभाग का आशय महान् होता है। वे महान् रहकर सूर्य के सदृश अपने नियमों का उल्लंघन कभी नहीं करते। जिस समय संन्यासी मुनि गौ की तरह मुख से भोजन स्वीकार करने लगता है अर्थात् यदि कोई भी व्यक्ति उस यति के मुख में कुछ डाल दे, तब ही वह भोजन ग्रहण करता है। उस समय समस्त प्राणि-समुदाय के प्रति उसका समान भाव हो जाता है तथा वह अमृतत्व अर्थात् मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। जो घर निन्दनीय न हो, वहीं भिक्षा ग्रहण हेतु जाये। निन्दित गृहों का परित्याग कर दे। जिस भवन का दरवाजा खुला हो, उसी में प्रवेश करे। जिसका दरवाजा बन्द हो, उस घर में उसे नहीं जाना चाहिए। धूल आदि से आच्छादित निर्जन भवनों में उसे आश्रय प्राप्त करना चाहिए। सभी प्रकार प्रिय एवं अप्रिय का परित्याग कर देना चाहिए॥ ३५-४०॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः। यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ४१॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः। कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥ ४३॥
निर्मानश्चानहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः। नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा॥ ४४॥
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः। काले प्राप्ते भवेद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे॥ ४५॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्। अज्ञातचर्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्। अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम्॥ ४६॥

जहाँ सूर्यास्त हो जाए, संन्यासी को वहीं पर शयन करना चाहिए। अपने पास न तो कोई अग्नि ही रखे तथा न ही अपना कोई घर ही निर्माण करे। ईश्वरेच्छा से जो भी कुछ मिल जाए, उसी पर आश्रित होकर जीवन-यापन करे। मन तथा इन्द्रियों को सदैव अपने अंकुश में रखे। जो 'यति' अपने घर का परित्याग करके, वन का आश्रय प्राप्त करता है, अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करता है तथा काल की प्रतीक्षा करता हुआ निरन्तर विचरण करता है, ऐसा वह संन्यासी निश्चय ही ब्रह्म भाव को प्राप्त करने का

अधिकारी होता है। जो परिव्राजक समस्त प्राणियों को अभयदान करके विचरण करता है, उसे भी किसी प्राणी से कहीं पर भी भय नहीं होता; जो मान और अहंकार का परित्याग करके द्वन्द्व जनित विकार से रहित हो जाता है; उसके मन के सभी संशय मिट जाते हैं; वह न तो किसी प्राणी पर क्रोध करता है, न किसी से ईर्ष्या-द्वेष आदि रखता है तथा न वाणी से कभी मिथ्यावादन ही करता है। जो पुण्य स्थलों में सतत विचरण करता रहता है, किसी भी भूत (प्राणी) की हिंसा नहीं करता तथा समय मिलने पर भिक्षा-मात्र से ही अपना जीवन-निर्वाह पूर्ण करता है; ऐसा यति ब्रह्म के भाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है। उसे वानप्रस्थ तथा गृहस्थों से कभी भी संसर्ग नहीं रखना चाहिए। वह इस बात का ध्यान रखे कि उसकी जीवनचर्या अन्य दूसरों पर परिलक्षित न हो। संन्यासी में कभी भी प्रसन्नता का आवेश नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार कृमि-कीटक सतत विचरण करते रहते हैं, उसी प्रकार संन्यासी भी सूर्य के द्वारा दिखलाए हुए मार्ग से पृथिवी पर विचरण करे अर्थात् रात्रि में विचरण न करे॥ ४१-४६ ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत्॥४७॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्। अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत्॥ ४८॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्। न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित्॥ ४९॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत्। कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥ ५०॥
न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥५१॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः । आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥५२॥
बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्। वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥ ५३॥
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा। ताडितः संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः॥
विष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकल्पितः। श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥ ५५॥
संमाननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः। जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति॥ ५६॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्। जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥ ५७॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः। युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत्॥ ५८॥
कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये। तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राड् भयवर्जितः॥ ५९॥

'कामनाओं, हिंसा एवं लोक संग्रह से संयुक्त जो-जो भी कर्म हैं, उन समस्त कर्मों को परिव्राजक न तो खुद करे और न ही दूसरे अन्य लोगों से ही कराये। असत् शास्त्रों के प्रति कभी भी आसक्त न हो। वह किसी भी तरह का जीविका-उपार्जन का साधनभूत कर्म सम्पन्न करके जीवनयापन कदापि न करे। अनावश्यक बात कभी न करे तथा तर्क-वितर्क आदि भी करना त्याग दे। वादी एवं प्रतिवादी में से किसी का भी पक्ष ग्रहण न करे। शिष्यों का भी संग्रह नहीं करना चाहिए। विभिन्न तरह के अधिकाधिक ग्रंथों का अध्ययन न करे तथा अपने पक्ष की सफलता के लिए अपने मन की व्याख्या का प्रयोग न करे। भिन्न-भिन्न आयोजनों-उत्सवों आदि के द्वारा अपनी ख्याति न फैलाए। अपने आश्रमादि का कोई चिह्न विशेष न लगाए। दूसरे लोगों के समक्ष पागल अथवा बालकों के सदृश अज्ञानी बना रहे। ज्ञानवान् होकर के भी गूँगे की भाँति मौन धारण किये रहे। दूसरे अन्य लोग जिस प्रकार का भाव रखें, उनके सामने वैसा ही अपना स्वरूप बनाकर रहे। अच्छे-बुरे विचारों को अपने मन में न आने दे। मूक होकर विचरण करे तथा किसी भी तरह का कोई कर्म न करे। अपनी आत्मा में ही सदैव रमण करता रहे। सर्वत्र जड़वत् शान्त होकर रहे। अपनी इन्द्रियों को संयमित रखे। वासना का

परित्याग कर दे तथा भूमि पर अकेला ही भ्रमण करे। किसी को अपना साथी-सहचर आदि न बनाये। सभी को सम्यक् दृष्टि से देखे। बालक की तरह चेष्टा करे। समस्त कार्यों में पारंगत होते हुए भी अज्ञानियों की तरह रहे। वेदों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी गौ की तरह से (सहज) रहे। सदैव उन्मत्तों की तरह से बात करे। दुष्टजनों के द्वारा किये गये अपमान, झूठे आरोप, लांछन आदि को शान्त मन से सहन कर ले। यदि वे दुष्टजन प्रताड़ित करते हैं, बाँधकर के रखते हैं या क्रियाकलाप में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, तब भी विचलित न होकर शान्त ही बने रहना चाहिए। अज्ञानी लोग यदि शरीर के ऊपर थूक दें, मल-मूत्र त्याग करें अथवा अन्य किसी भी तरह का कष्ट दें, तो उसे भी सहन कर लेना चाहिए। संकट के उत्पन्न होने पर अपना ही उद्धार करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे अन्य लोगों के द्वारा प्राप्त हुआ आदर-सम्मान तप के उपार्जन में हानि प्रदान करने वाला है; किन्तु अपमानित हुआ परिव्राजक बहुत शीघ्र ही अपने लक्ष्य (योगसिद्धि) को प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठयोगी परिव्राजक श्रेष्ठ जनों के धर्म को कलङ्कित न करते हुए दृढ़-निश्चय होकर ऐसा आचरण करे, जिससे कि सामान्य जन उसका अपमान ही करें तथा उसके सम्पर्क में न आयें। परिव्राजक योगारूढ़ हो मन, वचन, कर्म एवं शरीर द्वारा जरायुज तथा अण्डज आदि किसी भी प्राणी के साथ द्रोह न करे एवं सभी तरह की आसक्तियों का परित्याग कर दे। काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह आदि जितने भी प्रकार के दोष हैं, उनका त्याग करके परिव्राजक भयरहित हो जाता है॥ ४७-५९ ॥

भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः। सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥ ६०॥ काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः। ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा । भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित्॥ ६१॥ चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावन्नित्यं चरेत्सुधीः। ततः प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित्॥ ६२॥ बहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्हि जनार्दनम्। सर्वत्र विचरेन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः॥ ६३॥ समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयेत्। निर्वैरेण समं पश्यन्द्विजगोऽश्वमृगादिषु॥ ६४॥ भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम्। चिन्मयं परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन्॥ ६५॥ ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीत्युपनिषत्॥ ६६॥

परिव्राजक का निश्चय किया हुआ धर्म—भिक्षा की वृत्ति द्वारा अर्जित भोज्य-पदार्थ ग्रहण करना, मौन व्रत का अवलम्बन ग्रहण करना, तपस्या में निरन्तर लगे रहना, सद्ज्ञान के अनुसंधान में रत रहना तथा मन में सदैव विरक्ति भाव उत्पन्न होना है। गेरुआ वस्त्र धारण कर योगी निरन्तर ध्यान-योग में संलग्न रहे। गाँव के बाहर, वृक्ष की जड़ के समीप में या किसी देव मन्दिर में वास करे। नित्य वह भिक्षा द्वारा अर्जित भोज्य-सामग्री से ही अपना निर्वाह करे। किसी एक ही सद्गृहस्थ के घर का अन्न-भोज्य पदार्थ तो उसे कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए। श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य को प्रतिदिन अपने आश्रमानुसार श्रेष्ठ आचरण का पालन करना चाहिए तथा यह श्रेष्ठ आचरण तब तक करता रहे, जब-तक कि अन्तःकरण पूरी तरह से पवित्र न हो जाए। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर वह योगी संन्यास-धर्म ग्रहण कर यत्र-तत्र इच्छानुसार भ्रमण करे। संन्यासी बाह्य-जगत् एवं अन्तर्जगत् सभी जगह एकमात्र श्रीमन्नारायण का ही दर्शन करते हुए वायु की तरह से पाप-सम्पर्क से अलग होकर मौन रहते हुए सर्वत्र विचरण करे। उसे सुख-दुःख में समान रूप से रहना चाहिए। अपने मन में सदैव क्षमा-भाव बनाये रखे। हाथ पर जो भी कुछ भोज्य-पदार्थ आ जाए, उसे ही ग्रहण कर लेना चाहिए। कहीं पर

भी किसी से बैर न रखते हुए ब्राह्मण, गौ, अश्व एवं मृग आदि समस्त जीवों में समान दृष्टि रखे। मन ही मन सभी परमपिता सर्वव्यापी परमात्मस्वरूप का ही ध्यान करते हुए मैं ही 'परमानन्द स्वरूप परब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। 'यति' परिव्राजक इस तरह से समझकर मनोमय ज्ञानरूपी दण्ड धारण करके समस्त आशाओं से मुक्त हो जाता है तथा वस्त्र रहित होकर सदैव मन, वचन, कर्म एवं शरीर के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का परित्याग करके, मायाजनित प्रपञ्चों की ओर से मुख मोड़कर भ्रमर कीटक न्याय के अनुसार(ब्रह्म में निमग्न) रहकर मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसा ही यह उपनिषद् है॥ ६०-६६॥

['भ्रमरकीटक-न्याय' का उल्लेख ध्यान-धारणा के क्रम में बहुधा आता है। भृंगी नामक कीट किसी कीट को पकड़कर अपने बिल में ले जाता है। वहाँ वह उसे भ्रमर गुंजार से इतना प्रभावित कर लेता है कि वह कीट भी भृंगी बन जाता है। यति को सतत ब्रह्म चिन्तन में लीन रहकर स्वयं को ब्रह्मरूप अनुभव करना चाहिए। यह इस उक्ति का भाव है।]

॥ षष्ठोपदेशः ॥

(तुरीयातीत पद एवं उसकी प्राप्ति के उपाय तथा परिव्राजक की जीवनचर्या)

अथ नारदः पितामहमुवाच। भगवन् तदभ्यासवशात् भ्रमरकीटन्यायवत्तदभ्यासः कथमिति। तमाह पितामहः। सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत्॥ १॥

तत्पश्चात् पितामह ब्रह्मा जी से देवर्षि नारद ने पूछा- ''हे पितामह! आपने यह कहा है कि भ्रमर-कीट-न्याय द्वारा अपने स्वरूप को जान लेने के पश्चात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, परन्तु उस स्वरूप को जान लेने का अभ्यास कैसे किया जाये?'' ऐसा श्रवण कर पितामह ब्रह्माजी ने कहा- ''हे नारद! जीवन में सत्य को धारण करते हुए ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा इस शरीर की आसक्ति का परित्याग करे, शेष बचे हुए एक अतिश्रेष्ठ शरीर में प्रतिष्ठित होकर रहे॥ १॥''

ज्ञानं शरीरं वैराग्यं जीवनं विद्धि शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं बुद्धिः कला पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवा अवस्था पञ्चमहाभूतानि कर्म भक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीति। एवमपि नावमतिपङ्के कर्णधार इव यन्तेव गजं स्वबुद्ध्या वशीकृत्य स्वव्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्यवहरेन्नान्यत्किंचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण। जीवन्मुक्तो वसेत्कृतकृत्यो भवति। न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत्किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। तुरीयावस्थां प्राप्य तुरीयातीतत्वं व्रजेत्॥२॥

ज्ञान ही वह अवशिष्ट शरीर है। वैराग्य ही उस देह का प्राण है, शम एवं दम ही दो नेत्र हैं। पूर्णरूपेण शुद्ध मन ही मुख है, बुद्धि कला है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण एवं अव्यक्त प्रकृति-यही पच्चीस तत्त्व उस अवशिष्ट शरीर के अंग-अवयव हैं। उस शरीर के पंचमहाभूत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत ये पाँच अवस्थायें हैं। इस शरीर की शाखाएँ अर्थात् भुजाएँ कर्म, भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य कही गयी हैं अथवा ये चारों अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ही चार भुजाएँ हैं। पूर्व में कहे हुए चौदह करण पङ्क में विद्यमान जीर्ण खम्भों के सदृश हैं। इस तरह की स्थिति में भी, जिस प्रकार कीचड़ में पड़ी हुई नाव को भी श्रेष्ठ नाविक ठीक रास्ते पर ढकेल कर ला ही देता है, वैसे ही संसार रूपी सागर के कीचड़ में फँसी हुई इस जीवन रूपी नौका को श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा अपने वश में रख कर ठीक उसी प्रकार पार लगायें, जैसे महावत हाथी को अपने अंकुश में रखकर सही मार्ग से ले जाता है। ज्ञानस्वरूप उस श्रेष्ठ शरीर

में प्रतिष्ठित हुआ पुरुष 'मेरे सिवाय जो भी है, वह सभी कुछ काल्पनिक होने के कारण नाशवान् है', ऐसा समझकर सदैव 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म ही हूँ) का उच्चारण करे। अपनी अन्तरात्मा के अलावा दूसरी अन्य कोई भी वस्तु ज्ञात नहीं है, इस प्रकार से दृढ़ निश्चय करके जीवन्मुक्त होकर विचरण करे। इस तरह से जीवन-यापन करने वाला परिव्राजक कृतकृत्य हो जाता है। अपने व्यावहारिक जगत् में भी इस प्रकार न कहे कि " मैं ब्रह्म नहीं हूँ।" वरन् निरन्तर इस धारणा को पुष्टि प्रदान करता रहे कि "मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ।" इन तीन अवस्थाओं-जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति को क्रमश: पार करके तुरीयावस्था में पहुँचकर परिव्राजक तुरीयातीत परमात्मा के पद में प्रविष्ट होता है॥ २॥

दिवा जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमित्येकावस्थायां चतस्रोऽवस्थास्त्वेकैक - करणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापारश्चक्षुरादीनाम्। चक्षुषो रूपग्रहणं श्रोत्रयोः शब्दग्रहणं जिह्वाया रसास्वादनं घ्राणस्य गन्धग्रहणं वचसो वाग्व्यापारः पाणेरादानं पादयोः संचारः पायोरुत्सर्ग उपस्थस्यानन्दग्रहणं त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहणबुद्धिः बुद्ध्या बुद्ध्यति चित्तेन चेतयत्यहंकारेणाहंकरोति। विसृज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः संचरति। प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिरीशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा॥ ३॥

दिन जाग्रत्-अवस्था है, रात्रि स्वप्नावस्था है तथा सुषुप्ति अर्द्धरात्रि स्वरूप है। ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयावस्था में विद्यमान हैं। तुरीयावस्था तुरीयातीत में प्रतिष्ठित है। इस तरह से एक ही अवस्था में चार अवस्थायें निहित हैं। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार-इन चार अन्त:करणों में से हर एक के अधीन जो नेत्र आदि चौदह करण आगे स्पष्ट किये गये हैं, उनके पृथक्-पृथक् कार्य बतलाये जाते हैं। चक्षुओं का कार्य रूप को आकृष्ट करना है, श्रोत्रों का कार्य-क्षेत्र शब्द की उपलब्धि अर्जित करना है, जिह्वा का कार्य रसास्वादन लेने का है, गन्ध की अनुभूति नासिका का कार्य है, वाक्शक्ति का कार्य बोलना है। हाथों का कार्य किसी वस्तु को प्राप्त करना, उठाना व पहुँचाना है, पैरों का कार्य निरन्तर चलते रहना है, गुदा का काम मल विसर्जन है तथा विषय जनित आनन्दानुभव जननेन्द्रिय का काम है। स्पर्शानुभव त्वचा का कार्य है। इनके आश्रित विषय-ग्रहण की बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा जानकारी प्राप्त करता है। चित्त से चैतन्यता की प्राप्ति करता है। अहंकार से अहंता का अनुभव होता है। इन सभी (चौदह) भावों की विशेषरूप से सृष्टि करके इनके समूह रूपी देह में आत्माभिमान करने के कारण तुरीय-चेतनतत्त्व ही जीवरूप में हो जाता है। जिस प्रकार गृह में अभिमानपूर्वक व्यक्ति गृहस्थ बन जाता है, उसी प्रकार देह में अभिमानपूर्वक तुरीय चेतन जीव होकर विचरण करता है। शरीर के अन्त:करण में अष्टपंखुड़ियों से युक्त हृदय रूपी कमल है, उस हृदय में प्रतिष्ठित रहने वाला जीव जब उक्त कमल के पूर्ववर्त्ती दल में विचरण करता है, तब उसमें पुण्यरूपी अनुष्ठान की प्रवृत्ति होती है। आग्नेय कोण वाले दल में स्थित होने पर वह पुरुष आलस्य एवं निद्रा से ग्रस्त हो जाता है। दक्षिण दिशा के दल में प्रतिष्ठित होने पर उस व्यक्ति में क्रूरता का भाव आ जाता है। नैर्ऋत्य कोण का आश्रय प्राप्त करने पर उस पुरुष में सद्बुद्धि जाग्रत् हो जाती है। पश्चिम दिशा के दल में प्रतिष्ठित होने पर वह क्रीड़ा में अत्यधिक आसक्त हो जाता है। वायव्य कोण के दल में गमन करने पर उस पुरुष की बुद्धि श्रेष्ठ मार्ग में गमन करने लगती है। उत्तर दिशा के दल में प्रविष्ट होने पर उसे शान्ति की अनुभूति होती है। ईशानकोण में स्थिति होने पर विशेष ज्ञान की प्राप्ति

होती है। उस कमल की कर्णिका में विद्यमान रहने पर उस पुरुष के अन्त: में वैराग्य-भाव की जागृति होती है तथा केसरों में प्रविष्ट होने पर उस पुरुष श्रेष्ठ का मन आत्मा के ध्यान में लगता है। इस तरह से जिसमें चैतन्यतत्त्व ही मुख के सदृश प्रमुख है, ऐसे उस आत्मस्वरूप को समझ कर ज्ञानवान् मनुष्य (परिव्राजक) तुरीयातीत ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है॥ ३॥

जीवदवस्थां प्रथमं जाग्रद्द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम्। विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत्। नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्ते सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्थाः न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य। स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते। उत तटस्थो द्रष्टा तटस्थो न द्रष्टा द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः जीवेतरो न स्पृष्टः। जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न। जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानःशरीराभिमानेन जीवत्वम्। जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद्व्यवधानोऽस्ति। व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिः - श्वासव्यपदेशेनानुसन्धानं करोति। एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति। स एव ब्रह्मेत्युच्यते॥ ४॥

जीव की चार अवस्थाओं में से पहली जाग्रत् अवस्था, दूसरी स्वप्नावस्था, तीसरी सुषुप्ति तथा चौथी तुरीयावस्था है। इन चारों अवस्थाओं से परे तुरीयातीत अवस्था है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तटस्थ के भेद से चार तरह का प्रतीत होता है। इस कारण एक ही परमात्मदेव सभी के साक्षी स्वरूप एवं सत्त्वादि गुणों से परे माने गये हैं तथा वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ, ऐसा ही कहे। तुरीयातीत अवस्था से युक्त पुरुष को उपर्युक्त चारों अवस्थाओं के अनुभव से रहित मानना चाहिए। अन्यथा जिस तरह से जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चार अवस्थायें होती हैं, स्वप्न में स्वप्नादि चार अवस्थाएँ होती हैं, सुषुप्ति में सुषुप्ति आदि चार अवस्थाएँ होती हैं तथा तुरीय में तुरीयादि चार अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही तुरीयातीत में भी इन चारों अवस्थाओं के होने की स्थिति हो सकती है; किन्तु यथार्थ में तुरीयातीत के निर्गुण होने से उसमें अवस्था भेद संभव नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ब्रह्मरूप हैं, इन सभी के साथ समस्त अवस्थाओं में एक ही साक्षी रहता है; किन्तु तटस्थ ईश्वर द्रष्टा नहीं, क्योंकि तटस्थ मायाधारी ईश्वर के रूप में होता है, किन्तु उसका कोई द्रष्टा नहीं है, अत: तटस्थ ही द्रष्टा नहीं हो सकता। इस कारण वह द्रष्टा नहीं है, ऐसा ही मानना चाहिए। तब जीव को ही द्रष्टा मान लिया जा सकता है। नहीं, जीव द्रष्टा नहीं हो सकता है; क्योंकि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं अहंकार आदि से युक्त है। जीव के अतिरिक्त जो तुरीयातीत परमात्मसत्ता है, वह ऊपर कहे हुए दोषों के सम्पर्क से परे है। यदि यह कहें कि जीव भी स्वरूपानुसार शुद्ध चैतन्य ही है, इस कारण वह भी कर्तृत्व आदि के संस्पर्श से परे है, तो यह भी सही नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें जीवत्व का अहं होने से इस देह रूपी क्षेत्र में उसका अभिमान है तथा शरीर के अहं (अभिमान) के कारण ही उसमें जीवत्व निहित है। परमात्मतत्त्व से जीव तत्त्व का व्यवधान ठीक उसी तरह से है, जिस तरह महाकाश से घटाकाश का है। व्यवधान के कारण ही हंसरूपी जीव उच्छ्वास एवं नि:श्वास के माध्यम से सदैव 'सोऽहम्' नामक मंत्र का चिन्तन करते हुए निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप का अनुसंधान करता है। ऐसा समझकर शरीर में आत्माभिमान का परित्याग कर दे। जो 'यति' शरीराभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म कहलाता है॥ ४॥

ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम् । आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥
अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम्। त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥

गुरु के हित में सतत संलग्न रहते हुए जिज्ञासु पुरुष को गुरु-आश्रम में एक वर्ष तक निवास करना चाहिए। आश्रम के नियमोपनियमों के पालन में कभी भी आलस्य-प्रमादादि नहीं करना चाहिए एवं ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि यमों के पालन में भी सदैव सतर्क रहना चाहिए। इस तरह से साधना करते हुए गुरु की विशेष कृपा से वर्ष के अन्त में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानयोग को प्राप्त करके धर्मानुकूल सदाचार पूर्वक ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमों का विधिवत् सेवन करता हुआ परिव्राजक-संन्यासी पृथ्वी पर विचरण करे। आसक्ति का परित्याग कर क्रोध को अपने वश में कर ले। 'योगी' को स्वल्प आहार ग्रहण करने वाला और वाक् आदि इन्द्रियों पर संयम रखने वाला होना चाहिए॥ ३०-३३ ॥

द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा। निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥ ३४ ॥
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति। तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्॥ ३५ ॥
संभाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा । नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्॥ ३६ ॥
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम्। नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद॥ ३७ ॥
नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च। धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया ॥३८ ॥
संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः। कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगी वनस्पतीन्॥ ३९ ॥
न नाशयेद्बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः। नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥ ४० ॥
अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद। नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः॥ ४१ ॥
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च। चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥४२ ॥
इत्युपनिषत्।

निरारम्भ (कामनापूर्वक किसी कार्य का प्रारंभ न करने वाले) गृहस्थ एवं कर्मरत (प्रव्रज्या में सतत सचेष्ट) परिव्राजक इन दोनों की शोभा तभी तक होती है, जब तक कि वे अपने आश्रम धर्म के अनुकूल श्रेष्ठ आचरण करें। मनुष्य मदिरा-पान करने से मतवाला होता है; किन्तु रूपवान् सुन्दर तरुणी नारी के दर्शन-मात्र से ही उन्मत्त हो उठता है। इस कारण दर्शन मात्र से विष जैसा प्रभाव डालने वाली नारी का परिव्राजक दूर से ही परित्याग कर दे। नारियों के साथ वार्तालाप करना, उनके समक्ष संदेश भेजना, नृत्य-गायन आदि करना, हास-परिहास करना एवं छिद्रान्वेषण करना आदि दुर्गुण परिव्राजक को त्याग देना चाहिए। हे नारद! संन्यासी के लिए [नैमित्तिक] स्नान, देवपूजन, जप, यज्ञ-यागादि कर्म-नहीं करने हैं। उसके लिए तो श्राद्ध-तर्पण, तीर्थों की यात्रा करना, व्रत-उपवास, धर्म-अधर्म और लोकाचार सम्बन्धी कर्म भी आवश्यक नहीं है। योगारूढ़ संन्यासी सभी कर्मों का परित्याग कर दे तथा समस्त लोकाचारों से भी उसे दूर रहना चाहिए। विद्वान् 'योगी' अपनी बुद्धि एवं सामर्थ्य को परमार्थ में लगाकर कृमि, कीट-पतङ्गों तथा वनस्पति आदि प्राणियों को कभी नष्ट न करे। संन्यासी सर्वदा अन्तर्मुखी रहे, बाह्य एवं अन्तः से सदैव अपने को स्वच्छ रखे। अपने अन्तःकरण को पूरी तरह से शान्त रखकर बुद्धि को आत्मानन्द से परिपूर्ण किये रहे। हे नारद! तुम अन्तः से सभी तरह की आसक्तियों का त्याग करके इस जगत् में विचरण करते रहो। 'यति' को एकाकी किसी ऐसे प्रदेश में भ्रमण नहीं करना चाहिए, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। संन्यासी को स्तुति एवं नमस्कार आदि से दूर रहना चाहिए। श्राद्ध एवं तर्पण से योगी सदा दूर रहे। किसी सुनसान घर में या पर्वत की गुफा में निवास करे। परिव्राजक को सदैव स्वच्छन्दरूप में सर्वत्र विचरण करना चाहिए। यही उपनिषद् है॥ ३४-४२ ॥

॥ सप्तमोपदेशः ॥

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्टं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य विरक्तः सन्यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरन्नैकत्र निवसेद्भिक्षुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमननिरोधग्रहणं न कुर्याद्धस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षारोहणमपि न देवोत्सवदर्शनं कुर्यान्नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्नाज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धिलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य स्वदेशमुत्सृज्य ज्ञातचरदेशं विहाय विस्मृतपदार्थं पुनः प्राप्तहर्ष इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्राप्तबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो वसेत् ॥ अयत्नेन प्राप्तमाहरन्ब्रह्मप्रणवध्यानानुसन्धानपरो भूत्वा सर्वकर्मनिर्मुक्तः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा त्रिगुणातीतः षडूर्मिरहितः षड्भावविकारशून्यः सत्यवाक् शुचिरद्रोही ग्रामैकरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे पञ्चरात्रं तीर्थे पञ्चरात्रमनिकेतः स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभिर्नगरं चतुर्भिर्ग्राममित्येकश्चरेत्। भिक्षुश्चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यादविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसंपत्तिमनुभूय मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्यालोच्य सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत् ॥ १ ॥

संन्यासी के सामान्य नियम तथा कुटीचक आदि के विशेष नियम-

इसके पश्चात् देवर्षि नारद जी ने पितामह ब्रह्मा जी से यह प्रश्न किया-हे ब्रह्मन्! संन्यासी के नियम किस प्रकार के हैं? पितामह ब्रह्मा जी ने नारद जी के इस प्रश्न को अपने समक्ष रखते हुए उत्तर देना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा-हे नारद! संन्यासी विरक्त होकर मात्र चार मासीय वर्षा के दिनों में किसी एक निश्चित क्षेत्र में निवास करे और शेष आठ मास में वह अकेले ही भ्रमण करे। किसी एक स्थान विशेष पर ज्यादा दिनों तक निवास न करे, क्योंकि ऐसा करने से 'यति' के पतित होने का भय रहता है। भ्रमर की तरह से कभी एक स्थल पर न रुके। यदि कोई अन्यत्र जाने का विरोध करे, तो परिव्राजक उस विरोध को न माने। अपने हाथों अर्थात् अपने आप ही नदी तैरकर के पार न हो। वृक्षों पर भी उसे नहीं चढ़ना चाहिए। देवों के निमित्त होने वाले आयोजनों को नहीं देखना चाहिए। सदैव एक ही घर का भोजन न करे और आत्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य देवगणों का पूजन-अर्चन भी न करे। आत्मा के सिवाय अन्य सभी का परित्याग कर, मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा प्राप्त भोजन करे। शरीर को कमजोर बनाकर रखे। देह में मेद (चर्बी) की वृद्धि बिल्कुल न होने दे। घी को रुधिर के समान जानकर परित्याग कर दे। एक ही परिजन के घर के अन्न को मांसवत् जानकर छोड़ देना चाहिए। इत्र अथवा चन्दन आदि के लेप को अपवित्र मल-मूत्रादि के लेप की तरह से मान करके छोड़ देना चाहिए। क्षार (साबुन, सोडा आदि के मुख्य घटक) आदि को चाण्डाल की तरह से जानकर अस्पृश्य माने। कौपीन आदि के अलावा अन्य वस्त्रों को उच्छिष्ट पात्रों के सदृश समझकर छोड़ दे। अभ्यङ्ग (तेल आदि की

मालिश करने) को स्त्री के आलिङ्गन की तरह मानकर सदैव उससे दूर रहे। मित्रों के आनन्ददायक सङ्ग को मूत्र के सदृश त्याज्य जाने। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपने मन में उत्पन्न होने वाली स्पृहा (इच्छा शक्ति) को अपने लिए गोमांस के सदृश वर्जनीय मानना चाहिए। चिर परिचित एवं प्रिय स्थल को चाण्डाल का बगीचा समझना चाहिए। सुवर्ण को कालकूट के समान, सभास्थल को श्मशान भूमि की भाँति, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान तथा एक जगह के अन्न (भोजन) को मृत व्यक्ति के लिए दिए हुए पिण्ड के समान जानकर त्याग देना चाहिए। शरीर को आत्मा से अलग देखना तथा प्रवृत्तियों में फँसना भी छोड़ देना चाहिए। अपने देश को छोड़कर अपने परिचित स्थलों से सदैव दूर बने रहने का प्रयास करना चाहिए। अपने आनन्दमय स्वरूप का सतत ध्यान करते हुए, इस तरह की प्रसन्नता की अनुभूति करे, जैसे कि कोई विस्मृत हुई कीमती वस्तु पुन: मिल गयी हो। जिस स्थान पर जाने से अपने शरीर में ही आत्माभिमान जाग जाये, जहाँ अपनी देह से सम्बन्ध रखने वाले लोग निवास करते हों, उस स्थान को हमेशा के लिए भूल जाना चाहिए। अपनी इस देह को भी मृत व्यक्ति की तरह से त्याज्य मानते हुए उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार जेलखाने से मुक्त हुआ मनुष्य (चोर) शर्म के कारण अपनी जन्मस्थली पर न जाकर अन्यत्र कहीं दूर जाकर निवास करने लगता है, उसी प्रकार परिव्राजक जहाँ उसके पुत्र और माता-पिता आदि समस्त गुरुजन निवास करते हों, उस स्थल को छोड़कर वहाँ से सदैव के लिए दूर ही अपना निवास-स्थल बनाना चाहिए। बिना प्रयास के ही जो भी कुछ प्राप्त हो जाये, वही आहार (भोजन) ग्रहण कर लेना चाहिए। निरन्तर ब्रह्ममय स्वरूप ॐकार के ध्यान में संलग्न होकर अन्य दूसरे सभी तरह के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य आदि को जलाकर सत, रज, तम आदि तीन गुणों से परे हो जाना चाहिए। भूख-प्यास आदि छ: प्रकार की ऊर्मियों का प्रभाव योगी में नहीं होना चाहिए। जन्म, वृद्धि आदि षड्भाव विकारों से भी अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। सर्वदा सत्यमय वाणी बोले, शरीर एवं मन से पूर्ण पवित्र रहे और किसी भी मनुष्य आदि से द्रोह न करे। ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, किसी धार्मिक पुण्य स्थली में पाँच रात्रि एवं तीर्थ में भी पाँच रात्रि से ज्यादा नहीं ठहरना चाहिए। परिव्राजक कहीं पर भी अपने लिए घर न बनाये। बुद्धि को सदैव परमात्मा के ध्यान में लगाये रखे। कभी व किसी भी स्थिति में असत्य वाणी न बोले। पर्वत की गुफाओं में अपना निवास बनाये। सदैव एकाकी ही भ्रमण करे। परिव्राजक (चौमासे के समय) वर्षाकालीन चार मास में दो व्यक्तियों को अपने साथ रख सकता है। तीन के साथ रहने पर तो गाँव जैसा ही हो जाता है और चार आदमियों के साथ उस स्थल पर नगर जैसा ही बस जाता है। अत: परिव्राजक एकाकी ही रहे। अपने चौदह करणों (इन्द्रियों) को अलग-अलग विषयों के ध्यान का अवकाश नहीं देना चाहिए एवं अपने से भिन्न अन्य किसी को मान्यता न दे। किसी भी अन्य दूसरे पदार्थ की तनिक भी भावना न करते हुए सभी का अवलोकन अपनी आत्मा के अनुरूप ही करे। अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ जीवन से मुक्ति प्राप्त कर ले। अपने स्वरूप का विवेक हो जाने पर भी जब तक मृत्यु न आ जाये, तब तक अपने स्वरूप का ही ध्यान करता रहे। परिव्राजक का यह परमदायित्व है कि वह अपनी अन्तरात्मा का सम्यक् रूप से चिन्तन करते हुए कालयापन करे॥ १॥

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य मानसस्नानं तुरीयातीतस्य भस्मस्नानमवधूतस्य वायव्यस्नानम्॥ २॥

कुटीचक-संन्यासी के लिए तीनों समय (प्रात:, मध्याह्न एवं सायंकाल) का स्नान करने का नियम है। बहूदक-संन्यासी प्रात: काल एवं सायंकाल (दो संध्याओं) में स्नान करे। हंस नामक संन्यासी के लिए दिन में केवल एक ही बार स्नान करने का विधान बतलाया गया है। परमहंस नाम वाले संन्यासी को केवल मानसिक स्नान ही करना चाहिए। तुरीयातीत के लिए भस्म-स्नान कहा गया है अर्थात् वह सम्पूर्ण देह में केवल भस्म

(विभूति) ही धारण कर ले और अवधूत नामक संन्यासी के लिए वायव्य स्नान अर्थात् वह सम्पूर्ण देह में वायु के संस्पर्श से ही पवित्र हो जाता है। उसको जल-स्नान की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती है॥ २॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं हंसस्य भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रमवधूतस्य न किंचित्। तुरीयातीतावधूतयोः॥ ३॥

कुटीचक संन्यासी को मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिए। बहूदक को त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए, हंस नामक संन्यासी ऊर्ध्वपुण्ड्र अथवा त्रिपुण्ड्र एवं परमहंस नाम वाले संन्यासी को केवल भस्म (विभूति) धारण करनी चाहिए। तुरीयातीत के लिए तिलक पुण्ड्र का नियम बतलाया गया है और अवधूत संन्यासी के लिए किसी भी तरह का विशेष चिह्न आवश्यक नहीं है॥ ३॥

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य न क्षौरं हंसस्य परमहंसस्य च न क्षौरम्। अस्ति चेदयनक्षौरं तुरीयातीतावधूतयोर्न क्षौरम्॥ ४॥

कुटीचक संन्यासी को दो-दो मास में क्षौर-कर्म कराना चाहिए। बहूदक को चार-चार मास में क्षौर कर्म करना चाहिए। हंस एवं परमहंस अपनी इच्छानुसार यदि चाहें, तो छः-छः महीने के अन्तराल से क्षौर कर्म करवा सकते हैं। अवधूत तथा तुरीयातीत परिव्राजक के लिए क्षौर-कर्म कराना आवश्यक नहीं है॥ ४॥

कुटीचकस्यैकान्नं माधूकरं बहूदकस्य हंसपरमहंसयोः करपात्रं तुरीयातीतस्य गोमुखं अवधूतस्याजगरवृत्तिः॥ ५॥

कुटीचक के लिए एक ही जगह के अन्न (भोजन) ग्रहण करने का विधान है। बहूदक-संन्यासी को मधुकरी-वृत्ति से अर्थात् भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न ही ग्रहण करना चाहिए। हंस एवं परमहंस के लिए हाथ ही भोजन ग्रहण करने का पात्र होता है। ये संन्यासी कर-पात्री कहलाते हैं। उस (करपात्री) संन्यासी के हाथ में जो कुछ भी आ जाए, उतना ही खा कर संतोष करना चाहिए। तुरीयातीत को गो-मुख वृत्ति अर्थात् उस संन्यासी के मुख में अन्य दूसरा कोई मुनष्य जो कुछ भी फल-फूल दे, उसे गाय के सदृश मुँह फैलाकर ले लेना चाहिए। अवधूत संन्यासी के लिए अजगर वृत्ति अर्थात् ईश्वरेच्छा अथवा दूसरे अन्य लोगों की इच्छानुसार जो कुछ भी मिल जाये, उसी पर संतोष कर लेना चाहिए॥ ५॥

शाटीद्वयं कुटीचकस्य बहूदकस्यैकशाटी हंसस्य खण्डं दिगम्बरं परमहंसस्य एककौपीनं वा तुरीयातीतावधूतयोर्जातरूपधरत्वं हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम्॥ ६॥

कुटीचक को अपने पास दो वस्त्र रखने का नियम है, बहूदक अपने पास केवल एक चादर रखे तथा हंस नामक संन्यासी को वस्त्र का एक टुकड़ा रखने का विधान है। परमहंस दिगम्बर (वस्त्ररहित) रहे या फिर एक कौपीन मात्र ही स्वीकार करे। तुरीयातीत और अवधूत को तो वस्त्ररहित ही रहने का नियम है। हंस एवं परमहंस के लिए मृग-चर्म धारण करने का नियम है, अन्य संन्यासियों के लिए मृगचर्म अनिवार्य नहीं है॥ ६॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनं हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनं तुरीयातीतावधूतयोः सोहंभावना॥ ७॥

कुटीचक एवं बहूदक-परिव्राजकों के लिए प्रत्यक्षरूप में देवताओं के पूजन का नियम है। हंस एवं परमहंस के लिए मानसिक पूजन का अधिकार है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए केवल 'सोऽहमस्मि' अर्थात् वह ब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए॥ ७॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारो हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि। कुटीचकबहूदक-हंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः॥ ८॥

कुटीचक और बहूदक-योगियों को मंत्रादि के जप का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। हंस एवं परमहंस नामक योगी एकमात्र ध्यान के ही अधिकारी हैं। तुरीयातीत और अवधूत को अपने स्वरूपानुसंधान के अतिरिक्त अन्य किसी भी तरह के कार्य का अधिकार नहीं है। इन तीनों तुरीयातीत, अवधूत एवं परमहंस को ही एक मात्र 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्यों के उपदेश का अधिकार है। कुटीचक, बहूदक एवं हंस नामक संन्यासी दूसरे अन्य लोगों को उपदेश प्रदान करने के अधिकारी नहीं हैं॥ ८॥

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः। तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्म प्रणवः ॥९

कुटीचक एवं बहूदक को मानुष प्रणव अर्थात् साधारण-बाह्य प्रणव (ॐ कार) का ध्यान करने का नियम है। हंस और परमहंस को आन्तरिक (मानसिक) प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधूत नामक संन्यासियों को ब्रह्मस्वरूप प्रणव का ध्यान करने का नियम बतलाया गया है॥ ९॥

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोर्मननं तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः। सर्वेषामात्मानुसन्धानं विधिरिति॥ १०॥

कुटीचक एवं बहूदक को श्रवण करने का अधिकार प्राप्त है। हंस एवं परमहंस का मुख्य साधन चिन्तन-मनन और तुरीयातीत एवं अवधूत का मुख्य साधन निदिध्यासन करना है। इन सभी का एकमात्र लक्ष्य अपनी आत्मा का अनुसंधान करना ही होता है॥ १०॥

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्य-प्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिरित्युपनिषत्॥ ११॥

इस प्रकार सभी को मुक्ति के लिए सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए और सांसारिक विषय-वासनाओं से मुक्ति दिलाने वाले तारक मंत्र (ॐ कार) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करते रहना चाहिए। उसे अधिकार विशेष के आधार पर निरन्तर कैवल्य प्राप्ति के उपाय के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए॥ ११॥

॥ अष्टमोपदेशः ॥

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ संसारतारकं प्रसन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधो ब्रह्मप्रणवः। अन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणवः। उभयात्मको विराट्प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥१॥

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी से देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'हे भगवन्! जन्म-मरण के चक्र से पार लगाने वाला कौन सा मंत्र है? मैं आपकी शरण में आया हूँ, कृपया बताने का अनुग्रह करें।' भगवान् ब्रह्मा जी ने 'तथास्तु' कहकर उपदेश देना शुरू किया। 'हे वत्स नारद! 'ॐकार' ही तारक मंत्र है, यही ब्रह्म का स्वरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनों तरह से ही ॐकार का ध्यान करना चाहिए। देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'पितामह! व्यष्टि और समष्टि का अभिप्राय क्या है? कृपया बताने का अनुग्रह करें। तदनन्तर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा- 'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणव के अंग-अवयव हैं। एक ही ब्रह्म-प्रणव के तीन भेद माने जाते हैं- प्रथम संहार-प्रणव, द्वितीय सृष्टि-प्रणव और तृतीय उभयात्मक-प्रणव। उभयात्मक प्रणव के दो रूप अन्तः एवं बाह्य हैं। इस कारण उसे उभयात्मक कहते हैं। अन्तः प्रणव का स्वरूप अगले मंत्र में कहेंगे। उपर्युक्त

ब्रह्म-प्रणव का एक भेद व्यावहारिक प्रणव है। व्यष्टि प्रणव का द्वितीय नाम बाह्य-प्रणव है। इन चारों के अतिरिक्त एक आर्ष-प्रणव भी है। वही विराट् प्रणव के नाम से बतलाया गया है। संहार प्रणव ब्रह्मादि से प्रतिष्ठित होने के कारण ही ब्रह्म-प्रणव कहा गया है। स्थूल आदि भेद से परिपूर्ण अकारादि चार मात्राएँ जिस ॐकार का स्वरूप हैं, उसी मात्रा चतुष्टयात्मक प्रणव को अर्द्धमात्रा प्रणव भी कहा जाता है॥ १॥

ओमिति ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि। स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्चेति। तत्र चत्वार अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः। सगुणो विराट्प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवो यथाप्लुतो विराट्प्लुत प्लुतःसंहारः॥ २॥

अब अन्तः प्रणव के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यह प्रणव (ॐ) ही ब्रह्म है। 'इस अन्तः प्रणव को ही एकाक्षर रूप मंत्र जानो।' यह आठ भागों में विभाजित है। इस ॐकार (प्रणव) के अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, कला और शक्ति ही आठ भेदों के रूप हैं। यह प्रणव मात्र चार-चार मात्राओं से ही संयुक्त नहीं है, उसकी एक-एक मात्रा भी कई-कई भेदों से युक्त है। केवल अकार ही दस सहस्र अंग-अवयवों से परिपूर्ण है। उकार के एक सहस्र तथा मकार के एक सौ अंग हैं। ऐसे ही अर्ध मात्रा-प्रणव भी अनन्त अंग-अवयवों से युक्त है। विराट् प्रणव सगुण एवं संहार प्रणव निर्गुण माना गया है। सृष्टि प्रणव सगुण-निर्गुण दोनों से ही सम्बन्धित है। विराट् प्रणव अकारादि चार मात्राओं की समष्टि वाला कहा गया है और संहार प्रणव प्लुत-प्लुत अर्थात् चतुर्थ मात्राओं से युक्त अर्धमात्रा स्वरूप है॥ २॥

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयार्धमात्रा चतुर्थी नादः पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी पुनश्चतुःषष्टिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमासाद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः॥ ३॥

विराट् प्रणव सोलह मात्राओं से संयुक्त होता है। इस प्रणव को ३६ प्रकार के तत्त्वों से भी परे कहा गया है। 'अ' कार इस ॐ कार की प्रथम मात्रा है। 'उकार' द्वितीय, मकार तृतीय, चतुर्थ अर्द्धमात्रा, पञ्चम नाद, षष्ठ बिन्दु, सप्तम कला, अष्टम कलातीता, नवम शांति, दशम शान्त्यतीता, एकादश उन्मनी, द्वादश मनोन्मनी, त्रयोदश पुरी (बैखरी), चतुर्दश मध्यमा, पश्यन्ती पञ्चदश एवं षोडश परा मात्रा है। यह सोलह मात्राओं से संयुक्त ब्रह्म-प्रणव ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा एवं अविकल्प रूप चतुर्विध तुरीय से भिन्न न होने के कारण फिर से चौसठ मात्राओं से युक्त हो जाता है। यह प्रणव ही प्रकृति एवं पुरुष रूप से पुनः दो भेदों को पाकर एक सौ अट्ठाईस मात्राओं से युक्त स्वरूप को ग्रहण करता है। इस तरह एक होकर भी ब्रह्म-प्रणव दृष्टि-भेद से अनेकविध साकार एवं निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

सर्वाधारः परंज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः। सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः॥ ४॥
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः। सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः॥ ५॥
भूतं भव्यं भविष्यद्यत्त्रिकालोदितमव्ययम्। तदप्योंकारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम्॥ ६॥
तमेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम्। तदेकममृतमजरमनुभूय तथोमिति॥ ७॥
सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति। त्रिशरीरं तमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु॥ ८॥

(ॐकार रूप प्रणव को परब्रह्म स्वरूप कहा गया है। वह अविनाशी ब्रह्म कैसा है? इसका वर्णन करते हैं।) ब्रह्म-ॐकार रूप अविनाशी परमात्मतत्त्व सबका आश्रयभूत एवं परम प्रकाशस्वरूप है। यह ॐ कार ही समस्त प्राणियों का ईश्वर एवं सर्वत्र व्यापक है। समस्त देवगण इन्हीं के प्रतिरूप हैं। सभी तरह के प्रपञ्चों का आधार प्रकृति भी इन्हीं के गर्भ में है। ये प्रणव ही सर्वाक्षर (वर्णमाला के पचास वर्ण एवं उनके माध्यम से बोध्य अर्थ आदि) स्वरूप हैं। ये कालरूप, सभी शास्त्रों से युक्त एवं कल्याण स्वरूप हैं। समस्त श्रुतियों में श्रेष्ठतत्त्व पुरुषोत्तमरूप से इनका ही निरन्तर अनुसंधान करना चाहिए। सभी उपनिषदों के वाच्यार्थ यही हैं। यही सर्व कालरूप हैं तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् युक्त त्रिकालात्मक जगत् और तीनों भुवनों से भी ऊपर जो शाश्वत तत्त्व है, वह सभी कुछ इस ओंकार का ही प्रतिरूप है। इस ओंकार को ही मुक्ति प्रदान करने वाला मानना चाहिए। इस ॐ कार का अर्थ भूत अविनाशी परब्रह्म ही आत्मारूप है। उस ब्रह्म का अन्तरात्मा के साथ प्रणव के वाच्यार्थरूप से एकीभाव करके वही एकमात्र (अद्वितीय, अनुपम), मृत्युरहित एवं अमृतरूप अविनाशी तत्त्व 'ॐ' है, ऐसा अनुभव करना चाहिए। इस अनुभव के बाद उस परमात्मारूप ॐ कार में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों वाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च का आरोप करे (अर्थात् एक मात्र परमात्मा ही सत्यरूप है, ऐसा अनुभव करना चाहिए)। इसी प्रकार आत्मा एवं परमात्मा में दृढ़ एकभाव प्रतिष्ठित करके आत्मस्वरूप परब्रह्म का ध्यान करते हुए सतत अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ४-८॥

परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात्। स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्म भुक् परम्॥९
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः। चतुष्पाज्जागरितः स्थूलः स्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक्॥
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः। स्थूलभुक् चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान्॥११॥
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः। सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परंतपः॥ १२॥
सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम्। हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते॥ १३॥
कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन। स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम्॥ १४॥
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी। नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः॥ १५॥
तथाप्यानन्दभुक् चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः। चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः॥ १६॥

अब क्रमानुसार विश्व, तैजस आदि के वाचक प्रणव की मात्राओं के क्रम का वर्णन किया जा रहा है। स्थूल अर्थात् विराट् जगद्रूप एवं उसका भोक्ता तथा सूक्ष्म जगद्रूप सूक्ष्म जगत् का उपभोक्ता होने के कारण एकमात्र आनन्दस्वरूप तथा आनन्द मात्र का उपभोक्ता होने के कारण इन तीनों की अपेक्षा भी विशेष लक्षणों से युक्त होने के कारण वह आत्मा चार भेदों वाला है। यह चार पाद ही उसके चार भेद हैं, इस कारण वह पादों से संयुक्त है। जाग्रत्-अवस्था एवं उससे उपलक्षित होने वाला यह जगत् ही जिनका शरीर है,जो पूरे विश्व में व्याप्त हो रहे हैं,जिनका विवेक इस स्थूल जगत् में चतुर्दिक् फैला है,जो इस समस्त जगत् के रक्षक हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण आदि ये सभी उन्नीस समष्टि कारण ही जिनके मुख हैं, आठ लोक, (पाताल,भूः,भुवः,स्वः,महः,जनः,तपः एवं सत्यम्) ही जिनके अवयव हैं। जो इस स्थूल जगत् के उपभोक्ता हैं। जिनकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं साक्षी रूप में अभिव्यक्ति होती है, वही सर्वव्यापी अखिल विश्वरूप वैश्वानर पुरुष ही परब्रह्म के प्रथम पाद कहे गये हैं। चारों अवस्थाओं में से स्वप्नावस्था तथा उस अवस्था के द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् में व्याप्त परब्रह्म सूक्ष्मप्रज्ञ हैं। उनका विज्ञान स्थूल जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् में व्याप्त हो रहा है। स्वयं वे ही पूर्व में कहे हुए आठ अङ्गों से सम्पन्न हैं। काम, क्रोधादि समस्त रिपुओं को तप्त करने में समर्थ हे नारद! वे स्वप्नलोक में एकाकी ही हैं, उनके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई नहीं

है। वे सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूति एवं पालन करने वाले हैं। उनके भी पूर्व की भाँति स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से युक्त चार स्वरूप हैं। उन्हें ही तैजस पुरुष कहते हैं; क्योंकि वे तेजस्वरूप एवं प्रकाश के स्वामी हैं। वे सभी प्राणियों के स्वामी हिरण्यगर्भ हैं, पूर्व में कहे हुए वैश्वानर तो स्थूल हैं; किन्तु अन्तः प्रदेश में प्रतिष्ठित होने के कारण हिरण्यगर्भ सूक्ष्म कहे गये हैं। इन्हें परब्रह्म परमात्मा का द्वितीय पाद कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में स्थित पुरुष किसी भी तरह का स्वप्न नहीं देखता और न ही किसी भोग की कामना करता है। इस प्रकार की सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण विश्व की प्रलयावस्था ही जिनका शरीर है, अर्थात् समष्टि कारणतत्त्व में जिनकी स्थिति है,जो एकीभूत (अनुपम) हैं, जिनकी अभी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति नहीं हुई है,जो घनीभूत प्रज्ञान से सम्पन्न हैं, आनन्दमय हैं, नित्यानन्द स्वरूप हैं, समस्त प्राणियों के अन्तः में विद्यमान अन्तर्यामी आत्मा हैं तथा अपने स्वरूपभूत आनन्द मात्र का उपभोग करने में समर्थ हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिन परमात्मा का मुख है, जो सर्वत्र व्याप्त एवं शाश्वत हैं, ओत,अनुज्ञातृ, अनुज्ञा एवं अविकल्प आदि इन चारों रूपों में जिनकी अभिव्यक्ति है, वे ईश्वर ही प्राज्ञ नाम से परमात्मा के तृतीय पाद के रूप में जाने जाते हैं॥ ९-१६ ॥

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः। एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ॥ १७॥ भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम्। तत्सुषुप्तं हि यत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥१८॥

ये परब्रह्म ही समस्त स्थावर-जंगम,भूत-प्राणियों के स्वामी हैं। ये सभी कुछ जानने में समर्थ हैं। सूक्ष्मरूप से चिन्तन करने योग्य परब्रह्म ही सबके अन्तर्यामी एवं आत्मस्वरूप हैं। सम्पूर्ण जगत् के कारणरूप हैं तथा समस्त भूत-प्राणियों की उत्पत्ति, पालन एवं विनाश के स्थल भी यही हैं। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में परिलक्षित होने वाला यह संसार भी सुषुप्ति रूप ही है। यह सभी प्रकार की उपरति में अवरोधक ही बना रहता है। इसी तरह यह त्रिविध जगत् स्वप्नरूप ही है; क्योंकि यहाँ पर वस्तु का प्रायः विपरीत ज्ञान ही होता है। इतना ही नहीं, यहाँ पर हर वस्तु कुछ की कुछ दिखाई पड़ने के कारण स्वप्नवत् मायामय ही है॥ १७-१८ ॥

चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम्। तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥१९॥ ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम्। विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम्। मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्यथ॥ २०॥

उपर्युक्त त्रिपादों के अतिरिक्त चतुर्थ पाद तुरीय है। वह इन चार भेदों-ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा एवं अविकल्प के कारण चार रूपों से युक्त है। उसे तुरीयपाद कहा गया है, यही सच्चिदानन्दमय है-इसके चारों भेद तुरीय ही कहे गये हैं, क्योंकि प्रत्येक रूप का तुरीय में ही पर्यवसान (विलय) होता है। इस चतुर्थ तुरीयपाद में भी जो ओत, अनुज्ञातृ एवं अनुज्ञारूप तीन प्रकार के भेद हैं, वे विकल्प-ज्ञान के साधन रूप हैं। अतः इन तीन विकल्पों को भी यहाँ पर पहले की भाँति सुषुप्ति एवं मनोमय स्वप्नवत् मायामय ही जानना चाहिए। ऐसा समझकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इन भेदों से परे जो निर्विकल्परूप तुरीय-तुरीय परब्रह्म ही एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ऐसा निश्चय कर लेना ही श्रेयस्कर है॥ १९-२०॥

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम्। न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न क्वचिन्मुने॥ २१॥ नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम्। नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च॥ २२॥ तदलक्षणमग्राह्यं यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स ब्रह्मप्रणवः स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाशः सर्वदा विराजते परंब्रह्मत्वादित्युपनिषत्॥ २३॥

इसके पश्चात् पुनः ब्रह्मा जी ने कहा-'हे नारद! श्रुति का यह स्पष्ट आदेश है कि जो सदैव न तो स्थूलज्ञ

है, न सूक्ष्म का ही ज्ञाता है और न ही दोनों का ज्ञाता है, जो न तो सर्वाधिक जानने वाला है और न ही बिल्कुल जानने वाला है, न अन्तःप्रज्ञ अर्थात् अन्तः का ज्ञान रखने वाला है और न ही बहिः प्रज्ञ (स्थूल जगत् का) ज्ञान रखने वाला है, जिसे नेत्रों से नहीं देखा जा सकता (क्योंकि उसका कोई रूप नहीं है), जो कभी पकड़ में नहीं आ सकता और न ही व्यवहार में लाया जा सकता है। जो अचिन्त्य है, जिसे किसी परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार अथवा स्वरूप है, जिसमें प्रपञ्च (माया) का अभाव है। ऐसा परम कल्याणकारी शान्त-अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्ण परब्रह्म का चतुर्थ पाद है,ऐसा ज्ञानीजन मानते हैं। वह ब्रह्म-प्रणव है; वही जानने और समझने के योग्य है, दूसरा नहीं। सभी को प्रकाश देने वाला सूर्य के सदृश वही मुमुक्षुजनों का एकमात्र जीवन रक्षक है। स्वयं प्रकाश परम ब्रह्म आकाश रूप है। परम ब्रह्म होने के कारण ही वह सदैव सर्वत्र विद्यमान है। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है॥ २१-२३॥

॥ नवमोपदेशः ॥

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ। तं होवाच पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १॥

इसके पश्चात् नारद जी ने पुनः प्रश्न किया- 'हे भगवन्! ब्रह्म का स्वरूप कैसा है, कृपा करके बताने का अनुग्रह करें? ऐसा श्रवण कर पितामह ब्रह्मा जी ने कहा-हे वत्स नारद! ब्रह्म और क्या है, अपना निजस्वरूप आत्मा ही तो ब्रह्म है। ब्रह्म दूसरा और मैं दूसरा हूँ-ऐसा जो भी लोग समझते हैं, वे पशुवत् हैं, जो स्वभाववश पशुयोनि में ही प्रादुर्भूत हुए हैं, उन्हीं का नाम पशु है। उन परम प्रभु परमेश्वर को जो ज्ञानी पुरुष इस तरह सर्वात्मा एवं सर्वरूपमय जानता है, वह सदा के लिए मृत्यु के मुख से छूट जाता है। एकमात्र परमात्मसत्ता का सद्ज्ञान ही है, जो मुक्ति (मोक्ष) प्रदान कराने में सर्वसमर्थ है॥ १॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ ३॥
तमेकस्मिंस्त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४॥
पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५॥

(परमात्म विषयक परस्पर चर्चा करने वाले कुछ जिज्ञासु जन कहते हैं कि) 'क्या काल, स्वभाव, निश्चित ही फल प्रदान करने वाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत अथवा जीवात्मा (इस जगत् का) कारण रूप है? इस विषय पर चिन्तन करना चाहिए। काल आदि का समूह भी इस नश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि यह चैतन्य आत्मा के आश्रित है। जीवात्मा भी इस नाशवान् जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दुःख के कारणभूत प्रारब्ध-कर्म के आश्रित है। ऐसा विचार करते हुए उन्होंने ध्यानावस्था में

प्रतिष्ठित होकर अपने गुणों से आवृत उन परब्रह्म की स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया, जो परब्रह्म अकेले ही काल से लेकर आत्मा तक अर्थात् पूर्व में कहे हुए सभी कारणों पर शासन करते हैं। उस एक नेमि वाले, तीन घेरों से युक्त, षोडश शिरों से संयुक्त, पचास अरों से परिपूर्ण, बीस सहयोगी अरों से युक्त एवं छः अष्टकों से पूर्ण, अनेक रूपों वाले एक ही पाश से संयुक्त, मार्ग के तीन भेदों से युक्त तथा दो निमित्त एवं मोह-रूपी एक नाभि (केन्द्र) से युक्त चक्र को उन जिज्ञासु जनों ने देखा। यहाँ विश्व व्यवस्था को एक चक्र (पहिए) के रूप में वर्णित किया गया है। नेमिचक्र को बाँधे रखने वाली एक परिधि (प्रकृति) तथा तीन वृत-तीन गुण (सत, रज, तम) हैं। परिधि के अन्त-सिरे का जोड़ सोलह कलाएँ हैं, प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे एवं पाँचवें मन्त्र में इनका वर्णन है। ५० अरे (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि ५० प्रत्यय) अन्तःकरण की वृत्तियों के ५० भेद तथा २० सहायक अरे (१० इन्द्रियाँ, ५ विषय एवं ५ प्राण) कहे गये हैं। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, यह स्पष्ट नहीं हैं। इन छः के आठ-आठ भेद कहे गए हैं-प्रकृति शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भय, देव योनियाँ तथा विशिष्ट गुण तीन मार्ग-धर्म, अधर्म एवं ज्ञान मार्ग तथा दो निमित्त-पाप और पुण्य कर्म हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं। पाँच स्रोतों से निःसृत होने वाले विषय रूपी जल से परिपूर्ण, पाँच स्थलों से प्रादुर्भूत होकर भय प्रदान करने वाली एवं तिर्यक् चाल से गमन करने वाली, पाँच दुःख रूपी प्रवाह के वेग से संयुक्त, पाँच पर्वों वाली तथा पचास भेदों से परिपूर्ण नदी को हम सभी लोग जानते हैं ॥ ५ ॥

[ऋषि ने यहाँ विश्व प्रवाह को नदी के रूप में वर्णित किया है। ५ धाराएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ उद्गम, ५ तत्त्व, ५ प्राण की तरंगें, ५ भँवरें, ५ तन्मात्राएँ, ५ दुःख-गर्भ, जन्म, रोग, जरा और मृत्यु हैं। ५ विभाग-अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय हैं। अन्तःकरण की ५० वृत्तियाँ उसके भेद हैं। उक्त दोनों उपमाओं की विस्तृत व्याख्या आचार्य शंकर के भाष्य में देखी जा सकती है।]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥ उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च। अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः परे ब्रह्मणि तत्परायणाः ॥ ७ ॥ संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतत् ॥ ९ ॥ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

समस्त प्राणियों के आश्रयभूत एवं जीविका स्वरूप इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को भ्रमण कराया जाता है। वह स्वयं अपने-आपको एवं सभी के प्रेरणास्रोत परमात्मा को पृथक्-पृथक् जानकर उसके पश्चात् उन परब्रह्म से स्वीकृत होकर अमृत भाव को प्राप्त कर लेता है। वेद में कहे हुए ये परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ आश्रयभूत एवं शाश्वत अविनाशी हैं। उन परमात्म देव में तीनों लोक सन्निहित हैं। वेद के तत्त्वज्ञ महापुरुष यहाँ (हृदय क्षेत्र में) अन्तर्यामी स्वरूप में प्रतिष्ठित उन परमात्मदेव को जानकर उन्हीं में आश्रित होकर, उन आदिदेव में ही विलीन हो गये। सतत विनाश युक्त जड़वर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा तथा इन दोनों के संयुक्त रूप व्यक्त एवं अव्यक्त रूप इस जगत् का परब्रह्म ही धारण तथा पोषण करते हैं और जीवात्मा इस जगत् के विषय-भोगों का भोक्ता होने के कारण प्रकृति के अधीन होकर इसमें आबद्ध हो जाता है और उन परमात्मदेव को जानकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। सर्वज्ञ एवं अज्ञानी, सर्वसमर्थ एवं सामर्थ्यरहित ये दो ही

जन्मरहित शाश्वत आत्मा हैं तथा भोगभोगने वाले जीवात्मा के लिए उपयुक्त भोग्य सामग्री से संयुक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति के रूप में है। वे परमात्मदेव अन्तरहित, सम्पूर्ण रूपों से युक्त एवं कर्त्तापन के अभिमान से रहित हैं। जब मनुष्य इस तरह ईश्वर, जीव एवं प्रकृति–इन तीनों को ब्रह्म के रूप में प्राप्त कर लेता है, तो वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है और इसका भोक्ता जीवात्मा अमृतरूप अविनाशी है। इस विनाशशील जड़तत्त्व एवं चेतन आत्मा दोनों को एक ही ईश्वर अपने विशेष निर्देशन में रखते हैं। इस तरह से उन परमेश्वर का सदैव चिन्तन करते रहने से, मन को उन्हीं में लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से मनुष्य अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर सभी प्रकार की माया (प्रपञ्च) की निवृत्ति हो जाती है॥ ६–१०॥

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्त्रितयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥ ११॥ एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्॥ १२॥ आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥ १३॥

उन परमात्म स्वरूप का सतत चिन्तन करने मात्र से, उन प्रकाश स्वरूप परब्रह्म को ध्यान के द्वारा जानकर मनुष्य सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है; क्योंकि क्लेशादि विकारों का शमन हो जाने के पश्चात् जन्म–मरण का सर्वथा अभाव ही हो जाता है। इस कारण से वह देह के नष्ट होने पर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्गलोक तक के सभी तरह के ऐश्वर्यों का परित्याग करके सर्वथा विशुद्ध तथा आप्तकाम हो जाता हैं। अपने ही अन्दर प्रतिष्ठित इन ब्रह्मदेव को सर्वदा जानना चाहिए। इनसे उत्कृष्ट स्मरण करने योग्य तत्त्व दूसरा और कुछ भी नहीं है। भोक्ता अर्थात् जीवात्मा, भोग्य अर्थात् जड़वर्ग एवं उनके प्रेरणास्रोत परब्रह्म को जानकर पुरुष सभी कुछ जान लेता है। इस प्रकार इन तीन भेदों में वर्णित यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है। आत्मविद्या एवं तप ही जिस की प्राप्ति के मुख्य स्रोत (साधन) हैं, वह उपनिषदों में वर्णित श्रेष्ठ तत्त्व ही परम ईश्वर है अर्थात् दृष्टि भेद द्वारा वह ब्रह्म द्विविध अथवा त्रिविध कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में भेद–दृष्टि अज्ञान मूलक है। इस कारण वह समस्त रूपों में एक ही परमात्मदेव विद्यमान है॥ ११–१३॥

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयंस्तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। तस्माद्विराड्भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यनश्वरस्वरूपम्॥ १४॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ १५॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १६॥ अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ १७॥ सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम्। परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम्॥ १८॥

जो मनुष्य इस तरह से जानकर सतत अपने स्वरूपमय परब्रह्म का ही ध्यान करता रहता है, उस समदर्शी ब्रह्मज्ञानी को वहाँ क्या शोक है और क्या मोह? इसलिए भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान आदि इन तीनों कालों में प्रादुर्भूत होने वाला यह विराट् संसार ही अविनाशी ब्रह्ममय है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् (बृहत्) से भी परम महान् (अति बृहत्) परब्रह्म इस प्राणी के हृदय रूपी गुहा में विद्यमान है। सबकी सृष्टि एवं सुरक्षा करने वाले परमात्मा की विशेष अनुकम्पा से जो पुरुष उस संकल्प विहीन परम ईश्वर का और उसकी महान्

महिमा का भी अवलोकन कर लेता है, वह सभी प्रकार के दु:खों से मुक्त हो जाता है। वह परमेश्वर हाथ-पैर आदि से रहित होते हुए भी सभी प्रकार की वस्तुओं को प्राप्त कर लेने वाला है और शीघ्रतापूर्वक यत्र-तत्र-सर्वत्र गमन करने वाला है। नेत्र विहीन होते हुए भी सभी कुछ देखने में समर्थ है। कानों (कर्णों) से रहित होते हुए भी सभी कुछ श्रवण करने में सक्षम है। वह जानकारी प्राप्त होने वाली सभी प्रकार की वस्तुओं को जानता है, किन्तु उस महान् ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है। विद्वान् मनुष्य उसे प्राचीन एवं महान् पुरुष (पुरुषोत्तम,पुरुष श्रेष्ठ) आदि कहते हैं। जो इन नाशवान् शरीरों में नित्य एवं देहरहित होकर भी प्रतिष्ठित है। उस सर्वत्र व्याप्त महान् परमेश्वर को जान लेने पर धैर्यवान् पुरुष कभी शोकाकुल नहीं होता। वह समस्त भूत-प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला है। उस परमेश्वर की अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति अचिन्त्य है, समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त रूप से स्वीकृत अर्थ विशेष-परब्रह्म के रूप में वही जानने योग्य है। परात्पर परब्रह्म के रूप में भी वही ज्ञातव्य है एवं सभी के अवसान में अर्थात् समस्त विश्व के प्रलय होने पर सबके संहार के रूप में उसी श्रेष्ठ प्रभु को जानना चाहिए॥ १४-१८॥

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्। अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभूधरम्॥ १९॥ स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम्। पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम्। परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्॥ २०॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २१॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतःप्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः॥ २२॥

वह कवि, जो त्रिकाल को जानने वाला है, पुराण पुरुष, सर्वोत्तम एवं पुरुष श्रेष्ठ है। वही सबका परमेश्वर तथा देवों के द्वारा उपासनीय है। आदि, मध्य एवं अन्त से परे है, वह कभी विनष्ट नहीं होता। वही शिव, विष्णु एवं कमल से प्रादुर्भूत होने वाले ब्रह्मारूपी वृक्षों को उत्पन्न करने वाला महान् पर्वत है। जो पञ्चभूतों से युक्त है और पाँच इन्द्रियों में स्थित रहता है, जिसने अनन्त जन्मों के विस्तार की परम्परा अभिवर्द्धित कर रखी है, इस समस्त प्रपञ्च को उस परमात्मा ने पञ्चमहाभूतों के रूप में प्रादुर्भूत किये हुए अपने ही अंगों द्वारा स्वयं ही फैला रखा है; फिर भी वह स्वयं पञ्चभूतों से युक्त अंगों से ढका नहीं है। वह पर से परे और महान् से भी महान् है। वह अपने स्वरूपानुसार स्वत: स्वरूप है, सनातन एवं कल्याणमय है। जो दुराचार से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्तरहित अर्थात् अपने वश में नहीं हैं, जो स्थिर चित्त नहीं हुआ है तथा जिसका मन पूर्णरूपेण शान्त नहीं हो सका है, वह इन परमात्म स्वरूप को श्रेष्ठ, पवित्र ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता है। वह पूर्ण परमेश्वर न अन्त:प्रज्ञ है, न बाह्य प्रज्ञ है, वह न स्थूल है और न ही सूक्ष्म है। वह न ज्ञानस्वरूप है और न ही वह अज्ञानी है। वह मनुष्य की पकड़ से परे तथा व्यवहार का विषय नहीं है। वह अपने अन्दर स्वयं ही विद्यमान है। जो ज्ञानी पुरुष उस अनादि परमेश्वर को इस प्रकार से जानता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। ऐसा उपदेश पितामह ब्रह्माजी ने देवर्षि नारद को प्रदान किया॥ १९-२२॥

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति भयत्रस्तसारङ्गवत्तिष्ठति। गमनविरोधं न करोति। स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसन्धानं कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति। स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्तको

गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य चामोहितः परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी धनवाञ्ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिः प्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति। तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः। सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते तत्कैवल्यमित्युपनिषत्॥ २३॥

जो परिव्राजक अपने निज स्वरूप को जान लेता है, वह अकेले ही विचरण करता है। वह 'यति' डरे हुए हरिण के सदृश कभी एक स्थल पर नहीं रुकता। इधर-उधर जाने के लिए यदि कोई विरोध अथवा न जाने का आग्रह करता है, तो उसे वह कभी स्वीकार नहीं करता। अपनी देह के अतिरिक्त अन्य समस्त तरह की वस्तुओं का परित्याग करके वह मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा प्राप्त करता है। सदैव अपने निज रूप का ध्यान करते हुए उसकी सभी के प्रति अनन्य बुद्धि हो जाती है। वह समस्त प्राणियों को अपने आत्मारूप में ही समझने लगता है तथा इस तरह से वह यति अपने-आप में ही प्रतिष्ठित होकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह संन्यासी समस्त क्रियाओं एवं कारकों से भेद-बुद्धि का परित्याग कर देता है। गुरु, शिष्य एवं शास्त्र आदि की त्रिपुटी से भी वह मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् का परित्याग करके वह कभी उसके दुःख से विचलित नहीं होता है। परिव्राजक का आचरण किस तरह का हो? (इसके उत्तर में बताते हैं कि) वह लौकिक धन से विहीन होते हुए भी सर्वदा सुखी रहता है। वह ब्रह्मात्म-ज्ञान स्वरूप धन से परिपूर्ण होकर ज्ञान-अज्ञान दोनों से ऊपर उठ जाता है। सुख एवं दुःख दोनों से परे हो जाता है। वह 'यति' आत्म ज्योति से ही प्रकाश प्राप्त करता है। सभी जानने योग्य पदार्थ उसे ज्ञात हो जाते हैं। वह सब कुछ जानने में समर्थ, सभी सिद्धियों का प्रदाता एवं सभी का ईश्वर हो जाता है; क्योंकि 'सोऽहम्' (वह ब्रह्म मैं हूँ) इस महावाक्य के उपदेश में उसकी सहज उपस्थिति हो जाती है। वह परमेश्वर ही भगवान् विष्णु का परम शाश्वत धाम है, जहाँ पर जाकर योगी पुरुष वापस इस नश्वर जगत् में नहीं आते। वहाँ उस विष्णुधाम में न तो सूर्य प्रकाशित होता है और न ही चन्द्रमा अपना प्रकाश देता है। उस परम अविनाशी महान् पद को प्राप्त करने वाला वह महात्मा पुरुष इस नश्वर जगत् में पुनः वापस नहीं आता। वही एक मात्र परम कैवल्य पद है। ऐसा ही है यह उपनिषद्॥ २३॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति नारदपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ निर्वाणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जीवन के परमलक्ष्य तथा आवागमन से मुक्त होने के साधनभूत 'निर्वाण' के विषय में विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस उपनिषद् में सूत्रात्मक पद्धति द्वारा परमहंस-संन्यासी के गूढ़ सिद्धान्तों को रहस्यात्मक ढंग से विवेचित किया गया है। सर्वप्रथम परमहंस संन्यासी का परिचय दिया गया है, तत्पश्चात् दीक्षा, देवदर्शन, क्रीड़ा, गोष्ठी, भिक्षा, आचरण आदि का परमहंस संन्यासी के लिए क्या स्वरूप है, विवेचना की गई है। आगे चलकर पुनः मठ, ज्ञान, ध्येय, कन्था (गुदड़ी), आसन, पटुता, तारक उपदेश, नियम, अनियामकत्व, यज्ञोपवीत, शिखा तथा मोक्ष आदि की वास्तविक स्थिति संन्यासी के लिए क्या है? इसका निरूपण करते हुए कहा गया है कि यही 'निर्वाण' का तत्त्वदर्शन है। यह तत्त्वदर्शन श्रद्धा-समर्पण युक्त शिष्य या पुत्र को ही प्रदान करना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को इस तत्त्वदर्शन से कोई लाभ नहीं प्राप्त हो पाता।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि................. इति शान्तिः। (द्रष्टव्य-आत्मबोधोपनिषद्)

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः। परमहंसः सोऽहम्। परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः। मन्मथक्षेत्रपालाः। गगनसिद्धान्तः। अमृतकल्लोलनदी। अक्षयं निरञ्जनम्। निःसंशयः ऋषिः। निर्वाणो देवता। निष्कुलप्रवृत्तिः। निष्केवलज्ञानम्॥ १-११॥

अब निर्वाणोपनिषद् का वर्णन करते हैं। मैं परमहंस हूँ। मैं वही (ब्रह्म) हूँ। परिव्राजक (संन्यासी) पश्चिमलिङ्ग (अन्तिम स्थिति रूप चिह्न युक्त) होते हैं। कामदेव के लिए क्षेत्रपाल जैसे (अर्थात् कामदेव को रोकने में समर्थ) होते हैं। वे गगन सिद्धान्त वाले अर्थात् आकाश की तरह निर्लिप्त और व्यापक सिद्धान्त वाले होते हैं। वे अमृत तरंगों वाली (आत्मारूपी) नदी के समान होते हैं। उनका स्वरूप अक्षय निरञ्जन अर्थात् अनश्वर और निर्लेप होता है। 'निःसंशय' ही उनका ऋषि है, निर्वाण ही उनका देवता है। उनकी प्रवृत्ति निष्कुल (स्वकुल-गोत्र से परे) होती है। उनका ज्ञान समस्त उपाधियों से मुक्त होता है। ॥ १-११॥

ऊर्ध्वाम्नायः। निरालम्बपीठः। संयोगदीक्षा। वियोगोपदेशः। दीक्षासंतोषपावनं च। द्वादशादित्यावलोकनम्। विवेकरक्षा। करुणैव केलिः। आनन्दमाला। एकान्तगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी। अकल्पितभिक्षाशी। हंसाचारः। सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम्॥१२-२४॥

उनका अभ्यास उच्चस्थिति के लिए होता है। उनका आसन आश्रयरहित होता है। परमात्मा (ईश्वर) के साथ संयोग ही उनकी दीक्षा है। संसार से वियोग करना (मुक्त होना) ही उनका उपदेश है। दीक्षा लेकर सन्तोष करना ही उनका पावन कर्म करना है। द्वादश आदित्यों का (प्रलयकाल का) वे दर्शन करते हैं (क्योंकि प्रलय काल में ही द्वादश आदित्य एक साथ उदीयमान होते हैं)। वे विवेक के द्वारा अपनी रक्षा करते हैं। दया (करुणा) ही उनकी क्रीड़ा (खेल) है। आत्मिक आनन्द ही उनकी माला है। एकान्त रूपी गुहा में मुक्त होकर सुखपूर्वक बैठना ही उनकी गोष्ठी है। (अपने हाथ से) न बनाया हुआ, (अपितु माँग कर प्राप्त किया हुआ) भोजन ही उनकी भिक्षा है। वे हंसाचारी होते हैं अर्थात् उनका आचरण हंसों जैसा (नीरक्षीरविवेकी) होता है। समस्त प्राणियों के अन्तर में रहने वाला आत्मा ही हंस है, ऐसा उनका प्रतिपादन है॥ १२-२४॥

धैर्यकन्था। उदासीनकौपीनम्। विचारदण्डः। ब्रह्मावलोकयोगपट्टः। श्रियां पादुका। परेच्छाचरणम्। कुण्डलिनीबन्धः। परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः। शिवयोगनिद्रा च। खेचरीमुद्रा च। परमानन्दी। निर्गुणगुणत्रयम्। विवेकलभ्यम्। मनोवागगोचरम्। अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्। तथा देहादिसंघातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम्। विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम्। अङ्कुशो मार्गः। शून्यं न संकेतः। परमेश्वरसत्ता। सत्यसिद्धयोगो मठः। अमरपदं न तत्स्वरूपम्। आदिब्रह्मस्वसंवित्। अजपा गायत्री। विकारदण्डो ध्येयः॥

धैर्य उन (संन्यासियों) की गुदड़ी है। उदासीन प्रवृत्ति उनकी कौपीन (लँगोटी) है। विचार ही उनका दण्ड है, ब्रह्म का अवलोकन ही उनका योगपट्ट है, सम्पदा उनकी पादुका है (धन-सम्पदा को वे पैर की जूती की तरह तुच्छ वस्तु समझते हैं)। परेच्छा ही उनका आचरण है (ईश्वर की इच्छा से ही वे देह धारण और चेष्टा करते हैं)। कुण्डलिनी ही उनका बन्ध है। वे परापवाद (परनिन्दा) से मुक्त होकर जीवन्मुक्त होते हैं। कल्याणकारी ईश्वर के साथ योग ही उनकी निद्रा है। उस निद्रा और खेचरी मुद्रा को धारण करके वे परमानन्द का अनुभव करते हैं। वह (ब्रह्म) तीनों गुणों से अतीत अर्थात् त्रिगुणातीत-निर्गुण है। वह विवेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वह मन और वाणी द्वारा प्राप्य नहीं है अर्थात् वह मन और वाणी का अविषय है। (जिस प्रकार) यह जगत् अनित्य है, इससे जो जन्मा है, वह स्वप्न के संसार की तरह और आकाश में बने बादलों के हाथी आदि की तरह मिथ्या है, उसी प्रकार यह देह आदि संघात, मोह आदि दोषों से युक्त है और यह सब रस्सी में सर्प की भ्रान्ति के समान मिथ्या है। विष्णु, विधि (ब्रह्मा) आदि सैकड़ों नामों वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है। इन्द्रियों पर अंकुश रखना ही (ब्रह्म प्राप्ति का) मार्ग है। ब्रह्म प्राप्ति का वह मार्ग शून्य संकेत (विष्णु आदि देव शक्तियों से रहित) नहीं है। समस्त जीवों पर ईश्वर की सत्ता है। सत्य और सिद्ध हुआ योग ही (संन्यासी का) मठ है। अमर पद (स्वर्ग) उस (ब्रह्म) का स्वरूप नहीं है। आदि ब्रह्म से स्व की एकरूपता ही ज्ञान है। उक्तभाव (सोऽहं) का अजपा जप ही गायत्री है। विकारों के ऊपर नियन्त्रण पाना ही ध्येय है॥ २५-३६॥

मनोनिरोधिनी कन्था। योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम्। आनन्दभिक्षाशी। महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः। एकान्तस्थानम्। आनन्दमठम्। उन्मन्यवस्था। शारदा चेष्टा। उन्मनी गतिः। निर्मलगात्रम्। निरालम्बपीठम्। अमृतकल्लोलानन्दक्रिया। पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः। शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता। परावरसंयोगः। तारकोपदेशः। अद्वैतसदानन्दो देवता॥

मन का निरोध करने वाली प्रवृत्ति ही कन्था (गुदड़ी) है। (संन्यासीगण) योग के द्वारा परब्रह्म के सदानन्द स्वरूप का दर्शन करते हैं। वे (परिव्राजक-संन्यासी) आनन्दरूप भिक्षा का ही भोजन करते हैं। वे महाश्मशान में भी आनन्द वन की भाँति निवास करते हैं। एकान्त स्थल ही उनका मठ होता है। उनकी उन्मनी (निर्विकल्पक) अवस्था तथा शारदा (उज्ज्वल) चेष्टा होती है। उनकी उन्मनी निर्विकल्पकरूपा गति होती है। उनका निर्मल शरीर और आश्रयरहित आसन होता है। अमृत रूपी महान् सागर की तरंगों में आनन्दित रहना ही उनकी क्रिया है। चिदाकाश ही उनका महा सिद्धान्त है। शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण (व्यवहार) में क्षेत्र और पात्र का ध्यान रखना उनकी पटुता (कुशलता) है। परावर (ब्रह्म) के साथ संयोग ही उनका तारक उपदेश है। अद्वैत सदानन्द ही उनका देवता है॥ ३७-४८॥

नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः। भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः। परावरैक्यरसास्वादनम्। अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः। स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम्। तथा

पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम्। बिभ्रत्याकाशाधारम्। शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्। तन्मया शिखा। चिन्मयं चोत्सृष्टिरण्डम् संततोक्षिकमण्डलम्। कर्मनिर्मूलनं कथा। मायाममताहंकारदहनम्। श्मशाने अनाहताङ्गी। निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसन्धानं समयं भ्रान्तिहननम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चिराजिनवासः। अनाहतमन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः। परं ब्रह्म प्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वसंविन्न्यासं संन्यासम्। अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम्। नित्यं सर्वसंदेहनाशनम्॥ ४९-६०॥

अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना ही उन (परिव्राजक संन्यासियों) का नियम होता है। भय, मोह, शोक एवं क्रोध का परित्याग करना ही उनका त्याग है। वे परब्रह्म के साथ एकत्व का रसास्वादन करते हैं। अनियामकत्व (न किसी को वश में करना और न ही किसी का तिरस्कार करना) ही उनकी निर्मल शक्ति होती है। वे स्व प्रकाशित ब्रह्म तत्त्व में शिव-शक्ति से संपुटित प्रपञ्च का उच्छेदन करते हैं। वे पत्र (कारण शरीर), अक्ष (सूक्ष्म शरीर) और अक्षि (स्थूल शरीर) इन तीनों शरीरों के भाव और अभाव को दग्ध (विनष्ट) करने वाले होते हैं। वे आकाशरूपी आधार को धारण करने वाले होते हैं। तुरीयावस्था में स्थित शिव अथवा ब्रह्म ही उनका यज्ञोपवीत और शिवमयी (ब्रह्ममयी ज्ञान) शक्ति ही उनकी शिखा है। चिन्मय स्वरूप होने के कारण उनकी दृष्टि में स्थावर और जङ्गम समूची सृष्टि ब्रह्म ही है। कर्मों को निर्मूल कर देना (अर्थात् कर्मफल से न बँधना) ही उनकी कथा है। वे माया, ममता और अहंकार को दग्ध कर डालने के लिए श्मशान भूमि में अनाहत अंग (अवधूत-विदेह) होकर विचरण करते हैं। जो त्रिगुणातीत हैं, निज स्वरूप के अनुसन्धान और भ्रान्ति के हनन में ही जिनका समय लगता है; जो काम आदि वृत्तियों का दहन करते रहते हैं, जो कौपीन धारण करके कठोरतापूर्वक संयम का पालन करते हैं, जो चिरकाल तक मृगचर्म रूप वस्त्र धारण करते हैं, जो निरन्तर अक्रिया द्वारा ही अनाहत नाद रूप मन्त्र का सेवन करते हैं; उन (संन्यासी परिव्राजकों) का स्वभाव स्वेच्छाचारी (अपनी आत्मा के निर्देश के अनुरूप आचरण करने वाला) होता है, यही उनका मोक्ष है। परब्रह्म स्वरूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ज्ञानरूपी नौका के समान आचरण करने वाला अवधूत पहले ब्रह्मचर्य द्वारा शान्ति प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम में भी अध्ययन(चिन्तन-मनन-निदिध्यासन) करता है और ज्ञान सम्पन्न होकर समस्त ज्ञान (लौकिक ज्ञान) का परित्याग कर देता है- यही संन्यास है। अन्त में नित्य ब्रह्म के अखण्ड आकार की स्थिति में पहुँचकर समस्त संशयों का नाश कर देता है॥ ४९-६०॥

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं पुत्रं विना न देयमित्युपनिषत्॥ ६१॥

यही निर्वाण का तत्त्वदर्शन है। इसका उपदेश शिष्य या पुत्र (अत्यधिक श्रद्धा-समर्पण भाव वाले) के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति नहीं करना चाहिए। यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ ६१॥

ॐ वाङ्मे मनसि.................. इति शान्तिः॥

॥ इति निर्वाणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ पञ्चब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा की है। इसमें कुल ४१ मन्त्र हैं। इसका शुभारम्भ शाकल द्वारा पैप्पलाद से पूछे गये प्रश्न–सर्वप्रथम सृष्टि के प्रारम्भ में क्या उत्पन्न हुआ?–से हुआ है। पहले तो पैप्पलाद ने क्रमशः सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष तथा ईशान के उत्पन्न होने की बात कही, बाद में क्रमशः उनका स्वरूप वर्णित किया। इन्हीं पाँचों को 'पंचब्रह्म' की संज्ञा प्रदान की गई है तथा कहा गया है कि इस पंचब्रह्मात्मक स्वरूप को अपनी आत्मा में अवस्थित मानकर 'पंचब्रह्म मैं ही हूँ'– इस प्रकार का आनुभविकज्ञान प्राप्त कर लेने वाला साधक ब्रह्मामृत का रसास्वादन करता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अन्त में इस पंचब्रह्मात्मक विद्या की महती महिमा का गुणगान करते हुए हृदयकमल में विद्यमान सदाशिव तत्त्व के अनुसन्धान करने का निर्देश देकर उपनिषद् को पूर्ण किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.............इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथ पैप्पलादो भगवान्भो किमादौ किं जातमिति। सद्यो जातमिति किं भगव इति। अघोर इति। किं भगव इति। वामदेव इति। किं वा पुनरिमे भगव इति। तत्पुरुष इति। किं वा पुनरिमे भगव इति। सर्वेषां दिव्यानां प्रेरयिता ईशान इति। ईशानो भूतभव्यस्य सर्वेषां देवयोनिनाम्॥ १ ॥

एक बार शाकल के द्वारा पूछने पर कि सर्वप्रथम क्या उत्पन्न हुआ? पैप्पलाद ने उत्तर देते हुए कहा– सर्वप्रथम 'सद्योजात' नामक ब्रह्म का आविर्भाव हुआ। शाकल ने पूछा–इसके अतिरिक्त क्या और भी कोई अन्य भेद है? पैप्पलाद जी ने कहा- 'हाँ, 'अघोर' है। शाकल ने फिर प्रश्न किया कि क्या और भी अन्य भेद है? पैप्पलाद ने उत्तर दिया- 'वामदेव । शाकल ने पुनः पूछा–'क्या यही भेद हैं?' पैप्पलाद जी ने कहा 'नहीं, 'तत्पुरुष' नामक एक और भी भेद है। शाकल ने पुनः प्रश्न किया- अच्छा तो क्या यही चार भेद हैं? पैप्पलाद जी ने कहा नहीं, सभी देवों को प्रेरित करने वाला 'ईशान' नामक एक भेद और है। यह सभी भूत, भविष्यत् एवं समस्त देवयोनियों का शासक है॥ १ ॥

कति वर्णाः। कति भेदाः। कति शक्तयः। यत्सर्वं तद्गुह्यम्॥ २ ॥

इसके कितने वर्ण हैं? कितने भेद (प्रकार) हैं? तथा कितनी शक्तियाँ हैं? ये समस्त बातें बड़ी गोपनीय हैं (अतः अनधिकारियों से छिपाकर रखनी चाहिए)॥ २ ॥

तस्मै नमो महादेवाय महारुद्राय॥ ३ ॥ प्रोवाच तस्मै भगवान्महेशः ॥ ४ ॥

महारुद्र उन महादेव को नमस्कार है। भगवान् महेश ने पैप्पलाद जी को ये सभी उपदेश प्रदान किये॥

गोप्याद्गोप्यतरं लोके यद्यस्ति शृणु शाकल। सद्योजातं मही पूषा रमा ब्रह्मा त्रिवृत्स्वरः ॥ ५ ॥ ऋग्वेदो गार्हपत्यं च मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा। वर्णं पीतं क्रिया शक्तिः सर्वाभीष्टफलप्रदम्॥६ ॥

हे शाकल! इस लोक में अति गोपनीय बातों में भी जो अति गूढ़ है, उसे सुनो। वह है 'सद्योजात' नामक ब्रह्म। सभी तरह की अभीष्ट सिद्धियों को देने वाली मही,पूषा,रमा,ब्रह्मा, त्रिवृत् (सत्,रज,तम), अकारादि स्वर, ऋग्वेद, गार्हपत्य(अग्नि),विविध मंत्र (नमः शिवाय आदि) सात स्वर (स,रे,ग,म,प,ध,नि), पीला वर्ण (रंग) तथा क्रिया नामक शक्ति आदि जिसके अनेक स्वरूप हैं॥ ५-६ ॥

अघोरं सलिलं चन्द्रं गौरी वेदद्वितीयकम्। नीरदाभं स्वरं सान्द्रं दक्षिणाग्निरुदाहृतम्॥ ७॥
पञ्चाशद्वर्णसंयुक्तं स्थितिरिच्छाक्रियान्वितम्। शक्तिरक्षणसंयुक्तं सर्वाघौघविनाशनम्॥ ८॥
सर्वदुष्टप्रशमनं सर्वैश्वर्यफलप्रदम्॥ ९॥

जल, चन्द्र,गौरी, यजुर्वेद, नीरदाभ (मेघ की आभा वाले), स्वर (उकार), स्निग्ध, दक्षिणाग्नि आदि ये सभी अघोर के स्वरूप बतलाये गये हैं। ये तथा इनके अतिरिक्त पचास (अ से लेकर क्ष तक जो) वर्ण हैं, उनसे युक्त स्थिति, इच्छा तथा क्रिया शक्ति से युक्त (अपनी विकल्पित) शक्ति के रक्षण से युक्त जो अघोर का स्वरूप है, वह सभी तरह के पापों के समूह का शमन करने वाला, सभी दुष्टों का विनाश करने वाला तथा सभी तरह के ऐश्वर्य के फल को प्रदान करने वाला है॥ ७-९॥

वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम्। विद्यालोकसमायुक्तं भानुकोटिसमप्रभम्॥ १०॥
प्रसन्नं सामवेदाख्यं गानाष्टकसमन्वितम्। धीरस्वरमधीनं चाहवनीयमनुत्तमम्॥ ११॥
ज्ञानसंहारसंयुक्तं शक्तिद्वयसमन्वितम्। वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं पूर्णबोधकरं स्वयम्॥ १२॥
धामत्रयनियन्तारं धामत्रयसमन्वितम्। सर्वसौभाग्यदं नृणां सर्वकर्मफलप्रदम्॥ १३॥
अष्टाक्षरसमायुक्तमष्टपत्रान्तरस्थितम्॥ १४॥

'वामदेव' महान् ज्ञान प्रदायक एवं तेजस्वी अग्नि के स्वरूप, विद्या के आलोक से आलोकित, करोड़ों सूर्यों के सदृश तेजोमय तथा सर्वदा आनन्द स्वरूप हैं। अष्टगान (सामवेद के कहे गये सात गान एवं एक भरत शास्त्र निष्पन्न गीति) से समन्वित मन्द स्वर (आ, आ, आम्) के अधीन तथा सर्वोत्तम आहवनीय (अग्निसदृश), ज्ञान एवं संहार शक्ति से समन्वित उनका (वामदेव का) स्वरूप है। वह शुक्ल वर्ण, तमोगुण युक्त तथा स्वयं ही पूर्णज्ञाता, (जाग्रत् आदि) तीनों धामों के नियामक, तीनों धामों (विश्व, तैजस, प्राज्ञ) से युक्त, सभी को सौभाग्य प्रदान करने वाले, मनुष्यों के सभी कर्मों के फल प्रदाता तथा (अ, क, च, ट,त, प, य, श) इन आठ अक्षरों (अथवा आठ क्षरित न होने वाले तत्त्वों अथवा ॐनमो महादेवाय के आठ अक्षरों) तथा अष्टदल (पंखुड़ियों) से युक्त कमल अर्थात् हृदय रूपी कमल में निवास करने वाले हैं॥ १०-१४॥

यत्तत्तत्पुरुषं प्रोक्तं वायुमण्डलसंवृतम्। पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम्॥१५॥
पञ्चाशत्स्वरवर्णाख्यमथर्ववेदस्वरूपकम्। कोटिकोटिगणाध्यक्षं ब्रह्माण्डाखण्डविग्रहम्॥१६
वर्णं रक्तं कामदं च सर्वाधिव्याधिभेषजम्। सृष्टिस्थितिलयादीनां कारणं सर्वशक्तिधृक्॥१७॥
अवस्थात्रितयातीतं तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम्। ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सेव्यं सर्वेषां जनकं परम्॥ १८॥

जो यह 'तत्पुरुष' हमने कहा है, वह वायुमण्डल से आपूरित पाँच अग्नियों से संयुक्त होकर मंत्र शक्ति का नियामक अर्थात् नियमन करने वाला है। वे स्वर एवं व्यञ्जन के रूप में पचास संख्या से प्रसिद्ध, अथर्ववेद के स्वरूप वाले, अनन्त कोटि गणों के अध्यक्ष तथा अखण्ड अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूप शरीर वाले हैं। उन (तत्पुरुष) का वर्ण लाल है, वे समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले तथा सब प्रकार की आधि-व्याधियों (मानसिक एवं शारीरिक रोगों) की अनुपम औषधि हैं। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन एवं संहार के एक मात्र कारण हैं और समस्त शक्तियों को धारण करने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त वे (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) तीनों अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) स्वरूप एवं ब्रह्म की संज्ञा से युक्त हैं। वे (ब्रह्म) ही सभी को प्रादुर्भूत करने वाले, ब्रह्मा एवं विष्णु आदि के द्वारा सर्वदा सेवित होने वाले हैं॥ १५-१८॥

ईशानं परमं विद्यात्प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम्। आकाशात्मकमव्यक्तमोंकारस्वरभूषितम्॥ १९॥
सर्वदेवमयं शान्तं शान्त्यतीतं स्वराद्बहिः। अकारादिस्वराध्यक्षमाकाशमयविग्रहम्॥ २०॥

पञ्चकृत्यनियन्तारं पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत्॥ २१ ॥ पञ्चब्रह्मोपसंहारं कृत्वा स्वात्मनि संस्थितः। स्वमायावैभवान्सर्वान्संहृत्य स्वात्मनि स्थितः॥ २२ ॥ पञ्चब्रह्मात्म कातीतो भासते स्वस्वतेजसा। आदावन्ते च मध्ये च भासते नान्यहेतुना॥ २३ ॥

'ईशान' को परमात्मतत्त्व के रूप में प्रेरणा प्रदान करने वाला जानना चाहिए। (वे) बुद्धि के साक्षीरूप, आकाश स्वरूप (सर्वत्र व्यापक), अव्यक्त एवं ॐकार के स्वर से (ध्वनि से) विभूषित हैं। वे समस्त देवों के स्वरूप वाले, शान्त, शान्ति से भी परे अर्थात् अत्यन्त शान्ति से सम्पन्न, स्वरों से परे (अर्थात् स्वरों से जिनका ज्ञान सम्भव नहीं), 'अकार' आदि स्वरों के जो अधिष्ठाता स्वरूप हैं तथा जो आकाशमय (व्यापक) शरीर से युक्त हैं। (वे) सृष्टि आदि पाँच (सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, विधान और अनुग्रह) कृत्यों के नियन्ता एवं सर्वव्यापक विराट् पंच ब्रह्मस्वरूप हैं। वे (ईशान) पंचब्रह्म का उपसंहार (निर्वाण) करके अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित होकर अपनी माया के वैभव-प्रभाव से सबका संहार करके अपनी ही आत्मा में प्रतिष्ठित रहने वाले हैं। वे (ईशान) पंच ब्रह्म से परे रहकर स्वयं अपने ही तेज से प्रकाशित हैं और आदि, मध्य एवं अन्त में भी किसी अन्य कारण से भासित नहीं होते, वरन् (वह) स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं स्वयम्भू हैं॥ १९-२३॥

मायया मोहिताः शंभोर्महादेवं जगद्गुरुम्। न जानन्ति सुराः सर्वे सर्वकारणकारणम्। न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य परात्परं पुरुषं विश्वधाम॥ २४॥ येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते। तद्ब्रह्म परमं शान्तं तद्ब्रह्मास्मि परं पदम्॥ २५॥

भगवान् शम्भु की माया से मोहित देवगण, सम्पूर्ण जगत् के गुरु एवं समस्त कारणों के कारण उन देवाधिदेव महादेव को नहीं जानते। सम्पूर्ण विश्व को प्रकाश देने वाले उन परात्पर विराट् पुरुष का रूप सामान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। जिसके द्वारा यह विश्व प्रकाशित होता है, जिसमें विलय को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह परम अविनाशी ब्रह्म शान्त स्वरूप है। वही अद्वितीय परमपद स्वरूप मैं स्वयं हूँ॥२४-२५

पञ्चब्रह्ममिदं विद्यात्सद्योजातादिपूर्वकम्। दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम्॥ २६॥ पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम्। ब्रह्मकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते॥ २७॥ पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च। सोऽहमस्मीति जानीयाद्विद्वान्ब्रह्मामृतो भवेत्॥२८॥ इत्येतद्ब्रह्म जानीयाद्यः स मुक्तो न संशयः॥ २९॥

'सद्योजात' आदि यही पंचब्रह्म हैं, इस चराचर जगत् में जो भी दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा सुनाई पड़ रहा है, वह सभी कुछ पंच ब्रह्मात्मक ही है। पाँच रूपों में प्रतिष्ठित वह (सद्योजात) ब्रह्मकार्य कहा गया है। इस ब्रह्मकार्य को जान करके 'ईशान' को प्राप्त किया जाता है। यदि विद्वान् मनुष्य उन पंच ब्रह्मात्मक को अपनी आत्मा में विलीन करके (अर्थात् मान कर) 'सोऽहमस्मि' अर्थात् 'मैं वही पंचब्रह्म हूँ, स्वयं उन्हीं का रूप हूँ।' इस प्रकार समझे, तो (वह) ब्रह्मामृत का रसास्वादन करने वाला हो जाता है। अतः इस प्रकार से जो ब्रह्म के स्वरूप को जान लेता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ २६-२९॥

पञ्चाक्षरमयं शम्भुं परब्रह्मस्वरूपिणम्। नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पञ्चाक्षरं जपेत्॥ ३०॥ सर्वं पञ्चात्मकं विद्यात्पञ्चब्रह्मात्मतत्त्वतः॥३१॥ पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः। स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम्॥३२॥

पंचाक्षरमय उस परब्रह्म स्वरूप भगवान् शम्भु को जान करके प्रारम्भ में 'नकार' और अन्त में 'यकार' है जिसके, ऐसे पंचाक्षर मंत्र (नमः शिवाय) को जपना चाहिए। समस्त वस्तुओं को पंचात्मक ब्रह्म के रूप में जानकर सर्वत्र पंचब्रह्म तत्त्व का ही दर्शन करना चाहिए। जो भी व्यक्ति भक्ति-भावनापूर्वक पंचब्रह्मात्मक विद्या को पढ़ता है, वह स्वयं ही पंचब्रह्म का साकार रूप होकर पंचब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर लेता है॥

एवमुक्त्वा महादेवो गालवस्य महात्मनः। कृपां चकार तत्रैव स्वान्तर्धिमगमत्स्वयम्॥३३॥

इस प्रकार इस ज्ञान को महादेव जी 'गालव' मुनि को कृपापूर्वक बताते हुए वहीं आत्मलीन हो गए॥

यस्य श्रवणमात्रेणाश्रुतमेव श्रुतं भवेत्। अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च शाकल॥ ३४॥
एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम। विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम्॥ ३५॥

हे शाकल! जिसके श्रवण मात्र से ही अश्रुत (अनसुना) श्रुत (ज्ञात) हो जाता है। जाना हुआ, न जाना हुआ सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और जिन सिद्धान्तों का ज्ञान न हो, वे सभी स्वयं ही ज्ञात हो जाते हैं। हे गौतम! जिस प्रकार से मिट्टी के एक ही पिण्ड से अभिन्न समस्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान हो जाता है; क्योंकि कार्य-कारण से अभिन्न होता है, वैसे ही पंचब्रह्म के ज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है॥३४-३५॥

एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा। विज्ञातं स्यादथैकेन नखानां कृन्तनेन च॥ ३६॥
सर्वं कार्ष्णायसं ज्ञातं तदभिन्नं स्वभावतः। कारणाभिन्नरूपेण कार्यकारणमेव हि॥ ३७॥

जिस प्रकार एक लोहमणि के द्वारा समस्त लोहतत्त्व ज्ञात हो जाते हैं, उसी प्रकार नाखून को काटने की छुरी से सभी लोहे के बने अस्त्रों की जानकारी प्राप्त हो जाती है; यह स्वाभाविक है कि उससे अपृथक् जितनी भी वस्तुएँ होंगी, वे सभी तदनुरूप होंगी; क्योंकि कारण से अभिन्न जो भी कार्य है,वह कारण रूप ही होता है॥

तद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिर्मृषा खलु। तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम्॥ ३८॥
भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्मादेरनिरूपणात्। अतश्च कारणं नित्यमेकमेवाद्वयं खलु। अत्र कारणमद्वैतं शुद्धचैतन्यमेव हि॥ ३९॥

यदि किसी भी वस्तु को (कार्य को) तद्रूप अर्थात् कारण के अनुरूप मान लिया जाए, तो वह सदा सत्य है। जब उसे भिन्न (तद्रूप से भिन्न) कहेंगे, तो वह मिथ्या कथन होगा; क्योंकि सभी कार्यों का कारण तो एक ही है। वह न तो भिन्न है और न ही उभयात्मक है। यह जो सभी जगहों पर भेद की प्रतीति होती है, उसका कारण धर्म के निरूपण का अभाव ही है। अत: कारण तो वस्तुतः एक ही है, वह दूसरा (भिन्न) नहीं है। इसलिए इस चराचर विश्व का कारण शुद्ध चैतन्यरूप अद्वैत ही है॥ ३८-३९॥

अस्मिन्ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं मुने। पुण्डरीकं तु तन्मध्ये आकाशो दहरोऽस्ति तत्। स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः॥ ४०॥ अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः। तेनायं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसारमोचकः। इत्युपनिषत्॥ ४१॥

हे मुने! इस अविनाशी ब्रह्म के आश्रयस्थल शरीर में जो दहर नामक निवास स्थल (हृदय में) है, जिसे पुण्डरीक (कमल) भी कहते हैं, उसी में दहराकाश स्थित है। उसी में ही मोक्ष के इच्छुक साधकों को सत्-चित् एवं आनन्दस्वरूप उस शिव को ढूँढ़ना चाहिए। यह शिव सदैव हृदय कमल में ही प्रतिष्ठित रहता है एवं निर्विशेष (सामान्य) दृष्टि से सभी का साक्षीभूत है। इस कारण से हृदय को शिवस्वरूप कहकर इस (हृदय) को ही संसार का मोचक अर्थात् संसार से मुक्त करने वाला कहा गया है॥ ४०-४१॥

ॐ स ह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति पञ्चब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ परब्रह्मोपनिषद् ॥

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल २० मन्त्र हैं, जिसमें परब्रह्म की प्राप्ति हेतु संन्यास-धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उपनिषद् का शुभारंभ महाशाल शौनक के उस प्रश्न से हुआ है, जिसमें उन्होंने महर्षि पिप्पलाद से पूछा है कि संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ इसके पूर्व कहाँ स्थित रहते हैं? भगवान् हिरण्यगर्भ ने उन पदार्थों को किस प्रकार सृजित किया और वस्तुतः वे कौन हैं? महर्षि पिप्पलाद ने इसी प्रश्न का विशद विवेचन किया है तथा उस परम सत्ता को; जो सृष्टि का आदिकारण है, जानने के लिए अष्टकपाल-अष्टांगयोग का आश्रय लेना बताया है। आगे चलकर संन्यास-धर्म का अतीव प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है, जिसमें संन्यासी को बाह्य यज्ञोपवीत और शिखा के स्थान पर आन्तरिक यज्ञोपवीत एवं शिखा की अनिवार्यता बताई गई है। साथ ही यह कहा गया है कि जिसने अग्निमय-ज्ञानमय शिखा और यज्ञोपवीत धारण किया है, वही सच्चा साधक और मुक्ति का अधिकारी बनता है। अन्त में बाहरी प्रपञ्चमय शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग करके प्रणव हंस (ॐ कार ब्रह्म) रूपी शिखा और यज्ञोपवीत का आश्रय लेकर मोक्ष का अधिकारी बनने का निर्देश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु। कथं सृज्यन्ते। नित्यात्मन एष महिमा। विभज्य एष महिमा विभुः। क एषः। तस्मै स होवाच। एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः। परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति। स नियच्छति मधुकरराश्या निर्मकः। अकर्मस्वपुरस्थितः। कर्मतरः कर्षकवत्फलमनुभवति। कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति। कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात्। को जालं विक्षिपेदेको नैनमपकर्षत्यपकर्षति॥ १॥

एक बार बुद्धिमान् शौनक ने विधिवत् समीप बैठकर अङ्गिरस गोत्रीय भगवान् पिप्पलाद से पूछा-क्या संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ पहले दिव्य ब्रह्मपुर अर्थात् भगवान् हिरण्यगर्भ के हृदयाकाश में प्रतिष्ठित होते हैं? ये व्यापक महिमाशाली भगवान् अपने अन्दर से उन पदार्थों को यथा विभाग किस तरह सृजित करते हैं? इन विभु की महिमा क्या है? अर्थात् ये वस्तुतः कौन हैं? महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा-जो श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या मैं तुमसे कहूँगा, वह सत्य है। यह सत्, देवों (इन्द्रियों) तथा प्राण-अपान आदि दस प्राणों को अपने-अपने विषय ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करता है। यह परब्रह्मपुर में विरज (रज आदि गुणत्रय के अभाव वाला) और निष्कल (प्राण आदि नामवाली षोडश कलाओं से रहित) है। इसी कारण शुभ्र (स्वच्छ) और अक्षर (अविनाशी) है, जो गुणातीत होकर सुशोभित होता है, वह जीव समूह के बन्धन और मोक्ष का निर्माण कर्त्ता होने से 'निर्मक' कहलाता है। इसी प्रकार जो निर्माता है, वह परमात्मा मुमुक्षुओं की अविद्या का समापन कर देता है, जिससे वे शुद्ध चैतन्य उस परमात्मा का अनुभव (दर्शन) कर पाते हैं। वह परब्रह्म अपने

ही स्थान में रहकर अकर्म (कर्महीन) स्वरूप में अवस्थित रहता है, क्योंकि वह कृत-कृत्य होता है, अर्थात् उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वह पराग् दृष्टि (विपरीत दृष्टि) वाला व्यक्ति तो इह लोक और परलोक के फल प्राप्त करने की दृष्टि से विविध कर्म करता है और कृषक की भाँति अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल प्राप्त करता है। जो ज्ञानी कर्म के मर्म को (कर्म को जन्म आदि का कारण) जानकर कर्म करता है, वह तो चित्त की शुद्धि के लिए परमेश्वर की आराधना रूप कर्म करता है। जो मुनि अपने अतिरिक्त (अपने को ब्रह्म मानकर) अन्य भ्रम से मुक्ति चाहता है, वह कर्म के मर्म को जानकर (कर्मानुसार ही उच्च-नीच योनियाँ मिलती हैं, यह जानकर) अपने आश्रम के अनुरूप निष्काम कर्म करता है। एक मात्र ब्रह्म में चित्त को लगाने वाला कौन ऐसा विवेकी है, जो विविध प्रकार के कर्म जाल में फँसकर अपना अपकर्ष करता है? अर्थात् कोई नहीं (इसका आशय है कि निष्काम कर्म करने वाले को उसके कर्म सांसारिक विषयों में नहीं खींच सकते) ॥१॥

प्राणदेवताश्चत्वारः। ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तश्येनाकाशवत्। यथा श्येनः खमाश्रित्य याति स्वमालयं कुलायम्। एवं सुषुप्तं ब्रूत। अयं च परं च स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे। अमृता ह्येषा नाडीत्रयं संचरति। तस्य त्रिपादं ब्रह्म। एषात्रेष्य ततोऽनुतिष्ठति। अन्यत्र ब्रूत। अयं च परं च सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे। यथैष देवदत्तो यष्ट्या च ताड्यमानो नैवैति। एवमिष्टापूर्तकर्मा शुभाशुभैर्न लिप्यते। यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियाति। तथैष देवः स्वप्न आनन्दमभिधावति। वेद एव परं ज्योतिः। ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव। तत्परं यच्चित्तं परमात्मानमानन्दयति। शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात्। भूयस्तेनैव मार्गेण स्वप्रस्थानं नियच्छति। जलूकाभाववद्व्यर्थाकाममाजायतेश्वरात्। तावतात्मानमानन्दयति। परसंधि यदपरसन्धीति। तत्परं नापरं त्यजति। तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरिति। अत्र जाग्रति शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते। य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः। प्रणवहंसः परं ब्रह्म। न प्राणहंसः। प्रणवो जीवः। आद्या देवता निवेदयति। य एवं वेद। तत्कथं निवेदयते। जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति॥ २॥

(त्रिपाद् ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय बताते हुए ऋषि कहते हैं कि) जीव के प्राणाधार रूप में विश्वादि तुरीयान्त भेद से प्राण के चार भेद होते हैं। उन्हें प्राप्त करने वाली नाड़ियाँ भी चार प्रकार की होती हैं। ये चार-रमा,अरमा, इच्छा और पुनर्भवा नामक हैं। इनमें रमा और अरमा नाड़ियों का अवलम्बन लेकर वह (प्राण) आकाशगामी श्येन (बाज़) की तरह जाग्रत्, स्वप्न आदि के व्यवहार से थकित होकर सुषुप्तावस्था में चला जाता है, अर्थात् जिस प्रकार श्येन आकाश में उड़ते-उड़ते थककर अपने घोंसले में विश्राम हेतु चला जाता है, उसी प्रकार जीव भी जाग्रत् स्वप्नादि प्रपञ्चों से थककर दोनों नाड़ियों का आश्रय लेकर सुषुप्ति में विश्रान्ति प्राप्त करता है। वह (जीव) कभी-कभी सुषुप्तावस्था में अन्यत्र भी भ्रमण करता है, इस संदर्भ में बताते हैं-यह वस्तुतः अमृत रूप देवता सर्वत्र व्यापक हिरण्यमय परकोश अर्थात् हृदयाकाश में रमा आदि नाड़ीत्रय का आश्रय लेकर संचरण करता है। उसके बाद उसका त्रिपाद् रूप ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यह जीव (प्राणवत्ता) रूप देवता अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर तत्स्वरूप में स्थित रहकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव इस जाग्रदवस्था के अतिरिक्त भी अन्य अवस्थाओं में अपनी स्वतन्त्र सत्ता समझकर परिभ्रमण करता रहता है। सर्वत्र सदैव हिरण्यमय परकोश में विचरण करता हुआ भी स्वाज्ञानावरणाच्छन्न होकर जाग्रत्

आदि अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) के गर्त में गिरता है अर्थात् बन्धनयुक्त होता है। जिस प्रकार कोई देवदत्त नामक व्यक्ति शयन की स्थिति में हो, उसे कोई बेंत से ताड़ित करे, तो जागने के बाद वह पुनः नहीं सोता; उसी प्रकार यह जीव भी श्रुतिरूप (वेद शास्त्रादि) आचार्य द्वारा जाग्रत् हो जाने पर पुनः अवस्थात्रय रूप गर्त में नहीं पड़ता और न ही इष्टापूर्त आदि शुभाशुभ कर्मों में लिप्त होता है। इसी प्रकार जैसे बालक किसी वस्तु में विशेष आसक्ति न होने के कारण जो भी मिल जाए, उसी को पाकर आनन्दित होता रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी स्वप्न अथवा जाग्रत्-अवस्था में भी निरन्तर आनन्द का अनुभव करता है अथवा आनन्द की ओर ही दौड़ता है।

अतः जो कोई श्रुतिरूप आचार्य के मुख से यह जान लेता है कि मैं परम ज्योति और आनन्द का स्वरूप हूँ तथा परम ज्योति सूर्यादि की किरण हूँ, प्रकाश हूँ, अपने आप में आनन्दित रहता हूँ। इस प्रकार जिसका हृदय (चित्त) उस परब्रह्म में तत्पर (समर्पित) हो जाता है, वह परमात्मा को प्राप्त कर आत्मा को तृप्त (आनन्दित) करता रहता है अथवा अपने आत्मस्वरूप आनन्दस्वरूप में स्थित रहता है। ईश्वर से शुभ्रवर्ण (निर्विकल्प भाव) उत्पन्न होता है, जिससे चित्त प्रसन्न होता है। इस प्रकार त्रिपुटि विरल निर्विकल्प समाधि का अनुभव करके स्वप्न स्थान में विश्राम करता है अर्थात् त्रिपुटि विशिष्ट अखण्डाकार वृत्ति से शीघ्र ही स्वप्नावस्था को प्राप्त कर 'तत्त्वमसि,' 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके आत्मा को विश्राम प्रदान करता है। जिस प्रकार जलूका (जोंक) एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाती है, उसी प्रकार यह विद्वान् भी तुरन्त जागरणस्थ और तुरन्त स्वप्नस्थ हो जाता है। पुनः जागरण को त्याग कर फिर स्वप्नस्थ हो जाता है। ईश्वर की कृपा से (अवस्था विभाग से) तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में सञ्चरण करने की इच्छा करने मात्र से वैसी स्थिति बन जाती है। इस कारण यह (जीव) सविकल्प और निर्विकल्प समाधि से अपनी आत्मा को आनन्दित करता है। तत्पश्चात् जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व में जो भेद सापेक्षत्व (अविद्या) है, उसका यह आत्मतत्त्व त्याग कर देता है। इस प्रकार वह अविद्यारहित आत्मतत्त्व (परब्रह्म) अपर (उस ब्रह्म से भिन्न कुछ न होने से) का त्याग नहीं करता। स्वयमेव विद्यमान रहता है।

यदि केवल श्रवणादि के माध्यम से निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तो कपालाष्टक का आश्रय लेना चहिए। कपालाष्टक के आठ (८) अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनके द्वारा अन्तर के कलुष को शुद्ध करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस कपालाष्टक-अष्टांगयोग के द्वारा स्तन (हृदय स्थान में स्थित केले के पुष्प) की भाँति लटका रहता है, जो योग के समय ऊपर उठता हुआ विकास को प्राप्त होता है; इसमें ही इन्द्रयोनि (परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग), जिसे वेदयोनि कहते हैं, वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस प्रकार जो अपने हृदयकमल में ईश्वर का ध्यान करता है, वह शुभ-अशुभ से परे होकर शुभाशुभ कर्मों के द्वारा कभी लिप्त नहीं होता। वह देव कैसा है ? इस संदर्भ में बताते हैं-वह अन्य देवों का संप्रसाद (अत्यन्त प्रसन्नता) दाता, अन्तर्यामी, असङ्ग, चैतन्य स्वरूप, पुरुष, प्रणव हंस (ॐकार), परमब्रह्म है, जो प्राण हंस नहीं है। (यहाँ प्राण हंस से अभिप्राय मुख्य प्राण से है, क्योंकि यह परब्रह्म प्रकरण है, प्राण का नहीं) प्रणव ही जीव है; क्योंकि वह ओंकार के अवयव के आकार से समझा जाने वाला है। वह जीवरूपी आद्य देवता कहा जाता है। जो इस यथार्थता को इस प्रकार जानता है, वह जीव-ब्रह्म के भेद को कैसे निरूपित (निवेदित) कर सकता है। वह तो जीव और ब्रह्म का एकत्व ही प्रतिपादित करता है, उनका भेद कभी स्मरण नहीं करता ॥ २ ॥

[यहाँ ऋषि ने योग के अष्टांगों को कपालाष्टक कहा है। अपनी भाव दृष्टि से ऋषि उसे एक कमल पुष्प की तरह

अनुभव करते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से लटका हुआ बंद कमल ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है, उसी प्रकार सुप्तावस्था में स्थित योग वृत्तियाँ ब्राह्मी चेतना के संयोग से जाग्रत् और ऊर्ध्वमुखी हो उठती हैं।]

सत्त्वमथास्य पुरुषान्तःशिखोपवीतत्वम्। ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतधारणम्। बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य। अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवदव्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम्॥ ३॥

ब्रह्म रूप इस पुरुष का सत्त्व आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत है। मुमुक्षु ब्राह्मण को यह आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत ही धारण करना चाहिए। बाहर दिखाई देने वाले शिखा और यज्ञोपवीत को धारण करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत बाह्य सूत्रवत् शिखा और यज्ञोपवीत के समान व्यक्त नहीं है। वे तो अव्यक्त हैं और ब्रह्मत्व से मेल कराने वाले हैं॥ ३॥

न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम्। न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम्। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं हेयं मिथ्यात्वकारणादिति॥ ४॥

अविद्या का स्वरूप न सत् है, न असत्; न भिन्न है, न अभिन्न और न दोनों का उभय स्वरूप है। वह न सभाग है, न निर्भाग और न इनका उभय रूप ही है। अतः जब तक अनिर्वचनीय ब्रह्म का आत्मैकत्व (प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है, यह ज्ञान) उदित नहीं होता, तभी तक अविद्या की स्थिति है। ब्रह्म स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर, यह सभी हेय है, त्याग देने योग्य है, क्योंकि यह सब मिथ्या है॥ ४॥

पञ्चपाद्ब्रह्मणो न किंचन। चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मणश्चत्वारि स्थानानि। नाभिहृदयकण्ठमूर्धसु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्थाः। आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणसभ्याग्निषु। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम्। तस्माच्चतुरवस्था। चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य ज्ञानपूतं त्रिगुणस्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय नवब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा नवमानमितं त्रिःपुनस्त्रि गुणीकृत्य सूर्येन्द्वग्निकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्याद्यन्तरेकत्वमपि मध्ये त्रिरावृत्य ब्रह्म विष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधायाद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ग्रन्थावद्वैतग्रन्थिं कृत्वा नाभ्यादिब्रह्म बिलप्रमाणं पृथक् पृथक् सप्तविंशतितत्त्वसंबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षणलक्षित मप्येकत्वमापाद्य वामांसादिदक्षिणाकट्यन्तं विभाव्याद्यन्तग्रहसंमेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकं सत्यं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। हंसेति वर्णद्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानार्हत्वं यतित्वमलक्षितान्तः शिखोपवीतित्वमेवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थस्याभासब्राह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतोपवीतत्वम्। चतुः चतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तुकृत्त्वं नवतत्त्वमेकमेव परंब्रह्म तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्ब्रहुमार्गप्रवृत्तिं कल्पयन्ति। सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका। ब्रह्मैकमेव। ब्राह्मणत्वमेकमेव। वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक् शिखा वर्णाश्रमिणामेककैव। अपवर्गस्य यतेः शिखायज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेकमेव वदन्ति। हंसः शिखा। प्रणव उपवीतम्। नादः संधानम्। एष धर्मो नेतरो धर्मः। तत्कथमिति। प्रणवहंसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति त्रिविधं ब्रह्म। तद्विद्धि प्रापञ्चिकशिखोपवीतं त्यजेत्॥ ५॥

पंचपाद (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत) ब्रह्म अपने से पृथक् अविद्यारूप है या नहीं, यह भ्रान्ति कुछ नहीं है अर्थात् वह सर्वमय है। व्यष्टि और समष्टि रूप चतुष्पाद के अन्तर्गत विद्यमान जीवरूप ब्रह्म के चार स्थान हैं-नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा (सिर)। ब्रह्म चार अवस्थाओं में प्राप्त होता है-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य (तुरीय)। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण और सभ्य अग्नियों में यथाशक्य आत्मभाव करना चाहिए। जाग्रत्-अवस्था में ब्रह्मा, स्वप्नावस्था में विष्णु, सुषुप्तावस्था में रुद्र तथा तुरीयावस्था में अक्षर चिद्रूप ब्रह्म ध्यातव्य है।

अब ब्रह्म को यज्ञोपवीत स्वरूप विवेचित किया जाता है, क्योंकि संन्यासी इसी ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत को धारण करता है-चार अवस्थाएँ (जो ऊपर कही गई हैं) ही चार अँगुलियों का वेष्टन है (चार अँगुलियों में लपेट कर ही यज्ञोपवीत का निर्माण किया जाता है) जो छः बार किया जाता है। इसमें ९६ तत्त्व लपेटे जाते हैं। इसके तीन विभाग करके ३ गुने (३२×३=९६) रूप द्वारा बत्तीस तत्त्वों के निष्कर्ष का सम्पादन करके ज्ञानपूत, त्रिगुण (सत,रज, तम) रूप (तीन गुण अर्थात् यज्ञोपवीत की तीन लड़ें) और त्रिमूर्ति रूप को पृथक् जानकर, नौ ब्रह्म अर्थात् नौ गुणों (नौ धागों) को जानकर नौ के मान से (परिमाण से) तीन को पुन: तीन गुना करके सूर्य, इन्दु(चन्द्रमा) और अग्नि की कला के स्वरूप से एकीकृत करके फिर आदि, मध्य और अन्त की तीन आवृत्तियाँ करके, ब्रह्मा, विष्णु, और महेश (रुद्र) का अनुसन्धान करके, उन आवृत्तियों को आदि से अन्त तक एक करके चिद्ग्रन्थि में अद्वैत ग्रन्थि बनाकर नाभि से लेकर ब्रह्म बिल (ब्रह्मरन्ध्र) तक के परिमाण में पृथक्-पृथक् सत्ताईस (२७) तत्त्वों से सम्बन्धित त्रिगुणयुक्त (तीन लड़ों से युक्त), त्रिमूर्तिरूप (तीन अलग-अलग रूपों में) दीखने पर भी उसमें एकत्व सम्पादन करके बाँयें कन्धे से लेकर दाहिने भाग की कमर तक इसकी भावना करके (इसे धारण करके) ही चित्त शुद्ध हो सकता है। इस यज्ञोपवीत के विषय में ऐसा जानना चाहिए कि इसमें प्रारम्भ से अन्त तक विभिन्न तत्त्वों के सम्मेलन में मूल तत्त्व एक ही है- जैसे- मिट्टी से बने हुए कुम्भ आदि विभिन्न पात्र होते हैं, पर उनमें सत्य केवल मिट्टी ही है। इसी प्रकार ब्रह्म निर्मित सभी कुछ ब्रह्म ही है, उससे पृथक् अन्य कोई सत्ता नहीं है। अस्तु सोऽहं (हंस) वही ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा भाव सतत करना ही अन्तर्वर्ती शिखा और यज्ञोपवीततत्त्व है, ऐसा निश्चय करके ब्राह्मणत्व (ब्रह्म ध्यान की अर्हता-योग्यता) और यतित्व की प्राप्ति होती है। इनके (ब्राह्मणत्व और यतित्व प्राप्त व्यक्तियों की) शिखा और यज्ञोपवीत अलक्षित अर्थात् अन्तर्वर्ती होते हैं। बाहर दीखने वाले कर्म रूप शिखा और ज्ञानरूप उपवीत गृहस्थों के होते हैं। बाहर से दीखने वाले केश समूह शिखा और प्रत्यक्ष कपास के धागों से निर्मित उपवीत तो ब्राह्मणत्व अथवा वैदिक धर्मानुष्ठान योग्यता के आभासक हैं। यज्ञोपवीत के सूत्र चौबीस (२४) तत्त्वों का चौगुना (अर्थात् २४×४=९६) अर्थात् छियानवे तत्त्व रूपी ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, यज्ञोपवीत के नौ तत्त्व (धागे) भी ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, यज्ञोपवीत के नौ तत्त्व (धागे) भी ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। ब्रह्म एक ही है, किन्तु बहुत से लोग अपनी-अपनी बुद्धि से उसकी प्राप्ति के विविध उपायों (सांख्ययोगादि) की कल्पना करते हैं। सभी ब्राह्मणों, देवर्षियों और मनुष्यों के लिए मुक्ति, ब्रह्म और ब्राह्मणत्व एक समान हैं। वर्णाश्रम और आचार पृथक्-पृथक् हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था वालों के लिए शिखा का स्वरूप एक ही है। मोक्ष के अधिकारी यति की शिखा और यज्ञोपवीत का मूल प्रणव (ॐकार) ही है, ऐसा कहते हैं। इनके (यतियों के) लिए हंस (ब्रह्मज्ञान) ही शिखा और तुरीय ॐकार (प्रणव) ही उपवीत है तथा नाद ही इन दोनों को जोड़ने वाला अर्थात् सन्धान है।

यही इनका धर्म है, अन्य कोई नहीं। इनका यह धर्म किस प्रकार है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-

प्रणव (ॐकार) ही हंस (ब्रह्म) और नाद ही यह त्रिवृत् (तीन लड़ी) वाला सूत्र है। यह अपनी ही महिमा से अपने में स्थित है। वह चैतन्य रूप से हृदय में विराजता है। पर और अपर के भेद से इस ब्रह्म को दो प्रकार से समझना चाहिए। यदि कोई अपने से पृथक् अन्य कुछ नहीं देखता, सब आत्मरूप में ही देखता है, ऐसे मुमुक्षु को प्रपञ्चयुक्त शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए॥ ५॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परंब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ६॥

बुद्धिमानों (अर्थात् उपर्युक्त स्थिति वालों) को शिखा सहित केश कर्तन करके बाह्य उपवीत (यज्ञोपवीत) का विसर्जन कर देना चाहिए और अक्षर ब्रह्म को ही सूत्र स्वरूप धारण करना चाहिए॥ ६॥

पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत्। सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम्॥ ७॥

पुनर्जन्म से निवृत्ति के लिए सतत मोक्ष का स्मरण करे। सूचना देने वाला होने से ही ब्रह्मरूपी सूत्र को परमपद रूप 'सूत्र' कहा जाता है॥ ७॥

तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः। स वेदवित्सदाचारः स विप्रः पंक्तिपावनः॥ ८॥

उस सूत्र (ब्रह्मसूत्र) का जिसे ज्ञान हो गया, वही मुमुक्षु, भिक्षुक, वेदज्ञ, सदाचारी और विप्र है, जो अनेक प्राणियों को पावन करता है॥ ८॥

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यतिः॥ ९॥

जिस परब्रह्म ने इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मणि-मनकों की तरह एक ही सूत्र में पिरोया है, उस सूत्र को धारण करने वाला योगी, योगविद् ब्राह्मण और यति होता है॥ ९॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक्। नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात्॥ १०॥

ब्राह्मण, योगविद् और ज्ञानतत्पर व्यक्ति को चाहिए कि वह बाहरी सूत्र का परित्याग कर दे; क्योंकि जो ब्रह्मभाव युक्त सूत्र को धारण करता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है। उस (ब्रह्मभावमय) सूत्र को धारण करने में किसी प्रकार की अपवित्रता, उच्छिष्टता (जूठा होना) नहीं रहती ॥ १०॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ ११॥

संसार में जिन यज्ञोपवीतधारियों के यज्ञोपवीत (सूत्र) के अन्तर्गत ज्ञान समाहित है, वे ही इस जगत् में सूत्रविद् और सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं॥ ११॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम्॥ १२॥

जो ज्ञानरूपी शिखा, ज्ञान की निष्ठा और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनके लिए ज्ञान ही सर्वस्व है; क्योंकि ज्ञान को परम पवित्र कहा गया है॥ १२॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः॥१३॥

जिनकी अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञानरूपी शिखा है, अन्य कोई जिनकी शिखा नहीं है, वस्तुतः वे ही शिखी (चोटी वाले) हैं, शेष तो मात्र केशधारी हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं॥ १३॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा। ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः। व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि॥ १४॥

जो वैदिक (यज्ञादि) कर्मों अथवा लौकिक (आहार-विहार आदि) कर्मों में निरत हैं, वे तो आभास मात्र ब्राह्मण हैं; क्योंकि वे केवल उदर-पूर्ति के लिए जीते हैं, ऐसे लोग प्रत्येक जन्म के अन्त में नरक में जाते हैं (अथवा संसार के इस जन्म-मृत्यु रूपी नरक में विविध कष्ट सहते हैं)॥ १४॥

वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः। अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम्। नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः॥ १५॥

सुधी (विद्वान्) के लिए उचित है कि वह बाँयें कन्धे से दाहिनी कमर पर्यन्त ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) धारण करे। यह तो बाह्य यज्ञोपवीत की बात हुई, इसी प्रकार अन्तर में परमतत्त्व रूप तन्तु (धागे) से निर्मित ब्रह्मसूत्र नाभि से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त यथा प्रमाण (परिमाण) धारण करे॥ १५॥

तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम्। शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन॥ १६॥

इस प्रकार परमतत्त्व रूपी तन्तु से निर्मित विविध क्रियाओं के अङ्ग रूप इस ब्रह्मसूत्र को धारण करना चाहिए। जिसकी शिखा और यज्ञोपवीत ज्ञानमय होते हैं, उसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है॥ १६॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्। विद्वान्यज्ञोपवीती संधारयेद्यः स मुक्तिभाक्॥ १७॥

जो विद्वान् इस परम तत्त्व रूपी और ब्रह्मपरायण यज्ञोपवीत को धारण करता है, वही सच्चा यज्ञोपवीती और मुक्ति का अधिकारी है॥ १७॥

बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति। एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति॥ १८॥

जो बाहर और अन्दर दोनों प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करता है, वही विप्र वस्तुतः संन्यास का अधिकारी है अर्थात् बाह्य यज्ञोपवीत धारण कर लौकिक-वैदिक कर्मों को विधिवत् सम्पन्न करते हुए आन्तरिक यज्ञोपवीत द्वारा जिसके अन्दर ब्रह्मतत्त्व जिज्ञासा से वैराग्य वृत्ति उत्पन्न हो गई हो, वही संन्यास का अधिकारी है। केवल एक (बाह्य) यज्ञोपवीत धारण करने वाला विप्र संन्यास का अधिकारी नहीं है॥ १८॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः। बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत्॥१९॥

इसलिए यति को चाहिए कि वह सभी प्रयत्नों से मोक्षापेक्षी (मुमुक्षु) बने तथा बाह्यसूत्र का परित्याग करके अपने अन्दर सूत्र को धारण करे॥ १९॥

बहिःप्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्वमवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवाञ्छौनक इत्युपनिषत्॥ २०॥

(अन्त में) भगवान् शौनक ने कहा कि बाहरी प्रपञ्चमय शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग करके प्रणव हंस (ॐकार ब्रह्म) रूपी शिखा तथा यज्ञोपवीत का अवलम्बन लेकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करे। ऐसी यह रहस्यमयी विद्या है॥ २०॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इतिः शान्तिः॥

॥ इति परब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। गद्यात्मक इस उपनिषद् में ५ बड़े अनुच्छेद हैं, जिसमें परमहंस-परिव्राजक के लक्षण, परिव्रजन के अधिकारी, परिव्रज्या प्राप्ति की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

उपनिषद् का शुभारम्भ पितामह ब्रह्मा द्वारा अपने पिता आदिनारायण से परमहंस परिव्राजक विषयक प्रश्न से हुआ है। नारायण ने उत्तर देते हुए कहा कि पहले व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। तदुपरान्त क्रमशः संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास ग्रहण की विधि का उल्लेख करते हुए नारायण ने आगे उसकी जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है। पुनः ब्रह्माजी के पूछने पर नारायण ने ब्रह्म-प्रणव का रहस्य समझाते हुए कहा है कि यह 'ब्रह्म प्रणव' षोडशमात्रात्मक होता है। इसे भली प्रकार जानकर इसकी उपासना करने वाला परमहंस अन्ततः विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद शिखा, यज्ञोपवीत आदि बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं रहती। उसे अन्य मन्त्र-तन्त्र, उपासना-ध्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो ब्रह्म-प्रणव के अनुसन्धानपूर्वक सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिद्घन स्वरूप 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना से अपने जीवन को कृतकृत्य बना लेता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद)

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवंस्त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमवगतम्। इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि कः परिव्रजनाधिकारी, कीदृशं परिव्राजकलक्षणं, कः परमहंसः, परिव्राजकत्वं कथं, तत्सर्वं मे ब्रूहीति। स होवाच भगवानादिनारायणः ॥ १ ॥

(एक बार) पितामह (ब्रह्मा) ने अपने पिता आदि नारायण के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके पूछा- हे भगवन् ! आपके श्रीमुख से सुनकर वर्णाश्रम धर्म का क्रम तो मैंने पूरी तरह जान लिया है। अब मैं परमहंस परिव्राजक के लक्षण जानने की इच्छा रखता हूँ। परिव्रजन का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक के क्या लक्षण हैं ? परमहंस कौन है ? परिव्राजकत्व कैसे प्राप्त होता है ? यह सब मुझे बताने की कृपा करें। भगवान् आदि-नारायण ने कहा- ॥ १ ॥

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव हेयमधिगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति बुद्ध्वा सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलत्रपुत्रमाप्तबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वाऽनुमोदयित्वा तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यात्। आग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया

करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह। ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यद्यातुरो वाग्निं न विन्दे-दप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम्। एष विधिर्वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेदेष पन्थाः॥ २॥

सद्गुरु के समीप परिश्रमपूर्वक समस्त विद्याओं का ज्ञाता होकर वह विद्वान् इहलौकिक और पारलौकिक सुखों को श्रम स्वरूप (श्रमसाध्य) जानकर एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा), वासनात्रय (देह, मन तथा बुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार), ममत्व और अहंकारादि को वमन किए (उगले हुए) अन्न के समान हेय समझ कर मोक्षपथ के एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य को पूरा करके (अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात्) गृहस्थ बने। गृहस्थ धर्म के पालन के बाद 'वनी' (वानप्रस्थी) बने, तब परिव्राजक संन्यासी बने। (यह सामान्य अनुशासन है) इसके अतिरिक्त विशेष संदर्भों में किसी भी आश्रम-ब्रह्मचर्याश्रम से अथवा गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से भी प्रव्रज्या में प्रवेश कर सकता है। अत: व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, अग्निहोत्र करने वाला हो अथवा न हो, जब भी विरक्ति उत्पन्न हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण करके परिव्राजक हो जाना चाहिए। संसार से सभी प्रकार से विरक्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अपने माता,पिता, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धुओं और उनके अभाव में शिष्यों अथवा साथ में रहने वालों से सम्मति लेकर प्राजापत्य इष्टि (यज्ञ) करते हैं। उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए। आग्नेयी इष्टि ही करनी चाहिए। अग्नि ही प्राण है। इसके (अग्नि) द्वारा ही प्राण क्रिया करता है-ऐसा भाव करते हुए त्रैधातवी (इष्टि) करे। सत्त्व,रज और तम ये ही त्रिधातु हैं। इसके पश्चात् इस मंत्र से अग्नि को सूँघे 'हे अग्निदेव! यह प्राण आपका कारण रूप है, यह जानते हुए आप इसमें प्रवेश करें। आप प्राण से उद्भूत हैं। इसलिए आप हमें प्रकाश और वृद्धि प्रदान करें।' हे अग्निदेव! आप अपने योनि स्थल (प्राण) में प्रविष्ट हों, अपने उत्पत्ति स्थल में गमन करें। 'स्वाहा' इस प्रकार ऐसा कहा गया है। ग्राम के श्रोत्रिय के घर से अग्नि लाकर पूर्वोक्त विधि से अग्नि को सूँघे। यदि आतुरतापूर्ण भाव हो और अग्नि उपलब्ध न हो, तो जल में ही हवन करे। 'आप:' (जल) ही समस्त देवताओं का स्वरूप है 'समस्त देवताओं के निमित्त हवन कर रहा हूँ' ऐसा भाव करते हुए स्वाहा सहित आहुति प्रदान करे। तत्पश्चात् हवन किए हुए पदार्थ को उठाकर, घृत सहित हवि को ग्रहण (भक्षण) करे। इस विधि का प्रयोग वीर मार्ग में अथवा अनशन द्वारा शरीर छोड़ने के क्रम में अथवा जल प्रवेश में अथवा अग्नि प्रवेश में अथवा महाप्रस्थान में किया जाता है। यदि आतुरता हो, तो मन अथवा वाणी से संन्यास की विधि सम्पन्न कर लेनी चाहिए , यही मार्ग है॥ २॥

स्वस्थक्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वाऽग्निमात्मन्यारोप्य लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिं च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा सावित्रीप्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य तत्सावधानेनापः प्राश्य प्रणवेन शिखामुत्कृष्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा वस्त्रमपि भूमौ वाऽप्सु वा विसृज्य ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ सुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा

स्वं रूपं ध्यायन्पुनः पृथक् प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतारध्वनिभिस्त्रिवारं त्रिगुणीकृतप्रैषोच्चारणं कृत्वा प्रणवैकध्यानपरायणः सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेत्। जातरूपधरश्चरेत्। एष संन्यासः॥ ३क

स्वस्थ क्रम से आत्मश्राद्ध एवं विरजा होम (संन्यास ग्रहण के समय किया जाने वाला यज्ञ विशेष) करके अग्नि को आत्मा में आरोपित करके अपनी लौकिक और वैदिक सामर्थ्य को तथा अपनी चतुर्दशकरण प्रवृत्ति को पुत्र में आरोपित करे। पुत्र के न होने पर शिष्य में और शिष्य के अभाव में अपनी आत्मा में ही आरोपित कर दे। इसके पश्चात् 'ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं' मंत्र का उच्चारण करके, भावनापूर्वक ब्रह्म का ध्यान करके सावित्री में प्रवेश करे। तब अपतत्त्व (जल) में समस्त विद्याओं के अर्थरूप, ब्राह्मण्य की आधाररूपा वेदमाता (गायत्री) को व्याहृतित्रय (भूः, भुवः, स्वः) में विलीन करके इन तीनों व्याहृतियों को अकार, उकार और मकार [अ,उ,म् (ॐ)] में विलीन करे। इसके पश्चात् सावधान होकर जल का पान करे। इसके बाद प्रणव (ॐ) मंत्र का उच्चारण करते हुए शिखा को त्यागकर, यज्ञोपवीत को काटकर, वस्त्रों को भूमि अथवा जल में विसर्जित कर, ॐभूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, इस मन्त्र से जातरूपधर (शिशुवत् निश्छल) होकर अपने स्वरूप का ध्यान करे। फिर पृथक् प्रणव और व्याहृतिपूर्वक मन और वाणी से भी 'मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, ऐसा मन्द्र, मध्य और तार सप्तक की ध्वनि में तीन बार तीन गुना प्रैष मंत्र उच्चारण करके कहे। तत्पश्चात् 'प्रणव' का ध्यान करते हुए समस्त प्राणियों को मैं अभयदान कर रहा हूँ—ऐसा भुजा उठाकर बोले कि 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), 'तुम वही (ब्रह्म) हो' (तत्त्वमसि) आदि और इन्हीं महावाक्यों के अर्थ पर चिन्तन करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप के अनुसंधान हेतु निर्लिप्त होकर उत्तर दिशा में जाकर विचरण करे—यही संन्यास (धर्म) है॥ ३-क॥

तदधिकारी न भवेद्यदि गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजःसखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य सद्गुरुमुपगम्य नत्वा गुरुमुखात्तत्त्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्याथ जीर्णवल्कलाजिनं धृत्वाथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य त्रिकालस्नानमाचरन्वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहंकारासूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हित्वा ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमालोच्य ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो बहिरन्तः स्नेहवर्जितः शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति॥३-ख॥

यदि इस विधि का अधिकारी न हो-अर्थात् दिगम्बर वृत्ति न अपना सके, तो दूसरी विधि कहते हैं। वह गृहस्थ प्रार्थना पूर्वक समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करे। कहे-हे सखा! तुम मेरे बल का रक्षण करो। तुम वृत्रासुर को मारने वाले इन्द्र के वज्र हो, मेरे लिए शान्ति प्रदायक हो, मुझे पापों से मुक्त करो, इस मन्त्र का प्रणवपूर्वक उच्चारण करके, श्रेष्ठ लक्षण युक्त (दोषमुक्त) बाँस के दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डलु और एक गेरुआ वस्त्र को धारण करके सद्गुरु के निकट जाकर उन्हें प्रणाम करे और उन (गुरुदेव) से प्रणवपूर्वक 'तत्त्वमसि' महावाक्य को प्राप्त करे (श्रवण करे)। इसके उपरान्त जीर्ण वल्कल अथवा मृगचर्म धारण करके

जल में उतरना, ऊपर चढ़ना तथा एक ही (घर की) भिक्षा का परित्याग करके (अर्थात् कई घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेकर), त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान के नियम का आचरण करते हुए वेदान्त दर्शन का श्रवण और प्रणव (ॐकार) का अनुष्ठान सम्पन्न करे। ब्रह्म मार्ग में विस्तृत (सम्यक्) ज्ञान प्राप्त करके, अपने मत (भावनाओं) को आत्मा (मन) में छिपाकर रखते हुए अपने को ममतारहित और अध्यात्मनिष्ठ बनाए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, दर्प, अहंकार, असूया, गर्व, इच्छा, द्वेष, हर्ष, अमर्ष, ममत्व आदि का परित्याग करके, ज्ञान वैराग्य से युक्त होकर, कञ्चन और कामिनी से पराङ्मुख होकर, शुद्ध मन से समस्त उपनिषदों की समालोचना करके ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य आदि की यत्नपूर्वक रक्षा करते हुए जितेन्द्रिय बने। बाह्याभ्यन्तर से रागरहित होकर शरीर रक्षण के लिए चारों वर्णों में पतितों (अनुशासनों से गिरे हुओं) को छोड़कर किसी वर्ण के सदाचारी गृहस्थों से भी उसी प्रकार निर्वैर होकर भिक्षा ग्रहण कर ले, जैसे पशु बिना भेद-भाव के आहार ग्रहण करता है। ऐसा करने वाला सबमें ब्रह्म भाव रखता है॥ ३-ख॥

सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ कृत्वा करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नन्मेदोवृद्धिमकुर्वन्कृशीभूत्वा ब्रह्माहमस्मीति भावयन्गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेद्द्वावेवाचरेत्। यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्। ग्राम एकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो नियमानियममुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलकमण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्रीपुरपराङ्मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्नव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसपरिव्राजको भवति॥

समस्त कालों में लाभ-हानि को समान मानता हुआ हाथ (करपात्र) में ही अल्प भिक्षा ग्रहण करे। शरीर मोटा न करके कृशकाय होकर, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव करते हुए आठ महीने तक गुरु के निमित्त अडिग होकर भिक्षाशील होकर एकाकी विचरण करे। जब सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब कुटीचक अथवा बहूदक अथवा हंस अथवा परमहंस होकर मंत्रपूर्वक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड और कमण्डलु आदि सभी को जल में विसर्जित करके जातरूपधर (शिशुवत् निर्लिप्त) होकर विचरण करे। (विचरण के अन्तराल में) ग्राम में एक रात्रि, तीर्थ में तीन रात्रि, नगर में पाँच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि तक निवास करता हुआ वह अनिकेत (घर रहित), स्थिर बुद्धि, निरग्निसेवी (अग्नि का सेवन न करने वाला), निर्विकार, नियम-अनियम का परित्याग करने वाला, लाभ और हानि को समान समझने वाला, मात्र प्राण धारण के लिए गोवृत्ति से भिक्षा ग्रहण करने वाला हो। जलस्थल (जलाशय) को ही वह कमण्डलु माने और अबाध (बाधा रहित एकान्त) स्थान में ही रहे। लाभ-हानि के विचार में रत न हो, सर्वत्र भूतल पर शयन करे, क्षौर कर्म (हजामत का कार्य) त्याग दे। चातुर्मास्य आदि व्रतों के नियमों से मुक्त रहे और मात्र शुक्ल (सात्त्विक) ध्यान परायण रहे। धन-सम्पदा, स्त्री और नगर से पराङ्मुख रहे और ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी प्रत्यक्षतः उन्मत्त की तरह रहे। अपने लिङ्ग और आचार को अव्यक्त रहने दे। दिन और रात्रि को समान भाव से देखने के कारण वह सदैव अस्वप्न अर्थात् जाग्रत्-अवस्था में ही रहे। अस्तु, जो निज स्वरूप के अनुसंधान और प्रणव के ध्यान में रत रहकर संन्यास पथ के द्वारा देह का परित्याग करता है, वह परमहंस -परिव्राजक होता है॥ ३-ग॥

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच नारायणः। ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयगोचरः। जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति। व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति। व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति। सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति। तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञस्तुरीयतुरीय इति। ते क्रमेण षोडशमात्रारूढा अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्नतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः तुर्यां तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुरीयतुरीयः। जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम्। अयमेव ब्रह्मप्रणवः। स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः। तेनैव ब्रह्म प्रकाशते तेन विदेहमुक्तिः॥ ४॥

ब्रह्मा जी ने (आदि पिता नारायण से) आगे प्रश्न किया-हे भगवन्! ब्रह्म प्रणव कैसा होता है? आदिनारायण ने कहा-ब्रह्म प्रणव षोडशमात्रात्मक होता है। चारों अवस्थाओं में प्रत्येक की चार-चार स्थितियों के संयोग से इनकी संख्या सोलह हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चारों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय) अवस्थाएँ, स्वप्नावस्था में स्वप्न आदि चारों (स्वप्न, जाग्रत्, सुषुप्ति, तुरीय) अवस्थाएँ, सुषुप्तावस्था में सुषुप्ति आदि चारों (सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्न, तुरीय) अवस्थाएँ तथा तुरीयावस्था में तुरीय आदि चारों (तुरीय, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) अवस्थाएँ रहती हैं। व्यष्टि जाग्रत् अवस्था में विश्व के चार स्वरूप होते हैं, विश्व-विश्व, विश्व तैजस, विश्व प्राज्ञ और विश्व तुरीय। व्यष्टि स्वप्नावस्था में तैजस के चार रूप होते हैं-तैजस विश्व, तैजस-तैजस, तैजस प्राज्ञ और तैजस तुरीय। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ चार प्रकार के होते हैं-प्राज्ञ विश्व, प्राज्ञ तैजस, प्राज्ञ-प्राज्ञ और प्राज्ञ तुरीय। तुरीयावस्था में तुरीय के भी चार प्रकार होते हैं-तुरीय विश्व, तुरीय तैजस, तुरीय-तुरीय और तुरीय प्राज्ञ। इस प्रकार यह (ब्रह्म प्रणव) षोडशमात्रारूढ़ रहता है। अकार में जाग्रत् विश्व, उकार में जाग्रत् तैजस और मकार में जाग्रत् प्राज्ञ होता है। अर्धमात्रा में जाग्रत् तुरीय, बिन्दु में स्वप्न विश्व, नाद में स्वप्न तैजस, कला में स्वप्न प्राज्ञ और कलातीत में स्वप्न तुरीय होता है। शान्ति में सुषुप्त विश्व, शान्ति अतीत में सुषुप्त तैजस, उन्मनी अवस्था में सुषुप्त-प्राज्ञ और मनोन्मनी अवस्था में सुषुप्त तुरीय होता है। तुर्या (वैखरी) में तुरीय विश्व, मध्यमा में तुरीय तैजस, पश्यन्ती में तुरीय प्राज्ञ और परा में तुरीय-तुरीय होता है। (प्रणव ॐ के) जाग्रत् अवस्था की चार मात्राएँ अकार अंश की, स्वप्नावस्था की चार मात्राएँ उकार अंश की, सुषुप्ति अवस्था की चार मात्राएँ मकार अंश की और तुरीयावस्था की चार मात्राएँ अर्धमात्रा के अंश की हैं। यही ब्रह्म प्रणव है। यह (ब्रह्मप्रणव) ही परमहंस तुरीयातीत अवधूतों द्वारा उपास्य है। इसी के द्वारा ब्रह्म प्रकाशित होता है। इसी से विदेह मुक्ति प्राप्त होती है॥ ४॥

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्मनिष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच विष्णुर्भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम्।

तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा। तत्कर्म स पवित्रम्। स सर्वकर्मकृत्। स ब्राह्मणः। स ब्रह्मनिष्ठापरः। स देवः। स ऋषिः। स तपस्वी। स श्रेष्ठः। स एव सर्वज्येष्ठः। स एव जगद्गुरुः। स एवाहं विद्धि। लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरो यद्येकोऽस्ति। स एव नित्यपूतः। स एव वेदपुरुषो महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। स एव नित्यतृप्तः। स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः। स निन्दामर्षसहिष्णुः। स षडूर्मिवर्जितः। षड्भावविकारशून्यः। स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः। स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा। आशाम्बरो ननमस्कारो नस्वाहाकारो नस्वधाकारश्च नविसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो नमन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः स सच्चिदानन्दाद्वयचिद्घनः सम्पूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स ह परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत्॥ ५॥

ब्रह्मा ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! अयज्ञोपवीती, अशिखी एवं समस्त कर्मों का परित्याग कर देने वाला ब्रह्मनिष्ठ परायण ब्राह्मण कैसे हो सकता है? भगवान् विष्णु ने कहा- अद्वैतरूप आत्मज्ञान ही जिसका यज्ञोपवीत है और ध्यान निष्ठा ही जिसकी शिखा है, वह अपने सत्कर्म से पवित्र हो जाता है। सम्पूर्ण कर्मों को वह कर चुका है। वह ब्राह्मण है, वह ब्रह्मनिष्ठ परायण है, वह देव है, वह ऋषि है, वह तपस्वी है, वह श्रेष्ठ है, सर्वज्येष्ठ एवं जगद्गुरु है, वह मैं ही हूँ, ऐसा जानना चाहिए। इस लोक में परमहंस परिव्राजक दुर्लभ है। यदि कोई एकाध (परमहंस) होता है, तो वह नित्यपावन और वेद पुरुष है। वह महापुरुष जिसका चित्त मुझमें ही अवस्थित रहता है, मैं उसमें अवस्थित रहता हूँ। वही नित्य तृप्त होता है। वह सर्दी-गर्मी, मान-अपमान और सुख-दुःख से रहित होता है। वह निन्दा और क्रोध को सहन कर लेने वाला होता है तथा षड्ऊर्मियों से रहित होता है। वह षड्भाव विकारों से शून्य होता है। उसकी दृष्टि में बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वह सबके प्रति समान दृष्टि रखता है। वह (सर्वत्र) अपने आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। दिशाएँ ही उसके वस्त्र हैं। वह नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार और विसर्जन कुछ भी नहीं करता है। वह निन्दा-स्तुति से परे होता है। वह मन्त्र-तन्त्र की उपासना भी नहीं करता। वह किसी अन्य देव का भी ध्यान नहीं करता। वह लक्ष्य-अलक्ष्य से रहित होता है। वह सभी से उपरत रहता है। वह सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिद्घन और सम्पूर्ण आनन्द के बोधवाला 'मैं ब्रह्म हूँ'-ऐसी अनवरत भावना रखने वाला है। जो ब्रह्म प्रणव के अनुसंधान से कृतकृत्य हो जाता है, उसे ही परमहंस परिव्राजक कहते हैं, ऐसा इस उपनिषद् का मत है॥ ५॥

[अन्तरंग यज्ञोपवीत और अन्तरंग शिखा का विस्तार से उल्लेख 'परब्रह्मोपनिषद्' में किया गया है।]

ॐ भद्रं कर्णेभिः ....इति शान्तिः॥

॥ इति परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ परमहंसोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय है। इस लघुकाय (कुल ४ मन्त्र) उपनिषद् में महामुनि नारद ने भगवान् ब्रह्मा जी से 'परमहंस' की स्थिति और मार्ग के विषय में पूछा है। जिसके उत्तर में भगवान् ब्रह्मा ने परमहंस का स्वरूप, उसका वेश-विन्यास, प्रमुख दीक्षा, उसका व्यवहार आदि विस्तार से बताया है। इससे विपरीत आचरण करने वाले को संन्यास के नाम पर कलंक स्वरूप और घोर रौरव नरक में जाने वाला बताया है। परमहंस को स्वर्ण आदि धन किसी भी स्थिति में अपने पास नहीं रखना चाहिए, यदि कोई ऐसा करता है, तो वह ब्रह्म हत्या, चाण्डाल एवं आत्महत्या सदृश स्थिति में पहुँच जाता है। परमहंस तो आप्तकाम, कामनाशून्य, सुख-दु:ख, राग-द्वेष, शुभाशुभ आदि से ऊपर होता है। वह जितेन्द्रिय, आत्मस्थ और पूर्णानन्द-पूर्णबोध स्वरूप होता है। यही जीवन की सर्वोच्च स्थिति है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगत्योवाच। तं भगवानाह। योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते। असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेत्। तच्च न मुख्योऽस्ति कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥१॥

एक बार नारद मुनि ने भगवान् (ब्रह्मा) के पास जाकर पूछा—योगी पुरुषों में जो परमहंस हैं, उनकी स्थिति कैसी होती है और उनका मार्ग कौन सा है? यह सुनकर भगवान् ने कहा-परमहंसों का मार्ग इस जगत् में अति दुर्लभ है, ऐसे व्यक्ति संसार में बहुत कम ही होते हैं। परमहंस संन्यासी एकाध ही मिलते हैं, वे नित्य पवित्र भाव में स्थित रहते हैं। ऐसे परमहंस ही वेद-पुरुष हैं; ऐसा विद्वज्जन मानते हैं। ऐसे महापुरुष का चित्त सदैव मुझमें ही अधिष्ठित रहता है और मैं भी उस महापुरुष में ही स्थित रहता हूँ। परमहंस संन्यासी अपने पुत्र, पत्नी, बन्धु, शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय आदि समस्त कर्मों का परित्याग कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित में शरीर की रक्षा के लिए मात्र कौपीन, दण्ड और आच्छादन (उपवस्त्र) धारण करता है; किन्तु यह भी परमहंस की मुख्य दीक्षा नहीं है। नारद ने पूछा—फिर मुख्य दीक्षा कौन सी है?॥ १ ॥

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दु:खं न मानावमाने च षडूर्मिवर्जं निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदु:खकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तं संशयविपरीत-मिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वयमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वया-नन्दचिद्घन एवास्मि। तदेव मम परमधाम तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च। परमात्मात्मनोरे-कत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या॥ २॥

परमहंस की प्रमुख दीक्षा इस प्रकार है—वह दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, आच्छादन धारण न करे। इसके अतिरिक्त शीत, उष्ण, मान-अपमान, सुख और दु:ख इन षड्ऊर्मियों से रहित हो। वह निन्दा, गर्व, मत्सर, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहंकार को त्यागकर अपनी काया को मृतक के समान देखता है। उसका संशय और मिथ्याभाव तिरोहित हो जाता है। वह नित्य बोध स्वरूप होता

है,जो संसार में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ यह मानता है कि मैं एक मात्र अचल, अद्वयानन्द और चिद्घन ही हूँ। यही मेरा परमधाम है, शिखा और यज्ञोपवीत सभी कुछ यही है। वह आत्मा और परमात्मा में समान दृष्टि रखता है, उसके लिए दोनों का भेद नष्ट हो जाता है, यही उसकी सन्ध्या है॥ २॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः। ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः। भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा। स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान्। इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः॥ ३॥

वह (परमहंस) समस्त कामनाओं का परित्याग करके अद्वैत परब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है। ज्ञान का दण्ड धारण किये रहने के कारण उसे एकदण्डी स्वामी भी कहते हैं; किन्तु जो काष्ठ दण्ड धारण किये रहकर समस्त आशाओं से पूर्ण है, अज्ञानी है, तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम आदि गुणों से रहित है तथा भिक्षा मात्र से जीवनयापन करते हुए, जिसने यति वृत्ति का विनाश कर दिया है, वह पापी घोर रौरव नामक नरक में जाता है। जो इस अन्तर (पापी संन्यासी और परमहंस के अन्तर) को समझता है, वह परमहंस है॥ ३॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दा न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्भिक्षुः। नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च। न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहं न न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स ब्रह्महा भवेद्यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेद्यस्माद्भिक्षु र्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत्तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च। सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते। दुःखे नोद्विग्नः सुखे न स्पृहा त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च। सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते। तत्पूर्णानन्दैकबोधस्त-द्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति॥ ४॥

वह दिगम्बर, नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार, निन्दा, स्तुति की ओर ध्यान न देकर स्वेच्छापूर्वक भिक्षु बनता है। उसका आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता। उसका पृथक्, अपृथक्, मेरे-तेरे का भाव और सर्वभाव भी नहीं होता। वह अनिकेत अर्थात् निवास रहित और स्थिर-मति वाला होता है। वह भिक्षु स्वर्ण आदि के संग्रह में प्रवृत्त नहीं होता। उसे कोई वस्तु आकर्षक और अनाकर्षक प्रतीत नहीं होती। उसके लिए क्या बाधक है? अर्थात् कुछ नहीं। भिक्षु परमहंस होकर यदि वह स्वर्ण (धन) से प्रेम करे, तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। भिक्षु होकर यदि परमहंस स्वर्ण से लगाव रखता है, तो चाण्डाल की तरह होता है। स्वर्ण से प्रेम करने वाला भिक्षु आत्मघाती होता है। इसलिए भिक्षु (परमहंस) को चाहिए कि वह न तो स्वर्ण को देखे, न स्पर्श करे और न ग्रहण ही करे। ऐसा परमहंस आप्तकाम हो जाता है अर्थात् या तो उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं। वह दुःख से उद्विग्न नहीं होता और सुख से भी निस्पृह रहता है। राग को त्याग कर वह शुभ और अशुभ के प्रति स्नेहहीन (आसक्ति रहित) हो जाता है, जो न द्वेष करता है, न मुदित होता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। वह अपने आत्म-तत्त्व में ही स्थित रहता है। वह अपने को सदा पूर्णानन्द, पूर्ण बोध स्वरूप ब्रह्म ही समझता है। ऐसी मान्यता रखने (और अनुभव करने) से वह कृत-कृत्य हो जाता है॥ ४॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति परमहंसोपनिषत्समाप्ता॥

॥ पैङ्गलोपनिषद् ॥

यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल चार अध्याय हैं, जिनमें ऋषि पैंगल और महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर के माध्यम से परम कैवल्य का रहस्य वर्णित है।

प्रथम अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने सृष्टि के प्राकट्य का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं स्पष्ट विवेचन किया है। द्वितीय अध्याय में 'ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना, पालन एवं संहार करने की सामर्थ्य से युक्त होने पर भी वह 'जीव भाव' को कैसे प्राप्त होता है? इसका वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो), त्वं तदसि (तुम वह हो), त्वं ब्रह्मासि (तुम ब्रह्म हो) तथा अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) इन चार महावाक्यों का विवेचन है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदान्त प्रसिद्ध चार महावाक्यों (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म) से इनकी कुछ भिन्नता है। चतुर्थ अध्याय में 'ज्ञानियों की स्थिति एवं कर्म' पर प्रश्न पूछा गया है, जिसका उत्तर याज्ञवल्क्य जी ने बड़े विस्तार से दिया है, जिसका सारांश है कि 'ज्ञानी' अपने ज्ञानाग्नि से समस्त प्रारब्ध कर्मों को जला डालता है और आवागमन के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होकर परम कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। अन्त में उपनिषद् का माहात्म्य बताते हुए उसे पूर्ण कर दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ ह पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं परमरहस्यकैवल्यमनुब्रूहीति पप्रच्छ ॥ १ ॥

(एक बार) ऋषि पैङ्गल याज्ञवल्क्य ऋषि के पास गये और बारह वर्ष तक उनकी सेवा-शुश्रूषा करने के पश्चात् उनसे कहा कि मुझे परम रहस्य कैवल्य का उपदेश कीजिए॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥ २ ॥

(यह सुनकर) ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा-पूर्व में केवल सत् ही था। वही नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान और आनन्द से पूरित सनातन तथा एकमात्र अद्वैत ब्रह्म है॥ २ ॥

तस्मिन्मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखादिवल्लोहितशुक्लकृष्णगुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तत्साक्षिचैतन्यमासीत्॥३ ॥

जिस प्रकार मरुस्थल में जल, सीप में रजत, स्थाणु में पुरुष और स्फटिक में रेखा का आभास होता है, उसी प्रकार उस (ब्रह्म) से रक्त (लाल), श्वेत और कृष्ण वर्णा (सत्,रज,तम रूपी) मूल प्रकृति उत्पन्न हुई, जिसमें तीनों गुण समानावस्था में विद्यमान थे। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ, उसे ही साक्षी चैतन्य कहा गया॥३

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्यावरणशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत्। स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टिस्थितिलयानामादिकर्ता जगदङ्कुररूपो भवति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगदाविर्भावयति। प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः प्राणिकर्मक्षयात् पुनस्तिरोभावयति। तस्मिन्नेवाखिलं विश्वं संकोचितपटवद्वर्तते ॥ ४॥

वह (मूल प्रकृति) जब पुनः विकार युक्त हो गई, तब सत्त्वगुण युक्त अव्यक्त आवरण शक्ति कहलाई। जो ईश्वर उसमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह चैतन्य था। वह माया को अपने अधीन रखता है, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है और संसार का अङ्कुर स्वरूप है। वह अपने अन्दर विलीन सम्पूर्ण जगत् का आविर्भाव करने वाला है। वह प्राणियों के कर्मों के अनुसार इस विश्वरूपी पट को जिस प्रकार प्रसारित करता है, उसी प्रकार उनके कर्म क्षय हो जाने पर समेट भी लेता है। फिर समस्त विश्व उसी में संकुचित (समेटे हुए) पट(वस्त्र) के समान रहता है॥ ४॥

ईशाधिष्ठितावरणशक्तितो रजोद्रिक्ता महदाख्या विक्षेपशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्धिरण्यगर्भचैतन्यमासीत्। स महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्टास्पष्टवपुर्भवति॥ ५॥

ईशाधिष्ठित आवरणशक्ति से रजोगुणयुक्त विक्षेपशक्ति प्रकट होती है, जिसे महत् कहते हैं। उसमें प्रति बिम्बित होने वाला हिरण्यगर्भ चैतन्य हुआ। वह महत्तत्त्वयुक्त कुछ स्पष्ट-कुछ अस्पष्ट शरीर वाला होता है॥५

हिरण्यगर्भाधिष्ठितविक्षेपशक्तितस्तमोद्रिक्ताहंकाराभिधा स्थूलशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबि-म्बितं यत्तद्विराट्चैतन्यमासीत्। स तदभिमानी स्पष्टवपुः सर्वस्थूलपालको विष्णुः प्रधानपुरुषो भवति। तस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यःपृथिवी। तानि पञ्च तन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति॥ ६॥

हिरण्यगर्भ में निवास करने वाली विक्षेप शक्ति से, तमोगुणवाली अहंकार नामक स्थूल शक्ति आविर्भूत हुई। जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह विराट् चैतन्य था। उसका अभिमानी स्पष्ट शरीर वाला, समस्त स्थूल जगत् का पालक प्रधान पुरुष विष्णु होता है। उसकी आत्मा से आकाश तत्त्व की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व का आविर्भाव हुआ। उन्हीं से पञ्च तन्मात्राएँ और तीन गुण उत्पन्न होते हैं॥ ६॥

स्त्रष्टुकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूलीकर्तुं सोऽकामयत। सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधाय पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्च पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दशभुवनानि तत्तद्भु-वनोचितगोलकस्थूलशरीराण्यसृजत्॥ ७॥

जब उस जगत् रचयिता को सृष्टि के निर्माण की इच्छा हुई, तब उसने तमोगुण में अधिष्ठित होकर सूक्ष्म तन्मात्राओं को स्थूल पञ्चतत्त्वों में प्रतिष्ठित करने की कामना की। उन रचित भूतों में से एक-एक के दो भाग किए, फिर उनमें से प्रत्येक के चार-चार भाग किए। इसके पश्चात् प्रत्येक भूत के अर्धांश में अन्य भूतों के अष्टमांश को मिलाकर सबका पंचीकरण किया; तत्पश्चात् इन पञ्चीकृत भूतों से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि की, फिर उनके योग्य चतुर्दश भुवन रचे तथा उन भुवनों के उपयुक्त स्थूल शरीरों का सृजन किया॥ ७॥

स पञ्चभूतानां रजोंशांश्चतुर्धा कृत्वा भागत्रयात्पञ्चवृत्त्यात्मकं प्राणमसृजत्। स तेषां तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियाण्यसृजत्॥ ८॥

इसके पश्चात् पञ्चभूतों के रजोगुणयुक्त अंश के चार भाग करके तीन भागों से पाँच प्रकार के प्राणों का सृजन किया और चतुर्थांश से कर्मेन्द्रियों का निर्माण किया॥ ८॥

स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टितः पञ्चक्रियावृत्त्यात्मकमन्तःकरण-मसृजत्। स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियाण्यसृजत्॥ ९॥

इसी प्रकार उसके (पञ्चभूतों के) सतोगुण युक्त अंश को चार हिस्सों में विभाजित करके उसके तीन भागों से पंचवृत्त्यात्मक अन्तःकरण और चौथे भाग से ज्ञानेन्द्रियों का सृजन किया॥ ९॥

[अन्तःकरण को योगशास्त्र ने भी पाँच वृत्तियों वाला कहा है। वे हैं— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (योग० १.१.६)। यथार्थज्ञान (प्रमा) के साधन (करण) को प्रमाण कहते हैं, अर्थात् जिस वृत्ति से प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रमाण है। सीप में चाँदी और रस्सी में सर्प की तरह मिथ्याज्ञान (जैसा न हो, वैसा ज्ञान) 'विपर्यय' कहलाता है। यथार्थ न होते हुए भी केवल शब्द सुनने मात्र से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'विकल्प' कहा जाता है। यह ज्ञान मिथ्या भी नहीं होता। भेद में अभेद और अभेद में भेद का ज्ञान जैसे राहु का सिर, काठ की पुतली में राहु और सिर तथा काठ और पुतली में कोई भेद नहीं है, फिर भी भेद जैसा प्रतीत हो रहा है-यही विकल्प वृत्ति है। अन्धकार में वस्तुओं के छिप जाने की तरह जिस वृत्ति से जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों का अभाव हो जाता है, उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। अनुभवजन्य ज्ञान, जो कालान्तर में प्रबुद्ध हो जाता है, 'स्मृति' कहलाता है।]

सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत्। तानि सृष्टान्यण्डे प्राचिक्षिपत्। तदाज्ञया समष्ट्यण्डं व्याप्य तान्यतिष्ठन्। तदाज्ञयाऽहंकारसमन्वितो विराट् स्थूलान्यरक्षत्। हिरण्यगर्भस्तदाज्ञया सूक्ष्माण्यपालयत्॥ १०॥

सत्त्व समष्टि से उसने पाँचों इन्द्रियों के पालक देवताओं का सृजन किया और उन्हें ब्रह्माण्डों में स्थापित कर दिया। उसकी (विष्णु रूप ब्रह्म की) आज्ञा से वे सभी (देवगण) ब्रह्माण्डों में स्थित होकर निवास करने लगे। उस (ब्रह्म) की आज्ञा से अहंकार समन्वित विराट्, स्थूल जगत् का संरक्षण करने लगा। हिरण्यगर्भ उसकी आज्ञा से सूक्ष्म तत्त्व का पालन करने लगा॥ १०॥

अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितुं चेष्टितुं वा न शेकुः। तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत ब्रह्माण्डब्रह्मरन्ध्राणि समस्तव्यष्टिमस्तकान्विदार्य तदेवानुप्राविशत्। तदा जडान्यपि तानि चेतनवत्स्वकर्माणि चक्रिरे॥ ११॥

ब्रह्माण्ड में स्थित वे देवगण उस (ब्रह्म) के बिना न तो स्पन्दन कर सके और न ही कोई चेष्टा कर सके। तब उस (ब्रह्म) ने उन्हें चैतन्य करने की इच्छा की। वह ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरन्ध्र और समस्त व्यष्टि के मस्तक को विदीर्ण करके उसी में प्रवेश कर गया, तब वे जड़ता सम्पन्न होते हुए भी चेतन की तरह अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त हो गये॥ ११॥

सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमगमत्। शरीरत्रयता-दात्म्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वतामगमत्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति॥ १२॥

सर्वज्ञ ईश्वर मायायुक्त होकर व्यष्टि रूप शरीर में प्रविष्ट हो गया और मोह के कारण जीवत्व (जीव भाव) को प्राप्त हो गया। तीन प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरों से तादात्म्य स्थापित करके कर्तापन और भोक्तापन का अनुभव करने लगा। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि स्थितियों वाला होकर मरण धर्म को प्राप्त करके घटीयंत्र (रहट) के समान उद्विग्न (चंचल) होकर तथा कुम्भकार के चक्र के समान उत्पन्न और मृत होता हुआ जगत् में परिभ्रमण करने लगा॥ १२॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति॥ १ ॥

पैङ्गल ऋषि ने पुनः याज्ञवल्क्य ऋषि से प्रश्न किया कि समस्त लोकों की सृष्टि, उनका पालन और अन्त करने वाला विभु ईश्वर किस तरह जीवभाव को प्राप्त होता है ?॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहोद्भवपूर्वकं जीवेश्वरस्वरूपं विविच्य कथयामीति सावधानेनैकाग्रतया श्रूयताम्। ईशः पञ्चीकृतमहाभूतलेशानादाय व्यष्टिसमष्ट्यात्मकस्थूलशरीराणि यथाक्रममकरोत्। कपालचर्मान्त्रास्थिमांसनखानि पृथिव्यंशाः। रक्तमूत्रलालास्वेदादिका अबंशाः। क्षुत्तृष्णोष्णमोहमैथुनाद्या अग्न्यंशाः। प्रचारणोत्तारणाश्वासादिका वाय्वंशाः। कामक्रोधादयो व्योमांशाः। एतत्संघातं कर्मणि संचितं त्वगादियुक्तं बाल्याद्यवस्थाभिमानास्पदं बहुदोषाश्रयं स्थूलशरीरं भवति॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के उद्भवपूर्वक जीव और ईश्वर के स्वरूप की विवेचना करता हूँ, उसे सावधान और एकाग्रचित्त होकर सुनो। ईश्वर ने पंचीकृत महाभूतों के अंशों को लेकर व्यष्टि और समष्टि के स्थूल शरीरों का क्रमशः सृजन किया है। कपाल, चर्म, आँतें, अस्थि, मांस और नख (नाखून) ये पृथिवी तत्त्व के अंश से निर्मित हैं। रक्त, मूत्र, लाल (लार) और पसीना आदि जल तत्त्व के अंश से बने हैं। क्षुधा, तृष्णा (प्यास), उष्णता (गर्मी), मोह, मैथुन आदि अग्नि तत्त्व के अंश से बने हैं। चलना, उठना, बैठना, श्वास आदि वायु तत्त्व के अंश से हैं। काम, क्रोध आदि आकाश तत्त्व के अंश से हैं। इस प्रकार इन सबके संघात (समुच्चय) स्वरूप एवं संचित कर्मों से निर्मित त्वचा आदि से युक्त बाल्यावस्था आदि के भाव वाला अनेक दोषों का आश्रय रूप यह स्थूल शरीर होता है॥ २ ॥

अथापञ्चीकृतमहाभूतरजोंशभागत्रयसमष्टितः प्राणमसृजत्। प्राणापानव्यानोदानसमानाः प्राणवृत्तयः। नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया उपप्राणाः। हृदासननाभिकण्ठसर्वाङ्गानि स्थानानि। आकाशादिरजोगुणतुरीयभागेन कर्मेन्द्रियमसृजत्। वाक्पाणिपादपायूपस्थास्तद्वृत्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दास्तद्विषयाः। एवं भूतसत्त्वांशभागत्रयसमष्टितोऽन्तःकरणमसृजत्। अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकारास्तद्वृत्तयः। संकल्पनिश्चयस्मरणाभिमानानुसंधानास्तद्विषयाः। गलवदननाभिहृदयभ्रूमध्यं स्थानम्। भूतसत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियमसृजत्। श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणास्तद्वृत्तयः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तद्विषयाः। दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः। चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः॥ ३ ॥

इसके पश्चात् अपञ्चीकृत महाभूतों के रजोगुण युक्त अंश के तीन भागों को समन्वित करके प्राण का सृजन किया गया। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राण हैं। इसी प्रकार नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ये पाँच उपप्राण हैं। हृदय, आसन (मूलाधार), नाभि, कण्ठ और सर्वाङ्ग उस (प्राण) के स्थान हैं। आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के रजोगुणयुक्त अंश के चतुर्थ भाग से कर्मेन्द्रियों का सृजन किया गया। वाणी,हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (शिश्न) इसके प्रकार हैं। वचन, आदान, गमन, विसर्जन और आनन्द ये इन (कर्मेन्द्रियों) के विषय हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के सत्त्व अंश के तीन भागों से अन्तःकरण का सृजन

किया। अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और उनकी वृत्तियाँ समाहित हैं। संकल्प, निश्चय, स्मरण, अभिमान तथा अनुसन्धान क्रमशः इनके विषय हैं। गला, मुख, नाभि, हृदय और भौंहों के मध्य का भाग इनके स्थान हैं। महाभूतों के सत्त्व अंश के चतुर्थ भाग से ज्ञानेन्द्रियों का सृजन किया गया। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये इनके (ज्ञानेन्द्रियों के) प्रकार हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनके विषय हैं। दिशाएँ, वायु, अर्क (सूर्य), वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु के देवता यम, चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और शिव ये सभी देवगण इन इन्द्रियों के स्वामी हैं॥ ३॥

अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च कोशाः। अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्यान्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशः। तदेव स्थूलशरीरम्। कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशः। ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः। ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः। एतत्कोशत्रयं लिङ्गशरीरम्। स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोशः। तत् कारणशरीरम्॥ ४॥

इसके बाद अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पंचकोश हैं। अन्नमय कोश वह है, जो अन्न से उत्पन्न होता है, उसी से प्रवृद्ध होता है और अन्ततः अन्न-रसमय पृथिवी में ही विलीन हो जाता है। यही स्थूल शरीर है। कर्मेन्द्रियों के साथ पंचप्राणों का समुच्चय प्राणमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि का योग विज्ञानमय कोश कहलाता है। इन (प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) तीनों कोशों का समुच्चय ही लिङ्ग शरीर है। जिसमें अपने स्वरूप का भान नहीं रहता है, वह आनन्दमय कोश है। इसे ही कारण शरीर कहते हैं॥ ४॥

अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चक मन्तःकरणचतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्॥ ५॥

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक, प्राणादि पञ्चक, वियदादिपञ्चक (पाँच महाभूत), अन्तःकरण चतुष्टय, काम, कर्म और अविद्या ये पुर्यष्टक (आठ पुरियों का समूह) कहलाता है॥ ५॥

ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको जाग्रत्स्थूलदेहाभिमानी कर्मभूरिति च विश्वस्य नाम भवति॥ ६॥

ईश्वर की आज्ञा से विराट् ने व्यष्टि में प्रविष्ट होकर तथा बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर विश्वत्व को प्राप्त किया अर्थात् विश्व की संज्ञा प्राप्त की। विज्ञानात्मा, चिदाभास, विश्व, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूल देहाभिमानी और कर्मभू ये विश्व के विभिन्न नाम हैं॥ ६॥

ईशाज्ञया सूत्रात्मा व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रविश्य मन अधिष्ठाय तैजसत्वमगमत्। तैजसः प्रातिभासिकः स्वप्नकल्पित इति तैजसस्य नाम भवति॥ ७॥

ईश्वर के आदेश से सूत्रात्मा, व्यष्टि के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट होकर मन में अधिष्ठित होकर तैजसत्व को प्राप्त हुआ। तैजस, प्रातिभासिक और स्वकल्पित ये तैजस के नाम हैं॥ ७॥

ईशाज्ञया मायोपाधिरव्यक्तसमन्वितो व्यष्टिकारणशरीरं प्रविश्य प्राज्ञत्वमगमत्। प्राज्ञोऽविच्छिन्नः पारमार्थिकः सुषुप्त्यभिमानीति प्राज्ञस्य नाम भवति॥ ८॥

ईश्वर की आज्ञा से माया की उपाधि से युक्त अव्यक्त, व्यष्टि के कारण शरीर में प्रविष्ट होकर प्राज्ञत्व को प्राप्त हुआ। प्राज्ञ, अविच्छिन्न, पारमार्थिक और सुषुप्ति-अभिमानी ये प्राज्ञ के नाम हैं॥ ८॥

अव्यक्तलेशाज्ञानाच्छादितपारमार्थिकजीवस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि ब्रह्मणैकतां जगुर्नेतरयोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः ॥ ९ ॥

पारमार्थिक जीव के ऊपर अव्यक्त का अंश रूप अज्ञान आच्छादित है। वह भी ब्रह्म का ही अंश है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से ब्रह्म की एकता प्रकट होती है, परन्तु व्यावहारिक और प्रातिभासिक अंश ब्रह्म से इस प्रकार की एकता नहीं रखते ॥ ९ ॥

अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यं यत्तदेवावस्थात्रयभाग्भवति। स जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्य-वस्थाः प्राप्य घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव स्थितो भवति ॥ १० ॥

अन्तःकरण में जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, वही अवस्थात्रय (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) का भागी होता है। चैतन्य तत्त्व ही उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होकर घटीयन्त्र के समान उद्विग्न (चंचल) होता है, जो निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है ॥ १० ॥

अथ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणाद्यवस्थाः पञ्च भवन्ति। तत्तद्देवताग्रहान्वितैः श्रोत्रादि-ज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यं गतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्यखिलक्रियाकर्ता भवति। तत्तत्फलभुक् च भवति। लोकान्तरगतः कर्मा-र्जितफलं स एव भुङ्क्ते। स सार्वभौमवद्व्यवहाराच्छ्रान्त अन्तर्भवनं प्रवेष्टुं मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥

इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने देवता के अनुग्रह (शक्ति) से युक्त होकर शब्दादि विषयों को ग्रहण करती हैं। इस अवस्था में जीव भ्रूमध्य में निवास करते हुए पैरों से लेकर मस्तक पर्यन्त व्याप्त रहता है और कृषि से श्रवण तक (अर्थात् अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के) समस्त कार्यों को सम्पादित करता हुआ उनके फल भी प्राप्त करता है। वह अपने इन अर्जित कर्मों का फल लोकान्तर (परलोक) में भी भोगता है। वह सार्वभौम के समान लौकिक कार्यों से थककर विश्रान्ति पाने हेतु अन्दर के विश्राम स्थल में जाने की इच्छा से मार्ग में ही आश्रय लेकर ठहरता है ॥ ११ ॥

करणोपरमे जाग्रत्संस्कारार्धप्रबोधवद्ग्राह्यग्राहकरूपस्फुरणं स्वप्नावस्था भवति। तत्र विश्व एव जाग्रद्व्यवहारलोपान्नाडीमध्यं चरंस्तैजसत्वमवाप्य वासनारूपकं जगद्वैचित्र्यं स्वभासा भासयन्यथेप्सितं स्वयं भुङ्क्ते ॥ १२ ॥

इन्द्रियों के अपने कार्यों से उपराम हो जाने पर, जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से ग्राह्य-ग्राहक रूप जो अर्ध प्रबोधवत् स्फुरणा होती है, उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। उस अवस्था में विश्व (स्थूल शरीर भी व्यष्टि-चेतना शक्ति) जाग्रत् अवस्था के व्यवहार के लोप हो जाने से नाड़ी के बीच में संचरित होता हुआ तैजसत्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अपनी वासना के अनुरूप अपने ही भासा (तेज) के द्वारा एक विचित्र जगत् की सृष्टि करता है और स्वयं ही अपनी इच्छानुसार उसका भोग करता है ॥ १२ ॥

चित्तैककरणा सुषुप्त्यवस्था भवति। भ्रमविश्रान्तशकुनिः पक्षौ संहृत्य नीडाभिमुखं यथा गच्छति तथा जीवोऽपि जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चे व्यवहृत्य श्रान्तोऽज्ञानं प्रविश्य स्वानन्दं भुङ्क्ते ॥

चित्त की एकीकरण (एकाग्रता से युक्त) अवस्था ही सुषुप्ति अवस्था होती है। जिस प्रकार भ्रमण से थककर पक्षी पंखों को समेट कर अपने नीड़ (घोंसले) की ओर गमन करता है, उसी प्रकार जीव भी जाग्रत् और स्वप्नावस्था के प्रपञ्चों से थक जाने पर अज्ञान में प्रविष्ट होकर आनन्द भोगता है ॥ १३ ॥

अकस्मान्मुद्गरदण्डाद्यैस्ताडितवद्भयाज्ञानाभ्यामिन्द्रियसंघातैः कम्पन्निव मृततुल्या मूर्च्छा भवति॥ १४॥

अकस्मात् मुद्गर और दण्ड आदि के द्वारा ताड़ित किये जाने पर जिस प्रकार व्यक्ति कम्पित होता है, उसी प्रकार मूर्च्छा की स्थिति में भी भय और अज्ञान के कारण समस्त इन्द्रियाँ कम्पित होती हैं। यह अवस्था (मूर्च्छा) मृत तुल्य होती है॥ १४॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छावस्थानामन्याब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वजीवभयप्रदा स्थूलदेहविसर्जनी मरणावस्था भवति॥ १५॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्च्छा अवस्थाओं से भिन्न एक अवस्था है, जो ब्रह्म (अत्यधिक महान्) से लेकर तिनका (अत्यधिक तुच्छ) पर्यन्त सभी जीवों के लिए भयप्रदा है, जिसके प्राप्त होने पर स्थूल शरीर का परित्याग करना पड़ता है, वह मरणावस्था होती है॥ १५॥

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान्प्राणान्संहृत्य कामकर्मान्वित अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति। प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्तिं नैव गच्छति॥ १६॥

उस समय (मृत्यु हो जाने पर) कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, उनके विषय (तन्मात्राओं), प्राणों को एकत्र करके काम और कर्म से समन्वित हुआ जीव अविद्या से आवेष्टित होकर अन्य शरीर को प्राप्त करके दूसरे लोक (परलोक) में गमन करता है। पूर्वकृत कर्मों के फलभोग में फँसे रहने के कारण वह (जीव), उसी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता, जिस प्रकार भँवर में फँसा हुआ कीट॥ १६॥

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते। तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धं मोक्षं कश्चित्प्रयाति॥ १७॥

सत्कर्मों के परिपक्व हो जाने पर जब अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष प्राप्त करने की (बलवती) इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह किसी सद्गुरु का अवलम्बन लेकर, लम्बे समय तक उनकी सेवा करके (ज्ञान प्राप्ति के पश्चात्) बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति। तस्मात्सदा विचारयेत्। अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते। तस्मात्सदा विचारयेज्जगज्जीवपरमात्मनो जीवभावजगद्भावबाधे प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवावशिष्यत इति॥ १८॥

अविचार करने से बन्धन और विचार (सद्विचार) करने से मोक्ष होता है। इसलिए सदैव विचार (सद्विचार) करना चाहिए। अध्यारोप और अपवाद से स्वरूप का निश्चय किया जा सकता है। इसलिए सदा जगत्, जीव और परमात्मा के विषय में ही विचार (चिन्तन) करना चाहिए। जीव भाव और जगद्भाव का निराकरण करने से अपने प्रत्यगात्मा (जीव) से अभिन्न केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है॥ १८॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महावाक्यविवरणमनुब्रूहीति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् पैङ्गल ऋषि ने याज्ञवल्क्य से कहा- 'मुझे महावाक्यों का विवरण समझाइये' ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत्त्वमसि त्वं तदसि त्वं ब्रह्मास्यहं ब्रह्मास्मीत्यनुसंधानं कुर्यात् ॥२

याज्ञवल्क्य बोले-'वह तुम हो' (तत्त्वमसि), 'तुम वह हो' (त्वं तदसि), 'तुम ब्रह्म हो' (त्वं ब्रह्मासि), 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), ये महावाक्य हैं, जिन पर अनुसन्धान (विचार) करना चाहिए ॥ २ ॥

तत्र पारोक्ष्यशबलः सर्वज्ञत्वादिलक्षणो मायोपाधिः सच्चिदानन्दलक्षणो जगद्योनिस्तत्पदवाच्यो भवति। स एवान्तःकरणसंभिन्नबोधोऽस्मत्प्रत्ययावलम्बनस्त्वंपदवाच्यो भवति। परजीवोपाधिमायाविद्ये विहाय तत्त्वंपदलक्ष्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ॥ ३ ॥

'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञत्व आदि लक्षण से युक्त, माया की उपाधि से युक्त, सच्चिदानन्द रूप, जगत् योनि (मूलकारण) रूप अव्यक्त ईश्वर का बोधक है। वही ईश्वर अन्तःकरण की उपाधि के कारण भिन्नता का बोध होने से 'त्वं' पद का आलम्बन लेकर प्रकट किया जाता है। ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या है, इनका परित्याग कर देने से 'तत्' और 'त्वं' पदों का लक्ष्य (आशय) उस ब्रह्म से है, जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न है ॥ ३ ॥

तत्त्वमसीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थविचारः श्रवणं भवति। एकान्तेन श्रवणार्थानुसंधानं मननं भवति। श्रवणमनननिर्विचिकित्स्येऽर्थे वस्तुन्येकतानवत्तया चेतःस्थापनं निदिध्यासनं भवति। ध्यातृध्याने विहाय निवातस्थितदीपवद्ध्येयैकगोचरं चित्तं समाधिर्भवति ॥ ४ ॥

'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों के अर्थ पर विचार करना श्रवण कहलाता है। श्रवण किए हुए विषय के अर्थों का एकान्त में अनुसन्धान करना मनन कहलाता है। श्रवण और मनन द्वारा निर्णीत अर्थ रूप वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त का स्थापन निदिध्यासन कहलाता है। जब ध्याता और ध्यान के भाव को छोड़कर चित्तवृत्ति वायु रहित स्थान में रखे दीपक की ज्योति के सदृश केवल ध्येय में स्थिर हो जाती है, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं ॥ ४ ॥

तदानीमात्मगोचरा वृत्तयः समुत्थिता अज्ञाता भवन्ति। ताः स्मरणादनुमीयन्ते। इहानादिसंसारे संचिताः कर्मकोटयोऽनेनैव विलयं यान्ति। ततोऽभ्यासपाटवात्सहस्रशः सदाऽमृतधारा वर्षन्ति। ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। वासनाजाले निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपापे समूलोन्मूलिते प्राक्परोक्षमपि करतलामलकवद्वाक्यमप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारं प्रसूयते। तदा जीवन्मुक्तो भवति ॥ ५ ॥

उसमें (उस अवस्था में) आत्मगोचर वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अज्ञात हो जाती हैं, जो स्मरण के द्वारा अनुमानित होती हैं (अर्थात् जिनका स्मरण के द्वारा अनुमान लगाया जाता है)। संसार में अनादिकाल से संचित करोड़ों कर्म इस अवस्था में ही विनष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् अभ्यास पटुता (परिपक्वता) प्राप्त हो जाने पर सतत सहस्रों अमृत धाराओं की वर्षा होती रहती है। इसीलिए योगज्ञाता समाधि को धर्ममेघ कहते हैं। इसके माध्यम से सम्पूर्ण वासनाजाल निःशेष (समाप्त) हो जाता है तथा पाप और पुण्य दोनों प्रकार के संचित कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं। यह स्थिति प्राप्त होने पर, प्राक् (पहले) जो, 'तत्त्वमसि' महावाक्य का आशय

परोक्ष रूप से विदित होता था, वही अब हस्तामलकवत् अवरोध रहित स्पष्ट विदित होने लगता है और ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, तब योगी जीवन्मुक्त हो जाता है॥ ५॥

ईशः पञ्चीकृतभूतानामपञ्चीकरणं कर्तुं सोऽकामयत। ब्रह्माण्डतद्गतलोकान्कार्यरूपांश्च कारणत्वं प्रापयित्वा ततःसूक्ष्माङ्गं कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणचतुष्टयं चैकीकृत्य सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपञ्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहंकारे चाहंकारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते। विराड्हिरण्यगर्भेश्वरा उपाधिविलयात्परमात्मनि लीयन्ते॥ ६॥

ईश्वर ने पञ्चीकृत भूतों का पुनः अपञ्चीकरण करने की कामना की। अतः उसने ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत लोकों को कार्य रूप से पुनः कारण रूप प्राप्त करा दिया। इसके बाद उसने सूक्ष्म अङ्ग, कर्मेन्द्रियों, प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को एकीकृत करके समस्त भौतिक पदार्थों को उनके कारणभूत पंचक में संयोजित करके भूमि को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत् (विराट्) में, विराट् को अव्यक्त में और अव्यक्त को पुरुष में क्रमशः विलीन कर दिया। इस प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर भी उपाधियों के विलीन हो जाने पर परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं॥ ६॥

पञ्चीकृतमहाभूतसंभवकर्मसंचितस्थूलदेहः कर्मक्षयात्सत्कर्मपरिपाकतोऽपञ्चीकरणं प्राप्य सूक्ष्मेणैकीभूत्वा कारणरूपत्वमासाद्य तत्कारणं कूटस्थे प्रत्यगात्मनि विलीयते। विश्वतैजसप्राज्ञाः स्वस्वोपाधिलयात्प्रत्यगात्मनि लीयन्ते॥ ७॥

पञ्चीकृत महाभूतों द्वारा निर्मित और संचित कर्मों से प्राप्त स्थूल देह, कर्मों के क्षय हो जाने तथा सत्कर्मों के परिपाक होने से अपञ्चीकृत हो जाती है। वह देह, सूक्ष्मरूप से एकीभूत होकर, कारण रूप को प्राप्त होकर अन्त में उस कारण के भी कारण कूटस्थ प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाती है। फिर विश्व, तैजस और प्राज्ञ की भी अपनी-अपनी उपाधियों के लय हो जाने से ये सभी प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाते हैं॥ ७॥

अण्डं ज्ञानाग्निना दग्धं कारणैःसह परमात्मनि लीनं भवति। ततो ब्राह्मणः समाहितो भूत्वा तत्त्वंपदैक्यमेव सदा कुर्यात्। ततो मेघापायेंऽशुमानिवात्माऽऽविर्भवति॥ ८॥

अण्ड (ब्रह्माण्ड) अपनी कारण सत्ता के साथ ज्ञानाग्नि में भस्म होकर परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्म में रत) पुरुष को समाहित चित्त (ब्रह्म में चित्त को समाहित करके) होकर सदैव 'तत्' और 'त्वं' पदों के साथ ऐक्य करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया से उसी प्रकार आत्म साक्षात्कार होने लगता है, जिस प्रकार मेघों के छँट जाने से अंशुमान् (सूर्य) का प्रकाश प्रकट हो जाता है॥ ८॥

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्। अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योति रूपकम्॥९॥
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्। ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैव चासुप्तेरामृतेस्तु यः॥१०॥
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्। जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ११॥

कलश के अन्दर स्थित दीपक के सदृश, शरीर में स्थित (हृदय कमल के मध्यस्थित) धूम रहित ज्योति स्वरूप अङ्गुष्ठ परिमाण आत्मा का ध्यान करके जो मुनि अन्तःप्रान्त में स्थित प्रकाशयुक्त कूटस्थ, अव्यय आत्मा का ध्यान नित्य सोते समय तथा मृत्यु के समय भी करता है, वह जीवन्मुक्त है, धन्य है,

कृतकृत्य है, ऐसा मानना चाहिए। जीवन्मुक्तत्व (जीवन्मुक्त स्थिति) को छोड़कर वह इस शरीर का परित्याग करके अदेह और मुक्ति को उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार पवन स्पन्दन रहित हो जाता है अर्थात् पवन का प्रवाह बन्द हो जाता है ॥ ९-११ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम्॥ १२ ॥

तत्पश्चात् वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस और अगन्धवत् होकर अव्यय, अनादि, अनन्त, महत् से भी परे, ध्रुव, निर्मल तथा निरामय ब्रह्म ही शेष बचता है ॥ १२ ॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं ज्ञानिनः किं कर्म का च स्थितिरिति ॥ १ ॥

इसके बाद पैङ्गल ऋषि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पुनः प्रश्न किया कि ज्ञानियों के कर्म कौन से हैं और उनकी स्थिति कैसी होती है? ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः ।अमानित्वादिसंपन्नो मुमुक्षुरेकविंशतिकुलं तारयति। ब्रह्मविन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जो मुमुक्षु अमानित्व आदि गुणों से सम्पन्न होता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है और ब्रह्मविद् हो जाने मात्र से वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियाँ तार देता है ॥२

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

अपनी आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा मन को ही लगाम जानना चाहिए ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। जङ्गमानि विमानानि हृदयानि मनीषिणः ॥ ४ ॥

इन्द्रियों को अश्व कहा गया है, जो अपने विषय रूपी मार्ग पर गमन करते हैं, परन्तु मनीषियों का हृदय विमान के समान इन सबसे ऊपर उठा हुआ होता है ॥ ४ ॥

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः । ततो नारायणः साक्षाद्धृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥

महान् ऋषियों का कथन है कि यह आत्मा, इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोक्ता बनता है, इसके बाद हृदय में साक्षात् नारायण प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ५ ॥

प्रारब्धकर्मपर्यन्तमहिनिर्मोकवद्व्यवहरति। चन्द्रवच्चरते देही स मुक्तश्चानिकेतनः ॥ ६ ॥

प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक जीव, सर्प के केंचुल बदलते रहने की तरह अन्य शरीर धारण करता रहता है; किन्तु अनिकेतन (एक ग्राम में एक रात्रि ही निवास करने वाला परिव्राजक) और मुक्त पुरुष आकाश में चन्द्रमा के समान सर्वत्र सञ्चरित होता रहता है ॥ ६ ॥

तीर्थे श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम्। प्राणानवकीर्य याति कैवल्यम्॥ ७ ॥

ज्ञानी पुरुष तीर्थ में शरीर त्याग करे अथवा चाण्डाल के घर में, प्राणों को छोड़कर वह सदा कैवल्य को ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

तं पश्चाद्दिग्बलिं कुर्यादथवा खननं चरेत्। पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन॥ ८ ॥

शरीर त्याग के पश्चात् उसके शरीर की चाहे दिशाओं को बलि दे दी जाए अर्थात् खुले में डाल दिया

जाए अथवा खोदकर जमीन में गाड़ दिया जाए (वह कैवल्य को ही प्राप्त करता है)। यह विधि परिव्राजक (संन्यासी) के लिए है, इतर (अन्य) किसी के लिए कभी नहीं॥ ८॥

नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नोदकक्रिया। न कुर्यात्पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे॥ ९॥

जो संन्यासी ब्रह्मलीन हो गया है, उसके निमित्त अशौच (सूतक) नहीं रहता। उसकी आत्म शान्ति के लिए न अग्नि कार्य, न पिण्ड, न तर्पण और न ही पर्व पर किये जाने वाले श्राद्ध (पार्वण) आदि की ही आवश्यकता है॥ ९॥

दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा। ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ॥ १०॥

जिस प्रकार जले हुए को जलाया नहीं जाता और पके हुए को पुनः पकाया नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध (संन्यासी) के लिए न कोई श्राद्ध आवश्यक है और न ही कोई क्रिया-कर्म॥ १०॥

यावच्चोपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम्। गुरुवद्गुरुभार्यायां तत्पुत्रेषु च वर्तनम्॥ ११॥

जब तक सांसारिक उपाधियाँ हैं, तब तक गुरु की शुश्रूषा (सेवा) करनी चाहिए। गुरु के समान ही गुरु पत्नी और गुरु सन्तानों के प्रति भी सम्मान पूर्ण व्यवहार करना चाहिए॥ ११॥

शुद्धमानसः शुद्धचिद्रूपः सहिष्णुः सोऽहमस्मि सहिष्णुः सोऽहमस्मीति प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये परमात्मनि हृदि संस्थिते देहे लब्धशान्तिपदं गते तदा प्रभामनोबुद्धिशून्यं भवति॥ १२॥

मैं शुद्ध मानस, शुद्ध चैतन्य रूप, सहिष्णु, वह सहिष्णु मैं ही हूँ, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाने से, ज्ञान के अनुभव से और ज्ञेय परमात्मा के हृदय में भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जाने से जब देह को शान्ति पद की प्राप्ति हो जाए, तब साधक मन-बुद्धि शून्य होकर चैतन्य रूप हो जाता है॥ १२॥

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्। एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति। ज्ञानामृततृप्तयोगिनो न किंचित्कर्तव्यमस्ति। तदस्ति चेन्न स तत्त्वविद्भवति। दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति॥ १३॥

अमृत का पान कर लेने पर दूध से क्या प्रयोजन? इसी प्रकार अपने आपका ज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त कर लेने पर वेदों से क्या प्रयोजन (सिद्ध) होता है? ज्ञानामृत से तृप्त योगी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। यदि कोई कर्त्तव्य शेष रहता है, तो इसका अभिप्राय है कि वह तत्त्वविद् नहीं है। वह दूर स्थित होने पर भी दूर नहीं और पिण्ड में स्थित होने पर भी पिण्ड से पृथक् प्रत्यगात्मा है, जो सर्वव्यापी होता है॥१३॥

हृदयं निर्मलं कृत्वा चिन्तयित्वाप्यनामयम्। अहमेव परं सर्वमिति पश्येत्परं सुखम्॥ १४॥

हृदय को निर्मल करके और अपने को 'मैं अनामय ब्रह्म हूँ', ऐसा चिन्तन करके मैं ही सब कुछ हूँ, ऐसा सोचने व देखने से परम सुख प्राप्त होता है॥ १४॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्। अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ १५॥

जिस प्रकार जल में जल, दुग्ध में दुग्ध और घृत में घृत डाल देने से, वे एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर अविशेष अर्थात् अभिन्न (एक) हो जाते हैं॥ १५॥

देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति तदा विद्वान्ब्रह्मज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्दहेत्॥ १६॥

जब ज्ञान के द्वारा देह में स्थित अभिमान विनष्ट हो जाता है तथा बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है, तब विद्वान् पुरुष ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से कर्म बन्धनों को भस्म कर देता है॥ १६॥

ततः पवित्रं परमेश्वराख्यमद्वैतरूपं विमलाम्बराभम्।

यथोदके तोयमनुप्रविष्टं तथात्मरूपो निरुपाधिसंस्थितः ॥ १७॥

इसके पश्चात् वह विमल वस्त्र के समान पवित्र और अद्वैतरूप परमेश्वर को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने आत्म रूप (सत्य स्वरूप) में प्रतिष्ठित हो जाता है, जिस प्रकार जल दूसरे जल में प्रविष्ट होकर (मिलकर) एकरूप हो जाता है ॥ १७॥

आकाशवत्सूक्ष्मशरीर आत्मा न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा।

स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा॥ १८॥

आत्मा आकाश के सदृश सूक्ष्म और वायु के सदृश दिखाई न पड़ने वाली है। वह बाह्य और अन्दर से भी निश्चल है, जिसे मात्र ज्ञान रूपी उल्का (विद्युत् या मशाल) से ही देखा जा सकता है॥ १८॥

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना। यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गतः॥ १९॥

ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी मृत्यु को प्राप्त करे, वह हर स्थिति में ब्रह्म में ही लय हो जाता है, क्योंकि आकाश के समान ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है॥ १९॥

घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वतः। स गच्छति निरालम्बं ज्ञानालोकं समन्ततः॥ २०

जिस प्रकार घटाकाश आकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जो योगी अपने को तत्त्वतः जान लेता है, वह सभी ओर से निरालम्ब और ज्ञानालोक स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः। एतस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हति षोडशीम्॥ २१॥

यदि कोई एक पैर पर खड़े होकर एक सहस्र वर्ष तक तप करे, तो भी वह ध्यान योग की षोडश कलाओं में से एक के बराबर भी नहीं हो सकता॥ २१॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातुमिच्छति। अपि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥ २२॥

ज्ञान और ज्ञेय को यदि कोई सम्पूर्णरूप से जानना चाहे, तो सहस्र वर्ष की आयु पर्यन्त शास्त्राध्ययन करने पर भी उसका पार नहीं पा सकता ॥ २२॥

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चञ्चलम्। विहाय शास्त्रजालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम्॥२३

मनुष्य को जानना चाहिए कि मात्र अक्षर ब्रह्म ही सत्य है। मनुष्य का जीवन चञ्चल है; इसलिए शास्त्र-जाल को छोड़कर जो सत्य है, उसी की उपासना करे॥ २३॥

अनन्तकर्म शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च। तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४॥

विभिन्न कर्म-शौच,जप,यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि की सार्थकता तभी तक है,जब तक तत्त्व की प्राप्ति न हो॥

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च॥ २५॥

'मैं ब्रह्म हूँ' यही भाव महात्मा पुरुषों के मोक्ष का आधार होता है। बन्धन और मोक्ष के कारण रूप ये ही दो पद हैं, 'यह मेरा है' (बन्धन), 'यह मेरा नहीं है' (मोक्ष)॥ २५॥

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते। मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ २६॥

मेरा है, यह भाव बन्धन में डालता है और मेरा नहीं है, यह भाव मोक्ष प्रदान करता है। जब मन उन्मनी अवस्था (भाव) को प्राप्त हो जाता है, तब द्वैत भाव समाप्त हो जाता है॥ २६॥

यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत्परमं पदम्। यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्॥ २७॥

जब उन्मनी भाव प्राप्त हो जाता है, तभी परम पद प्राप्त होता है। उस अवस्था में जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं परम पद है॥ २७॥

तत्र तत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्। हन्यान्मुष्टिभिराकाशं क्षुधार्तः खण्डयेत्तुषम्। नाहंब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते॥ २८॥

परब्रह्म यत्र-तत्र-सर्वत्र अवस्थित है, पर जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उसकी मुक्ति उसी प्रकार नहीं होती (अथवा मुक्ति के लिए किया गया प्रयास निष्फल जाता है), जिस प्रकार कोई आकाश में मुष्टि प्रहार करे या भूखा व्यक्ति चावल प्राप्त करने के लिए भूसी को कूटे॥ २८॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्ववेदव्रतचर्यासु चरितो भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। दश पूर्वान्दशोत्तरान्पुनाति। स पङ्क्तिपावनो भवति। स महान्भवति। ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुतल्पगमनतत्संयोगिपातकेभ्यः पूतो भवति॥ २९॥

जो इस उपनिषद् का नित्य पाठ करता है (अध्ययन करता है), वह अग्नि के समान, वायु के समान, आदित्य के समान, ब्रह्म के समान, विष्णु के समान और रुद्र के समान पवित्र होता है। वह समस्त तीर्थों में स्नान किए हुए के समान होता है, समस्त वेदों का ज्ञाता होता है, समस्त वेदों में वर्णित व्रतों का पालन करने वाला होता है। उसे इतिहास-पुराण आदि के अध्ययन तथा एक लक्ष रुद्रमन्त्र के जप का फल प्राप्त होता है। उसे दस सहस्र 'प्रणव' नाम के जप का फल मिलता है। उसके पूर्व की दस और बाद की दस पीढ़ियाँ पवित्र हो जाती हैं। वह साथ में बैठने वालों को पवित्र करता है, जिसके कारण 'पंक्ति पावन' हो जाता है। वह महान् होता है। वह ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्ण की चोरी, गुरुपत्नी-गमन तथा ऐसे महापातक करने वालों की संगति से उत्पन्न पातकों से मुक्त (पवित्र) हो जाता है॥ २९॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ ३०॥

ज्ञानीजन विश्वव्यापी भगवान् विष्णु के परमपद को द्युलोक में व्याप्त दिव्य प्रकाश की भाँति देखते हैं॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। ॐ सत्यमित्युपनिषद्॥ ३१॥

वे विप्र (ब्रह्मनिष्ठ जीवनयापन करने वाले) आलस्य प्रमादादि से रहित, सदैव श्रेष्ठ कर्म करने वाले साधक विष्णु (अन्तर्यामी परमेश्वर) के परम पद को प्राप्त करते हैं। यह बात सत्य है-ऐसी यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है॥ ३१॥

ॐ पूर्णमदः................. इति शान्तिः॥

॥ इति पैङ्गलोपनिषत्समाप्ता॥

॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसका दूसरा नाम 'अमृतबिन्दूपनिषद्' भी है। इसमें कुल २२ मन्त्र हैं, जिसमें ब्रह्म के अनुसन्धान (साक्षात्कार) का क्रमिक स्वरूप वर्णित हुआ है।

'मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का कारणभूत है'-इस शाश्वत तथ्य के उद्घाटन के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है। 'मन' को निर्विषय बनाकर मुक्ति की प्राप्ति, निर्विषय बनाने की विधि, स्वर (प्रणव) तथा अस्वर द्वारा व्यक्त एवं अव्यक्त 'ब्रह्म' का अनुसन्धान, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में एक ही आत्मतत्त्व की स्थिति, आत्मा का शाश्वत-स्वरूप, माया से जीवात्मा का आवृत होना, अज्ञानान्धकार के विनष्ट होने पर जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व का बोध, दूध में विद्यमान घृत की तरह चिन्तन-मनन रूप मन्थन द्वारा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति और अन्ततः स्वयं के रूप में उस (परमात्मतत्त्व) की अनुभूति-यही सब वर्ण्य विषय हैं, इस ब्रह्मबिन्दूपनिषद् के ये सभी विषय बड़े सरल ढंग से इस उपनिषद् में प्रतिपादित हुए हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु...........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १ ॥

मन के दो प्रकार कहे गये हैं, शुद्ध मन और अशुद्ध मन। जिसमें इच्छाओं, कामनाओं के संकल्प उत्पन्न होते हैं,वह अशुद्ध मन है और जिसमें इन समस्त इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो गया है,वही शुद्ध मन है ॥ १ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २ ॥

मन ही सभी मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का प्रमुख कारण है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है ॥ २ ॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते । अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि। यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४॥

विषय-भोगों के संकल्प से रहित होने पर ही इस मन का विलय होता है। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला साधक अपने मन को सदा ही विषयों से दूर रखे। इसके अनन्तर जब मन से विषयों की आसक्ति निकल जाती है तथा वह हृदय में स्थिर होकर उन्मनी भाव को प्राप्त हो जाता है, तब वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है ॥ ३-४ ॥

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्। एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ५ ॥

मनुष्य को अपना मन तभी तक रोकने का प्रयास करना चाहिए, जब तक कि वह हृदय में विलीन नहीं हो जाता। मन का हृदय में लीन हो जाना ही ज्ञान और मुक्ति है, इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी है, वह सब ग्रन्थ का मात्र विस्तार ही है ॥ ५ ॥

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च। पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब चिन्तनीय और अचिन्तनीय का उस (साधक) के समक्ष कोई अन्तर न रह जाए तथा दोनों में से किसी के प्रति भी मन का पक्षपात भी न रह जाए , तब साधक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम्। अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते॥ ७॥

(साधक को) स्वर अर्थात् प्रणव के द्वारा व्यक्त ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए तथा इसके पश्चात् अस्वर द्वारा (प्रणव से अतीत) अव्यक्त ब्रह्म का चिन्तन करे। प्रणवातीत उस श्रेष्ठ परब्रह्म की प्राप्ति भावना के माध्यम से भाव-रूप में होती है, अभाव रूप में नहीं॥ ७॥

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम्॥ ८॥

वह ब्रह्म कलाओं से रहित (एक रस-प्राणादि कलाओं से ऊपर), निर्विकल्प एवं निरञ्जन अर्थात् माया और मल से रहित है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ', इस प्रकार जान करके मनुष्य निश्चित ही ब्रह्ममय हो जाता है॥

निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्। अप्रमेयमनादिं च यत् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥ ९॥

निर्विकल्प, अन्तरहित (अनन्त), हेतु और दृष्टान्त से शून्य, प्रपञ्च से रहित, अनादि, परम कल्याणमय परब्रह्म को जानकर विद्वान् पुरुष स्वयमेव मुक्त हो जाता है॥ ९॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता॥ १०॥

न निरोध (प्रलय) है, न उत्पत्ति है, न बन्धन है और न ही (मोक्ष) साधकता है, न मुक्ति की इच्छा है और न ही मुक्ति है। इस तरह का निश्चय होना ही परमार्थ बोध अर्थात् वास्तविक ज्ञान है॥ १०॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते॥ ११॥

शरीर की इन तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में एक ही आत्मतत्त्व का सम्बन्ध मानना चाहिए। जो भी व्यक्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे हो गया है,उस व्यक्ति का दूसरा जन्म फिर नहीं होता॥११॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ १२॥

समस्त भूत प्राणियों का एक ही अन्तर्यामी हर एक प्राणी के अन्तःकरण में विद्यमान है। अलग-अलग जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह वही एक, अनेक रूपों में दिखाई देता है॥ १२॥

घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा। घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः॥ १३॥

घट (घड़े) में आकाश तत्त्व पूर्णरूप से विद्यमान है; किन्तु जिस प्रकार घड़े के क्षत-विक्षत होने पर मात्र घड़े का ही विनाश होता है, उसमें भरे हुए आकाश तत्त्व का नहीं, उसी प्रकार शरीर धारण करने वाला जीव भी आकाश के ही सदृश है। शरीर के विनष्ट होने से आत्मा का विनाश नहीं होता, वह शाश्वत है॥ १३॥

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः। तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः॥ १४॥

समस्त जीव-प्राणियो का भिन्न-भिन्न शरीर, घट के ही समान है, जो बार-बार टूटता-फूटता या विनाश को प्राप्त होता रहता है। यह विनाश को प्राप्त होने वाला जड़ शरीर अपने अन्तःकरण में विद्यमान चिन्मय परब्रह्म को नहीं जानता; किन्तु वह सभी का साक्षी परमात्मा, सभी शरीरों को सदा से जानता रहता है॥ १४॥

शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे। भिन्ने तमसि चैकत्वमेकमेवानुपश्यति॥ १५॥

जब तक नाम-रूपात्मक अस्तित्व रखने वाली माया के द्वारा (यह) जीवात्मा आवृत रहता है, तब तक बँधे हुए की भाँति हृदय-कमल में स्थित रहता है, जब अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश हो जाता है, तब ज्ञान रूपी प्रकाश में विद्वान् पुरुष जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व का दर्शन प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्। तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः॥ १६॥

शब्द ब्रह्म (प्रणव) और परब्रह्म दोनों ही अक्षर हैं। इन दोनों में से जिस किसी एक के क्षीण होने पर स्वयं जो अक्षय की स्थिति में बना रहता है, वह (परब्रह्म) ही वास्तविक अक्षर (अविनाशी) है। विद्वान्

पुरुष यदि शान्ति चाहते हों, तो उन्हें उस अक्षर रूप परब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए॥ १६॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ १७॥

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं, प्रथम विद्या को 'शब्द ब्रह्म' और दूसरी विद्या को 'परब्रह्म' के नाम से जाना जाता है। 'शब्द ब्रह्म' अर्थात् वेद-शास्त्रों के ज्ञान में निष्णात होने पर विद्वान् मनुष्य परब्रह्म को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः॥ १८॥

ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि ग्रन्थ का अभ्यास करने के पश्चात् उसमें निहित ज्ञान-विज्ञान को (मूलतत्त्व को) ग्रहण कर ले, तदनन्तर ग्रन्थ को त्याग देना चाहिए। ठीक उसी भाँति, जैसे कि धान्य (अन्न) को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अन्न तो प्राप्त कर लेता है और पुआल को खलिहान में ही छोड़ देता है॥ १८॥

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता। क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९॥

अनेक रूप-रंगों वाली गौओं का दुग्ध एक ही रंग का होता है। ठीक वैसे ही बुद्धिमान् व्यक्ति अनेक साम्प्रदायिक चिह्नों को धारण करने वाले मनुष्यों के विवेक को भी गौओं के दूध की तरह ही देखता है। बाहर के चिह्न-भेद से ज्ञान में किसी भी तरह का अन्तर नहीं आने पाता॥ १९॥

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन॥ २०॥

जिस प्रकार दूध में घृत (घी) मूल रूप से छिपा रहता है, उसी तरह ही प्रत्येक प्राणी के अन्तः-करण में विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) स्थित रहता है। जैसे घृत प्राप्ति के लिए दूध का मंथन किया जाता है, वैसे ही विज्ञान स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन को मथानी रूप में परिणत करके सतत मन्थन (ध्यान एवं विचार) करते रहना चाहिए॥ २०॥

ज्ञाननेत्रं समादाय चोद्धरेद्वह्निवत् परम्। निष्कलं निश्चलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम्॥ २१॥

इसके पश्चात् ज्ञान दृष्टि प्राप्त करके अग्नि के सदृश तेजःस्वरूप परमात्मा का इस भाँति अनुभव करें कि वह कला शून्य, निश्चल एवं अतिशान्त परब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ। यही विज्ञान कहा गया है॥ २१॥

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेव इति॥ २२॥

जिसमें समस्त भूत प्राणियों का निवास है, जो स्वयं भी सभी भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है एवं सभी पर अहैतुकी कृपा करने के कारण प्रसिद्ध है। वह सभी आत्माओं में स्थित वासुदेव मैं ही हूँ, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं स्वयं ही हूँ। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ २२॥

ॐ सह नाववतु............ इति शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मबिन्दूपनिषत्समाप्ता॥

॥ ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या के रहस्यभूत प्रणव ब्रह्म का उल्लेख करते हुए प्रणव की चार मात्राओं की विवेचना है। जीव का स्वरूप, बन्ध-मोक्ष का कारण, हंस विद्या द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति, सकल और निष्कल ब्रह्म का स्वरूप, केवल शास्त्रीय ज्ञान एवं आचरण से पाप-पुण्य की प्राप्ति, प्रणव-हंस का अनुसन्धान ही प्रत्यक्ष यजन, हंस-मंत्र के अभ्यास से समाधि की प्राप्ति, हंस योग का अभ्यास क्रम तथा हंस योगी द्वारा आत्मा के स्वरूप का चिन्तन इत्यादि विषयों का क्रमशः विवेचन किया गया है। ये सभी विषय 'ब्रह्म' के तात्त्विक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, इसलिए इस उपनिषद् की 'ब्रह्मविद्या' यह संज्ञा सार्थक ही है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य अवधूतोपनिषद्)

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते।

प्रसादाद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः। रहस्यं ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं संप्रचक्षते॥ १॥

अब 'ब्रह्मविद्या' नामक उपनिषद् का वर्णन करते हैं-अद्भुत एवं श्रेष्ठ कर्म करने वाले विष्णु रूप परब्रह्म की कृपा से ध्रुवाग्नि (अटल अग्नि या ज्ञान) के स्वरूप वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य बताया जाता है॥१॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः। शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा॥ २॥

जिस प्रकार ब्रह्म को प्रणव के एक अक्षर (ॐ) के रूप में ब्रह्मज्ञानियों ने कहा है। उसी प्रकार उस (ब्रह्मविद्या) के शरीर, स्थान एवं तीन काल का वर्णन करता हूँ॥ २॥

[ब्रह्म की अक्षरात्मक अभिव्यक्ति ॐ से की जाती है, इसलिए ऋषि यहाँ उसको स्पष्ट कर रहे हैं।]

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः। तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु॥३॥

उस ओंकार में तीन देवता, तीन लोक, तीन वेद (ऋक्, यजुः, साम) और तीन अग्नियाँ हैं। शिव स्वरूप इस त्र्यक्षर की तीन और आधी मात्राएँ (अकार, उकार, मकार और अनुस्वार) हैं॥ ३॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च। अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥ ४॥

ब्रह्मज्ञानियों ने 'अ' कार का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी तत्त्व और ब्रह्मा को बतलाया है॥४॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च। विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः॥ ५॥

'उ' कार का शरीर यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, आकाशतत्त्व तथा भगवान् विष्णु को बताया है॥ ५॥

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च। ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः॥ ६॥

'म' कार का शरीर सामवेद, आहवनीय अग्नि, द्युलोक, ईश्वर और परमदेव को कहा गया है॥ ६॥

सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः। उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥ ७॥

मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः। तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः॥८॥

शंख के मध्य भाग की तरह 'अ' कार सूर्य मण्डल के मध्य में प्रतिष्ठित है और चन्द्रमा के सदृश 'उ' कार उसी चन्द्र मण्डल में स्थित है। निर्धूम (धूम रहित) अग्नि और विद्युत् में अग्नि सदृश 'म'कार प्रतिष्ठित है। इस तरह से तीन मात्राओं को सूर्य, चन्द्र, अग्नि के रूप में जानना चाहिए॥ ७-८॥

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते। अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥ ९ ॥

जिस तरह से दीपक की शिखा (लौ) ऊपर की ओर रहती है, इसी तरह से प्रणव के ऊपर की अर्द्धमात्रा की स्थिति को जानना चाहिए॥ ९ ॥

[दीपक की लौ सदा ऊर्ध्वमुखी होती है। अनुस्वार नासिका मूल-मस्तिष्क के उच्च भाग में गुंजरित होता है। इस मात्रा के कारण अ, उ,म् का संयुक्त स्वर ऊर्ध्वोन्मुख हो उठता है, इसलिए इसे ज्योति के अनुरूप कहा गया है।]

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा। सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परा ॥ १०

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा च मूर्धनि। वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥ ११ ॥

वह शिखा (लौ) पद्म सूत्र के सदृश दृष्टिगोचर होती है। सूर्य सदृश वह नाड़ी सूर्य का भेदन करके तथा बहत्तर हजार नाड़ियों का भेदन करके मूर्धा में प्रतिष्ठित होने वाली, सभी प्राणियों को वरदान प्रदान करने वाली एवं सबको व्याप्त करके स्थित रहने वाली है॥ १०-११ ॥

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये। ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥१२

काँस्य (ताँबा तथा टीन से मिलकर बनी) धातु निर्मित घण्टे का शब्द जिस प्रकार शान्ति प्रदान करता हुआ विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ॐ कार की साधना द्वारा सभी तरह की इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं ॥१२॥

यस्मिन्विलीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते। धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १३ ॥

जिस (तत्त्व) में शब्द विलीन हो जाता है, उसे परब्रह्म कहा गया है। जो बुद्धि ब्रह्म में विलीन हो जाती है, वह अमृत स्वरूप-ब्रह्म स्वरूप कही गई है॥ १३ ॥

वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः। स जीवः प्राण इत्युक्तो वालाग्रशतकल्पितः ॥१४ ॥

वायु, तेज तथा आकाश इन तीनों मे जीव की उपमा दी जाती है। इस जीव का प्रमाण (आकार) बाल की नोक का सौवाँ भाग (अति सूक्ष्म) कल्पित किया गया है॥ १४॥

नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम्। आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम्॥

वह (जीव) विश्व (संज्ञक), शुद्ध तत्त्व, निर्मल स्वरूप नाभि प्रदेश (नाभिक-न्यूक्लियस) में प्रतिष्ठित है। वह सूर्य के सदृश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाला और कल्याणकारी है॥ १५॥

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा। नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम्॥ १६ ॥

जीव (श्वासोच्छ्वास के रूप में) 'स' कार और 'ह' कार (सोऽहं का जप) सर्वदा करता है, इस के प्रभाव से वह जीव नाभिरंध्र से उत्क्रमण करता रहता है और उसे किसी प्रकार के विषय व्याप्त नहीं करते॥

तेनेदं निष्कलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा। कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥१७॥

दुग्ध से (मथकर निकाले गये) घृत की भाँति उस निष्कल (कला रहित), सबके कारण रूप आत्म तत्त्व को प्राण के पाँच आयामों द्वारा जाना जाता है। (देह के पाँचों तत्त्वों में प्राण तत्त्व प्रवाहित होते हैं। इन पाँचों में प्रवाहित प्राण के पाँच आयाम माने गये हैं) ॥ १७॥

चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः। गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥१८॥

जिस प्रकार मथने वाले दण्ड से दुग्ध को मथा जाता है, उसी प्रकार चार कलाओं से युक्त हृदय में स्थित प्राण तत्त्व को (श्वास-प्रश्वास को) शरीर में भ्रमण कराया जाता है॥ १८॥

एतस्मिन्वसते शीघ्रमविश्रान्तं महाखगः। यावन्निःश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥ १९ ॥

इस (शरीर) में शीघ्रगामी महापक्षी (खग रूपी जीव) विश्राम न करता हुआ निवास करता है। जब श्वास रुक जाता है, तब जीव निष्कल (कला रहित) हो जाता है॥ १९॥

[ऋषि ने हृदय को चार कलाओं-विभागों वाला कहा है। वर्तमान शरीर विज्ञानी भी इसे बायें एवं दायें ऑरिकल तथा बायें एवं दायें वेन्ट्रिकल इन चार भागों में ही बँटा हुआ मानते हैं।]

नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्। अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥ २० ॥
स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते। रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥ २१ ॥
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः। मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम्॥२२
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे। अभिषिच्यामृतेनैव हंसहंसेति यो जपेत्॥ २३ ॥
जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते। एवं दिने दिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥ २४॥

आकाश में स्थित निष्कल तत्त्व का चिन्तन करता हुआ, वह भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो पुरुष हृदय में स्थित इस अनाहत ध्वनि युक्त, प्रकाशयुक्त, चिदानन्द 'हंस' को जानता है, वह हंस कहा जाता है। जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक को त्याग करके कुम्भक में स्थित होकर प्राण एवं अपान को एक करके मस्तक में प्रतिष्ठित अमृत को ध्यानपूर्वक आदर सहित पीता है तथा जो नाभि के मध्य में दीपक की तरह सुप्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करता हुआ 'हंस-हंस' का जप करता है, उसे पृथ्वी पर निवास करते हुए जरा, मरण, रोग आदि विकार नहीं होते तथा वह अणिमादि सिद्धियों-विभूतियों का अधिकारी हो जाता है ॥२०-२४

[सोऽहं को उलटने पर हंसः बनता है। हंस उस प्राण रूप जीव को कहा गया है। वह हंस इस परमात्म तत्त्व को लक्ष्य करके 'सोऽहं' मैं वही हूँ यह भाव करता है, तो वह पदार्थगत विकारों से प्रभावित नहीं होता]

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान्। बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥ २५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सदा ही इस (ब्रह्मविद्या) के अभ्यास में लगा रहता है, उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। अनेक पुरुष इसी एक ही पथ के द्वारा नित्य पद को प्राप्त कर चुके हैं ॥ २५ ॥

हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्। यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम्॥२६ ॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह। शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि॥ २७॥
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः। हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥ २८ ॥

हंस रूपी विद्यामृत के सदृश नित्यत्व का इस जगत् में और कोई साधन नहीं है। जो ज्ञानी मनुष्य इस हंस नाम की परम पावन परमेश्वरी महाविद्या को प्रदान करता है, उसकी सर्वदा ज्ञानपूर्वक प्रजा के सहित सेवा करनी चाहिए। गुरु जो कुछ शुभ या अशुभ आदेश दे,उसका पालन शिष्य को बिना कुछ विचार किये सन्तोष वृत्ति से सतत करना चाहिए। इस हंस विद्या को गुरु से प्राप्त करके मनुष्य सदा ही गुरु की शुश्रूषा करे॥

आत्मानमात्मना साक्षाद्ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम्। देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान्॥२९
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्। गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥ ३० ॥

गुरु की सहायता से आत्मा द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके तथा ब्रह्म को निश्चयपूर्वक बुद्धि द्वारा जान करके वर्णाश्रम, जाति आदि के सम्बन्ध एवं वेद तथा शास्त्रों की बातों को निःसंकोच भाव से त्याग कर, गुरु की सदा ही सेवा-शुश्रूषा करे। इसी से मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है ॥ २९-३० ॥

गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३१ ॥

गुरु ही स्वयं साक्षात् हरि हैं, कोई और अन्य नहीं, ऐसा श्रुति का कथन है ॥ ३१ ॥

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम्॥ ३२ ॥

श्रुति का कथन संशयरहित परमार्थ रूप ही है। श्रुति का विरोध होने पर अन्य और कुछ भी प्रमाण नहीं है। जो बिना प्रमाण होगा, वह अनर्थकारी अर्थात् हानिकारक होगा॥ ३२॥

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः। आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः समवस्थितः ॥३३॥

देह में स्थित (चेतना) को सकल (कला या विभागयुक्त) तथा देहरहित (परम चेतना) को 'निष्कल' (कलारहित) जानना चाहिए। आप्त गुरु के उपदेश से ज्ञात होने वाला यह तत्त्व सर्वत्र समभाव से प्रतिष्ठित है॥

हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः। गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम्॥ ३४॥

जो ज्ञानी पुरुष हंस-हंस बोलता (सोऽहं साधनारत रहता) है, वह ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का कल्याणकारी रूप है। वह गुरु के उपदेश से सर्वतोमुख वाले (सर्वत्र व्याप्त) ब्रह्म को जानने में समर्थ हो सकता है॥ ३४॥

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः। पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन्स बाह्याभ्यन्तरे तथा ॥ ३५॥

जिस प्रकार तिलों में तैल एवं पुष्पों में गंध विद्यमान रहता है, उसी प्रकार पुरुष के इस शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है॥ ३५॥

उल्काहस्तो यथालोके द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत्। ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत्॥३६

जिस प्रकार मशाल के प्रकाश से द्रव्य (वस्तु) को देख करके मशाल का परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के माध्यम से ज्ञातव्य विषय की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान का परित्याग कर दिया जाता है॥ ३६॥

पुष्पवत्सकलं विद्याद्गन्धस्तस्य तु निष्कलः। वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला॥३७

'सकल' अर्थात् कलायुक्त को पुष्प की भाँति एवं उसकी गंध को 'निष्कल' (कलारहित) की भाँति माने अथवा 'सकल' वृक्ष के सदृश है और उसकी छाया निष्कल (कलारहित) है॥ ३७॥

निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः। उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥ ३८॥

(ऊपर कहे अनुसार) निष्कल एवं सकल भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कला सम्पन्न वस्तु उपाय या साधन है तथा उपेय या साध्य (ब्रह्म) कलारहित है॥ ३८॥

सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा। एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥३९॥

अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परत्परम्। पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सकलं परिपठ्यते ॥ ४०॥

सकल में कलायुक्त भाव तथा निष्कल(अखण्ड-निर्विकार) में निष्कल भाव रहता है। (वह सकल) एक मात्रा, दो मात्रा एवं तीन मात्रा के भेद वाला अर्धमात्रा को पर मानना चाहिए, उसके ऊपर परात्पर है। (इस प्रकार) सकल पाँच दैवत वाला पाँच प्रकार का (पंच प्राण एवं पंचभूतात्मक)जानना चाहिए॥ ३९-४०॥

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः। तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥४१

ब्रह्म का स्थान हृदय में है, विष्णु कण्ठ में निवास करते हैं, तालु में भगवान् रुद्र तथा ललाट (मस्तक) में महेश्वर स्थित हैं॥ ४१॥

नासाग्रे अच्युतं विद्यात्तस्यान्ते तु परं पदम्। परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥४२॥

नासिका के अग्रभाग में अच्युत (सदाशिव) तथा उसके अन्तिम भाग (भ्रूमध्य) में परम पद को प्रतिष्ठित जानना चाहिए। (उस) पर (श्रेष्ठ) से पर (श्रेष्ठ) और कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है॥

देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशाङ्गुलम्। तदन्तं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥ ४३॥

उस देहातीत को नासिका के अग्र भाग से बारह अंगुल ऊपर जानना चाहिए तथा उसके अन्तिम भाग (सहस्रार चक्र) में व्यापक प्रभु को स्थित जानना चाहिए॥ ४३॥

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्। तथापि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥४४॥

मन चाहे इधर-उधर चला जाये और चाहे नेत्र अन्यत्र ही देखते रहें, तब भी योगियों का योग अविच्छिन्न भाव से चलता रहता है॥ ४४॥

एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम्। नातः परतरं किंचिन्नातः परतरं शुभम् ॥४५॥

यह सबसे गूढ़ रहस्य है,यही सर्वाधिक श्रेष्ठ है, इससे बढ़कर तथा इससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ।।४५

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम्। गुह्याद्गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥४६॥

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षर तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। यह गुह्य से गुह्य एवं गोपनीय है, जो प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करने योग्य है॥ ४६॥

नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन। गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च॥ ४७॥

प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत्। दाताऽस्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन॥ ४८॥

यह ब्रह्मविद्या न तो अपुत्र को देनी चाहिए और न ही अशिष्य को कभी देनी चहिए। यह विद्या उसी को देनी चाहिए, जो गुरु का सच्चा भक्त हो। सदा नित्य भक्ति परायण रहे, इस शास्त्र विद्या को किसी अन्य को नहीं देना चाहिए। यदि कोई देगा भी, तो वह देने वाला नरक को जायेगा और सिद्धि भी नहीं प्राप्त होगी॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा॥ ४९॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी कोई भी हो एवं कहीं भी निवास करता हो, परम अक्षर तत्त्व को जानने वाला सर्वदा ज्ञानी ही होता है॥ ४९॥

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम्। ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥५०

यदि कोई मनुष्य विषय-भोगी, विषयों में आसक्त रहने वाला हो, तब भी वह इस शास्त्र के ज्ञान से देहान्तर (मृत्यु) के पश्चात् शुभ गति को प्राप्त हो जाता है॥ ५०॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते। चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥ ५१॥

इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले। चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमाचरेत्॥ ५२॥

मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वा परमश्नुते। प्रत्यक्षयजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥५३॥

जो ब्रह्महत्या के पाप तथा अश्वमेधादि के पुण्य में लिप्त नहीं रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ ज्ञानी प्रेरक, बोधक एवं मोक्षदाता माने गये हैं। संसार में आचार्य इन्हीं तीन श्रेणियों के कहे गये हैं। प्रेरक मार्ग दिखलाता है, बोधक- यथार्थ बोध (ज्ञान का आचरण) कराता है, मोक्षप्रदाता-परम श्रेष्ठ तत्त्व प्रदान करता है, जिसे जानकर परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है। हे गौतम! अब तुम शरीर में यजन के सन्दर्भ में श्रवण करो॥ ५१-५३॥

तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम्। स्वयमेव तु संपश्येद्देहे बिन्दुं च निष्कलम्॥ ५४॥

इस (कृत्य) के करने से मनुष्य शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है तथा स्वयं अपने शरीर (देह) के अन्दर ही निष्कल (कलारहित) और बिन्दु को देख लेता है॥ ५४॥

अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित्। कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान्॥ ५५॥

दोनों अयनों के सदृश दिन-रात्रि के एक-एक प्रहर तक रेचक,पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम करे।।५५॥

पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम्। नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चार्चयेत् ॥५६॥

सर्वप्रथम दोनों (ॐ तथा हंस) का उच्चारण करके यथाक्रमानुसार पूजन सम्पन्न करे। (हंसः, सोऽहम्- इस) नमस्कार योग के द्वारा तथा (शाम्भवी, खेचरी आदि) मुद्राओं के माध्यम से अर्चन-पूजन करे॥ ५६॥

सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम्। ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोये तोयं यथा तथा ॥ ५७॥

हे वत्स! सूर्य का (पूजन हेतु) ग्रहण प्रत्यक्ष यजन (सोऽहम् साधना रूप में) कहा गया है। जिस प्रकार जल में जल होता है, उसी प्रकार से सायुज्यपद सद्ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है॥ ५७॥

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगाभ्यासकृतश्रमैः। तस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥ ५८॥

योग के अभ्यास में जो श्रम किया जाता है, उसमें इतने गुण हैं कि इस क्रिया द्वारा उद्योगपूर्वक सभी दुःखों को दूर करने की सतत चेष्टा करनी चाहिए॥ ५८॥

योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत्। ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥ ५९॥

सदा ही इस (ब्रह्मविद्या) के मन्त्र का जप करते हुए योग रूपी चिन्तन के द्वारा तन्मयता को प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान के माध्यम से ही (ब्रह्म का) परम स्वरूप (हंस मन्त्र) प्राप्त किया जाता है॥ ५९॥

प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः। हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम्॥ ६०॥

प्राणियों के शरीर में अच्युतरूपी हंस (चेतन जीव) सदा ही प्रतिष्ठित रहता है। हंस ही परम सत्य है तथा हंस ही शक्ति का स्वरूप है॥ ६०॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्। हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम्॥ ६१॥

हंस ही परम वाक्य है,हंस ही वेदों का सार है। हंस ही परम रुद्र है और हंस ही परमात्मा है॥ ६१॥

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः। पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः॥ ६२॥

कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः। मातृकारहितं मन्त्रमादिशन्ते न कुत्रचित् ॥६३॥

सभी देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है। पृथ्वी से लेकर भगवान् शिव तक तथा 'अकार' से लेकर 'क्ष' तक हंस ही वर्ण-मात्राओं की तरह से स्थित है। मातृका (वर्ण) विहीन मन्त्र का उपदेश कहीं भी नहीं दिया जाता है॥ ६२-६३॥

हंसज्योतिरनूपम्यं देव मध्ये व्यवस्थितम्। दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥ ६४॥

सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन्। निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनुत्तमम् ॥ ६५॥

हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के मध्य में प्रतिष्ठित है। दक्षिणामुख (भगवान् शिव) का आश्रय लेकर ज्ञान मुद्रा करे तथा सर्वदा समाधि अवस्था में हंस का चिन्तन करता रहे और निर्मल स्फटिक के समान उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करे॥ ६४-६५॥

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्रात्मरूपकम्। प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥ ६६॥

पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः। नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥ ६७॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः। पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥६८

मध्य देश में ज्ञान-मुद्रा के स्वरूप वाले परम हंस का सदैव ध्यान करना चाहिए। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान-ये पाँच वायु (प्राण) तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न क्रियाशक्ति अधिक बलवती होती है। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न ज्ञानशक्ति अत्यन्त बलवती होती है। (कुण्डलिनी) शक्ति के बीच में अग्नि और नाभिचक्र में रवि प्रतिष्ठित रहता है॥ ६६-६८॥

बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने। अकारे वह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः॥ ६९॥

मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत्। ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ॥७०

सर्वप्रथम बन्ध एवं मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। नासाग्र एवं अपने दोनों नेत्रों में 'अ' कार अग्नि, हृदय में 'उ' कार अग्नि और भृकुटियों के मध्य में 'म' कार अग्नि प्रतिष्ठित कही गयी है। इनमें प्राणशक्ति को संयुक्त करे। ब्रह्मग्रन्थि ॐकार (नासाग्र एवं नेत्र) में और विष्णुग्रन्थि हृदय में स्थित कही गयी है॥ ६९-७०॥

रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना। अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥ ७१॥
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः। कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तितः॥
रसना पीड्यमानेयं षोडशी वोर्ध्वगामिनी। त्रिकूटं त्रिविधा चैव गोलाखं निखरं तथा॥ ७३॥
त्रिशङ्खवज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम्। कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम्॥ ७४॥

रुद्र ग्रन्थि भृकुटियों के मध्य में स्थित है। यह (तीनों) ग्रन्थि अक्षर वायु (हंस ज्ञान) से भेदन की जाती है। 'अ' कार में ब्रह्मा का, 'उकार' में विष्णु का तथा 'म' कार में रुद्र का स्थान बताया गया है,उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है। कण्ठ का संकोचन (जालन्धरबन्ध) करके आदि शक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) को स्तम्भित करे,तत्पश्चात् जिह्वा को दबाकर सोलह आधार वाली, ऊर्ध्वगामिनी, त्रिकूट (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तीनों के मिलन स्थल) वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जानने वाली अति सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी को एवं त्रिशंख (सुख, दु:ख, सुख-दु:ख तीनों को खाने वाले);वज्र (अयोगी द्वारा दुर्भेद्य), ओंकार युक्त, ऊर्ध्वनाल, भृकुटियों की ओर गमन करने वाली कुण्डली शक्ति तथा प्राणों को चालित करके शशि मण्डल का भेदन करे॥७४॥

साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत्। सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा॥ ७५॥

नव द्वारों को बन्द करके वज्र कुम्भक(उज्जायी, शीतली आदि प्राणायाम)का साधन करना चाहिए। मन को प्रसन्न रखकर,सहज स्थिति में निर्गुण होकर पवन पर आरूढ़ (प्राणायाम परायण) होना चाहिए॥७५॥

ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छंकिन्यमृतवर्षिणी। षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत्॥ ७६॥

इस (ध्यान) से ब्रह्मस्थान में नाद सुनाई पड़ने लगता है तथा शंकिनी नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है और षट्चक्र मण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाश से युक्त हो जाता है॥ ७६॥

सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत्। आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥ ७७॥

समस्त भूत-प्राणियों में प्रतिष्ठित परम देव का सदा ही पूजन करना चाहिए। वे आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा व्याधि से रहित हैं॥ ७७॥

दृश्यन्तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः। हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः। स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते॥ ७८॥ सहस्रमेकं द्व्ययुतं षट्शतं चैव सर्वदा। उच्चरन्पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥ ७९॥

उन सर्वव्यापी निरञ्जन के दिव्य रूप का दर्शन करके हंस-हंस का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। प्राणियों की देह (शरीर) में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा जप कहा जाता है, इससे नित्य प्रति इक्कीस हजार छ: सौ बार जप करता हुआ हंस 'सोऽहम्' के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ७८-७९॥

पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम्। ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः॥

साधक को सदा ही कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिङ्ग का, शिखा स्थान में पश्चिमलिङ्ग का, भृकुटियों के मध्य में ज्योतिर्लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए॥ ८०॥

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम्। अव्रणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम्॥

मैं अच्युत हूँ, मैं अचिन्त्य अर्थात् चिन्तन से परे हूँ, मैं तर्क की सीमा से बाहर हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं

व्रणरहित (स्वस्थ) हूँ, मैं काया से विहीन हूँ, मैं अनङ्ग (अंगरहित) एवं भय से रहित हूँ॥ ८१ ॥

अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः। अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥८२॥

मैं शब्दरहित हूँ, रूप रहित (आकाररहित), स्पर्श से परे एवं अद्वय हूँ। मैं रस से विहीन (रसरहित) हूँ, गन्ध से रहित तथा अनादि अमृत का रूप हूँ॥ ८२॥

अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम्।
अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम्॥ ८३॥

मैं अक्षय (क्षयरहित) हूँ, लिङ्गरहित हूँ, अजर एवं निष्कल अर्थात् कलारहित हूँ। मैं अमूक (वाक् शक्तियुक्त) एवं प्राणरहित हूँ, अचिन्त्य (चिन्तन से परे) तथा मैं ही क्रियारहित हूँ॥ ८३॥

अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः। अगोत्रोऽहमगात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥८४॥

मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य अर्थात् पकड़ने में न आने वाला हूँ, मैं निर्देशरहित एवं लक्षणरहित हूँ। मैं कुल, गोत्र एवं शरीररहित हूँ, मैं नेत्रेन्द्रिय रहित हूँ तथा वागिन्द्रिय रहित भी हूँ॥ ८४॥

अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः। अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोऽस्म्यहम्॥ ८५॥

मैं अदृश्य हूँ, अवर्ण हूँ, अखण्ड एवं अद्भुत हूँ। मैं अश्रुत हूँ, अदृष्ट हूँ, अन्वेषण योग्य एवं अमर हूँ॥

अवायुरप्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम्। अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम्॥ ८६

मैं वायुरहित, आकाश तत्त्व से रहित, तेजो विहीन, व्यभिचार (नियमोल्लंघन) से रहित, अज्ञेय, अजन्मा (जन्मरहित), सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अविकारी (विकार रहित) हूँ॥ ८६॥

अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम्।
अमायोऽनुभवात्माहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम्॥ ८७॥

मैं सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से रहित हूँ। गुणों से अतीत हूँ, मायारहित, अनुभव स्वरूप हूँ, अनन्य तथा अविषय अर्थात् विषयरहित हूँ॥ ८७॥

अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः। अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥८८॥

मैं अद्वैत हूँ, पूर्ण हूँ। मैं न बाहर हूँ और न ही भीतर हूँ, मैं श्रोत्ररहित हूँ, अदीर्घ हूँ, अव्यक्त हूँ और मैं व्याधिरहित भी हूँ ॥ ८८॥

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः। अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्तास्म्यहमद्वयः ॥८९॥

मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन एवं अविकारी अर्थात् विकार रहित हूँ। मैं इच्छा रहित हूँ, अलेप (लिप्त न रहने वाला) हूँ। मैं ही अकर्ता तथा अद्वैत भी मैं ही हूँ॥ ८९॥

अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः। अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन्॥ ९०

मैं अविद्यायुक्त कार्य से रहित हूँ, मैं मन एवं वाणी से अगोचर अर्थात् परे हूँ। मैं अनल्प (अल्परहित) हूँ, शोकरहित हूँ, विकल्परहित एवं विशिष्ट अग्नि से रहित हूँ॥ ९०॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम्। आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः॥ ९१॥

मैं आदि, मध्य एवं अन्त से विहीन हूँ। मैं आकाश के समान हूँ। मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ तथा आनन्द चेतन घन के सदृश हूँ॥ ९१॥

आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः। आत्मकामोऽहमकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम्॥ ९२॥

मैं आनन्द रूप, अमृत स्वरूप हूँ, मैं आत्म-संस्थित हूँ, अन्तर (सभी की अन्तरात्मा) भी मैं ही हूँ। (मैं) आत्मकाम हूँ तथा आकाश से (अधिक व्यापक) परमात्मा स्वरूप परमेश्वर मैं ही हूँ॥ ९२॥

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः। उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥ ९३ ॥

मैं ईशान हूँ, पूजनीय हूँ, उत्तम पुरुष हूँ। मैं उत्कृष्ट हूँ, उपद्रष्टा (साक्षीरूप) हूँ तथा परे से परे हूँ॥ ९३॥

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः। गुहाशयोऽहं गोप्ताहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम्॥ ९४॥

मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ। मैं ही कारणों का कारण अर्थात् अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ एवं मैं ही नेत्रों का भी नेत्र हूँ॥ ९५॥

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम्।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाञ्ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥ ९५॥

मैं चिदानन्द हूँ, चेतना प्रदान करने वाला हूँ, चिद्घन एवं चिन्मय स्वरूप हूँ। मैं ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतियों में सर्वश्रेष्ठ ज्योतिरूप मैं ही हूँ॥ ९५॥

तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः। दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम्॥९६

मैं अन्धकार में साक्ष्य स्वरूप हूँ, तुर्य का भी तुर्य हूँ, अन्धकार से परे हूँ, मैं दिव्य देवस्वरूप हूँ, दुर्दर्श और दृष्टि का आधार ध्रुव (शाश्वत) हूँ॥ ९६॥

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः॥ ९७॥

मैं नित्य हूँ, निर्दोष हूँ, क्रियारहित तथा निरञ्जन हूँ। मैं निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूँ॥

निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निस्पृहोऽस्म्यहम्। निरिन्द्रियो नियन्ताहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः॥

मैं निर्विकार (विकार रहित), नित्यपूत (सदैव पवित्र), निर्गुण, निस्पृह हूँ। मैं इन्द्रियों से रहित, नियन्ता, निरपेक्ष एवं निष्कल (कलारहित) हूँ॥ ९८॥

पुरुषः परमात्माहं पुराणः परमोऽस्म्यहम्। परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम्॥ ९९॥

मैं परमात्म पुरुष हूँ,परम पुराण हूँ। मैं परावर(ज्ञानसमुद्र)हूँ, प्राज्ञ-प्रपञ्च का शमन करने वाला भी हूँ॥

परामृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः। पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम्॥ १००॥

मैं परामृत तथा पुरातन पूर्ण प्रभु हूँ। मैं पूर्णानन्द, एक बोध रूप हूँ तथा प्रत्यग् (अन्तरात्मा) एवं एक - रस (सर्वदा एक रूप) भी मैं ही हूँ॥ १००॥

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः। एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥ १०१॥

मैं प्रज्ञाता (विशेष ज्ञाता) हूँ, मैं प्रशान्त हूँ तथा (मैं ही) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर हूँ। द्वैत एवं अद्वैत के लक्षणों से भिन्न मैं ही एक चिन्तन-मनन करने योग्य हूँ॥ १०१॥

बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम्। महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥ १०२॥

मैं बुद्धि हूँ, मैं ही भूतपाल अर्थात् समस्त प्राणियों का पालन करने वाला हूँ, प्रकाश स्वरूप भगवान् भी मैं हूँ। महादेव, महाज्ञेय एवं महान् महेश्वर भी मैं ही हूँ॥ १०२॥

विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम्। वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यहम्॥ १०३॥

मैं विमुक्त हूँ, विभु हूँ, वरण करने योग्य हूँ तथा मैं ही व्यापक हूँ। मैं श्रेष्ठ वैश्वानर एवं वासुदेव हूँ तथा सम्पूर्ण विश्व का चक्षु रूप भी मैं ही हूँ॥ १०३॥

विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम्।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥ १०४॥

मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विश्व का कर्त्ता विशद विष्णु हूँ, मैं शुद्ध, शुक्र, शान्त स्वरूप हूँ, शाश्वत तथा शिव भी मैं हूँ॥ १०४॥

सर्वभूतान्तरात्माहमहमस्मि सनातनः। अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥ १०५॥

मैं समस्त भूत-प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ, मैं नित्य एवं सनातन हूँ। मैं अपनी महिमा में स्थित रहकर सदैव प्रकाशित होता रहता हूँ॥ १०५॥

सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम्। सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥१०६

मैं सभी के अन्तःकरण में स्वयं ज्योति रूप में स्थित एवं समस्त प्राणियों का अधिपति हूँ। सभी भूत-प्राणी मुझमें ही निवास करते हैं, मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ तथा सभी का सम्राट् हूँ॥ १०६॥

समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः। सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥ १०७॥

मैं सभी का साक्षी, सर्वात्मा, सब भूतों का गुह्य आशय हूँ, मैं सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक हूँ तथा समस्त इन्द्रियों से रहित भी हूँ॥ १०७॥

स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम्। सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम्॥१०८

मैं तीन स्थान (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) से अतीत (परे) हूँ, सभी पर अनुग्रह-अनुकम्पा करने वाला हूँ। मैं सच्चिदानन्द पूर्णात्मा हूँ तथा सभी का प्रेमास्पद हूँ॥ १०८॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः। सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम्॥

मैं सच्चिदानन्द मात्र हूँ एवं स्वयं प्रकाशमान चेतन घनस्वरूप हूँ। मैं सत्य स्वरूप, सन्मात्र (सत्यस्वरूप), सिद्ध तथा सभी की आत्मा हूँ॥ १०९॥

सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम्।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥ ११०॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते इत्युपनिषत् ॥

समस्त (प्राणियों का) आधार स्वरूप, सत्य स्वरूप, सभी के बन्धन को हरने (काटने) वाला, सबको अपना ग्रास बनाने वाला, सभी को देखने वाला और सभी का अनुभव रूप मैं ही हूँ। जो इस प्रकार तत्त्व का ज्ञाता है, वही पुरुष कहा जाता है, इस प्रकार की यह उपनिषद् (रहस्य) विद्या है॥ ११०॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मविद्योपनिषत्समाप्ता ॥

हृदय में सभी देवगण स्थित हैं, प्राण भी हृदय में निवास करता है और हृदय में ही प्राण तथा ज्योति भी प्रतिष्ठित है। इस तरह से हृदय में तीन स्वरूपों में परम ब्रह्म का निवास है। (इस तथ्य को प्रकट करने के लिए) तीन सूत्रों (धागों) से युक्त 'यज्ञ सूत्र' अर्थात् जनेऊ (यज्ञोपवीत) है, ऐसा उसके रहस्य को समझने वाले मानते हैं। वह अविनाशी परमब्रह्म चेतना के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित है॥ ४॥

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ ५॥

(यह) परम पवित्र यज्ञोपवीत सर्वप्रथम प्रजापति (ब्रह्माजी) के साथ ही सहज (देहेन्द्रिय की तरह) प्रादुर्भूत हुआ। वह दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है। (हे मनुष्य !) ऐसा जान करके तुम उत्तम और शुभ्र यज्ञोपवीत धारण करो। यह यज्ञोपवीत तुम्हारे लिए बल एवं तेज प्रदान करने वाला (सिद्ध) हो॥ ५॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ६॥

शिखा के सहित मुण्डन करने के पश्चात् (संन्यास धर्म को ग्रहण करके) ज्ञानी जनों को ब्रह्मसूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए। जिस अविनाशी तत्त्व को परब्रह्म कहा गया है, वही इस सूत्र के रूप में प्रतिष्ठित है। ऐसा जान करके उसी श्रेष्ठ यज्ञोपवीत को हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए॥ ६॥

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥ ७॥

यज्ञोपवीत यह सूचित करता है (कि अविनाशी शाश्वत परब्रह्म हृदय में ही स्थित है), इस कारण से उसे 'सूत्र' के नाम से जाना जाता है। यह 'सूत्र' ही परम पद है। इस परम पद रूपी सूत्र को जिस मनुष्य ने जान लिया, वही ब्राह्मण वेद को जानने में समर्थ अर्थात् पारगामी होता है॥ ७॥

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्॥ ८॥

जिस प्रकार सूत्र रूपी धागों में माला के रूप में मणियों के दाने पिरोये जाते हैं, उसी तरह अविनाशी ब्रह्म में यह सम्पूर्ण जगत् गुँथा हुआ है, इसलिए इसे सूत्र कहा गया है। तत्त्वज्ञानी एवं योग में निष्णात मनुष्यों को इस सूत्र रूप ब्रह्म को हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए॥ ८॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्॥ ९॥

इस श्रेष्ठ योग रूपी ब्रह्मसूत्र को धारण करने वाला विद्वान् मनुष्य ब्रह्मसूत्र का परित्याग कर दे। ब्रह्म स्वरूप को जानना ही 'सूत्र' समझना चाहिए। इस 'ब्रह्मसूत्र' को जो भी मनुष्य धारण करता है, वह चैतन्य स्वरूप है। इस ब्रह्मरूपी सूत्र को धारण करने से व्यक्ति न उच्छिष्ट होता है और न ही अशुद्ध होता है॥ ९॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ १०॥

इस शाश्वत ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत को ग्रहण करने वाले मनुष्यों के हृदय में ब्रह्मरूपी सूत्र स्थित रहता है। इस प्रकार के ही मुनष्य ब्रह्मरूपी सूत्र के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले होते हैं तथा वे ही व्यक्ति वास्तव में सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं॥ १०॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते॥ ११॥

जो मनुष्य ज्ञानरूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को धारण करने वाले हैं,ऐसे उन श्रेष्ठ व्यक्तियों को ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है॥ ११॥

॥ ब्रह्मोपनिषद् ॥

यह कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल २३ मन्त्र हैं, जिसमें ब्रह्म का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय वर्णित होने से इसका नाम 'ब्रह्मोपनिषद्' पड़ा है।

सर्वप्रथम इसमें चतुष्पाद् ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है, तत्पश्चात् परब्रह्म की अक्षरता, ब्रह्म और निर्वाण की एकरूपता, त्रिवृत्सूत्र (ब्रह्म का तीन रूप-देवगण, प्राण और ज्योति-हृदय में विद्यमान) यज्ञोपवीत का तात्त्विक स्वरूप, शिखा-यज्ञोपवीत आदि का ज्ञान स्वरूप होना ब्राह्मणत्व के लिए आवश्यक है, इत्यादि विषय बड़े अच्छे ढंग से प्रतिपादित हैं। अन्त में 'ब्रह्म' की प्राप्ति का उपाय-सत्य एवं तप को बताते हुए सिद्ध किया गया है कि यह 'आत्मा' ही ब्रह्म है, जैसे दूध में घृत विद्यमान रहता है, उसी तरह सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। ऐसा अनुभव करने वाला साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्। स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम्॥ १ ॥

इस विराट् पुरुष के शरीर में आत्मा के चार विशेष स्थान-नाभि, हृदय, कण्ठ एवं ब्रह्मरन्ध्र बताये गये हैं। वहाँ इन चारों क्षेत्रों में चतुर्थ चरण से युक्त ब्रह्म प्रकाशित होता है। ऐसे ही आत्मा की चार अवस्थाएँ-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय कही गयी हैं। इन अवस्थाओं में से जाग्रत् अवस्था में ब्रह्मा, स्वप्नावस्था में विष्णु, सुषुप्तावस्था में रुद्र तथा चतुर्थ तुरीयावस्था में अक्षर रूप परमात्मा प्रकाशित होता रहता है। यह आत्म तत्त्व स्वयं मन एवं हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से रहित होते हुए भी प्रकाश युक्त कहा गया है॥ १ ॥

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्॥ २ ॥

यहाँ (आत्मा अर्थात् ब्रह्म में) लोक-लोक के रूप में नहीं है, देव-देवरूप में नहीं है, वेद-वेदरूप में नहीं है, यज्ञ-यज्ञरूप में नहीं है, माता-माता के रूप में नहीं है, पिता-पितारूप में नहीं है, स्नुषा (पुत्रवधू)-स्नुषा रूप में नहीं है, चाण्डाल-चाण्डालरूप में नहीं है, पौल्कस (भील)-पौल्कस रूप में नहीं है, श्रमण (संन्यासी)-श्रमण के रूप में नहीं है, और तपस्वी-तपस्वी के रूप में नहीं है; किन्तु वह ब्रह्म सदैव एक निर्वाण स्वरूप एवं प्रकाश स्वरूप है॥ २ ॥

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति॥ ३ ॥

वहाँ (इस ब्रह्म पर) देवगण, ऋषिगण और पितृगण भी शासन करने में समर्थ नहीं हैं। उस अविनाशी ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है, वह सर्वविद्या के स्वरूप वाला है॥ ३ ॥

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः। हृदि चैतन्ये तिष्ठति॥ ४॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥१२

जिस मनुष्य के अग्नि की शिखा की भाँति ज्ञान की शिखा होती है, उनके लिए और दूसरी अन्य शिखा होती ही नहीं है और वे ही सच्चे अर्थों में शिखा को धारण करने वाले तथा विशेष ज्ञानी कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य मनुष्य बाह्य केशों की चोटी रखते हैं, वे व्यक्ति शिखा को धारण करने वाले नहीं कहे जा सकते॥ १२॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैः संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्॥ १३॥

ब्राह्मण आदि जो (वर्ण) वैदिक कर्म के अधिकारी हैं, उन्हीं (मनुष्यों) को ही यह ब्रह्मसूत्र धारण करना चाहिए, क्योंकि यही इसकी कार्य पद्धति का अनिवार्य अङ्ग कहा गया है॥ १३॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः॥ १४॥

जिस (ब्राह्मण) की शिखा एवं यज्ञोपवीत दोनों ही ज्ञानस्वरूप हैं, ऐसे उन (ब्राह्मणों) का ब्राह्मणत्व ही पूर्ण सफल है, ऐसा ब्रह्मपरायण विद्वज्जन कहते हैं॥ १४॥

इदं यज्ञोपवीतं तु पवित्रं यत्परायणम्।
स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्वानं विदुः॥ १५॥

यह (ज्ञान ही) यज्ञोपवीत है, यही परम पवित्र और परायण अर्थात् कल्याणकारी है। अतः ज्ञानवान् मनुष्य ही वास्तव में (सच्चे) यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, स्वयं यज्ञरूप हैं और उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों को 'यज्वा' कहते है॥ १५॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ १६॥

एक ही परमात्मा समस्त भूत-प्राणियों में विद्यमान (छिपा हुआ) है, (वह) सर्वव्यापी है। समस्त भूतों का अन्तरात्मा है, सभी के कर्मों को नियन्त्रित रखने वाला है, सभी भूतों का अधिवास है, साक्षीरूप, चैतन्य स्वरूप, पवित्र एवं निर्गुण (त्रिगुणातीत) है॥ १६॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्॥१७॥

वह (परमात्मा) एक होते हुए भी सभी को वश में रखने वाला है, सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है तथा अपने एक ही रूप को विभिन्न रूपों में प्रकट करता है। इस परम तत्त्व को जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपने में प्रतिष्ठित देखते हैं, उन्हें शाश्वत शान्ति की प्राप्ति होती है, दूसरों को इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ १७॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ १८॥

आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊर्ध्व की अरणि बनाकर ध्यान रूपी मंथन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार मनुष्य को करना चाहिए॥ १८॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥ १९॥

जिस प्रकार तिल में तैल, दही में घृत, स्रोत के प्रवाह में जल, काष्ठ में अग्नि अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहती है, उसी प्रकार से आत्मा भी हमारे अन्तःकरण में विद्यमान है। वह आत्मा सत्य एवं तप के द्वारा देखा जा सकता है ॥ १९ ॥

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि। जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥ २० ॥

जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तु (सूत्र) का सृजन एवं संहार अर्थात् सूत्र का निर्माण करती और पुनः खींच (निगल) लेती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था में पुनः-पुनः गमनागमन करता रहता है ॥ २० ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥ २१ ॥

जाग्रत् अवस्था का वैश्वानर नाम से युक्त आत्मा चक्षु में प्रतिष्ठित रहता है, स्वप्नावस्था का तैजस नामक आत्मा कण्ठ में निवास करता है, सुषुप्तावस्था का प्राज्ञ नामक आत्मा हृदय में स्थित रहता है और तुरीय अर्थात् तीनों अवस्थाओं से परे इस तुर्या नामक चौथी अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता है, इस प्रकार से बुद्धिमान् मनुष्य को जानना चाहिए ॥ २१ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दमेतज्जीवस्य यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥२२ ॥

जहाँ मनुष्य की वाक्शक्ति एवं एकादश इन्द्रिय मन नहीं पहुँच सकते, वहाँ पर उस आत्मा के आनन्द को जान करके बुद्धिमान् मनुष्य मुक्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवान्वितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति ॥ २३ ॥

दुग्ध में घृत के सदृश सर्वत्र विद्यमान आत्म तत्त्व, आत्म-विद्या एवं तप के द्वारा ही प्राप्त होता है। यह आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है और यही उपनिषदों का परम पद (परब्रह्म) है ॥ २३ ॥

सह नाववतु ....इति शान्तिः ॥

॥ इति ब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ भिक्षुकोपनिषद् ॥

यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें आत्मकल्याण एवं लोक कल्याण हेतु भिक्षाचर्या द्वारा जीवनयापन करने वाले संन्यास धर्म का संक्षिप्त किन्तु प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस नामक संन्यासियों के उदाहरण देकर उनके आहार-विहार,शिखा-सूत्र, वस्त्रादि का उल्लेख किया गया है। अन्त में परमहंस संन्यास के विषय में अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा परमहंस संन्यास की महनीय महिमा एवं उसके कठोर अनुशासन का पता चलता है। कलेवर की दृष्टि से यह उपनिषद् कुल पाँच मन्त्रों की अति लघुकाय स्वरूप वाली है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से अत्यधिक श्रेष्ठ मानी जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः.................. इति शान्तिः ॥(द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

ॐ अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति चत्वारः ॥ १ ॥

मोक्षार्थी भिक्षुओं की चार श्रेणियाँ होती हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ॥ १ ॥

[यहाँ मोक्षार्थी भिक्षुओं के बारे में अनुशासन में बताये जा रहे हैं। भोगार्थी-स्वार्थी भिक्षु वे, जो अपनी असमर्थता के कारण भिक्षा माँगते हैं ।मोक्षार्थी समर्थ होते हुए भी लौकिक बन्धनों से ऊपर उठने के क्रम में भिक्षाजीवी बनते हैं।]

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

कुटीचक-भिक्षु गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि के समान अष्टग्रास भोजन लेकर योगमार्ग में (योग के माध्यम से) मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

[मात्र शरीर रक्षा के लिए न्यूनतम भोजन का एक प्रमाण अष्टग्रास माना गया है। एक ग्रास उतना अंश माना जा सकता है, जिसे एक साथ मुख में रखकर चबाया जा सके। ऐसे आठ ग्रास खाकर शरीर रक्षा की जा सकती है, ऐसा अनुभव करके यह नियम बनाया गया प्रतीत होता है।]

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाऽष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

बहूदक-भिक्षु त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत और काषाय वस्त्र धारण करते हैं तथा मधु-मांस को छोड़कर ब्रह्मर्षि (किसी सदाचारी नैष्ठिक) के घर में भिक्षाचरण द्वारा आठ ग्रास भोजन ग्रहण करते हुए योगमार्ग द्वारा मोक्षानुसंधान करते हैं ॥ ३ ॥

अथ हंसा नाम ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः। गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

हंस नामक-भिक्षु किसी गाँव में एक रात्रि, नगर में पंचरात्रि तथा (तीर्थ) क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक निवास नहीं करते। वे गोमूत्र और गोमय (गोबर) का आहार ग्रहण करते हुए नित्य चान्द्रायण व्रत परायण होकर योग मार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं ॥ ४ ॥

[यहाँ गोमूत्र और गोमय को अन्तःकरण शोधन के उद्देश्य से आहार रूप में-पंचगव्य आदि के रूप में ग्रहण करने का विधान प्रस्तुत किया गया है।]

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक-प्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिता समलोष्टाश्म-काञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति। अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्दर-कुहरकोटरनिर्झरस्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत्॥ ५॥

परमहंस नामक भिक्षु संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव और हारीतक आदि की तरह अष्टग्रास भोजन ग्रहण करके योगमार्ग में विचरण करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परमहंसों का निवास स्थान वृक्षमूल, शून्यगृह अथवा श्मशान होता है। वे वस्त्रयुक्त (साम्बर) अथवा दिगम्बर होते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, लाभ-अलाभ कुछ नहीं होता। वे शुद्ध और अशुद्ध द्वैत के सन्दर्भ में कोई अभिमत नहीं रखते। वे मिट्टी, पत्थर और सोने में कोई भेद नहीं करते अर्थात् उनके लिए ये सभी समान हैं। सभी वर्णों में वे भिक्षाचरण करते हैं एवं सर्वत्र अपनी आत्मा का ही दर्शन करते हैं। वे जातरूप धर (पैदा हुए बालक की तरह निर्लिप्त, निर्विकार, शुचि-अशुचि भाव से परे) होते हैं। वे (परमहंस) निर्द्वन्द्व, परिग्रहरहित, शुक्ल-ध्यान परायण, आत्मनिष्ठ, जीवन धारण करने की इच्छा से यथोक्त काल में भिक्षाटन करने वाले, एकान्त घर, देवस्थल, झोपड़ी, वल्मीक(बाँबी), वृक्षमूल, कुलालशाला (कुम्भकार गृह), यज्ञशाला, नदीतट, पर्वत स्थित गुहा, टीला, गड्ढा, झरना आदि किसी भी स्थल पर निवास करते हैं। वहाँ निवास करते हुए वे भली प्रकार (आत्मिक विभूतियों से) सम्पन्न होकर शुद्ध मन से परमहंस वृत्ति का पालन करते हुए संन्यास द्वारा शरीर त्याग करते हैं। वे (ऐसा करने वाले) परमहंस (कहलाते) हैं-ऐसा इस उपनिषद् का अभिमत है॥ ५॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति भिक्षुकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल पाँच ब्राह्मण हैं, जिसमें महर्षि याज्ञवल्क्य एवं भगवान् सूर्य नारायण के प्रश्नोत्तर रूप में 'आत्मतत्त्व' का विशद विवेचन हुआ है।

प्रथम ब्राह्मण में सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अष्टांग योग की आवश्यकता और पुनः चार यम,नौ नियम, आसन, प्राणायामादि षडंग योग, देह के पंच दोष, तारक दर्शन, लक्ष्यत्रय दर्शन, तारक और अमनस्क रूप योग के दो भेद, आत्मनिष्ठ की ब्रह्मरूपता आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। द्वितीय ब्राह्मण में सर्वाधाररूप ज्योति का आत्मतत्त्व के रूप में वर्णन किया गया है, साथ ही ज्योति रूप आत्मा के ज्ञान का फल, शाम्भवी मुद्रा, पूर्णिमा दृष्टि, मुद्रा की सिद्धि और उसके लक्षण, प्रणवरूप आत्म प्रकाश का अनुभव, षण्मुखी मुद्रा से प्रणव की सिद्धि, प्रणवविद् पर कर्म का अप्रभाव, उन्मनी अवस्था से अमनस्क स्थिति की प्राप्ति, ब्रह्मानुसन्धान से कैवल्य की प्राप्ति, ब्रह्मविद् का स्वरूप, सुषुप्ति और समाधि में भेद, ब्रह्म का ब्रह्म रूप होना, जाग्रत् आदि पंच-अवस्था, संसार से पार होने का मार्ग, मन ही बन्ध-मोक्ष का कारण, निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से श्रेष्ठ ब्रह्मविद् होना और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति आदि का विशद विवेचन है। तृतीय ब्राह्मण में परमात्मज्ञान एवं लक्ष्य दर्शन से अमनस्कता की प्राप्ति और उससे संसार बन्धन से निवृत्ति, तारक मार्ग से मनोनाश की प्राप्ति, उन्मनी सिद्ध योगी का ब्रह्मरूप होना आदि वर्णित है। चतुर्थ ब्राह्मण में व्योम पंचक का ज्ञान और उसका प्रतिफल तथा राजयोग का सारांश विवेचित है। पंचम ब्राह्मण में, परमात्मा में मन को लीन करने का अभ्यास, अमनस्क अवस्था के अभ्यास से ब्रह्म स्थिति की प्राप्ति, अमनस्कसिद्ध पुरुष की महिमा आदि का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम।
तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति॥ १ ॥

महामुनि याज्ञवल्क्य (एकबार) आदित्यलोक में गये और वहाँ भगवान् आदित्य को प्रणाम करके कहा-हे भगवन् आदित्य! आप हमें आत्म तत्त्व का उपदेश प्रदान करें॥ १ ॥

स होवाच नारायणः। ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते॥ २ ॥

तब सूर्यनारायण ने कहा—तत्त्वज्ञान सहित यम-नियम आदि को अष्टाङ्ग योग कहा जाता है॥ २॥

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ॥ ३ ॥

सर्दी-गर्मी, आहार एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्त रहना और निश्चल होकर इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, ये सभी यम हैं॥ ३॥

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन। तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः॥ ४॥

गुरु भक्ति, सत्य मार्ग में अनुरक्ति, यथालाभ-सन्तोष, एकान्त निवास, अनासक्ति, मनोनिवृत्ति, फल की इच्छा न करना और वैराग्य भाव-ये सभी नियम हैं॥ ४॥

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति॥ ५॥

सुखासन वृत्ति (सुखपूर्वक एक वृत्ति में दीर्घकाल तक स्थित रहना) और चिरनिवास (बिना प्रयास के चिरकाल तक एक स्थिति में रहना)—ये आसन के नियम हैं॥ ५॥

पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः॥ ६॥

षोडश मात्राओं द्वारा पूरक, चौंसठ मात्राओं द्वारा कुम्भक और बत्तीस मात्राओं द्वारा रेचक करने को प्राणायाम कहते हैं॥ ६॥

विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः॥ ७॥

इन्द्रियों के विषयों से मन का निरोध करना प्रत्याहार कहलाता है॥ ७॥

विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतःस्थापनं धारणं भवति॥ ८॥

विषयों से निरोधित मन को चैतन्य सत्ता में स्थित करना धारणा है॥ ८॥

सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्॥ ९॥ ध्यानविस्मृतिःसमाधिः॥ १०॥

सभी शरीरों में एक ही चैतन्य तत्त्व विद्यमान है, इसी एकतानता (निरन्तर चिन्तन) को ध्यान कहा गया है और ध्यान को भी विस्मृत कर देना (भूल जाना) समाधि है॥ ९-१०॥

एवं सूक्ष्माङ्गानि। य एवं वेद स मुक्तिभाग्भवति॥ ११॥

इस प्रकार ये सभी सूक्ष्म अङ्ग हैं, जो इन्हें इस प्रकार जानता है,वह मुक्ति का अधिकारी होता है॥११॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः॥ १॥

इस शरीर के काम,क्रोध,निःश्वास(श्वासावरोध),भय और निद्रा(अज्ञान-निद्रा)-ये पाँच दोष होते हैं॥१

तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम्॥ २॥

संकल्परहित होना, क्षमाशील होना, अल्पाहार करना, निर्भय होना और तत्त्व चिन्तन करना, ये उपर्युक्त (शरीर के)दोषों को दूर करने के साधन हैं॥ २॥

निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं तरीतुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत्॥ ३॥

निद्रा (अज्ञान-निद्रा) और भय सर्प हैं, हिंसा आदि तरंगें हैं, तृष्णा भँवर है, स्त्री पङ्क है (स्त्री के प्रति भोग्याभाव कीचड़ है)—ऐसे संसार रूपी सागर से पार जाने के लिए सूक्ष्म मार्ग का अवलम्बन लेकर सत्त्व आदि गुणों से परे (ऊपर) होकर तारक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए (उसका ध्यान करना चाहिए)॥ ३॥

भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म॥ ४॥

दोनों भौंहों के मध्य में सच्चिदानन्द स्वरूप, तेजः-सम्पन्न, कूट रूप तारक ब्रह्म का निवास है॥ ४॥

तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम्॥ ५॥

उस (तारक ब्रह्म) की प्राप्ति के उपायों में लक्ष्यत्रय का अवलोकन करना चाहिए॥ ५॥

मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तडित्कोटिसमा मृणालतन्तु-सूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः॥ ६॥

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सूर्य के समान आभा वाली सुषुम्ना नामक नाड़ी है। उसके बीच में उससे कोटिगुनी मृणाल तन्तु जितनी सूक्ष्म कुण्डलिनी है। वहाँ (उसके ज्ञान से) तमोगुण की निवृत्ति होती है। उसके दर्शन से समस्त पाप विनष्ट होते हैं॥ ६॥

तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते।

तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति। एवं हृदयेऽपि॥ ७॥

तर्जनी अँगुली के अग्रभाग से दोनों कानों को बन्द करने पर उस (साधक) के कर्णछिद्रों से फूत्कार शब्द होता है। जब उस शब्द में मन को स्थिर किया जाता है, तब नेत्रों के मध्य में नीलवर्ण ज्योति का दर्शन होता है। इसी प्रकार हृदय में भी (वही ज्योति) दिखाई पड़ती है॥ ७॥

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्त-भङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी॥ ८॥

बाह्य लक्ष्य यह है कि (जिसे) नासिका के अग्रभाग से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रम से नीलवर्ण, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पीतवर्ण और दो रंगों के मिश्रित रंग युक्त आकाश दिखाई पड़ता है, वह योगी हो जाता है॥ ८॥

चलनदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद्दृष्टिः स्थिरा भवति॥९

चल दृष्टि (चञ्चल दृष्टि) से व्योम भाग को देखते हुए पुरुष की दृष्टि के अग्रभाग में ज्योति युक्त किरणें दिखाई पड़ती हैं, उससे दृष्टि में स्थिरत्व आ जाता है॥ ९॥

शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानं ज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति॥ १०॥

शीर्ष (मस्तिष्क) के ऊपर द्वादशाङ्गुल की दूरी पर ज्योति दिखाई पड़ती है। उसे देखने वाले को अमरत्व प्राप्त हो जाता है॥ १०॥

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वाला वलीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति॥ ११॥ तदाकाराकारी भवति॥ १२॥

मध्य लक्ष्य इस प्रकार है कि प्रातःकालीन वेला में सूर्य, चन्द्र और अग्नि ज्वालवत् और उससे विहीन अन्तरिक्षवत् दिखाई देता है। उसके आकार की तरह ही आकार वाला हो जाता है॥ ११-१२॥

अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारगाढतमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमं द्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशसंकाशं सूर्याकाशं भवति॥ १३॥

अभ्यास के द्वारा वह विकाररहित, त्रिगुणातीत आकाश रूप होता है। अत्यंत प्रगाढ़ प्रकाशयुक्त तारकों के समान पराकाश होता है। कालाग्नि के समान प्रकाशमान महाकाश होता है। सर्वोत्कृष्ट परम अद्वितीय और विशिष्ट रूप से द्योतमान प्रकाश तत्त्वाकाश होता है। करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान सूर्याकाश होता है॥

एवमभ्यासात्तन्मयो भवति य एवं वेद॥ १४॥

जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह अभ्यासपूर्वक तन्मय हो जाता है॥ १४॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति। तारकं द्विविधम् मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति॥ १॥

उस योग के दो विभाग हैं। एक पूर्व तथा दूसरा उत्तर। पूर्व विभाग को तारक ब्रह्म कहते हैं और उत्तर विभाग को अमनस्क कहते हैं। तारक ब्रह्म के भी दो प्रकार हैं-एक मूर्तितारक और दूसरा अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियों तक सीमित है, वह मूर्तितारक है, जो दोनों भौंहों से परे- आगे है, वह अमूर्तितारक है॥ १॥

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति॥ २॥

इन दोनों (मूर्तितारक और अमूर्तितारक) का मनयुक्त (मनोयोग पूर्वक) होकर अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि मनयुक्त अन्तर्दृष्टि तारक ब्रह्म को प्रकट करने में सक्षम होती है॥ २॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम्॥ ३॥

इसके बाद भ्रूयुगल के मध्य स्थित छिद्र में तेज आविर्भूत होता है। यह पूर्व तारक ब्रह्म है॥ ३॥

उत्तरं त्वमनस्कम्। तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते। तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः॥ ४॥

उत्तर विभाग तो अमनस्क (मनरहित) होता है। तालुमूल के ऊर्ध्व भाग में महाज्योति का निवास होता है। उसके दर्शन से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥ ४॥

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्यमहाविद्या भवति। तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम्॥ ५॥

जब लक्ष्य में अन्तः-बाह्य दृष्टि निर्निमेष (स्थिर) हो जाती है, तो यह शाम्भवी मुद्रा होती है। समस्त तन्त्रों में गोपनीय यह ब्रह्म विद्या है। उसके ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है, उसका पूजन मोक्षरूपी फल प्रदान करता है॥ ५॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम्॥ ६॥

अन्तर्लक्ष्य दीप्तिमान् ज्योति के समान है, इसे महर्षिगण ही जान सकते हैं। यह बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों (नेत्रों-मन आदि) के द्वारा अगोचर है॥ ६॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सहस्रारे जलज्ज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित्। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके॥ १॥

सहस्रार दल में दीप्तिमान् ज्योति के समान अन्तर्लक्ष्य है। कुछ अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धि रूपी गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष का रूप अन्तर्लक्ष्य है। कितने ही ऐसा मानते हैं कि शीर्ष के अन्तर्गत स्थित मण्डल के मध्य पाँच मुख वाले और उमा सहित नीलकण्ठ भगवान् शंकर का प्रशान्त रूप भी अन्तर्लक्ष्य है। अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा भी कितने ही विद्वान् मानते हैं॥ १॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव। तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति॥ २॥

उपर्युक्त सभी विकल्प (विभेद) आत्मा के ही हैं। उस लक्ष्य (अन्तर्लक्ष्य) को जो शुद्ध आत्म-दृष्टि से देखता है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है॥ २॥

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति॥ ३॥

जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है। स्वकल्पित चौबीस तत्त्वों को त्यागकर छब्बीसवाँ मैं स्वयं परमात्मा हूँ, जब वह ऐसा निश्चय करता है, तो इस निश्चय से वह जीवन्मुक्त हो जाता है॥ ३॥

एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्ड-मण्डलो भवति ॥ ४॥

इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य का दर्शन प्राप्त कर लेने से वह (जीव) जीवन्मुक्त की ओर अग्रसर होते हुए स्वयं अन्तर्लक्ष्य होकर परम आकाशस्वरूप अखण्ड मण्डल हो जाता है॥ ४॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ। भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम्। मया तन्न ज्ञातम्। तद्ब्रूहि मह्यम्॥ १॥

इसके पश्चात् ऋषि याज्ञवल्क्य ने आदित्य मण्डल में स्थित पुरुष से प्रश्न किया- भगवन्! अन्तर्लक्ष्य आदि के विषय में बहुत कुछ कहा गया। उसे मैं नहीं समझ सका। उसे अब आप स्वयं ही मुझे समझाएँ॥१॥

तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तडित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम्। तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति। सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च॥ २॥

(यह सुनकर) सूर्यनारायण ने कहा—पञ्चभूतों का आदिकारण विद्युत् पुंज के समान है, उसमें एक चतुःपीठ है, जिसके बीच में तत्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रकाश अतिगूढ़ और अव्यक्त है॥ २॥

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम्। तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम्॥ ३॥

वह (अव्यक्त प्रकाश) ज्ञानरूपी प्लव (नौका) में आरूढ़ व्यक्ति के लिए जानने योग्य है। वह बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्य है॥ ३॥

तन्मध्ये जगल्लीनम्। तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम्।
तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम्। तद्वेत्ता विमुक्तः॥ ४॥

उसी के मध्य जगत् लीन हो जाता है। वह नाद, बिन्दु और कला से परे अखण्ड मण्डल है। वह सगुण और निर्गुण स्वरूप है। उसको जानने वाला विमुक्त हो जाता है॥ ४॥

आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम्। तन्मध्येऽखण्ड-ब्रह्मतेजो मण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्। तदेव शाम्भवीलक्षणम्॥ ५॥

सर्वप्रथम अग्नि मण्डल है। उसके ऊपर सूर्य मण्डल है। उसके बीच में सुधा स्वरूप चन्द्र मण्डल है। उसके बीच में अखण्ड ब्रह्म का तेजोमण्डल है। वह विद्युत् रेखावत् श्वेत और प्रकाशमान है। वही शाम्भवी मुद्रा का लक्षण है॥ ५॥

तद्दर्शने तिस्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति। निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः॥ ६॥

उसका दर्शन करने से तीन स्वरूप दृष्टि में आते हैं। ये रूप-अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा रूप हैं। निमीलित (पलक बन्द होने की स्थिति) दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है और पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा स्वरूप है। इसलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चहिए॥ ६॥

तल्लक्ष्यं नासाग्रम्। यदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते। तदभ्यासादखण्डमण्डलाकार-ज्योतिर्दृश्यते। तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति॥ ७॥

उस (पूर्णिमारूप दृष्टि) का लक्ष्य नासिकाग्र है। जिस समय तालुमूल में प्रगाढ़ अन्धकार के दर्शन होते हैं, उस समय अभ्यास के द्वारा अखण्ड मण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है॥ ७॥

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति। तामेव खेचरीमाहुः॥ ८॥

इस प्रकार जब सहजानन्द में मन लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा (सिद्ध) होती है और उसे ही खेचरी मुद्रा कहते हैं॥ ८॥

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम्॥ ९॥

उसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है, तत्पश्चात् बुद्धि स्थिर होती है॥ ९॥

तच्चिह्नानि आदौ तारकवद्दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्न प्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद्दृश्यते॥

उसके चिह्न इस प्रकार हैं- सर्वप्रथम तारा के समान दिखाई देता है, तत्पश्चात् वज्र दर्पण (अर्थात् हीरे का दर्पण) जैसा दिखाई देता है, इसके पश्चात् पूर्ण चन्द्र मण्डल दिखाई देता है, इसके बाद नवरत्न प्रभा का मण्डल दृश्यमान होता है, इसके बाद मध्याह्न का सूर्य मण्डल परिलक्षित होता है, तत्पश्चात् क्रमशः अग्निशिखा मण्डल दिखाई देता है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्ण-नवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम्॥ १॥

उस समय वह पश्चिमाभिमुख (आन्तरिक) प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, जिसकी आभा धूम्र वर्णिक स्फटिकमणि तुल्य, बिन्दु (मनस्तत्त्व), नाद (बुद्धि तत्त्व), कला (महत्तत्त्व), नक्षत्र, खद्योत (जुगनू), दीप, नेत्र, सुवर्ण और नवरत्न आदि जैसी होती है। वही प्रणव (ॐ) का स्वरूप है॥ १॥

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मु-खीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति॥ २॥

प्राण और अपान वायु को एक करके कुम्भक धारण करे, तत्पश्चात् नासिकाग्र पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ़ भावना से करद्वय (दोनों हाथों) की अँगुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके 'प्रणव' (ॐ) नाद का श्रवण करे, इसमें मन लीन हो जाता है॥ २॥

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्। एवंविधश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः॥ ३॥

ऐसा अभ्यास करने वाले को कर्म लिप्त नहीं करते। रवि के उदय और अस्त के समय (प्रातः-सायं) कर्म (धर्मकृत्य) सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु चिदादित्य (चैतन्य स्वरूप आदित्य) का तो उदय-अस्त होता ही नहीं, इसलिए उसे जानने (अथवा दर्शन करने) वाले के लिए कोई कर्म शेष नहीं रहते ॥ ३॥

शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मन्या अमनस्कं भवति॥ ४॥

शब्द और काल के लय हो जाने से मनुष्य दिवा और रात्रि से अतीत होकर सभी का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है और ब्रह्म के साथ एकत्व हो जाता है। उन्मनी अवस्था से व्यक्ति अमनस्क हो जाता है॥ ४॥

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चयज्ञानमासनम्। उन्मनीभावः पाद्यम्। सदाऽमनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिरपारामृतवृत्तिः स्नानम्। सर्वत्र भावना गन्धः। दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः। चिदाप्तिः पुष्पम्। चिदग्निस्वरूपं धूपः। चिदादित्यस्वरूपं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। मौनं स्तुतिः। सर्वसंतोषो विसर्जनमिति य एवं वेद ॥ ५॥

निश्चिन्त अवस्था ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निराकरण (दूर करना) ही उसका आवाहन है। निश्चय ज्ञान ही उसका आसन है। उन्मन भाव (मनरहित होना) ही उसका पाद्य है। सदैव अमनस्क भाव ही अर्घ्य है। सतत दीप्ति और अपार अमृतवृत्ति ही उसका स्नान है। सर्वत्र ब्रह्म भावना ही गन्ध है। दर्शन के स्वरूप का अवस्थान ही अक्षत है। चैतन्य की प्राप्ति ही पुष्प है। चैतन्य अग्नि का स्वरूप ही धूप है। चैतन्य आदित्य का स्वरूप ही दीप है। परिपूर्ण चन्द्र के अमृत का एकीकरण ही नैवेद्य है। निश्चलत्व ही प्रदक्षिणा है। 'सोऽहम्' भाव ही नमस्कार है। मौन ही स्तुति है। सभी प्रकार का सन्तोष ही उसका विसर्जन है। जो इस प्रकार जानता है (वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है)॥ ५॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसंपूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति॥ १॥

इस प्रकार जब (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप) त्रिपुटी निरस्त (दूर) हो जाती है, तब तरंगहीन सागर के समान, वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की तरह अचल, सम्पूर्ण भाव और अभाव से विहीन कैवल्य-ज्योति प्रकट होती है, अर्थात् मात्र कैवल्यज्योति शेष रहती है॥ १॥

जाग्रन्निद्रान्तःपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति॥ २॥

जिसे जाग्रदवस्था और निद्रावस्था में भी अन्तर्ज्ञान बना रहता है, वह ब्रह्मविद् होता है॥ २॥

सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च॥ ३॥

सुषुप्ति और समाधि की स्थिति में मनोलय समान होने पर भी दोनों में महान् भेद है। सुषुप्ति में मन अज्ञान में लय हो जाता है, जिससे मुक्ति की स्थिति नहीं बनती ॥ ३॥

समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः संपद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात्॥ ४॥

समाधि अवस्था में तमोविकार विनष्ट हो जाता है, जिसके कारण तदाकार और अखण्डाकार बने हुए वृत्ति रूप साक्षिचैतन्य में प्रपञ्च का विलय हो जाता है; क्योंकि प्रपञ्च मन:कल्पित होता है॥ ४॥

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात्। सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदेव भवति॥ ५॥

तत्पश्चात् भेद के अभाव में समाधि से बाहर आने पर भी प्रपञ्च के मिथ्यात्व का बोध बना रहता है। एक बार सदानन्द का अनुभव हो जाने से वही प्रमुख विषय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मविद्) ब्रह्म ही हो जाता है॥ ५॥

यस्य संकल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता।
तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति॥ ६॥

जिसके संकल्प विनष्ट हो गये हैं, उसी के हाथ में मुक्ति है। इसलिए (वह साधक) भाव और अभाव का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्त हो जाता है॥ ६॥

पुन:पुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्। य एवं वेद ॥ ७॥

इस प्रकार समस्त अवस्थाओं में बारम्बार ज्ञान और ज्ञेय, ध्यान और ध्येय, लक्ष्य और अलक्ष्य, दृश्य और अदृश्य तथा ऊहापोह आदि का परित्याग करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है (वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है)॥ ७॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः॥ १॥

पाँच अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत॥ १॥

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः।
पापफलनरकादि मास्तु शुभकर्मफलस्वर्गमस्त्विति काङ्क्षते॥ २॥

इन पाँच अवस्थाओं में से जाग्रदवस्था में जीव प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त होता है, जिससे वह यह आकांक्षा करता है कि पाप का फल नरक मुझे न प्राप्त हो और शुभ कर्मों का फल स्वर्ग मुझे अवश्य प्राप्त हो॥ २॥

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं।
संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति॥ ३॥

इस प्रकार वही जीव जब वैराग्य को स्वीकार कर लेता है, तब कर्मफल स्वरूप जन्म और संसार रूप बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का आकांक्षी होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है और निवृत्ति पथगामी होता है ॥३

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचरन्साधनचतुष्टयसंपन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुषुप्त्यवस्थाया मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कंचित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनानुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परंतु नहि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारितपरंब्रह्माकारितमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति ॥ ४ ॥

(तत्पश्चात्) वही जीव संसार सागर से पार होने हेतु गुरु का आश्रय लेकर, कामादि (विकारों का) परित्याग करके विहित (वेदोक्त) कर्म का आचरण करता हुआ साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होता है और हृदय कमल के मध्य एकमात्र भगवत्सत्ता को अन्तर्लक्ष्य करके एक उसी के रूप का आश्रय लेकर सुषुप्ति अवस्था से मुक्त ब्रह्मानन्द की स्मृति पाकर ऐसा विचारता है (अनुभव करता है) कि मैं एक और अद्वितीय ही हूँ; किन्तु कुछ काल पूर्व अज्ञान ग्रसित होकर आत्म स्वरूप को भूल गया था और जाग्रदवस्था में स्थित वासना के फलस्वरूप स्वप्न में मेरा यह मानना था कि 'मैं तैजस हूँ।' उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं से निवृत्ति हो जाने पर (सुषुप्तावस्था में) 'मैं प्राज्ञ हूँ' ऐसा मानता था; किन्तु अब 'मैं एक ही हूँ' ऐसा अनुभव होता है। स्थान भेद के कारण वे अलग-अलग अवस्थाएँ थीं; किन्तु मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, ऐसा विवेक होने से 'मैं शुद्ध अद्वैत ब्रह्म हूँ' यह अनुभव होता है, जिसके कारण भेदभाव की समस्त वासनाएँ (आरोपित वृत्तियाँ) दूर हो जाती हैं। साधक अपने भीतर प्रकाशित तेजोमण्डल का ध्यान करने से तदाकार बनकर परब्रह्म के स्वरूप को पाकर मुक्तिपथारूढ़ होता है और परिपक्व हो जाता है ॥ ४ ॥

संकल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ॥ ५ ॥

संकल्प आदि से युक्त मन बन्धन का और उससे रहित मन मोक्ष का कारण होता है ॥ ५ ॥

तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वजगदात्मत्वेन पश्यंस्त्यक्ताहंकारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन्कृतकृत्यो भवति ॥ ६ ॥

उससे सम्पन्न (जीवित अवस्था में ही मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला) साधक चक्षु आदि बाह्य प्रपञ्चों से उपरत हो जाता है। उसमें प्रपञ्चों की गन्ध तक शेष नहीं रहती। वह सम्पूर्ण जगत् को आत्म स्वरूप में देखता है और त्यक्त अहंकार होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चिन्तन करता हुआ 'यह सब कुछ आत्मा ही है, ऐसी भावना करता हुआ कृतकृत्य हो जाता है ॥ ६ ॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति ॥ १ ॥

सब प्रकार से परिपूर्ण होकर वह तुरीयातीत योगी ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। 'यह ब्रह्म है,' लोग इस प्रकार उसकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

सर्वलोकस्तुतिपात्रः सर्वदेशसंचारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्य-सहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति॥ २ ॥

वह समस्त लोकों की स्तुति का पात्र बनता है, समस्त लोकों में संचार करने वाला होता है और परमात्मा रूप गगन में बिन्दु स्थापित करके (चिदाकाश में मन को विलीन करके) शुद्ध, अद्वैत, जड़तारहित, सहज और अमनस्क स्थिति रूपी योगनिद्रा में अखण्डानन्द का अनुसरण करके जीवन्मुक्त हो जाता है॥ २॥

तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति॥ ३॥

उस आनन्द के समुद्र में मग्न रहने वाले (सिद्ध) योगी कहे जाते हैं॥३॥

तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः। एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत्॥ ४॥

उन योगियों की अपेक्षा इन्द्रादि देवगण भी स्वल्प आनन्द प्राप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार परमानन्द प्राप्त करने वाला परम योगी होता है, यह (अद्‌भुत) रहस्य है॥ ४॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति॥ १॥

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्य मण्डल स्थित पुरुष से कहा-''हे स्वामी! आपने अमनस्क स्थिति के लक्षणों के विषय में मुझे उपदेश दिया, अब वह मुझे विस्मृत हो गया है, अतः कृपा करके पुनः उसके लक्षणों को मुझे बताएँ''॥ १॥

तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत्। इदममनस्कमतिरहस्यम्। यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शांभवीमुद्रान्वितम्॥ २॥

वह मण्डल पुरुष बोला-बहुत अच्छा, ''यह अमनस्क स्थिति अतिरहस्यमय है। इसके ज्ञान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है और वह नित्य ही शाम्भवी मुद्रा से समन्वित होता है''॥ २॥

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्ब-मद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परंब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेव निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशा-दमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनः प्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परंब्रह्म प्राप्नोति॥ ३॥

परमात्म दृष्टि से उसका अनुभव कराने वाले लक्ष्यों को देखकर सबके ईश्वर, अप्रमेय, अज, शिव (कल्याणकारी), परम आकाश, निरालम्ब, अद्वितीय, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि के एकमात्र लक्ष्यरूप सभी के कारण परम ब्रह्म को आत्मरूप में देखने वाला पुरुष हृदयगुहा में ही विहार करता हुआ निश्चय पूर्वक जानकर, भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर, मन की उन्मनी अवस्था का अनुभव करता है। तत्पश्चात् समस्त इन्द्रियों के (इन्द्रिय जन्य प्रवृत्ति के) क्षय होने पर, अमनस्क सुख रूप ब्रह्मानन्द सागर में उसका मनः-प्रवाह बहता है, जिसके योग से वह वायुशून्य स्थल में स्थित दीपक के समान अचल परब्रह्म को प्राप्त करता है॥ ३॥

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिःश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनःप्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति॥ ४॥

तत्पश्चात् शुष्क वृक्षवत् मूर्च्छा और निद्रा की स्थिति में श्वासोच्छ्वास के अभाव में सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व विनष्ट हो जाते हैं और शरीर अचञ्चल हो जाता है। ऐसी स्थिति का व्यक्ति परम शान्ति को स्वीकार कर लेता है, जिससे मन प्रचार-शून्य बन जाता है तथा परमात्मा में लीन हो जाता है॥ ४॥

पयःस्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशो भवति तदेवामनस्कम्॥ ५॥

जिस प्रकार दुग्ध दोहन कर लेने के उपरान्त वह गाय के स्तनों में नहीं रहता, उसी प्रकार समस्त इन्द्रिय वर्ग के विनष्ट हो जाने पर मन का भी विनाश हो जाता है—यही अमनस्क स्थिति है॥ ५॥

तदनु नित्यशुद्धः परमात्माहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥ ६॥

इसके उपरान्त 'मैं ही नित्य शुद्ध परमात्मा हूँ' इस प्रकार 'तत्त्वमसि' उपदेश प्राप्त हो जाने से 'तुम ही मैं हूँ', 'मैं ही तुम हो' इस तारक योग मार्ग से अखण्डानन्द पाकर(साधक)पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो जाता है॥६

॥ द्वितीयः खण्डः॥

परिपूर्णपराकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोऽनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति॥१

जिसका मन परमाकाश में पूर्णरूपेण मग्न हो गया हो, जिसे उन्मनी अवस्था प्राप्त हो गई हो एवं जो समस्त इन्द्रिय वर्ग से वियुक्त हो गया हो, अनेक जन्मों से प्राप्त हुए पुण्यपुञ्ज द्वारा उसका कैवल्य स्वरूप फल परिपक्व हो जाता है। अखण्डानन्द प्राप्त कर लेने से उसके समस्त क्लेश रूप पाप विनष्ट हो जाते हैं। तदुपरान्त 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव से वह निरन्तर अभिभूत रहता हुआ कृतकृत्य हो जाता है॥ १॥

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः। इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत्॥ २॥

परमात्मा पूर्ण है, इसलिए 'तू ही मैं हूँ' ऐसा उच्चारण करते हुए गुरु (मण्डल पुरुष) ने शिष्य (याज्ञवल्क्य) का आलिङ्गन (भेंट) करते हुए उसे इस ज्ञान का उपदेश किया था॥ २॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति॥१॥

इसके बाद ऋषि याज्ञवल्क्य ने मण्डल पुरुष (सूर्यमण्डल स्थित पुरुष) से प्रश्न किया कि अब आप मुझे 'आकाश पञ्चक' का लक्षण सविस्तार बताएँ॥ १॥

स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं। सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति॥ २॥

उन्होंने कहा कि आकाश के पाँच प्रकार हैं-आकाश,पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश॥२॥

स बाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम्। स बाह्यस्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम्॥ ३॥

जो बाहर और भीतर से अन्धकारमय है, वह आकाश है। जो बाहर और भीतर से कालाग्नि सदृश है, वह पराकाश है। जो बाहर और अन्दर से अपरिमित कान्ति के समान है, वह तत्त्व महाकाश है। जो बाहर और भीतर से सूर्य सदृश है, वह सूर्याकाश है तथा जो अनिर्वचनीय ज्योति वाला सर्वव्यापक और अतिशय आनन्द के लक्षण से युक्त है, वह परमाकाश है॥ ३॥

एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्तत्तद्रूपो भवति॥ ४॥

इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस लक्ष्य का दर्शन करता है, वह उसी-उसी की तरह हो जाता है॥ ४॥

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत्॥ ५॥

जो नवचक्र (षड्चक्र तथा तालु, आकाश एवं भ्रूचक्र), षड्आधार (मूलाधार आदि षड्आधार), त्रिलक्ष्य (अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य एवं मध्यलक्ष्य) और व्योम पञ्चक (आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश) को सम्यक् प्रकार से नहीं जानता है, वह नाममात्र का योगी है (अर्थात् योगी को इन सभी का ज्ञान होना आवश्यक है)॥ ५॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति॥ १॥

सविषय मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण होता है॥ १॥

अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरम्। तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्वं लययोग्यं भवति॥

अतः समस्त जगत् चित्तगोचर है। वही चित्त यदि निराश्रय हो जाए, तो मन उन्मनी अवस्था से परिपक्व होकर (ईश्वर में) लय होने योग्य बन जाता है॥ २॥

तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत्। मनोलयकारणमहमेव॥ ३॥

इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि मनोलय का कारण 'मैं' ही हूँ॥ ३॥

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः। ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥ ४॥

अनाहत शब्द और उस शब्द के अन्दर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति रहती है और ज्योति के अन्तर्गत मन होता है॥ ४॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ५॥

जो मन त्रिजगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप कर्म सम्पादन करता है, वही मन जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परम पद है॥ ५॥

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम्॥ ६॥

विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि होती है; क्योंकि उसमें भेद का अभाव रहता है। यही परमतत्त्व है॥ ६॥

स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत्॥ ७॥

इस (परमतत्त्व) को जानने वाला बालकवत्, उन्मत्तवत् या पिशाचवत् जड़ वृत्ति से लोक (संसार) में आचरण करता है॥ ७॥

एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्यनिद्रादृग्वा-युचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति॥ ८॥

इस प्रकार अमनस्क स्थिति के अभ्यास से नित्य तृप्ति का अनुभव होने लगता है। मल-मूत्र की मात्रा भी अल्प हो जाती है तथा स्वल्प आहार से काम चल जाता है। अङ्गों में दृढ़ता आ जाती है, शरीर में जड़ता नहीं रहती, निद्रा, नेत्र (आँख झपकने), वायु (श्वास) की (चंचल) गति समाप्त हो जाती है, (जिसके फलस्वरूप) ब्रह्म दर्शन तथा अज्ञात सुखमय स्वरूप की सिद्धि हो जाती है॥ ८॥

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति। तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति। तत्सेवापरोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति। तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति। तन्मातृपितृजायापत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत्॥ ९॥

इस प्रकार दीर्घ काल तक समाधि की स्थिति के अभ्यास से उत्पन्न ब्रह्मामृत पान करने में परायण रहता हुआ संन्यासी अवधूत हो जाता है। उसके दर्शन से सम्पूर्ण जगत् पवित्र हो जाता है। उसकी सेवा में परायण रहने वाला अज्ञानी भी बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियाँ तार देता है। उसके माता-पिता, पत्नी और सन्तति वर्ग भी मुक्त हो जाते हैं। ऐसा यह उपनिषद् है॥ ९॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ महावाक्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल १२ मन्त्र हैं, जिसमें भगवान् ब्रह्मा ने देवों के समक्ष उस रहस्यज्ञान को प्रकट किया है, जो नितान्त गोपनीय है। इसे केवल उन्हीं जिज्ञासुओं के समक्ष प्रकट करना चाहिए, जो सात्त्विक गुणों से ओत-प्रोत, अन्तर्मुखी तथा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहते हों।

इस उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व है, जो अविद्यारूपी 'तम' से आच्छन्न है। इस ज्ञान के उदय होने के साथ ही आत्मतत्त्व का वास्तविक रूप-आदित्य वर्ण सदृश प्रकट हो जाता है और परमअर्क-(आदित्य), परम ज्योति, परमशिव, परम शुक्र, परम ब्रह्मरूप का बोध हो जाता है। जिससे परम आनन्द की अनुभूति-अमृतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में उपनिषद् की महिमा बताते हुए इस रहस्यात्मक ज्ञान का उपसंहार किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐभद्रं कर्णेभिः.........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिरउपनिषद्)

अथ होवाच भगवान्ब्रह्मापरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ गुह्याद्गुह्यतर मेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या। सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषवे ॥ २ ॥

एक समय भगवान् ब्रह्मा जी ने (समस्त देवताओं के समक्ष) कहा कि (हे देवो!) अपरोक्षानुभव (इन्द्रियातीत अनुभूति) परक उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। इस उपनिषद् को सामान्य मनुष्यों के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह गूढ़ से गूढ़तर (गोपनीय) है; किन्तु सात्त्विक गुणों से ओत-प्रोत, अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुजनों की सेवादि में संलग्न मनुष्यों को ही इस उपनिषद् का उपदेश करना चाहिए॥

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य विज्ञायाविद्यालोकाण्डस्तमोदृक् ॥ ३ ॥

तदनन्तर संसार के बन्धन और मोक्ष की कारणभूता विद्या-अविद्या रूपी नेत्रों को बन्द करके (अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति करता हुआ) साधक (सम्यक् ज्ञानानुभूति के साथ ही) अविद्या रूप संसार के प्रति तमोमयी दृष्टि-अज्ञानदृष्टि से मुक्त हो जाता है॥ ३ ॥

तमो हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम्।
निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः ॥ ४ ॥

यह आत्मतत्त्व को आच्छादित करने वाला अज्ञानान्धकार रूपी तम है, अविद्या है, यही चर और अचर जगत् का इस देह से लेकर ब्रह्मपर्यन्त अखण्ड मण्डल का कारण स्वरूप है। इस तम से ही इन सभी वस्तुओं की ब्रह्म से भिन्न एक अलग सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों में जो धर्म-कर्त्तव्य का निर्देश है, उसका प्राकट्य करने वाला कारण स्वरूप भी वह तमरूपी अविद्या ही है॥ ४ ॥

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा। विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्॥ ५ ॥

जब तक अपनी आत्मा के सन्दर्भ में ऐसा ज्ञान न हो जाए कि यह आत्मा अन्धकार रूप नहीं है, अपितु प्रकाश रूप ब्रह्म से प्रकट होने के कारण स्वयं प्रकाशस्वरूप है, तब तक पुरुष को सद्ज्ञान रूपी विद्या का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए। विद्या ही अज्ञानरूपी अविद्या से भिन्न, चिद् आदित्यस्वरूप, स्वप्रकाशित,

ज्योतिरूप है। उसका मण्डल परम ज्योति से सम्पन्न है, वही ग्रहणीय है; क्योंकि वह ब्रह्ममात्र पर ही आश्रित है, स्वयं ब्रह्म का स्वरूप ही है, अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ५॥

असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दःपरमात्माविर्भवति॥ ६॥

यह (आत्मा) आदित्यरूप ब्रह्म श्वास-प्रश्वास रूप अजपाजप से युक्त हर एक देह में प्रतिष्ठित रहने वाला 'हंस' नाम से युक्त परमात्मा है। इसी हंसरूपी परमात्मा का अंश अपने आपको मानकर और प्राण-अपान, श्वास-प्रश्वास का ज्ञान प्राप्त करके चिरकाल तक साधना करने से इस विद्या द्वारा समष्टि, व्यष्टि एवं तदैक्य रूप आत्म-ब्रह्म में रत रहने पर ही सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप परब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है॥ ६॥

सहस्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलीया पारावारपूर इव। नैषा समाधिः। नैषा योगसिद्धिः। नैषा मनोलयः। ब्रह्मैक्यं तत्॥ ७॥ आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते॥ ८॥

वह श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान वृत्ति सहस्रों सूर्यों के प्रकाश से परिपूर्ण, निस्तरंग (तरंगरहित) समुद्र की जलराशि के सदृश, ब्रह्मभाव रस से युक्त एवं सदैव रहने वाली अर्थात् लय से रहित है। ऐसी स्थिति न तो समाधि की है और न ही योगसिद्धि की ही है; न ही मनोलय है; अपितु वह जीव-ब्रह्म की एकता ही है। वह ब्रह्म (आत्म तत्त्व) अज्ञान से परे आदित्य (शुक्ल) वर्ण है। धीर (विद्वान्) पुरुष नाम और रूप (की नश्वरता) पर विचार करके जिस परात्पर ब्रह्म की अनुभूति करते हैं, वे तद्रूप (ब्रह्मरूप) ही हो जाते हैं॥ ७-८॥

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार। शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतस्रः तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥ ९॥

इस स्थिति (स्वरूप) को ब्रह्माजी ने सबसे पहले कहा और ऐसा ही सर्वातिशायी, देवों में अनुपम, अतिश्रेष्ठ देवराज इन्द्र ने भी कहा है। ऐसे अविनाशी उस ब्रह्म को इस प्रकार से जानने वाला विद्वान् पुरुष परमात्मा के रूप को (अमृतत्व को) प्राप्त कर लेता है, इससे भिन्न अन्य कोई भी दूसरा मार्ग मुक्ति के लिए नहीं है॥ ९॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १०॥

पुरातन कालीन श्रेष्ठ धर्मावलम्बी इन्द्रादि देवों ने ज्ञान-यज्ञ द्वारा यज्ञरूप विराट् का यजन किया। वे ही यज्ञीय जीवनयापन करने वाले (याजक) प्राचीन काल से सिद्ध-साध्यगणों एवं देवों के निवास स्थल महिमामण्डित देवलोक को प्राप्त करते हुए प्रकाशित हो रहे हैं॥ १०॥

सोऽहमर्कः परं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावदोम्॥ ११॥

मैं ही वह चिद् आदित्य हूँ, मैं ही आदित्यरूप वह परम ज्योति हूँ, मैं ही वह शिव (कल्याणकारी तत्त्व) हूँ। मैं ही वह श्रेष्ठ आत्म-ज्योति हूँ। सभी को प्रकाश प्रदान करने वाला शुक्र (ब्रह्म) मैं ही हूँ तथा उस (परमसत्ता) से कभी भी अलग नहीं रहता हूँ॥ ११॥

य एतदथर्वशिरोऽधीते। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। मध्यन्दिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। श्रीमहाविष्णुसायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥ १२ ॥

इस उपनिषद् को प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि में हुए पापों से मुक्ति मिल जाती है तथा सायंकालीन वेला में इसका पाठ करने वाला (मनुष्य) दिन में हुए पापों से मुक्त हो जाता है। प्रातः-सायं (दोनों सन्ध्याओं) में पाठ करने से व्यक्ति को बड़े से बड़े पाप से भी मुक्ति मिल जाती है। मध्याह्न कालीन वेला में सूर्य के समक्ष इस उपनिषद् का पाठ करने वाला मनुष्य पाँच महापातक (ब्रह्महत्या, परस्त्रीगमन, सुरापान,द्यूतक्रीड़ा और मांसादि भक्षण) तथा अन्य और दूसरे जघन्य पापों से भी मुक्त हो जाता है। वह चारों वेदों के पारायण का पुण्य-फल प्राप्त करता हुआ भगवान् विष्णु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ...... इति शान्तिः ॥

॥ इति महावाक्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मैत्रेय्युपनिषद् ॥

यह सामवेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। राजा बृहद्रथ को अपने शरीर के नाशवान् होने का बोध होने पर उन्होंने अपने ज्येष्ठपुत्र को राजा बना दिया और आत्मज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से घोर तप करने के लिए वन चले गये। जहाँ उनके उग्रतप से प्रसन्न होकर महातेजस्वी शाकायन्य मुनि पधारे और वर माँगने को कहा। आत्मतत्त्व का वर माँगने वाले राजा से मुनि का लम्बा कथोपकथन चला, जिसमें पहले शरीर की नश्वरता और उसके वीभत्स स्वरूप का उल्लेख है और बाद में आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय पर प्रकाश डाला गया है। इतना सब प्रथम अध्याय में है।

द्वितीय में भगवान् मैत्रेय और कैलासपति महादेव का संवाद वर्णित है, जिसमें सर्वप्रथम महादेव शिव ने ज्ञान, ध्यान, स्नान आदि के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट किया है और बाद में संन्यास द्वारा मुक्ति प्राप्ति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

तृतीय अध्याय में विशुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति का विस्तृत विवेचन करते हुए उपनिषद् की महिमा के वर्णन के साथ समापन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

ॐ बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामा-न्वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद॥ १ ॥

बृहद्रथ नामक राजा को यह अनुभव हुआ कि यह शरीर नाशवान् है। ऐसी अनुभूति होने पर उन्हें वैराग्य हो गया। इस कारण वह अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन को चले गये। वहाँ उस राजा ने उग्र तपश्चर्या की। वह सूर्य के समक्ष अपनी दृष्टि स्थिर करके तथा हाथ ऊपर करके खड़े रहे। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त तपस्या के फल स्वरूप एक बार निर्धूम अग्नि के सदृश तेजस्वी शाकायन्य नामक आत्मवेत्ता महामुनि उनके समीप आये। उन्होंने राजा बृहद्रथ से कहा— 'उठो-उठो ! वर माँगो।' तदनन्तर ऐसा सुनकर एवं देखकर राजा ने उन्हें नमन करते हुए कहा—हे भगवन् ! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। आप तत्त्वज्ञाता हैं, ऐसा हमने सुना है। अतः आप मुझे 'तत्त्व' का उपदेश करने की कृपा करें। इस पर महामुनि शाकायन्य ने इस विषय को अति कठिन बताकर अन्य कोई वर माँगने के लिए कहा। ऐसा सुनकर बृहद्रथ राजा ने शाकायन्य मुनि के चरणों का स्पर्श करते हुए कहा॥ १ ॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

बड़े-बड़े समुद्र शुष्क पड़ जाते हैं, पर्वत शिखर टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देव भी (सदैव स्वर्ग में) स्थित नहीं रह पाते, तो फिर ऐसे नाशवान् संसार के विषय-भोगों से क्या लाभ? विषयों में डूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए हे मुनि प्रवर! अँधेरे कुएँ में मेंढक की भाँति पड़े हुए मेरा उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। हे भगवन्! इस संसार में मुझे शरण प्रदान करने वाले आप ही हैं॥ २॥

भगवञ्छरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णमेतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति॥ ३॥

हे भगवन् ! स्त्री-पुरुष जन्य यह शरीर यदि ज्ञान रहित हो, तो इसे नरक ही समझना चाहिए; क्योंकि यह मूत्र के द्वार से बाहर निःसृत हुआ है, अस्थियों के द्वारा निर्मित है, मांस द्वारा लेपन किया गया है, चमड़े के द्वारा मढ़ा गया है एवं विष्ठा-मूत्र-वात-पित-कफ-मज्जा-मेद (चर्बी) तथा अन्य कई तरह के मलों से भरा हुआ है। इस प्रकार के (बीभत्स) शरीर वाले मुझको शरण प्रदान करने में आप ही समर्थ हैं॥ ३॥

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं खल्वात्मा ते कतमो भगवन्वर्ण्य इति तं होवाच॥४॥

ऐसा कहे जाने पर भगवान् शाकायन्य मुनि ने अति प्रसन्न होकर राजा से कहा —'हे महाराज बृहद्रथ! तुम इक्ष्वाकु वंशीय श्रेष्ठ पुरुष हो, आत्मज्ञ हो,कृतकृत्य हो, मरुत् नाम से प्रख्यात हो, यही तुम्हारी आत्मा है।' तदनन्तर राजा बृहद्रथ ने कहा— 'हे भगवन् ! आत्मा (का स्वरूप) क्या है? इस आत्मतत्त्व का वर्णन करने की कृपा करें? यह सुनकर मुनि ने कहा— ॥ ४॥

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्॥५॥

शब्द, स्पर्शादि विषय अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं तथा उसमें आसक्त हुए जीवात्मा को परम (श्रेष्ठ) पद का स्वरूप स्मृति में नहीं आता॥ ५॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते॥ ६॥

तप के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान के वश में होने से मन वशीभूत होता है, मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा के प्राप्त हो जाने पर इस नश्वर संसार से मुक्ति मिल जाती है॥ ६॥

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥७॥

जैसे ईंधन (लकड़ी) के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयमेव बुझ जाती है, वैसे ही वृत्तियों के नष्ट होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शान्त रूप हो जाता है॥ ७॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः। इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः॥८॥

अपने मूल कारण में शान्त एवं सत्य की ओर उन्मुख हुए मन को,इन्द्रियों के विषय-सम्बन्धी मूढ़ता (आसक्ति) के दूर होते ही, कर्मों के वशीभूत ये विषय झूठे (असत्य) मालूम होते हैं॥ ८॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्॥ ९॥

चित्त ही संसार है, अतः प्रयत्नपूर्वक उस (चित्त) का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार का जिसका चित्त होगा, उसकी उसी प्रकार की गति होती है, यह एक गूढ़ सनातन सिद्धान्त है॥ ९॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते॥ १०॥

चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्मों का शमन हो जाता है तथा शान्त बना मनुष्य, जब-जब आत्मा में लीन होता है, तब-तब उसे अक्षय एवं असीम आनन्द की प्राप्ति होती है॥ १०॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥११॥

मनुष्यों का चित्त जितना बाह्य विषय-भोगों में आसक्त रहता है, उतना यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाए, तो फिर बन्धनों से कौन मुक्त न हो जाए? (अर्थात् सभी मुक्त हो जाएँ)॥ ११॥

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम्। साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥ १२॥

हृदय कमल के मध्य, बुद्धि के समस्त कर्मों के साक्षी रूप एवं परम-अनुपम प्रेम के विषयभूत परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए॥ १२॥

अगोचरं मनोवाचामवधूताधिसंप्लवम्। सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ १३॥

यह अविनाशी परमात्मा मन एवं वाणी से नहीं जाना जा सकता। यह आदि तथा अन्त से रहित है। यह एक मात्र सत् रूपी प्रकाश से सतत प्रकाशित होता है और कल्पनातीत है॥ १३॥

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम्। ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १४॥

उस परमात्म तत्त्व को स्वीकार करने एवं छोड़ने के लिए सामान्य भाव की अथवा विशेष भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह परमात्मा तो शान्त, स्थिर एवं गम्भीर है। वह प्रकाश युक्त भी नहीं है और अन्धकार रूप में फैला हुआ भी नहीं है; बल्कि संकल्परहित, आभासरहित एवं मुक्त-चैतन्य रूप है॥ १४॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति॥ १५॥

वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, मुक्त स्वभाव, सत्यरूप, सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक और अद्वितीय है। इस परमानन्द सागर एवं प्रत्येक स्वरूप का धारण करने वाला मैं ही हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है॥ १५॥

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयं तमाशापिशाचीमवमानयन्तम्।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥ १६॥

अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले आनन्द के आश्रित रहने वाली आशारूपी पिशाचिनी को दूर धकेलने वाले, सम्पूर्ण जगत् को मदारी के खेल की भाँति देखने वाले एवं असंग (आसक्ति रहित) रहने वाले (ऐसे) मेरे अन्तःकरण में दुःखों का प्रवेश कहाँ से हो सकता है?॥ १६॥

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥ १७॥

वर्ण एवं आश्रम धर्म का पालन करने वाले अज्ञानी जन ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं; लेकिन वर्ण आदि के धर्मों को त्यागकर आत्मा में ही स्थिर रहने वाले मनुष्य अन्तः के आनन्द से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं॥

वर्णाश्रमं सावयवं स्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम्।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्त इति ॥ १८॥

वर्ण एवं आश्रम के धर्म तथा वैसे ही अंग-अवयवों से युक्त यह शरीर-ये सभी आदि-अन्त वाले होने के कारण अत्यन्त कष्टप्रद ही हैं। अतः पुत्र आदि के शरीरों पर मोह न रखते हुए परमानन्द रूप अनन्त में प्रतिष्ठित रहना चाहिए॥ १८॥

॥ द्वितीयोऽध्याय: ॥

अथ भगवान्मैत्रेय: कैलासं जगाम तं गत्वोवाच भो भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति। स होवाच महादेव: । देहो देवालय: प्रोक्त: स जीव: केवल:शिव: । त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं-भावेन पूजयेत् ॥ १ ॥

एक बार भगवान् मैत्रेय कैलास पर्वत पर गये। वहाँ जाकर महादेव जी से उन्होंने कहा--'हे भगवन्! मुझे परम तत्त्व का रहस्य बताने की कृपा करें।' महादेव जी ने कहा-- 'शरीर देवालय है तथा उसमें रहने वाला जीव ही केवल शिव-परमात्मा है।' अत: अज्ञान रूप निर्माल्य को (पुरानी (बासी) माला की तरह से) छोड़ देना चाहिए तथा परमात्मा मैं ही हूँ, ऐसा समझकर ही उसकी पूजा करनीं चाहिए॥ १॥

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मन: । स्नानं मनोमलत्याग: शौचमिन्द्रियनिग्रह: ॥२ ॥

जीव तथा ब्रह्म एक है,ऐसा मानना ही ज्ञान है और मन को विषयों से अलग रखना ही ध्यान है, मन के मैल को छुड़ाना ही स्नान तथा इन्द्रियों को वश में रखना ही पवित्रता है॥ २॥

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे। वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते। इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

ब्रह्मरूपी अमृत का पान करना, शरीर रक्षा के उद्देश्य से ही भिक्षा माँगना, स्वयं अकेला रहकर एकान्त में निवास करना, इस प्रकार से जीवनयापन करता हुआ ज्ञानवान् मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है॥ ३॥

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम्। सुखदु:खालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ४ ॥

माता-पिता के मलरूप (शुक्रशोणित) से उत्पन्न, जन्म-मृत्यु वाले, सुख-दु:ख के भण्डार-रूप एवं अपवित्र इस शरीर को स्पर्श करने के पश्चात् स्नान किया जाता है॥ ४॥

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम्। विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ५ ॥

सात धातुओं मे निर्मित, महारोग से युक्त, पाप के घर की भाँति, सतत चलायमान (अस्थिर), विकारों से भरे हुए इस शरीर को स्पर्श करने के उपरान्त स्नान अवश्य करना चाहिए॥ ५॥

नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वभावजम्। दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६ ॥

आँख, कान आदि नौ द्वारों से युक्त इस शरीर से सदा स्वाभाविक रीति से हर समय मल-स्रवित होता (निकलता) रहता है तथा इस मल की दुर्गन्ध से यह शरीर हमेशा परिपूर्ण रहता है, ऐसे इस दुर्गन्धयुक्त, मलिन शरीर का स्पर्श करने के बाद स्नान अवश्य करना चाहिए॥ ६॥

मातृसूतकसंबन्धं सूतके सह जायते। मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७ ॥

माता के सूतक से सम्बन्धित होने से मनुष्य के साथ ही सूतक भी जन्म ले लेता है तथा मरण काल का सूतक भी इस देह के साथ ही लगा रहता है। अत: शरीर का स्पर्श होने पर स्नान अवश्य करना चाहिए॥ ७॥

अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम्। शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥ ८

मल, मूत्रादि दुर्गन्धयुक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल आदि से होती है; लेकिन वह सब तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक पवित्रता तो 'मैं और मेरा' का परित्याग करने से ही होती है॥ ८॥

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम्। ज्ञानवैराग्यमृत्तोयै: क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥ ९ ॥

पवित्रता चित्त का शोधन करती है और वासनाओं को नष्ट करती है; परन्तु ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से प्रक्षालन के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है॥ ९॥

अद्वैतभावना भैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम्। गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्ष्यं विधीयते ॥ १० ॥

अद्वैत की भावना ही वास्तव में सच्ची भिक्षावृत्ति है एवं द्वैत की भावना ही अभक्ष्य वस्तु है। भिक्षुक को गुरु तथा शास्त्र के आदेशानुसार भिक्षा माँगनी चाहिए॥ १०॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः। कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्दूरतो वसेत् ॥ ११ ॥

जिस तरह से चोर कैदखाने से छूटकर दूर जाकर निवास करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को संन्यास ग्रहण कर अपने देश से दूर निवास के लिए चले जाना चाहिए॥ ११॥

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम्। आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १२ ॥

अहंकार रूपी पुत्र का, वित्त (धन) रूपी भाई का, मोहरूपी घर का तथा आशा रूपी पत्नी का परित्याग कर देने वाला शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ १२॥

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः। सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥ १३ ॥

मोहरूपी माँ मृत्यु को प्राप्त हो गयी और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया है, इस कारण मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या-वन्दन आदि कार्य किस प्रकार किये जा सकते हैं?॥ १३॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति। नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥१४॥

हृदयरूपी आकाश में चैतन्य रूप सूर्य सदैव प्रकाशित रहता है और फिर वह न अस्त होता है न उदय ही। तब फिर सन्ध्या किस प्रकार (कब) करे?॥ १४॥

एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम्। एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥ १५ ॥

यहाँ पर सभी कुछ एक ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा गुरु के उपदेश द्वारा निश्चय हो गया है। यह भावना ही एकान्त स्वरूप है, मठ अथवा वन का मध्य भाग एकान्त नहीं है।॥ १५॥

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्। न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात्। ॥ १६ ॥

जो मनुष्य संशयरहित हैं,वे ही मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं तथा जिन लोगों को संशय है,वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते। इसलिए गुरु एवं शास्त्र के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए॥

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु। संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥१७॥

कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास नहीं है। इसी प्रकार 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसा कह देने से भी कोई संन्यासी नहीं हो सकता। समाधि अवस्था में जीव-परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहा जाता है॥ १७॥

वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु। तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १८ ॥

जिस मनुष्य को समस्त एषणाएँ-इच्छायें वमन किये हुए (उगले हुए) आहार के समान लगती हैं और जिसने शरीर की ममता त्याग दी है, उसको संन्यास का अधिकार है॥ १८॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १९ ॥

जब सभी वस्तुओं से मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तभी विद्वान् मनुष्य को संन्यास-धर्म ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा उसका अवश्य ही पतन हो जाता है॥ १९॥

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा। संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥ २० ॥

जो मनुष्य द्रव्य (धन) के, अन्न के, वस्त्रों के अथवा ख्याति के लोभ में संन्यास-धर्म ग्रहण कर लेता है, वह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता॥ २०॥

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम्। अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २१ ॥

तत्त्व का चिन्तन ही उत्तम (श्रेष्ठ) है, शास्त्र का चिन्तन मध्यम है, मन्त्रों का चिन्तन (साधना) अधम है और तीर्थों में भ्रमण करना अधम से भी अधम है॥ २१॥

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते। प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥२२॥

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य शाखा के अग्र भाग में प्रतिबिम्ब के रूप में दिखाई देने वाले फल का रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहे, उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना अज्ञानी मनुष्य ब्रह्म का आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है॥ २२॥

न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम्। वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥२३॥

जो संन्यासी मुक्त हो चुका है, वह वैराग्य रूपी पिता को, श्रद्धा रूपी पत्नी को और ज्ञान रूपी पुत्र को न छोड़ते हुए अन्तःकरण में स्थित अद्वैतभावना का आनन्दमय रूप में चिन्तन करे॥ २३॥

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च। ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥२४

जो (मनुष्य) धन में बड़ा है, जो आयु में बड़ा है अथवा जो विद्या में बड़ा है, वे सब अनुभव में बड़े के समक्ष नौकर अथवा शिष्य की भाँति ही हैं॥ २४॥

यन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥२५ ॥

जो माया के प्रभाव से मूढ़ चित्त वाले होकर के 'मैं' रूपी आत्मा को सम्यक् रूप से नहीं जानते, वे यदि बुद्धिमान् भी हों, तो कौए की भाँति अभागे पेट को भरने के लिए जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते हैं॥ २५॥

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥२६॥

प्रस्तर खण्ड, स्वर्ण अथवा मिट्टी द्वारा निर्मित मूर्तियों की पूजा, मोक्ष की इच्छा वाले को पुनः जन्म एवं भोग प्राप्त कराने वाली होती है। इस कारण पुनः जन्म न ग्रहण करना पड़े, इस उद्देश्य से संन्यासी को इस प्रकार बाह्य जगत् की पूजा का परित्याग करके हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी चाहिए॥ २६॥

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे॥२७॥

समुद्र में रखा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर जल से पूर्ण है तथा बाहर शून्य में स्थित घड़ा अन्दर और बाहर खाली ही है॥ २७॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव। भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव॥२८

आप ग्रहण करने वाले न बनें। इसी तरह से ग्रहण करने योग्य विषयरूप भी न बनें। इस प्रकार की सभी कल्पनाओं का त्याग करके शेष जो कुछ भी रहे, उसी में तन्मय रहें॥ २८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥२९॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन को वासना के साथ ही त्याग करके, जिसमें से दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है,उस आत्मा का ही तुम भजन करो॥ २९॥

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः। जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥३०

सभी संकल्प जिसमें शान्त हो गये हैं, जागृति तथा निद्रा जिससे परे हो गयी है, ऐसी जो प्रस्तर खण्ड की भाँति (दृढ़ एवं निश्चेष्ट) अवस्था है, वही चरम स्वरूप की अवस्था है॥ ३०॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम्।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकेऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ १॥

(अन्तः स्थित ब्रह्म) मैं हूँ और (बाह्य स्थित) पर (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति हूँ, समस्त लोकों का गुरु हूँ और सभी लोकों में जो भी कुछ है, वह मैं ही हूँ॥ १॥

अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम्।
अहमस्मि सदासोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम्॥ २॥

मैं ही सिद्ध हूँ, मैं ही शुद्ध हूँ तथा परम तत्त्व भी मैं ही हूँ। मैं सदैव (विद्यमान रहता) हूँ, मैं नित्य हूँ एवं मलरहित भी मैं ही हूँ॥ २॥

विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम्।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥ ३॥

मैं विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न हूँ, मैं विशेष हूँ, सोम मैं हूँ, सभी कुछ मैं ही हूँ। मैं शुभ हूँ, शोकरहित हूँ, सम हूँ तथा चैतन्य भी मैं ही हूँ॥ ३॥

मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम्।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ ४॥

मैं मान एवं अपमान से रहित हूँ, निर्गुण (गुणरहित) हूँ, मैं ही शिव हूँ, द्वैत एवं अद्वैत के भाव से रहित हूँ, सुख तथा दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हूँ तथा वह (ब्रह्म) मैं ही हूँ॥ ४॥

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम्।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ५॥

भाव-अभाव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से परे हूँ। भासा (प्रकाश) से अलग हूँ, किन्तु प्रकाश भी मैं ही हूँ। मैं शून्य और अशून्य रूप हूँ तथा मैं ही सुन्दर और असुन्दर भी हूँ॥ ५॥

तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम्॥ ६॥

तुल्य-अतुल्य अर्थात् समता एवं विषमता से रहित हूँ, नित्य हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदाशिव हूँ। मैं सर्व-असर्व की कल्पना से रहित हूँ, सात्त्विक हूँ और मैं सदैव (विद्यमान रहने वाला) हूँ॥ ६॥

एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च। सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम्॥७

मैं एक संख्या विहीन (अद्वैतरहित) और दो संख्या रहित (द्वैतरहित) हूँ, सत् और असत् के भेद से रहित हूँ तथा मैं संकल्प से रहित हूँ॥ ७॥

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः। नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम्॥८

मैं विविधता से रहित तथा अखण्ड आनन्द स्वरूप हूँ। न मैं (अहं रूप) हूँ और अन्य भी नहीं हूँ। मैं शरीरादि से रहित हूँ॥ ८॥

आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम्।
बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम्॥ ९॥

मैं आश्रय-निराश्रय से रहित हूँ, मैं आधार रहित हूँ, बन्ध एवं मोक्ष से भी रहित हूँ तथा मैं ही शुद्ध ब्रह्म स्वरूप हूँ॥ ९॥

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः।
सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १०॥

मैं चित्त आदि सभी से रहित हूँ, मैं परात्पर (ब्रह्म) हूँ। मैं सर्वदा विचार रूप हूँ. साथ ही विचार से परे भी हूँ॥ १०॥

अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः।
ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ ११॥

'अकार', 'उकार' एवं 'मकार' रूप सनातन मैं ही हूँ। मैं ध्याता, ध्यान एवं ध्येय से परे भी हूँ॥ ११॥

सर्वत्रपूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः। सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२॥

मैं सर्वत्र पूर्णरूप हूँ, सच्चिदानन्द के लक्षणों से युक्त हूँ। सम्पूर्ण तीर्थों का स्वरूप भी मैं हूँ और परमात्म स्वरूप कल्याणकारी भगवान् शिव भी मैं ही हूँ॥ १२॥

लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम्। मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम्॥

मैं लक्ष्य एवं अलक्ष्य से विहीन हूँ तथा लय न होने वाला रस स्वरूप हूँ। मैं ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता से रहित तथा मैं ही शिव स्वरूप हूँ॥ १३॥

न जगत्सर्वद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम्। प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम्॥१४

मैं इस संसार का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ। मैं आँख आदि समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ। मैं ही वृद्धि को प्राप्त करता हुआ, ज्ञानवान्, प्रसन्न एवं हर (पापों को हरने वाला) हूँ॥ १४॥

सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम्। सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम्॥ १५॥

मैं सभी इन्द्रियों से रहित हूँ, तब भी समस्त कर्म करने वाला मैं स्वयं ही हूँ। समस्त वेदान्त द्वारा सर्वदा तृप्त एवं सर्व सुलभ मैं ही हूँ॥ १५॥

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम्।
नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम्॥ १६॥

मैं आनन्द एवं शोक रूप हूँ, सर्वदा मौन रहने का फल रूप हूँ। नित्य चिद् रूप हूँ तथा मैं ही सच्चिद् रूप भी हूँ॥ १६॥

यत्किंचिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नास्म्यहम्। हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्बुजमध्यगः॥१७

जो कुछ भी है, मैं उससे रहित हूँ, मैं अति अल्प और अत्यधिक भी नहीं हूँ। (मैं) हृदय की ग्रन्थि से रहित हूँ तथा हृदय कमल के मध्य में रहने वाला भी हूँ॥ १७॥

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम्।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम्॥ १८॥

मैं (जन्म, अस्तित्व, विपरिणमन, विकास, अपक्षय और विनाश) छः विकारों से रहित, चर्म आदि छः कोशों (चर्म, मांस, रक्त, माड़ी, मेद और मज्जा) से रहित तथा काम, क्रोधादि षड् रिपुओं से हीन हूँ और नितान्त अन्तः स्थान में रहने वाला हूँ॥ १८॥

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम्।
नास्ति नास्ति विमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम्॥ १९॥

मैं देश और काल से रहित हूँ, दिगम्बर एवं आनन्द स्वरूप हूँ। यह नहीं है, यह नहीं है-इससे मैं मुक्त हूँ अर्थात् मैं अभावशून्य हूँ तथा 'नकार' से रहित भी मैं ही हूँ॥ १९॥

अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम्।
प्रपञ्चमुक्तचित्तोस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम्॥ २०॥

मैं अखण्ड आकाश स्वरूप हूँ, अखण्डाकार भी मैं ही हूँ, मैं सांसारिक प्रपञ्चों से परे चित्त वाला हूँ तथा संसार प्रपञ्चादि से रहित हूँ॥ २०॥

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम्।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम्॥ २१॥

मैं सर्वप्रकाश स्वरूप हूँ तथा चैतन्य रूपी ज्योति भी मैं ही हूँ। तीनों कालों से परे अर्थात् मुक्त हूँ एवं मैं काम-क्रोधादि से रहित हूँ॥ २१॥

कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम्।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥ २२॥

मैं देह-अदेह (शरीर-अशरीर) से मुक्त हूँ, निर्गुण हूँ तथा मैं केवल एक हूँ। मुक्ति रहित होते हुए भी मुक्त हूँ तथा मैं सदैव मोक्षरहित हूँ॥ २२॥

सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः॥ २३॥

(मैं) सत्य-असत्य से रहित हूँ, केवल मैं ही सत्य स्वरूप से (भिन्न) सभी कालों में नहीं हूँ। मैं गमनागमन से रहित हूँ अर्थात् मुझे कहीं जाना अथवा न जाना नहीं है एवं मेरा गन्तव्य (जाने का स्थान) भी नहीं है॥ २३॥

सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः॥ २४॥

(मैं) सर्वदा समरूप एवं शान्त परमात्मा (पुरुषोत्तम) हूँ। जिसका इस प्रकार से स्वानुभव है, वह (ब्रह्म) निश्चित ही मैं हूँ। इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है॥ २४॥

यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत्॥२५॥

जो (मनुष्य) एक बार भी इस (मैत्रेयी) उपनिषद् का श्रवण करता है, वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ २५॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः॥

॥ इति मैत्रेय्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ याज्ञवल्क्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद वर्णित है, जिसमें संन्यास धर्म की विस्तृत विवेचना हुई है। संन्यास धर्म की जिज्ञासा रखने वाले राजा जनक से याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ के बाद संन्यास का क्रम है; किन्तु भावप्रवणता की स्थिति में-वैराग्य भाव की प्रचुरता की स्थिति में कभी भी संन्यास लिया जा सकता है। संन्यास ग्रहण करने वाले को शिखा, यज्ञोपवीत आदि के त्याग का विधान है। यज्ञोपवीत के बिना ब्राह्मण कैसे कहा जाएगा? इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ॐकार ही संन्यासी का यज्ञोपवीत होता है। आगे क्रमशः संन्यासी के गुणों, आचार-विचार आदि की विस्तृत चर्चा है। साथ ही संन्यासी को उसके पथ से विचलित करने वाली स्त्री के दोषों का बीभत्स चित्रण भी किया गया है। सन्तान भी दुःखदायी ही है-यह कहते हुए संन्यासी को लोभ, मोह, काम-क्रोध से बचने का निर्देश है। अन्त में संन्यासी को जितेन्द्रिय बने रहने की सलाह देते हुए उसे अपने एक मात्र लक्ष्य 'परब्रह्म' के चिन्तन-मनन करने का निर्देश है, क्योंकि इसी से उसे मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।॥ १ ॥

एक समय विदेहराज जनक महर्षि याज्ञवल्क्य जी के समक्ष जाकर बोले- ''हे भगवन्! आप कृपा करके हमें संन्यास-धर्म समझाने का कष्ट करें।'' तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा-हे राजन्! ब्रह्मचर्याश्रम की विधि-विधान से पूर्ण करके, गृहस्थ आश्रम को ग्रहण करना चाहिए। गृहस्थ धर्म में पुत्र-कलत्रादि का सुख भोगकर वन में निवास करे। वानप्रस्थ आश्रम के बाद संन्यास आश्रम को धारण कर लेना चाहिए। यदि जितेन्द्रिय हो जाये, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले या फिर अपनी इच्छानुसार गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ले लेना चाहिए। वस्तुतः वानप्रस्थ के पश्चात् या फिर जिस दिन संसार से सर्वथा वैराग्य हो जाए, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए। चाहे व्रती हो या नहीं, स्नातक हो अथवा न हो, अग्नि की सेवा कर चुका हो अथवा नहीं, जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी क्षण संन्यास ले लेना चाहिए॥ १ ॥

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। अथवा न कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्विजो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह॥

इसके पश्चात् कुछ लोग प्राजापत्य यज्ञ करते हैं। या फिर इस यज्ञ को न कर आग्नेय यज्ञ ही कर ले, क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस यज्ञ द्वारा प्राण का ही पोषण होता है या सत, रज, तम त्रिधातुओं से सम्बन्धित यजन करे। तब इस मंत्र से अग्नि का आघ्राण करे-'हे अग्निदेव! जिस मूल कारण से आप प्रादुर्भूत होकर प्रकाशित हो रहे हैं, उसको जानते हुए आप खूब प्रज्वलित हों एवं हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँ।' यही अग्नि का

मूल कारण है-यही प्राण है। अत: हे अग्निदेव! आप अपने योनि रूप प्राण में प्रतिष्ठित हो जाएँ॥ २॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम्। मोक्षमन्त्रैस्त्रय्येवं वेद तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम्। शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥ ३॥

ग्राम (गाँव) से अग्नि को लाकर पूर्व की भाँति ही उसका आघ्राण करे। यदि अग्नि न मिल सके,तो जल में ही यजन कृत्य सम्पन्न करे; क्योंकि जल को सर्वदेवमय कहा गया है। मैं सभी देवों के प्रति हवन करता हूँ,'स्वाहा'यह आहुति उन्हें प्राप्त हो। इस प्रकार हवन करके उसका प्राशन करे अर्थात् उसे खा ले। यह रोगनाशक घृतयुक्त हवि है। मोक्ष मंत्रों के द्वारा इस तरह से वेदत्रयी की प्राप्ति करे। वह ही ब्रह्म है,उसकी उपासना करनी चाहिए। चोटी एवं यज्ञोपवीत का परित्याग करके 'मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है, ' इस प्रकार से इसका तीन बार उच्चारण करे। हे विदेहराज जनक जी! यह विधि ऐसी ही है,ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ॥३॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा। प्राश्याचम्यायं विधिः॥ ४॥

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य जी से अत्रि ऋषि ने पूछा- 'हे महर्षे! यज्ञोपवीत के बिना कोई ब्राह्मण कैसे रह सकता है? याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा कि यह ॐकार ही उस संन्यासी का यज्ञोपवीत है, यही आत्मा है। जो पूर्वोक्त प्रकार से हवन करके उसका प्राशन कर आचमन कर लेता है। उस के लिए मात्र यही विधि है॥ ४॥

अथ वा परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति। एष पन्थाः परिव्राजकानां वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति स संन्यासी ब्रह्मविदिति। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य॥ ५॥

इस प्रकार गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला संन्यासी मुण्डनयुक्त, अपरिग्रही, पवित्रतायुक्त, किसी से द्रोह (ईर्ष्या-द्वेष) न करने वाला, भिक्षाचरण करता हुआ ब्रह्मपद को प्राप्त होता है, वह ब्रह्मस्वरूप है अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए समर्थ है। संन्यासियों के लिए यही मार्ग है-यही विधि है। जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरगति, महाप्रस्थान(मृत्युमोक्ष)आदि में परिव्राजकों (संन्यासियों) के लिए यह रास्ता निर्दिष्ट किया है। इसी कारण से संन्यासी ब्रह्म का ज्ञाता (जानकार) होता है। यह विधि ऐसी ही है महाराज; ऐसा याज्ञवल्क्य जी ने कहा॥ ५॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गाऽव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः॥ ६॥

यहाँ इन संन्यासियों में श्रेष्ठ परमहंस नाम वाले, अव्यक्त चिह्न को धारण करने वाले, अव्यक्त स्वभाव वाले, अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त (पागलों की भाँति) आचरण करने वाले हैं। (इनके नाम इस प्रकार हैं-) संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु , निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि-आदि॥ ६॥

परस्त्रीपुरपराङ्मुखास्त्रिदण्डं कमण्डलुं भुक्तपात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्॥ ७॥

संन्यासी को चाहिए कि वह दूसरों की स्त्रियों को न देखता हुआ तथा नगर में न रहता हुआ, त्रिदण्ड, कमण्डलु, भुक्तपात्र (भोजन पात्र), जल पवित्र, शिखा, यज्ञोपवीत आदि सभी बाह्य एवं आन्तरिक प्रतीक चिह्नों को 'भूः स्वाहा' कहकर जल में विसर्जित करता हुआ निरन्तर आत्मा का अनुसंधान करता रहे॥ ७॥

यथा जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहास्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरमात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलक मण्डलुरबाधकरहः स्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार देवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलाल-शालाग्निहोत्र शालानदीपुलिनगिरि कुहरकोटर कन्दरनिर्झर स्थण्डि लेष्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥ ८ ॥

दिगम्बर,(शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि) द्वन्द्वों से रहित, परिग्रहरहित, ब्रह्मरूप तत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में सम्यक् रूप से लगे हुए शुद्ध हृदय वाले, केवल प्राण तत्त्व को धारण करने के लिए यथा समय स्वच्छन्दतापूर्वक भिक्षा द्वारा उदर-पूर्ति करने वाले, लाभ-हानि की चिन्ता न करते हुए, हाथ के पात्र अथवा खप्पर में माँगकर भोजन ग्रहण करते हुए तथा कमण्डलु का जल पीकर आनन्दपूर्वक विचरण करे। भोजन मात्र इतना ही माँगे, जिससे कि उदर पूर्ति हो जाये, संग्रह करके रखने की आवश्यकता न हो। अपने निवास के लिए बाधारहित कोई एकान्त गुप्त स्थल का चुनाव करे। खाली खण्डहर, देवमन्दिर, तृण आदि की झोपड़ी, वल्मीक, वृक्ष की जड़ के समीप, कुम्हारों की झोपड़ी, यज्ञशाला, नदी का तट, गुफा (खोह) अथवा झरनों के बड़े-बड़े पत्थरों पर हमेशा के लिए घर न बनाते हुए भी निवास करता हुआ, अपने शुभाशुभ समस्त कर्मों को निर्मूल करता हुआ जो संन्यास धर्म से शरीर को त्याग देता है, वह परमहंस के रूप में जाना जाता है ॥ ८ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति। अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥ ९ ॥

वस्त्रादि से रहित, सभी में एक मात्र ब्रह्म को देखता हुआ किसी भी व्यक्ति को नमन के योग्य न समझते हुए, स्त्री-पुत्रादिकों के प्रति आसक्ति से हीन, लक्ष्य (लक्षणादि से ज्ञात) तथा अलक्ष्य (समाहित व असमाहित अवस्थाओं द्वारा) दोनों का निर्वर्तक (सब कुछ त्याग देने वाला) संन्यासी ही परमेश्वर होता है। इस सम्बन्ध में ये श्लोक कहे गये हैं ॥ ९ ॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि। तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १० ॥

जिस मनुष्य ने अपने से पूर्व (पहले ही) संन्यास ग्रहण कर लिया हो अथवा जो धर्म तुल्य हो अर्थात् आचार-विचार एवं सम्प्रदाय से जो श्रेष्ठ हो, उसे ही प्रणाम करना चाहिए, किसी अन्य को नहीं ॥ १० ॥

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥

प्रमादी, बहिर्मुखी, विषयों में आसक्त रहने वाले, नीच, कलह प्रिय एवं वेद के आशय (विचार) को दोषपूर्ण प्रतिपादित करने वाले संन्यासी भी देखने में आते हैं ॥ ११ ॥

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये। प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥

नाम, धाम, काम एवं अवस्था आदि से परे, ऊँचे श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित, अद्वय रूप स्वाराज्य में (जिसमें अपने से भिन्न कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता) स्थित, स्थिर मति, आत्म तत्त्व में निष्णात संन्यासी भला कैसे किसी को प्रणाम करे; क्योंकि वह तो सभी में अपना ही रूप देखता है। उसके लिए तो कोई भी कार्य संसार में शेष नहीं रहता ॥ १२ ॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति। प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥ १३ ॥

(आत्म-तत्त्वज्ञ तो किसी व्यक्ति विशेष को भी प्रणाम नहीं करता अथवा फिर) ईश्वर को यह समझकर कि वह जीव के रूप में इस संसार के समस्त प्राणियों में स्थित है, घोड़े, चाण्डाल, गौ तथा गधे आदि सभी को दण्डवत् प्रणाम करता है ॥ १३ ॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोकेऽङ्गपञ्जरे।

स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्॥ १४॥

मांस-मेदा आदि द्वारा निर्मित, यत्र-तत्र गमन करने वाली पिटारी रूप नारी के शरीर में, जिसमें कि नसें, हड्डी एवं ग्रन्थियाँ ही स्थित हैं, कौन-सी वस्तु शोभनीय है॥ १४॥

त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥१५॥

इस (देवी स्वरूपा नारी) की त्वचा, मांस, रक्त, अश्रु एवं नेत्र आदि पृथक्-पृथक् करके (उसके शरीर के आन्तरिक अवयवों को) तो देखो। क्या वे शोभनीय लगते हैं ? यदि नहीं, तो फिर क्यों इस पर व्यर्थ में इतने मुग्ध (आसक्त) हुए जाते हो॥ १५॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥१६॥

जिसके स्तनों पर लटकने वाले हार को मेरुपर्वत के शिखरों के बीच से गिरने वाली गंगाजल की धारा की उपमा दी गई है और वैसे ही वह हार परिलक्षित भी होता है॥ १६॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥१७॥

श्मशान में तथा यत्र-तत्र दिशाओं में कटकर गिरा हुआ वही नारी का स्तन समय आने पर कुत्तों द्वारा इस तरह से खाया जाता हुआ दिखाई पड़ता है, जैसे कि एक सामान्य-सा खाद्य पदार्थ का टुकड़ा॥ १७॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥

सुन्दर केशों को सुव्यवस्थित किये हुए, नेत्रों में कज्जल (काजल) लगाने वाली, दुःस्पर्श (स्पर्श के लिए दुष्प्राप्य), नेत्रों को प्रिय लगने वाली, प्रज्वलित अग्नि शिखा के सदृश जो स्त्रियाँ हैं; वे मनुष्य को तृणवत् क्षणभर में जला देती हैं॥ १८॥

ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥१९

ये स्त्रियाँ दूर से ही दग्ध कर देने वाली, अत्यन्त रसयुक्त लगती हुई भी रसहीन कर देने वाली, नरक की अग्नि की लकड़ियाँ हैं, जो कि चारु दारुण (सुन्दर होने पर भी अत्यन्त दुःख दायी) प्रतीत होती हैं १९॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥२०॥

कामदेव रूपी बहेलिये ने मानव रूपी पक्षियों को आबद्ध करने के लिए हृदय को मुग्ध (मोहित) कर देने वाला स्त्रीरूपी जाल बिछा रखा है॥ २०॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥ २१

जन्म रूपी तलैया में निवास करने वाली, कलुषित हृदय रूपी कीचड़ में चलने वाले मनुष्य रूपी मछलियों के लिए दुर्वासना रूपी रस्सी से बँधी ये स्त्रियाँ मछली पकड़ने वाले काँटे की भाँति हैं ॥ २१॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥२२॥

सभी तरह के दोष रत्नों की पिटारी रूप इन दुःखों की जंजीर रूपी स्त्री से तो भगवान ही बचाये॥ २२॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः।

स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥ २३॥

जिसके पास स्त्री है, उसी के पास भोग की इच्छा है तथा जिसके पास स्त्री ही नहीं, वह कहाँ किसके साथ भोगे ? यदि कोई मनुष्य स्त्री का त्याग कर दे, तो यह समझना चाहिए कि उसने संसार को ही छोड़ दिया। संसार छोड़ देने पर तो प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो ही जाता है॥ २३॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्। लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥२४॥

वैसे पुत्र भी कष्ट देने वाला ही होता है; क्योंकि पुत्र न होने पर माता-पिता को बहुत क्लेश होता है। यदि

किसी तरह से प्राप्त भी हो जाए, तो गर्भपात हो जाने अथवा प्रसव पीड़ा का कष्ट ही देता है॥ २४॥

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता। उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५॥

यदि किसी प्रकार से (पुत्र) हो भी जाता है, तो उसे ग्रह, रोग आदि हो जाते हैं या फिर बालक ही नालायक हो जाता है। वह यज्ञोपवीत हो जाने के बाद भी अज्ञानी रह जाता है और यदि पढ़-लिख जाये, तो विवाह होना दुष्कर हो जाता है॥ २५॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः। पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा॥ २६॥

इसके अतिरिक्त जवान लड़के का 'पर नारी से बुरा सम्पर्क न हो जाये' आदि भय बना रहता है या फिर यदि विवाह हो जाये, तो बालकों की इतनी संख्या हो जाती है कि परिवार का भरण-पोषण भी कठिन हो जाता है। इस तरह से पुत्र से होने वाले दु:खों की कोई गणना नहीं। इसके अलावा यह भी देखने में आता है कि सेठ लोगों के बच्चे ही नहीं होते और यदि होते भी हैं, तो मर जाते हैं आदि-आदि। (अतः इन समस्त दु:खों की कारण-भूत स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए या विवाह ही न करे)॥ २६॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः। न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ २७॥

यति को हाथ, पैर, आँखों और वाणी का चंचल नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिए। तभी वह ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन कर सकता है॥ २७॥

रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः। विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव॥ २८

शत्रु एवं सांसारिक बन्धनों से युक्त शरीर में जो एक भाव से देखने वाला ज्ञानशील यति होता है, उसे किसी पर भी क्रोध नहीं आता। जिस प्रकार कि व्यक्ति को अपने हाथ-पैर आदि अंगों पर क्रोध नहीं आता॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते। धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि॥ २९

क्रोध करने वाले आदमी से पूछना चाहिए कि क्रोध पर ही तुम क्रोध क्यों नहीं करते हो; जो समस्त वस्तुओं का मूल कारण है। साथ ही जो धर्म,अर्थ, काम एवं मोक्ष का बलवान् बैरी है॥ २९॥

नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम्। कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने॥

अपने स्वयं के आधार को ही भस्म कर देने वाले क्रोध के लिए मेरा बारम्बार नमस्कार है। मुझे वैराग्य प्रदान करने वाले एवं दोषों का बोध कराने वाले कोप को बारम्बार नमन-वंदन है॥ ३०॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी। प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट्॥ ३१॥

जहाँ (जब)सामान्य जन शयन करते हैं, वहाँ (तब) संयमी पुरुष जागता है(संयमी पुरुष पूर्ण सावधान रहता है)तथा जब अन्य सामान्य जन जागते हैं, तब योगी पुरुष सुषुप्ति का आश्रय प्राप्त कर लेता है॥ ३१॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च। चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय॥३२

यति को यही भावना करनी चाहिए कि मैं इस संसार में चित्स्वरूप ही हूँ। अखण्ड ब्रह्माण्ड चिन्मय है तथा सभी कुछ चिद्रूप ही है। मैं भी चिद् ही हूँ एवं सम्पूर्ण सृष्टि चिद्रूप ही है॥ ३२॥

यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम्। नातः परतरं किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्गव इत्युपनिषत्॥ ३३

हे मुनि श्रेष्ठ! परमहंस का परम श्रेष्ठ पद मोक्ष ही यतियों के लिए उपादेय (अर्थात् आवश्यक वस्तु) है। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। यही सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ ३३॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ योगतत्त्वोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें योग विषयक विविध उपादानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। भगवान् विष्णु के द्वारा पितामह ब्रह्मा के लिए योग विषयक गूढ़ तत्त्वों के निरूपण के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है। कैवल्य रूपी परमपद की प्राप्ति के लिए योग मार्ग ही श्रेष्ठ साधन बताया गया है। मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग के क्रम में इनकी चार अवस्थाओं (आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति) का वर्णन हुआ है। आगे चलकर योगी के आहार-विहार एवं दिनचर्या का उल्लेख किया गया है। उसी क्रम में योगसिद्धि के प्रारम्भिक लक्षणों का वर्णन तथा उससे सावधान रहने का निर्देश भी दिया गया है।

पूर्णमनोयोग से की गयी योगसाधना निःसन्देह सफल होती है, जो योगी साधक को सभी सिद्धियों (अणिमा, गरिमा, महिमा आदि) से सम्पन्न कर देती है, वह ईश्वरीय शक्तियों का अधिकारी बन जाता है। अन्ततः वह आत्मतत्त्व का निर्वात दीपशिखा की तरह अन्तःकरण में साक्षात्कार करके आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसी फलश्रुति के साथ योगतत्त्व उपनिषद् का समापन हुआ है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु......... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया। यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १

योगियों की हित-कामना की दृष्टि से मैं योगतत्त्व का वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवण-अध्ययन तथा आचरण में धारण करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं॥ १ ॥

विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः। तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥

विष्णु नामक महायोगी ही समस्त (भूत) प्राणियों के आदि महाभूत एवं महातपस्वी हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग में दीपक के सदृश प्रकाशमान हैं॥ २ ॥

तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः। पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम्॥ ३ ॥

पितामह ब्रह्माजी ने उन जगत् के स्वामी (भगवान् विष्णु) की आराधना एवं प्रणाम करके, कहा-हे जगन्नाथ! आप अष्टाङ्ग युक्त योग का उपदेश मुझे प्रदान करें॥ ३ ॥

तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः। सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥ ४ ॥

यह सुनकर उन भगवान् हृषीकेश ने कहा कि मैं उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, तुम ध्यानयुक्त हो कर श्रवण करो। ये सभी जीव सुख-दुःख के माया रूपी जाल में आबद्ध हैं॥ ४॥

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्। जन्ममृत्युजरा व्याधिनाशनं मृत्युतारकम्॥ ५ ॥

इस सुख-दुःख रूप माया के जाल को काटकर उन (समस्त जीवों) को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला तथा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला यही मृत्युतारक मार्ग है॥ ५ ॥

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्। पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ६ ॥

कैवल्य रूपी परम पद, अन्य दूसरे मार्गों का आश्रय लेने से कठिनता से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के मतों में पड़कर ज्ञानी जनों की बुद्धि मोह-ग्रस्त हो जाती है॥ ६ ॥

अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि। स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते॥ ७ ॥

उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर सकते, तब उस स्वप्रकाशित आत्मा के रूप का वर्णन शास्त्रों में कैसे किया जा सकता है ?॥ ७॥

निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम्। तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम्॥ ८॥

वह निष्कल (कलारहित), मल रहित, शान्त, सर्वातीत (सबसे परे), निरामय (रोगरहित) तत्त्व जीव रूप में पुण्य और पाप के फलों से पूर्ण हो जाता है॥ ८॥

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम्। सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ९॥

(यहाँ यह प्रश्न उठता है कि) जब वह परमात्मा सभी भाव और पद से परे, नित्य, ज्ञानरूप एवं मायारहित है, तब वह जीव भाव को कैसे प्राप्त हो जाता है॥ ९॥

वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता। पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ १०

उस परमात्म तत्त्व में जल के सदृश स्फुरण हुआ और उसमें अहंकार की उत्पत्ति हुई। तब पञ्च महाभूत रूप, धातु से आबद्ध, गुणात्मक पिण्ड उत्पन्न हुआ॥ १०॥

सुखदु:खैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु। तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धैः परमात्मनि ॥११ ॥

उस विशुद्ध परमात्मा ने सुख-दु:ख से युक्त होकर जीव-भावना की, इससे उसे जीव नाम दिया गया॥

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः। जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥१२

तृष्णा लज्जा भयं दु:खं विषादो हर्ष एव च। एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥ १३

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म-मृत्यु, कार्पण्य (कंजूसी), शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृष्णा, लज्जा, भय, दु:ख, विषाद, हर्ष आदि समस्त दोषों से मुक्ति मिल जाने पर जीव को 'केवल' (विशुद्ध) माना गया है॥

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते। योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥ १४॥

योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि। तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥ १५॥

अब उन दोषों को दूर करने का उपाय कहता हूँ। योग-विहीन ज्ञान मोक्ष देने वाला कैसे हो सकता है? ज्ञानरहित योग से भी मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। इस कारण मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का ही दृढ़ अभ्यास करना चाहिए॥ १४-१५॥

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते। ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥ १६॥

अज्ञान से ही यह संसार बन्धन स्वरूप है तथा ज्ञान के द्वारा ही इस संसार से निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान के माध्यम से ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है॥ १६॥

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्। निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ १७॥

उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते॥ १८॥

जिसके द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्यपद, परमपद, निष्कल (कलारहित), निर्मल, सच्चिदानन्द स्वरूप, उत्पत्ति, स्थिति, संहार एवं स्फुरण का ज्ञान हो, वही वास्तविक ज्ञान है। अब इसके आगे योग के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं॥ १७-१८॥

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः॥ १९॥

हे ब्रह्मन्! व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेकानेक भेद बताये गये हैं, जैसे- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग आदि॥ १९॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः। निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता॥ २०॥

योग की चार अवस्थायें सर्वत्र वर्णित की गई हैं। ये अवस्थायें-आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति हैं॥२०

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः। मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्॥ २१॥

क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्। अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः॥ २२॥

इन (चारों अवस्थाओं) के लक्षण संक्षेप में वर्णित किये जाते हैं-(मन्त्रयोग) जो मातृका आदि से युक्त मन्त्र को बारह वर्ष जप करता है, वह क्रमशः अणिमा आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु इस तरह का योग अल्प बुद्धि वाले लोग करते हैं तथा वे अधम कोटि के साधक होते हैं ॥ २१-२२ ॥

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥२३

चित्त का लय ही लययोग है, वह करोड़ों तरह का कहा गया है, चलते, बैठते, रुकते, शयन करते, भोजन करते, कलारहित परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता रहे ॥ २३ ॥

स एव लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु। यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः॥ २४॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्। समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥ २५

इस प्रकार वह तो लययोग हुआ। अब हठयोग का श्रवण करो-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भृकुटी के मध्य में श्रीहरि का ध्यान तथा समाधि-साम्यावस्था को अष्टांग योग कहते हैं॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी। जालंधरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥ २६॥
दीर्घप्रणवसंधानं सिद्धान्तश्रवणं परम्। वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता॥ २७॥

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध और खेचरी मुद्रा, जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, दीर्घ प्रणव संधान, परम सिद्धान्त का सुनना तथा वज्रोली, अमरोली एवं सहजोली ये तीन मुद्रायें हैं॥ २६-२७॥

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः। लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः॥ २८॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन। सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ २९॥

हे ब्रह्मन्! अब आप इनमें से प्रत्येक के लक्षणों को सुनें। यमों में एक मात्र सूक्ष्म आहार ही प्रमुख है तथा नियमों के अन्तर्गत अहिंसा प्रधान है। सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं॥ २८-२९॥

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन। आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम्॥ ३०॥

हे चतुरानन! सर्वप्रथम अभ्यास के प्रारम्भिक काल में ही विघ्न उपस्थित होते हैं, जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें करना तथा मन्त्रादिक का साधन॥ ३०॥

धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै। ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान्पुण्यप्रभावतः॥

श्रेष्ठ, बुद्धिमान् साधक को धातु (रुपया आदि धन), स्त्री, लौल्यता (चंचलता) आदि को मृगतृष्णा रूप समझकर तथा विघ्न रूप जानकर त्याग देना चाहिए॥ ३१॥

प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम्। सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम्॥ ३२॥

तदनन्तर उस श्रेष्ठ साधक को पद्मासन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले एक छोटी-सी पर्णकुटी छोटे द्वार से युक्त तथा बिना छिद्र वाली विनिर्मित करे॥ ३२॥

सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः। मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः॥ ३३॥

तत्पश्चात् उस कुटी को गाय के गोबर से लीपकर शोभनीय बनाये तथा ठीक तरह से स्वच्छ करे और प्रयत्नपूर्वक खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जीवों से रहित करे॥ ३३॥

दिने दिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः। वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः॥ ३४॥

प्रतिदिन उस (कुटिया) को झाड़-बुहार करके स्वच्छ करता रहे एवं साथ ही उसे धूप, गूगल आदि की धूनी देकर सुवासित भी करता रहे॥ ३४॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः॥ ३५॥

जो न तो बहुत अधिक ऊँचा तथा न ही अतिनीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर बैठकर पद्मासन लगाना चाहिए॥ ३५॥

ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम्। ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम्॥ ३६॥
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः। यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम्॥३७॥

शरीर को सीधा रखकर, हाथ जोड़ते हुए इष्ट देवता को प्रणाम करे, तत्पश्चात् दाँयें हाथ के अँगूठे से पिंगला को दबाकर शनैः-शनैः वायु को भीतर की ओर खींचे तथा उसे यथा शक्ति रोककर कुम्भक करे॥

पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः। पुनः पिङ्गलयापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥ ३८॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः। यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥ ३९॥

तत्पश्चात् पिंगला द्वारा उस वायु को सामान्य गति से बाहर निकाल देना चाहिए। इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में पुनः भर कर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके रेचक करे। इस प्रकार जिस तरफ के नथुने से वायु बाहर निकाले, उसी तरफ से पुनः भरकर दूसरे नथुने से बाहर निकालता रहे॥ ३८-३९॥

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्। अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते॥४०॥

न तो अत्यन्त द्रुतगति से और न ही अत्यन्त धीमी गति से, वरन् सहज-सामान्य गति से जानु की प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजाए, इतने समय को एक मात्रा कहा जाता है॥ ४०॥

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया। कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥ ४१॥
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः। पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥ ४२॥

सर्वप्रथम 'इड़ा' में सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, तत्पश्चात् चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करे और तब इसके बाद बत्तीस मात्रा तक 'पिंगला' नाड़ी से रेचक करे। इसके बाद दूसरी बार 'पिंगला' से वायु खींचकर पहले की भाँति ही सारी क्रिया सम्पन्न करे॥ ४१-४२॥

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ४३॥

प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल एवं अर्द्धरात्रि के समय चार बार धीरे-धीरे क्रमशः अस्सी कुम्भक तक का अभ्यास बढ़ाना चाहिए॥ ४३॥

एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत्। यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः॥

इस तरह से तीन मास तक अभ्यास करने से नाड़ी-शोधन हो जाता है। ऐसी शुद्धि होने से उस (श्रेष्ठ साधक) के चिह्न भी योगी की देह में दृष्टिगोचर होने लगते हैं॥ ४४॥

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः। शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम्॥ ४५॥
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम्। योगविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः॥ ४६॥

वे चिह्न ऐसे हैं कि शरीर में हल्कापन मालूम पड़ता है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है, शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का परित्याग कर देना चाहिए॥४५-४६॥

लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्। शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम्॥४७
प्रातः स्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्। अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्॥

नमक, तेल, खटाई, गर्म, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग से तापना, स्त्री प्रसंग, अधिक चलना, प्रातः काल का स्नान, उपवास तथा अपने शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले अन्य कार्यों को प्रायः त्याग ही देना चाहिए। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध, घृत का भोजन ही सर्वश्रेष्ठ है॥ ४७-४८॥

गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः। ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे॥ ४९॥

गेहूँ, मूँग एवं चावल का भोजन योग में वृद्धि प्रदान करने वाला बतलाया गया है। इस प्रकार अभ्यास करने से वायु को इच्छानुसार धारण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है॥ ४९॥

यथेष्टधारणाद्वायोः सिध्येत्केवलकुम्भकः। केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥ ५०॥

यथेष्ट वायु धारण कर सकने के उपरान्त 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाता है और तब रेचक और पूरक का परित्याग कर देना चाहिए॥ ५०॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते। प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥ ५१॥

(ऐसा कर लेने के बाद) फिर उस (श्रेष्ठ) योगी के लिए तीनों लोकों में कभी कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। अभ्यास के समय जो पसीना निकले, उसे अपने शरीर में ही मल लेना चाहिए॥ ५१॥

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः। कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः॥ ५२

इसके अनन्तर वायु की धारणा शक्ति निरन्तर शनैः-शनैः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक के शरीर में कम्पन होने लगता है॥ ५२॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद्दार्दुरी स्वेन जायते। यथा च दर्दुरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति॥ ५३
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले। ततोऽधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते॥ ५४॥

इससे आगे और अधिक अभ्यास होने पर मेढ़क की तरह चेष्टा होने लगती है। जिस तरह से मेढक उछलकर, फिर जमीन पर आ जाता है, उसी तरह की स्थिति पद्मासन पर बैठे योगी की हो जाती है। जब अभ्यास इससे भी अधिक बढ़ता है, तो फिर वह योगी जमीन से ऊपर उठने लगता है॥ ५३-५४॥

पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते। अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत्॥ ५५॥

पद्मासन पर बैठा हुआ योगी अत्यन्त अभ्यास के कारण भूमि से ऊपर ही उठा रहता है। वह इस तरह से और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ निरन्तर करने लगता है॥ ५५॥

न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम्। स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा॥ ५६॥

(परन्तु) योगी को इस प्रकार की शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, वरन् स्वयं ही देखकर अपना उत्साहवर्द्धन करना चाहिए। तब थोड़ा या बहुत कष्ट भी योगी को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता॥

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते। कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धतानने॥ ५७॥
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम्। ततोऽधिकतराभ्यासाद्बलमुत्पद्यते बहु॥ ५८॥

योगी का मल-मूत्र अति न्यून हो जाता है तथा निद्रा भी घट जाती है। कीचड़, नाक, थूक, पसीना, मुख की दुर्गन्ध आदि योगी को नहीं होती तथा निरन्तर अभ्यास बढ़ाने से उसे बहुत बड़ी शक्ति मिल जाती है॥

येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः। व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा॥ ५९
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः। कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः॥

इस प्रकार से योगी को भूचर सिद्धि की प्राप्ति होने से समस्त भू-चरों पर विजय की प्राप्ति हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, हाथी, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हाथ मारने मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। उस योगी का स्वरूप भी कामदेव के सदृश सुन्दर हो जाता है॥ ५९-६०॥

तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्गमम्। यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत्॥ ६१

उस योगी के रूप का अवलोकन कर अनेकानेक स्त्रियाँ आकृष्ट होकर उससे भोग की इच्छा करने लगती हैं, लेकिन यदि योगी उनकी इच्छा की पूर्ति करेगा, तो उसका वीर्य नष्ट हो जायेगा॥ ६१॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् । योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥

अतः स्त्रियों का चिन्तन न करके दृढ़ निश्चयी होकर, निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। वीर्य को धारण करने से योगी के शरीर से सुगन्ध आने लगती है॥ ६२ ॥

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया। जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥ ६३ ॥

तदनन्तर एकान्त स्थल पर बैठकर प्लुत मात्रा (तीन मात्रा) से युक्त प्रणव (ॐकार) का जप करते रहना चाहिए, जिससे पूर्व जन्मों के पापों का विनाश हो जाए॥ ६३ ॥

सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा । एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा ॥ ६४ ॥

यह ओंकार मंत्र सभी तरह के विघ्न-बाधाओं एवं दोषों का हरण करने वाला है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से सिद्धियाँ हस्तगत होने लगती हैं॥ ६४॥

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासतत्परा। प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥६५ ॥
अन्योन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा। घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम्॥ ६६

इसके पश्चात् वायु-धारण का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया से घटावस्था की प्राप्ति सहज रूप से होने लगती है। जिस अभ्यास में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में जो पारस्परिक निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे घटावस्था कहा गया है। उसके चिह्नों का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं॥ ६५-६६ ॥

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत्। दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥६७
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम्। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥६८
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते। यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।६९

पूर्व में जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थ भाग ही अब करे। दिन अथवा रात्रि में मात्र एक प्रहर ही अभ्यास करना चाहिए। दिन में एक बार ही 'केवल-कुम्भक' करे एवं कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाये, यही प्रत्याहार होता है। उस समय आँखों से जो कुछ भी देखे, उसे आत्मवत् समझे ॥ ६७-६९ ॥

यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्। लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत्॥ ७०

जो भी कुछ कर्णेन्द्रिय से श्रवण करे तथा जो कुछ भी नासिका के द्वारा सूँघे, उस सभी को आत्म-भावना से ही स्वीकार करे॥ ७० ॥

जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्। त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत्॥ ७१

जिह्वा के माध्यम से जो भी कुछ रस ग्रहण करे, उसको भी आत्मरूप जाने। त्वचा से जो कुछ भी स्पर्श हो, उसमें भी अपनी आत्मा की ही भावना करे॥ ७१ ॥

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत्। याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥ ७२ ॥

इसी तरह से ज्ञानेन्द्रियों के जितने भी विषय हैं, उन सबको योगी अपनी अन्तरात्मा में धारण करे तथा प्रतिदिन एक प्रहर तक इस (क्रिया) का आलस्य त्यागकर प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करे॥ ७२ ॥

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम्। दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरागमस्तथा ॥ ७३ ॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा। मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥ ७४ ॥
खे गतिस्तस्य जायेत संतताभ्यासयोगतः। सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥ ७५ ॥

इस प्रकार के अभ्यास द्वारा जैसे-जैसे योगी को चित्त-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही उसको दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, क्षण भर में सुदूर क्षेत्र से आ जाना, वाणी की सिद्धि, जब चाहे जैसा रूप ग्रहण कर लेना, अदृश्य हो जाना, उसके मल-मूत्र के स्पर्श से लोहे का स्वर्ण में परिवर्तन हो जाना, आकाश मार्ग से गमन कर सकना आदि सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। बुद्धिमान् श्रेष्ठ योगी सदैव योग की सिद्धि की ओर ही ध्यान बनाये रखे॥

एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान्। न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट्॥ ७६

(परन्तु) ये सभी सिद्धियाँ योग-सिद्धि के लिए विघ्नरूप हैं, बुद्धिमान् योगी साधक को इन (सिद्धियों) से बचना चाहिए। अपनी इस तरह की सामर्थ्य को कभी भी किसी के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए॥ ७६

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा। तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये॥ ७७॥

इसलिए श्रेष्ठ योगी को जन सामान्य के समक्ष अज्ञानी, मूर्ख एवं बधिर की भाँति बनकर रहना चाहिए। अपनी सामर्थ्य को सभी तरह से छिपाकर गुप्त रीति से रहना चाहिए॥ ७७॥

शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः। तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासेऽविस्मृतो भवेत्॥

शिष्य-समुदाय अपने-अपने कार्यों के लिए योगी साधक से निश्चित ही प्रार्थना करेंगे; किन्तु योगी को उन (शिष्यगणों) के काम में पड़कर अपने कर्त्तव्य (अभ्यास) को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए॥ ७८॥

सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः। अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम्॥ ७९॥

उस योगी को चाहिए कि गुरु के वाक्यों को याद करके सभी तरह के क्रिया-कलापों को छोड़कर योग के अभ्यास में लगा रहे॥ ७९॥

एवं भवेद्धटावस्था संतताभ्यासयोगतः। अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति॥ ८०॥

इस प्रकार लगातार योग के अभ्यास से उसे घटावस्था की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु इस तरह की सिद्धि अभ्यास के द्वारा ही मिल सकती है, केवल बातों से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता॥ ८०॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत्। ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः॥ ८१॥
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम्। भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः॥ ८२॥

अतः योगी को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिए। तदनन्तर अभ्यास योग से 'परिचय अवस्था' का शुभारम्भ होता है। उस (अवस्था) के लिए प्रयत्नपूर्वक वायु से प्रदीप्त अग्नि सहित कुण्डलिनी को साधना के द्वारा जाग्रत् करके भावनापूर्वक सुषुम्ना में अवरोध रहित प्रवेश कराना चाहिए॥

वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम्। यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह॥ ८३॥
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः। येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते॥ ८४॥

तत्पश्चात् वायु के सहित चित्त को महापथ में अग्रसर करना चाहिए। जिस योगी का चित्त वायु के सहित 'सुषुम्ना' नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश इन पञ्च महाभूत रूपी देवों की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है॥ ८३-८४॥

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते। पृथिवी चतुरस्रं च पीतवर्णं लवर्णकम्॥ ८५॥
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम्। ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरणमयम्॥ ८६॥

पैरों से जानु (घुटनों) तक पृथ्वी तत्त्व का स्थान बतलाया गया है। चार कोनों से युक्त यह पृथ्वी, पीत वर्ण, 'ल' कार से युक्त कही गयी है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'ल' कार को उसमें संयुक्त करके उस स्थान में स्वर्ण के समान रंग से युक्त चार भुजाओं एवं चतुर्मुख ब्रह्मा जी का ध्यान करना चाहिए॥

धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात्। पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥८७॥

इस तरह से पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वी तत्त्व को जीत लेता है। ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (विकार या आघात) से मृत्यु नहीं होती॥ ८७॥

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम्। आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम्॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम्। स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥८९॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम्। धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९०॥

घुटनों से गुदास्थान तक जल-तत्त्व का क्षेत्र बतलाया गया है। यह जल-तत्त्व अर्द्ध चन्द्र के रूप में 'वं' बीज वाला होता है। इस जल-तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'वं' बीज को समन्वित करके चतुर्भुज, मुकुट धारण किये हुए, पवित्र स्फटिक के सदृश, पीत वस्त्रों से आच्छादित अच्युतदेव श्री नारायण का पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करना चाहिए। इससे सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है॥ ८८-९०॥

ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते। आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम्॥ ९१॥

इसके पश्चात् उस योगी को जल से किसी भी तरह का डर नहीं रहता और न ही जल से उसकी मृत्यु हो सकती है। जलतत्त्व (गुदा भाग) से हृदय क्षेत्र तक अग्नि का स्थान बताया गया है॥ ९१॥

वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम्। वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम्॥ ९२॥

तीन कोणों से युक्त अग्नि, लाल रंग वाला एवं 'र' कार से संयुक्त होता है। अग्नि में वायु को आरोपित करके उस समुज्ज्वल 'र' कार को समन्वित करना चाहिए॥ ९२॥

त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम्। भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥९३॥

त्रियक्ष (तीन नेत्रों) से युक्त वर प्रदान करने वाले, तरुण आदित्य के सदृश प्रकाशमान तथा समस्त अङ्गों में भस्म धारण किये हुए भगवान् रुद्र का प्रसन्न मन से सदा ध्यान करना चाहिए॥ ९३॥

धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनासौ न दाह्यते। न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले॥ ९४॥

पाँच घटी (२ घंटे) तक इस तरह से चिन्तन करने से वह (योगी) अग्नि से नहीं जलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रखर जलती हुई अग्नि में भी संयोगवश प्रविष्ट कराया जाए, तो भी वह नहीं जलता॥९४॥

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम्। वायुःषट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम्॥

हृदय क्षेत्र से भृकुटियों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है, यह षट्कोण के आकार वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त भास्वर 'य' अक्षर वाला होता है॥ ९५॥

मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम्। धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥९६॥

मरुत् स्थान पर यकार होता है। यहाँ 'य' अक्षर के सहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का सतत चिन्तन करना चाहिए॥

धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्व्योमगो भवेत्। मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः॥ ९७॥

इस तरह पाँच घटी अर्थात् दो घंटे तक उन विश्वतोमुख भगवान् का ध्यान करने से योगी वायु के सदृश आकाश में गमन करने वाला हो जाता है। उस महान् योगी को वायु से किसी भी तरह का भय नहीं व्याप्त होता तथा वह वायु से मृत्यु को भी नहीं प्राप्त होता॥ ९७॥

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते। व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम्॥ ९८॥

भृकुटी के मध्य भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का आकाश तत्त्व का क्षेत्र कहा गया है। यह व्योमवृत्त के आकार वाला, धूम्र वर्ण से युक्त तथा 'ह' कार (अक्षर) से प्रकाशित है॥ ९८॥

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् । बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्॥ ९९ ॥

इस आकाश तत्त्व में वायु का आरोपण करके 'ह' कार के ऊपर भगवान् शंकर (का ध्यान करे), जो बिन्दु रूप महादेव हैं। वही व्योमाकार में सदाशिव रूप हैं॥ ९९ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम् । पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम्॥ १०० ॥

वे भगवान् शिव परम पवित्र स्फटिक के सदृश निर्मल हैं, बालरूप चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हुए हैं, पाँच मुखों से युक्त, सौम्य, दश भुजा एवं तीन नेत्रों से युक्त हैं॥ १०० ॥

सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम्। उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम्॥ १०१ ॥

वे भगवान् शिव सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए, विभिन्न प्रकार के आभूषणों से विभूषित, पार्वती जी से सुशोभित अर्धाङ्ग वाले, वर प्रदान करने वाले तथा सभी कारणों के भी कारण रूप हैं॥ १०१ ॥

आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम् । यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते॥ १०२ ॥

उन भगवान् शिव का ध्यान आकाश तत्त्व में करने से निश्चित ही आकाश मार्ग में गमन की शक्ति मिल जाती है। इस ध्यान से साधक कहीं भी रहे, वह अत्यन्त सुख की प्राप्ति करता है॥ १०२ ॥

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः। ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते॥ १०३ ॥

इस प्रकार विशेष लक्षणों से संयुक्त योगी को पाँच तरह की धारणा करनी चाहिए। इस धारणा से उस योगी का शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तथा उसे मृत्यु का भय भी व्याप्त नहीं होता॥ १०३ ॥

ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः। समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च। वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति॥ १०४॥ सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्। निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्॥ १०५॥

ब्रह्म-प्रलय अर्थात् चराचर में जल ही जल की स्थिति होने पर भी वह महामति दुःख को प्राप्त नहीं होता। छः घटी अर्थात् दो घंटे चौबीस मिनट तक वायु को रोककर आकाश तत्त्व में इष्ट सिद्धिदाता-देवों का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। सगुण ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा निर्गुण रूप में चिन्तन करने से समाधि की स्थिति प्राप्त होती है॥१०४- १०५॥

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात्। वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम्॥ १०६ ॥

योग में निष्णात साधक मात्र बारह दिन में ही समाधि की सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह योगी वायु (प्राण) को स्थिर करके (समाधि को सिद्ध करके) अपने जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥१०६॥

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः। यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम्॥ १०७॥

समाधि में जीवात्मा एवं परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है। उसमें यदि अपना शरीर छोड़ने की इच्छा हो, तो उसका परित्याग भी किया जा सकता है॥ १०७॥

परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते। अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि॥ १०८ ॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः। कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते॥ १०९ ॥

इस प्रकार से योगी अपने आपको परब्रह्म में विलीन कर लेता है, उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता; किन्तु यदि उसको शरीर प्रिय लगता है, तो वह स्वयं ही अपने शरीर में स्थित होकर अणिमा आदि समस्त सिद्धियों से युक्त हो सभी लोकों में गमन कर सकता है तथा यदि चाहे तो कभी भी देवता होकर स्वर्ग में निवास कर सकता है॥ १०८-१०९॥

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत्।
सिंहो व्याघ्रो गजो वाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात्॥ ११०॥

योगी स्वेच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष का रूप भी क्षणभर में धारण कर सकता है। वह सिंह, हाथी, घोड़ा आदि अनेक रूपों को स्वेच्छापूर्वक धारण कर सकने में समर्थ होता है॥ ११०॥

यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः। अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि॥ १११॥

महेश्वर पद के प्राप्त हो जाने पर योगी इच्छानुकूल व्यवहार कर सकता है। यह भेद तो मात्र अभ्यास का ही है, फल की दृष्टि से तो दोनों समान ही हैं॥ १११॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्॥

साधक को चाहिए कि बाँयें पैर की एड़ी के द्वारा योनि स्थान को दबाये तथा दायें पैर को फैलाकर के उस पैर के अँगूठे को मजबूती से पकड़ ले॥ ११२॥

चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः। कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्॥ ११३॥

इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगा लेना चाहिए। तदनन्तर वायु को धीरे-धीरे अन्दर धारण करे और शक्ति के अनुसार कुम्भक करे, फिर रेचक के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए॥ ११३॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्। प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्॥ ११४

इस क्रिया को निरन्तर अभ्यास पूर्वक बाँयें अंग से करने के उपरान्त दाँयें अंग से करे अर्थात् जो पैर फैलाया हुआ था, उसे योनि के स्थान पर लगाये और जो योनि के स्थान पर था, उसे फैलाकर अँगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए॥ ११४॥

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्। महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥ ११५॥
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया। पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्॥ ११६॥

यह ही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों ही प्रकार से अभ्यास किया जाता है। महाबन्ध की क्रिया में सतत संलग्न रहने वाले योगी को एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा द्वारा वायु की गति को आवृत करके दोनों नासिका-रन्ध्रों को संकुचित करने से तत्परतापूर्वक वायु भर जाती है॥ ११५-११६॥

अयमेव महावेधःसिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्। अन्तःकपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्॥ ११७
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी। कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया॥ ११८॥
बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ११९॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः। पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चये-द्दृढम्॥१२०॥ अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्॥ १२१॥ गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः। करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी॥ १२२॥

सिद्ध योगीजन इस (ऊपर वर्णित) महावेध का निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं। जिह्वा को लौटाकर, अन्तः कपाल-कुहर में लगाकर दोनों भृकुटियों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करना खेचरी मुद्रा है। कण्ठ को संकुचित करके (ठोड़ी को) दृढ़तापूर्वक वक्ष पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है। जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान होता है। जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है। उसे योगी लोग उड्डियान

बन्ध कहते हैं। एड़ी से योनि स्थान को ठीक प्रकार से दबाकर अन्दर की तरफ खींचे, इस तरह अपान को ऊर्ध्व की ओर उठाये, यही योनि बन्ध कहलाता है। इस क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता की प्राप्ति होती है तथा यह संशयरहित योग सिद्ध कराने वाला है। अब विपरीतकरणी मुद्रा के सन्दर्भ में बतलाते हैं। इसे समस्त व्याधियों का विनाश करने वाली कहा गया है॥ ११७-१२२॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी। आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥१२३

इस विपरीतकरणी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि बढ़ जाती है। इस कारण साधक अधिक आहार (भोजन) को पचा सकने में समर्थ हो जाता है॥ १२३॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्। अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥ १२४

यदि साधक कम भोजन ग्रहण करेगा, तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर को ही नष्ट करने लगेगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षणभर के लिए सिर नीचे की ओर करके तथा पैरों को ऊपर की ओर करे॥ १२४॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने। वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते॥ १२५

इसके पश्चात् प्रत्येक दिन ऐक-एक क्षण भर निरन्तर अभ्यास बढ़ाता रहे, तो छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जायेगी॥ १२५॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्। वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता। अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्॥

जो प्रतिदिन एक प्रहर (तीन घंटे) तक (इस विपरीतकरणी मुद्रा का) अभ्यास करता है, वह योगी काल को अपने वश में कर लेता है। जो योगी वज्रोली मुद्रा का नित्य अभ्यास करता है, वह जल्दी ही सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। जो उस मुद्रा का अभ्यास कर लेता है, तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही जानना चाहिए। वह भूत, भविष्यत् का ज्ञाता हो जाता है तथा वह अवश्य ही आकाश मार्ग से गमन करने में समर्थ हो जाता है॥ १२६-१२७॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने। वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते॥ १२८॥

जो (योगी) 'अमरी' (मूत्र) को प्रतिदिन पीता है एवं घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उसका नस्य करता (सूँघता) है तथा वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है॥ १२८॥

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्। यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः ॥१२९

इसके पश्चात् वह राजयोग सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। राजयोग के सिद्ध हो जाने से योगी को हठयोग की शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की जरूरत नहीं पड़ती ॥ १२९॥

तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम्। विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः॥ १३०॥

उसे निश्चय ही वैराग्य एवं विवेक की प्राप्ति सहजतया हो जाती है। भगवान् विष्णु ही महायोगी, महाभूत स्वरूप तथा महान् तपस्वी हैं॥ १३०॥

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः। यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते॥ १३१॥

तत्त्वमार्ग पर गमन करने वाले को वे पुरुषोत्तम दीपक की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। (यह जीवन विभिन्न योनियों में घूमता हुआ मानव योनि में आता है,) तब वह जिस स्तन को पीता है, दूसरी अवस्था में वैसे ही स्तन को दबाकर आनन्दानुभूति करता है॥ १३१॥

यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन्। या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि॥

(जीव ने) जिस योनि में जन्म लिया था, वैसी ही योनि में पुनः-पुनः रमण किया करता है। एक जन्म में जो माँ होती है, वही दूसरे जन्म में पत्नी भी हो जाती है तथा जो पत्नी होती है, वह माता बन जाती है॥१३२॥

यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता। एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते। त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः संध्यास्त्रयः स्वराः॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे। त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम्॥

जो पिता होता है, वह पुत्र बन जाता है तथा जो पुत्र होता है, वह पिता के रूप में जन्म ले लेता है। इस तरह से यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के सदृश है, जिसमें प्राणी नाना प्रकार की योनियों में सतत गमनागमन करता रहता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद कहे गये हैं, तीन संध्यायें हैं, तीन स्वर हैं, तीन अग्नि हैं, तीन गुण (सत्, रज, तम) बतलाये गये हैं तथा तीन अक्षरों में सभी कुछ विद्यमान है। अतः इन तीन अक्षरों तथा अर्द्धाक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए॥ १३३-१३५॥

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम्। पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्॥ १३६॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम्। हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम्॥१३७॥
ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः। अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते॥ १३८॥
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला। शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम्॥ १३९॥

सभी कुछ उसी (तीन अक्षरों) में पिरोया हुआ है, वही सत्यस्वरूप है, वही शाश्वत परमपद है। जैसे-पुष्प में सुगन्ध होती है, दुग्ध में घृत सन्निहित है, तिलों में तेल उत्पन्न होता है और प्रस्तर खण्ड में स्वर्ण निहित है, वैसे ही वह भी सभी में व्याप्त है। हृदय-संस्थान में जो कमल-पुष्प स्थित है, उसका मुख नीचे की ओर है एवं उसकी नाल (दण्डी) ऊर्ध्व की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के मध्य में मन प्रतिष्ठित है। 'अ' कार में रेचित किया हुआ हृदय कमल का 'उ' कार से भेदन किया जाता है एवं 'म' कार में नाद (ध्वनि) को प्राप्त होता है। अर्द्ध मात्रा निश्चल, शुद्ध स्फटिक के समान निष्कल एवं पापनाशक है॥ १३६-१३९॥

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम्। कूर्मः स्वपाणिपादादिशिरश्चात्मनि धारयेत्॥ १४०॥
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः। निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निःश्वसस्तथा॥ १४१॥

इस प्रकार योग से संयुक्त हुआ योगी पुरुष मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह से कच्छप अपने हाथ, पैर एवं सिर को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लेता है, उसी तरह से सभी द्वारों से भर करके दबाया हुआ वायु, नौ द्वारों के बन्द होने से ऊर्ध्व की ओर गमन कर जाता है॥ १४०-१४१॥

घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः। निषिद्धैर्नवभिद्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे॥
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत्युपनिषत्॥१४२॥

जिस तरह वायुरहित घड़े के मध्य में (स्थिर लौ वाला) दीपक रखा होता है, उसी तरह से कुम्भक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध किये जाने पर सुनसान एवं निरुपद्रव स्थान में आत्मतत्त्व ही मात्र शेष रहता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है॥ १४२॥

ॐ सह नाववतु............ इति शान्तिः॥

॥ इति योगतत्त्वोपनिषत्समाप्ता॥

॥ वज्रसूचिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल ९ मन्त्र हैं। सर्वप्रथम चारों वर्णों में से ब्राह्मण की प्रधानता का उल्लेख किया गया तथा ब्राह्मण कौन है, इसके लिए कई प्रश्न किये गये। क्या ब्राह्मण जीव है? शरीर है, जाति है, ज्ञान है, कर्म है या धार्मिकता है? इन सब सम्भावनाओं का निरसन कोई न कोई कारण बताकर कर दिया गया, अन्त में 'ब्राह्मण' की परिभाषा बताते हुए उपनिषद्कार कहते हैं कि जो समस्त दोषों से रहित, अद्वितीय, आत्मतत्त्व से सम्पृक्त है, वह ब्राह्मण है। चूँकि आत्मतत्त्व सत्, चित्, आनन्द रूप ब्रह्म भाव से युक्त होता है, इसलिए इस ब्रह्म भाव से सम्पन्न मनुष्य को ही (सच्चा) ब्राह्मण कहा जा सकता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्। दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥ १ ॥

अज्ञान नाशक, ज्ञानहीनों के दूषण, ज्ञान नेत्र वालों के भूषण रूप वज्रसूची उपनिषद् का वर्णन करता हूँ ॥

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥ २ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों में ब्राह्मण ही प्रधान है, ऐसा वेद वचन है और स्मृति में भी वर्णित है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मण कौन है? क्या वह जीव है अथवा कोई शरीर है अथवा जाति अथवा कर्म अथवा ज्ञान अथवा धार्मिकता है ॥ २ ॥

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वात् एकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसंभवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥ ३ ॥

इस स्थिति में यदि सर्वप्रथम जीव को ही ब्राह्मण मानें (कि ब्राह्मण जीव है), तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि भूतकाल और भविष्यत्काल में अनेक जीव हुए हैं व होंगे। उन सबका स्वरूप भी एक जैसा ही होता है। जीव एक होने पर भी स्व-स्व कर्मों के अनुसार उनका जन्म होता है और समस्त शरीरों में, जीवों में एकत्व रहता है, इसलिए जीव को ब्राह्मण नहीं कह सकते ॥ ३ ॥

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोष-संभवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥ ४ ॥

क्या शरीर ब्राह्मण (हो सकता) है? नहीं, यह भी नहीं हो सकता। चाण्डाल से लेकर सभी मानवों के शरीर एक जैसे ही अर्थात् पाञ्चभौतिक होते हैं, उनमें जरा-मरण, धर्म-अधर्म आदि सभी समान होते हैं। ब्राह्मण-गौर वर्ण, क्षत्रिय-रक्त वर्ण, वैश्य-पीत वर्ण और शूद्र-कृष्ण वर्ण वाला ही हो, ऐसा कोई नियम देखने में नहीं आता तथा (यदि शरीर ब्राह्मण है तो) पिता, भाई के शरीर के दाह संस्कार करने से पुत्र आदि को ब्रह्म हत्या आदि का दोष भी लग सकता है। अस्तु, शरीर का ब्राह्मण होना सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसंभवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः कौशिकः कुशात् जाम्बूको जम्बूकात्। वाल्मीको वल्मीकात् व्यासः कैवर्तकन्यकायाम् शशपृष्ठात् गौतमः वसिष्ठ उर्वश्याम् अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥ ५

क्या जाति ब्राह्मण है (अर्थात् ब्राह्मण कोई जाति है)? नहीं, यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि विभिन्न जातियों एवं जन्तुओं में भी बहुत से ऋषियों की उत्पत्ति वर्णित है। जैसे-मृगी से शृंगी ऋषि की, कुश से कौशिक की, जम्बूक से जाम्बूक की, वल्मीक (बाँबी) से वाल्मीकि की, मल्लाह (धीवर) कन्या (मत्स्यगन्धा) से वेदव्यास की, शशक पृष्ठ से गौतम की, उर्वशी नामक अप्सरा से वसिष्ठ की, कुम्भ (कलश) से अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति वर्णित है। इस प्रकार पूर्व में ही कई ऋषि बिना (ब्राह्मण) जाति के ही प्रकाण्ड विद्वान् हुए हैं, इसलिए जाति विशेष भी ब्राह्मण नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति॥ ६ ॥

क्या ज्ञान को ब्राह्मण माना जाए? ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि बहुत से क्षत्रिय (राजा जनक) आदि भी परमार्थ दर्शन के ज्ञाता हुए हैं (होते हैं)। अस्तु, ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं हो सकता॥ ६ ॥

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्मसा-धर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति॥ ७॥

तो क्या कर्म को ब्राह्मण कहा जाए? नहीं, ऐसा भी सम्भव नहीं है; क्योंकि समस्त प्राणियों के संचित, प्रारब्ध और आगामी कर्मों में साम्य प्रतीत होता है तथा कर्माभिप्रेरित होकर ही व्यक्ति क्रिया करते हैं। अतः कर्म को भी ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता॥ ७ ॥

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति॥ ८ ॥

क्या धार्मिक ब्राह्मण हो सकता है? यह भी सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; क्योंकि क्षत्रिय आदि बहुत से लोग स्वर्ण आदि का दान करते रहते हैं। अतः धार्मिक भी ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावे-त्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्द स्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमापरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। सच्चिदानन्दमात्मान-मद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्॥ ९ ॥

तब ब्राह्मण किसे माना जाय? (इसका उत्तर देते हुए उपनिषद्कार कहते हैं-) जो आत्मा के द्वैत भाव से युक्त न हो; जाति, गुण और क्रिया से भी युक्त न हो; षड् ऊर्मियों और षड्भावों आदि समस्त दोषों से मुक्त हो; सत्य, ज्ञान, आनन्द स्वरूप, स्वयं निर्विकल्प स्थिति में रहने वाला, अशेष कल्पों का आधार रूप, समस्त प्राणियों के अन्तस् में निवास करने वाला, अन्दर-बाहर आकाशवत् संव्याप्त; अखण्ड आनन्दवान्, अप्रमेय, अनुभवगम्य, अप्रत्यक्ष भासित होने वाले आत्मा का करतल आमलकवत् परोक्ष का भी साक्षात्कार करने वाला; काम-रागद्वेष आदि दोषों से रहित होकर कृतार्थ हो जाने वाला; शम-दम आदि से सम्पन्न; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदि भावों से रहित; दम्भ, अहङ्कार आदि दोषों से चित्त को सर्वथा अलग रखने वाला हो, वही ब्राह्मण है; ऐसा श्रुति, स्मृति-पुराण और इतिहास का अभिप्राय है। इस (अभिप्राय) के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा ही सत्-चित् और आनन्द स्वरूप तथा अद्वितीय है। इस प्रकार के ब्रह्मभाव से सम्पन्न मनुष्यों को ही ब्राह्मण माना जा सकता है। यही उपनिषद् का मत है॥ ९ ॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः॥

॥ इति वज्रसूच्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ शाट्यायनीयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय है। इसमें कुल ४० मंत्र हैं, जिसमें मुख्यतया विष्णुलिंग संन्यास धर्म का विवेचन किया गया है।

सर्वप्रथम मन को बन्धन एवं मोक्ष का कारण बताया गया है, तत्पश्चात् साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, शमादि सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व), कुटीचक का स्वरूप तथा अन्य संन्यासियों के धर्म, योग-यज्ञ आदि के चार रूप, परिव्राजकों के कर्त्तव्य, उनके निवास विषयक नियम, आत्मज्ञान से युक्त साधक की स्थिति, संन्यास धर्म से च्युत होने पर प्रत्यवाय (पाप) लगने का विशद वर्णन है। अन्त में विष्णुलिंग संन्यासी की फलश्रुति बताई गई है। जिस वंश में एक भी विष्णुलिंग संन्यासी होता है, उसकी तीस पीढ़ी पूर्व, तीस पीढ़ी बाद की तथा तीस पीढ़ी उसके बाद की भी तर जाती हैं। इस प्रकार वह संन्यासी ब्रह्मपद का अधिकारी बन जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः............. इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥ १॥

मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। विषयादि भोगों में आसक्त मन बन्धन का और विषय-वासनाओं से पराङ्मुख मन मोक्ष का कारण है॥ १॥

समासक्तं सदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ २॥

जैसे यह मन सांसारिक विषय-भोगों में आसक्त रहता है, ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाये, तो फिर ऐसे कौन से सांसारिक बन्धन हैं, जिनसे मुक्ति न मिलती हो, अर्थात् सभी बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है॥ २॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ३॥

चित्त ही संसार है। हर पुरुष को अभ्यास द्वारा अपने चित्त का शोधन करना चाहिए। जो अपने चित्त को ब्रह्म में लगाता है, वह मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है। यह शाश्वत और परम गोपनीय बात है॥ ३॥

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम। विष्णुक्रान्तं वासुदेवं विजानन्विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी॥ ४॥

वेदतत्त्व को न जानने वाले के लिए तो विराट् है ही नहीं, वह उसे मानता ही नहीं। ब्रह्म के ज्ञान से हीन मनुष्य उस परम स्वप्रकाशित धाम को प्राप्त ही नहीं करता। तत्त्वदर्शी विवेकवान् ब्राह्मण ही व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी उस वासुदेव को अपने स्वरूप में (अहं ब्रह्मास्मि) समझता हुआ विप्रत्व और जीवन्मुक्ति के तत्त्व को प्राप्त कर पाता है॥ ४॥

अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्योऽनूचानो ह्यभिजज्ञौ समानःत्यक्तेषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र॥५॥

वेद में निष्णात तथा सभी तरह की इच्छाओं-कामनाओं से रहित होकर जो पुरुष सनकादिक की भाँति उस परमब्रह्म, सत्य-सनातन के स्वरूप को समझते हैं। वे सभी ब्रह्म के रूप वाले ही हो जाते हैं। ऐसा पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला सभी विषय-भोगों से तृप्त, पराङ्मुख, सहनशील, वेदज्ञ, मुमुक्षुओं की भाँति उस परमब्रह्म को समझ लेता है। वह पुरुष सभी इच्छाओं से विरत, पितृदेव एवं गुरु के ऋणों से मुक्त होकर उस परब्रह्म को जान करके शान्त-मौन होकर कहीं आश्रम में निवास करे॥ ५॥

अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधानः ॥ ६ ॥

इसके बाद अन्तिम संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर के यथाबल त्रिदण्ड आदि पंच मात्राओं को स्वीकार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करे॥ ६॥

त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्। शिक्यं पवित्रमित्येतद्बिभृयाद्यावदायुषम्॥ ७॥

जब तक आयु रहे, तब तक त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र (उत्तरीय), कौपीन (लँगोटी), शिक्य (छींका), पवित्र (पवित्री) को धारण करे॥ ७॥

पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः। न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह॥ ८॥

यति की ये पाँचों मात्राएँ ही ब्रह्म (ॐकार) में समाहित हैं। इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। इन सभी को मृत्यु के उपरान्त शरीर के साथ ही भूमि में गाड़ देना चाहिए॥ ८॥

विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च। तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः॥ ९॥

विष्णुलिङ्ग व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो प्रकार के चिह्न विष्णु (संन्यासी) के कहे गये हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी परित्याग कर देने पर संन्यासी पथभ्रष्ट हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥ ९॥

त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं वि प्राणां मुक्तिसाधनम्। निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम्॥१०॥

त्रिदण्ड जो वैष्णवलिङ्ग (संन्यासी के चिह्न विशेष) के रूप में जाना जाता है। यह चिह्न ब्राह्मणों को मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह चिह्न वेद का अनुशासन रूप एवं समस्त धर्मों का निर्वाण स्वरूप है॥ १०॥

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति। सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिन उपवीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्धचिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इव वृत्त्या च भिन्नाः। सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना वृत्त्या व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम्॥ ११॥

हे सौम्य! संन्यासी के कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहस-ये चार भेद होते हैं। ये चारों यज्ञोपवीत शिखा तथा विष्णु लिंग (संन्यासी के प्रतीक सर्वव्यापकता-समदर्शिता) को धारण करने वाले शुद्ध चित्त, स्वयं अपनी आत्मा में ब्रह्म को प्रतिष्ठित करने की भावना करते हुए उपासना करने वाले, जप और यम-नियम का पालन करने वाले एवं सुन्दर स्वभाव वाले होते हैं। इस सम्बन्ध में यह ऋचा है-'कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार प्रकार अपनी-अपनी पृथक् वृत्तियों से भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। ये सभी व्यक्त एवं अव्यक्त, बाह्य एवं अन्तःरूप विष्णु लिंग (संन्यास के चिह्न) को धारण करने वाले होते हैं'॥ ११॥

पञ्चयज्ञा वेदशिः प्रविष्टाः क्रियावन्तोऽमि संगता ब्रह्मविद्याम्। त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः। विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता विष्ण्वात्मका विष्णुमेवापियन्ति॥ १२॥

ये पञ्चयज्ञ (गायत्री मन्त्र जप,योग, तप, स्वाध्याय एवं ज्ञान) तथा उपनिषदों के अर्थ का श्रवण करने वाले होते हैं। सभी अपने-अपने धर्मानुकूल कर्म करने वाले एवं ब्रह्मविद्या का आश्रय प्राप्त करने वाले हैं। ये सभी संसार रूपी वृक्ष को त्यागकर इसके मूलभाग (ब्रह्म) का आश्रय प्राप्त करने वाले तथा सभी कर्मकाण्ड आदि को छोड़कर सारभूत तत्त्व के रस का आनन्द प्राप्त करने वाले हैं। ये संन्यासी बाह्य क्रीड़ाओं को छोड़कर विष्णु के साथ ही क्रीड़ा करने वाले, विष्णु रूप आत्मा विष्णु का ही अर्चन एवं ध्यान करके कृतार्थ होते हैं॥

त्रिसंध्यं शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा। उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम्॥ १३॥

सभी को मृत्यु पर्यन्त प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन संध्या, स्नान, तर्पण, मार्जन, उपस्थान तथा पञ्चयज्ञ (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ, भूतयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ) अवश्य ही करना चाहिए॥ १३॥

दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतिभिश्चतुष्पदा। गायत्रीजप यज्ञश्च त्रिसंध्यं शिरसा सह॥ १४॥

दश प्रणव (ॐकार) तथा सात व्याहृतियों (भूः,भुवः,स्वः,महः,जनः,तपः,सत्यम्) के सहित चार पाद युक्त एवं सिर (आपोज्योती इत्यादि) युक्त गायत्री का जप एवं यज्ञ त्रिकाल सन्ध्या के साथ करना चाहिए॥१४॥

योगयज्ञः सदैकाग्र्यभक्त्या सेवा हरेर्गुरोः। अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः॥१५॥

एकाग्रचित्त होकर भक्ति भाव से योग, यज्ञ भगवान् (विष्णु) तथा गुरु की सेवा और मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा हिंसारहित तप रूपी यज्ञ सतत करते रहना चाहिए॥ १५॥

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः। ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत्॥१६॥

समस्त उपनिषदों का अभ्यास (पाठ) स्वाध्याय यज्ञ कहा गया है। 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करते हुए ब्रह्मरूपी अग्नि में ही आत्मा की आहुति दी जाती है अर्थात् आत्मा को ब्रह्म में विलीन किया जाता है॥ १६॥

ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः। ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥ १७॥

वह (ॐकार ही) सभी श्रेष्ठ यज्ञों से भी उत्तम ज्ञानयज्ञ कहा गया है। इन सभी का ज्ञान ही दण्ड है, ज्ञान ही शिखा है और ज्ञान ही इनका यज्ञोपवीत है॥ १७॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम्॥ १८

जिसकी शिखा (चोटी) एवं यज्ञोपवीत ज्ञानमय होता है। उसकी समस्त वस्तुयें ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा वेद का अनुशासन (आदेश है)॥ १८॥

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति। कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकारादींस्तितीर्य मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठासेत्। छिद्यमानो न ब्रूयात्। तदेवं विद्वांस इहैवामृता भवन्ति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वानवेक्ष्यमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः। प्राचीमुदीचीं वा निर्वर्तयंश्चरेत॥ १९॥

हे प्रिय सोम्य! ये परिव्राजक जिस प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं, वह बतला दिया गया है। ये संन्यासी काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प (घमण्ड), असूया (दूसरे के गुणों में दोष निकालना), ममता, अहंकार आदि को पार करके, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा को देखकर वृक्षवत् अविचल रहते हैं,काटे जाने (कष्ट पड़ने) पर भी कुछ बोलते नहीं। इस प्रकार से विद्वज्जन इस लोक में ही अमृत-जीवन्मुक्त हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह ऋचा द्रष्टव्य है-'भाई, पुत्रादि का पालन-पोषण करने के पश्चात् फिर कभी उनकी ओर नहीं देखे। दुःखादि सहते हुए पूर्व एवं उत्तर दिशाओं में अपने-अपने स्वरूप का अनुसंधान करते हुए भ्रमण करे॥ १९॥

पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्यात् अयाचितं याचितं वोत भैक्षं॥ २०॥

पात्र एवं दण्ड धारण करते हुए युग (दो-जीवात्मा-परमात्मा) मात्र के दर्शन करने वाले,विशाल जटा - वाले या मुण्डन किये हुए मस्तक वाले,उपवीत ही जिसका कुटुम्ब है,ऐसे संन्यासी को केवल अपने प्राणयात्रा के लिए मनुष्यों से भिक्षा माँगकर या बिना माँगे ही भिक्षा ग्रहण करते हुए निरन्तर विचरण करना चाहिए॥ २०॥

मृद्दार्वलाबूफलंतन्तुपर्णपात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम्।
क्षाणं क्षामं तृणं कन्थाजिने च पर्णमाच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तः॥ २१॥

मिट्टी, लकड़ी की तुम्बी, श्रीफल, तन्तु ग्रथित या पत्तों से निर्मित पात्र जिस तरह का भी मिले, ग्रहण कर लेना चहिए। चटाई, वृक्षों की छाल या सूखी घास से बनी कथरी, अजिन (कृष्णमृग चर्म) तथा जो पत्ते कीड़ों द्वारा खाये न गये हों, ऐसे श्रेष्ठ पत्तों के द्वारा बनाई गयी ओढ़नी-उत्तरीय को धारण करना चाहिए॥ २१ ॥

ऋतुसन्धौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं नाधो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत्। चतुरो मासान्ध्रुवशीलतः स्यात्स यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः॥ २२॥

हंस (संन्यासी) की ऋतु सन्धि के समय क्षौर कर्म अर्थात् मुण्डन कराना चाहिए, किन्तु कुटीचक (यह भी संन्यासियों का एक भेद है) शिखा (जटा) को कभी न कटाये। जब विश्वरूप विराट् पुरुष भगवान् नारायण शयन करते हैं, तब तक चार मास (चौमासा) एक ही स्थान पर स्थिर चित्त से निवास करे॥ २२॥

अन्यानथाष्टौ पुनरुत्थितेऽस्मिन्स्व कर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेद्वा। देवाग्न्यगारे तरुमूले गुहायां वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः। अनिन्धनो ज्योतिरिवोपशान्तो न चोद्विजेदुद्विजेद्यत्र कुत्र॥२३॥

इस प्रकार अन्य (श्रवण, ध्यान एवं समाधि आदि की) अवस्थाओं को प्राप्त करने का इच्छुक संन्यासी स्वकर्म करते हुए एक स्थान पर ही निवास हेतु रह जाये अथवा उसे अन्यत्र आश्रय प्राप्त कर लेना चाहिए। अपना निवास किसी देवालय में वृक्ष के मूल (जड़) के समीप में अथवा गुफा में कर लेना चाहिए तथा वहाँ निःसंग एवं सर्वथा अलक्षित (जन संसर्ग से दूर रहकर) बिना काष्ठ को अग्नि के समान शान्त चित्त होकर रहे। किसी को भी देखकर क्षुभित न हो, सभी में आत्मबुद्धि कर लेनी चाहिए॥ २३॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ २४॥

यदि पुरुष अपनी आत्मा को ब्रह्म रूप में जान ले, तो फिर वह क्या चाहता हुआ किस इच्छा से शरीर का पोषण अथवा शोषण करे? अर्थात् उसे नहीं करना चाहिए॥ २४॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्॥२५॥

धैर्यवान् ब्राह्मण उस अविनाशी परब्रह्म को पहचान कर, उसी (ब्रह्म) में बुद्धि को स्थिर करे। अधिकाधिक शब्दाडम्बर में नहीं पड़ना चाहिए; क्योंकि यह सब वाणी का दुरुपयोग है॥ २५॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम्। ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान्॥२६॥

वैराग्ययुक्त होकर ही स्थिर रहने की इच्छा करनी चाहिए। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है,ऐसा दृढ़ निश्चय कर ब्रह्म को पहचान एवं वैराग्य को भली-भाँति समझकर आत्माराम होकर सर्वत्र आत्मदर्शन करे॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जब हृदय में रहने वाली समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा होता हुआ भी मृत्युहीन होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करता है॥ २७॥

अथ खलु सोम्येदं परिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति। स ब्रह्महा भवति। स भ्रूणहा भवति। स महापातकी भवति। य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति। स स्तेनो भवति। गुरुतल्पगो भवति। समित्रध्रुग्भवति। स कृतघ्नो भवति। स सर्वस्मा ल्लोकात्प्रच्युतो भवति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम। व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं त्यजन्न शुध्येदखिलैरात्मभासा॥ २८॥

हे प्रिय सोम्य! जो अपने इस नैष्ठिक संन्यासियों के धर्म को छोड़ देता है, वह पुरुषत्वनाशक, ब्रह्मघाती,

गर्भघाती तथा महापातकी (के सदृश) होता है। जो (संन्यासी) इस वैष्णवी निष्ठा को त्याग देता है, वह चोर होता है। गुरुपत्नीगामी, मित्रद्रोही एवं कृतघ्न हो जाता है तथा समस्त लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में ये ऋचाएँ हैं-चोर, शराबी, गुरुपत्नीगामी, एवं मित्रद्रोही ये प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाते हैं; किन्तु व्यक्त एवं अव्यक्त स्वरूप विष्णु लिङ्ग (अनुशासन सूत्रों) को छोड़ने पर संन्यासी किसी भी तरह से पवित्र नहीं हो सकता है॥ २८॥

त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा। प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा॥ २९॥

अन्तः तथा बाह्य विष्णु लिङ्ग को छोड़कर जो संन्यासी अपने आश्रम में ही निवास करता है अथवा आश्रम का त्याग कर देता है, वह प्रतिपल विपत्तियों से घिरा रहता है, ऐसे व्यक्तियों की सद्गति अनन्तकाल तक भी देखने में नहीं आती॥ २९॥

त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम्। मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते॥३०॥

धैर्यवान् पुरुष समस्त आश्रमों का परित्याग करके मोक्षरूपी आश्रम में दीर्घकाल तक निवास करे। यदि मोक्ष-आश्रम से भी भ्रष्ट हो जाये, तो फिर उसको कहीं पर भी ठौर नहीं है॥ ३०॥

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति। तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम्॥ ३१॥

जो (पुरुष) संन्यास-आश्रम को ग्रहण करके अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, ऐसे (पुरुष) को आरूढ़ च्युत (पातकी) समझना चाहिए, क्योंकि वह (पुरुष) संन्यास आश्रम में आकर के भी पातकी हो चुका है, ऐसा वेद का अनुशासन (आदेश) है॥ ३१॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति। स पुण्यश्लोको भवति। स लोकज्ञो भवति। स वेदान्तज्ञो भवति। स ब्रह्मज्ञो भवति। स सर्वज्ञो भवति। स स्वराड् भवति। स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति। स पितॄन्संबन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति॥ ३२॥

हे प्रिय सोम्य! जो पुरुष इस सनातन आत्मधर्म, विष्णु से सम्बन्धित निष्ठा को प्राप्त करके उसको प्रदूषित न करता हुआ प्रतिष्ठित रहता है, वह जितेन्द्रिय होता है। वह विशाल कीर्ति एवं लोकतत्त्व का ज्ञाता होता है। वह ब्रह्मवेत्ता होता है, वह सर्वज्ञ होता है। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप होता हुआ परब्रह्म को प्राप्त करता है। वह अपने पितरों, सम्बन्धियों, बन्धुओं, मित्रों तथा समस्त प्रेमी-सम्बन्धियों को संसार-सागर से तार देता है॥३२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्। शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम्। एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विद्वान्॥ ३३॥

जो विद्वान् इस संन्यास-धर्म को ग्रहण करता है, उसके कुल में सौ पीढ़ी पूर्व तथा तीन सौ पीढ़ी बाद तक जन्म लेने वालों का उद्धार हो जाता है। ऐसे श्रेष्ठ कृत्य करने वाले विद्वान् संन्यासी कभी-कभी ही इस लोक में प्रकट होकर इसे कृतार्थ करते हैं॥ ३३॥

त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिंशच्च परतः परान्। उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः॥ ३४॥

विद्वान् धर्मिष्ठ संन्यासी तीस पर (बाद की), तीस अपर (पूर्व की) एवं तीस पर से भी पर(बाद से बाद की) पीढ़ियों-पूर्वजों को तार देता है, ऐसा श्रुति का वचन है॥ ३४॥

संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि। तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम्॥ ३५॥

प्राणों के कण्ठगत (मृत्यु के समीप) होने पर भी जो इस प्रकार कह दे कि 'मैंने संन्यास ले लिया है', तो ऐसा समझना चाहिए कि उसने पितरों को तार दिया, ऐसी वेद की आज्ञा (अनुशासन) है॥ ३५॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्रूयात्। नानूचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः। तदेतदृचाभ्युक्तम्। विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥ ३६॥

हे प्रिय सोम्य! विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह इस सनातन आत्मनिरूपक धर्म को विष्णु सम्बन्धी निष्ठा को सम्यक् रूप से निर्वाह किये (स्वयं आचरण किये) बिना उपदिष्ट न करे। इसके साथ ही जो वेदान्त का ज्ञानी न हो, आत्मबोध युक्त न हो, वीतराग न हो, शुद्धचित्त, विनीत एवं जिज्ञासु न हो, ऐसे पुरुष को इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। इस बात को पोषण प्रदान करने वाली ऋचाएँ ये हैं-ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के समीप में आयी एवं बोली—हे ब्रह्मन्! मेरी रक्षा करो, मैं ही तुम्हारी निधि हूँ। मुझे दूसरों के गुणों में दोष देखने वाले कुटिल, धूर्त, मूर्ख पुरुष को उपदिष्ट मत करो। ऐसा करने पर मैं प्रभावशालिनी न रह सकूँगी॥ ३६॥

यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्॥ ३७॥

जिसे पवित्र, अभिमानशून्य, सावधान, मेधावी एवं ब्रह्मचारी समझे, ऐसे समीप में आये हुए उस जिज्ञासु की भली-भाँति परीक्षा करके इस आत्मतत्त्व बोधिका वैष्णवी विद्या का उपदेश करना चाहिए॥ ३७॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीयस्तथैव चान्नं न भुनक्ति श्रुतं तत्॥ ३८॥

शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी जो (पुरुष) मन, वाणी तथा कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते, ऐसे लोगों के अन्न को कल्याण की इच्छा रखने वाले ग्रहण नहीं करते तथा गुरु भी उसके अन्न को स्वीकार नहीं करते। ठीक वैसे ही यति भी उस कृतघ्न के घर का अन्न ग्रहण न करे, ऐसा श्रुति का कथन है॥

गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः। एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति। तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥ ३९॥

गुरु ही परम धर्म है, गुरु ही परम गति है। ज्ञान प्रदाता गुरु को जो पुरुष आद्रित नहीं करता अर्थात् उनका सम्मान हीं करता, उस पुरुष का पढ़ा हुआ (उसकी शिक्षा), उसकी तपस्या, उसका ज्ञान धीरे-धीरे उसी प्रकार क्षीण होकर समाप्त हो जाता है, जिस प्रकार कच्चे घड़े से जल॥ ३९॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् इत्युपनिषत्॥

जिस पुरुष की देवताओं में परम भक्ति होती है एवं जैसे देवताओं में वैसे ही गुरु में भी उसकी परम भक्ति होती है। ऐसा (पुरुष) ब्रह्मज्ञानी परम पद की प्राप्ति करता है, ऐसा वेदानुशासन है, वेद की आज्ञा (आदेश) है। इस प्रकार यह उपनिषद् (विद्या) पूर्ण हुई॥ ४०॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति शाट्यायनीयोपनिषत्समाप्ता॥

॥ शाण्डिल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें 'योगविद्या' का समग्र वर्णन महर्षि शाण्डिल्य और मुनि अथर्वा के प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय ११ खण्डों वाला विस्तृत है। जिसका शुभारम्भ शाण्डिल्य ऋषि के आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्गयोग के प्रश्न से हुआ है। महामुनि अथर्वा इसके उत्तर में अष्टांगयोग का विशद वर्णन करते हैं। यम-नियम को दस-दस बताते हुए पातंजलयोग से इसकी विशिष्टता सिद्ध कर देते हैं। नाड़ी शोधन की प्रक्रिया का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं, जिससे प्राण-जय किया जा सके और अनेकानेक सिद्धियों का अधिकारी बना जा सके।

दूसरे अध्याय में ऋषि शाण्डिल्य ने महामुनि अथर्वा से ब्रह्म विद्या का रहस्य पूछा है, जिसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप, उसकी अनिर्वचनीयता, उसका लोकोत्तर रूप बताते हुए कहा कि 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो, उसे ज्ञान के द्वारा जानो'। तीसरे अध्याय में ऋषि शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया कि जो ब्रह्म एक, अक्षर, निष्क्रिय, शिव, सत्तामात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे जगत् का निर्माण, पोषण एवं संहार किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल भेद बताते हुए कहा कि ब्रह्म के सकल-निष्कल रूप से उसके संकल्प मात्र से सृष्टि का प्राकट्य, विकास और विलय होता रहता है। अन्त में ब्रह्म, आत्मा, महेश्वर एवं दत्तात्रेय शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए आदि देवपुरुष दत्तात्रेय का सतत ध्यान करते रहने की बात कही और यह भी कहा कि इसी ध्यान से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर परम कल्याण (मोक्ष) का अधिकारी बन जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छआत्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति। स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि। तत्र दश यमाः। तथा नियमाः। आसनान्यष्टौ। त्रयः प्राणायामाः। पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणा। द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः। तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश। तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम्। सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम्। अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता। ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः। दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः। आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्। क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम्। धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम्। मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः। शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मनःशुद्धिरान्तरम्। तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ॥१ ॥

महर्षि शाण्डिल्य अथर्वा मुनि से पूछते हैं कि 'हे मुने! आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्ग योग का वर्णन करने की कृपा करें।' ऐसा सुनकर उन अथर्वा मुनि ने कहा-हे महर्षे! यम, नियम,आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये ही योग के आठ अंग कहे गये हैं। 'यम' एवं 'नियम' की संख्या दस-दस है, 'आसन' आठ प्रकार के हैं, 'प्राणायाम' की संख्या तीन है, 'प्रत्याहार' एवं 'धारणा' दोनों के पाँच-पाँच भेद हैं, 'ध्यान' दो प्रकार के होते हैं तथा 'समाधि' का एक ही भेद है। इसमें यम के दस भेद इस प्रकार हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, अल्प-आहार ग्रहण करना तथा पवित्रता। अहिंसा का तात्पर्य है-मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा किसी भी प्राणी को कभी भी दुःख न देना। सत्य का अर्थ है कि मन, वचन, शरीर एवं कर्म से जो हितकारी हो, वही वाणी प्राणियों के समक्ष बोलना। अस्तेय अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा दूसरों के धन-साधनों के प्रति निस्पृह रहना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में मन, वचन, शरीर एवं कर्म के द्वारा सभी तरह के मैथुन (असंयम) का परित्याग करना। दया अर्थात् समस्त प्राणियों पर सदैव अपना अनुग्रह बनाये रखना। आर्जव अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं कर्म से लोगों के द्वारा उचित अथवा अनुचित व्यवहार करने अथवा न करने पर भी समभाव बनाये रखना। क्षमा का तात्पर्य है-सदैव प्रिय-अप्रिय, पूजा अथवा ताड़ना आदि का बर्ताव किया जाए, तब भी उसे सहन करना। धृति अर्थात् धन हानि हो, अपने इष्ट-मित्रों का वियोग अथवा संयोग हो, हर स्थिति में चित्त को स्थिर रखना। अल्पाहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे, इस प्रकार अपने आहार में श्रेष्ठ घी, दुग्ध वाले मधुर पदार्थों का समावेश रखना। शौच का तात्पर्य है-बाह्य एवं अन्तः दोनों प्रकार की शुद्धि रखना। मिट्टी तथा जल के द्वारा बाहर की पवित्रता होती है तथा मन की शुद्धि आन्तरिक है जो अध्यात्म विद्या से होती है॥ १॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमाः। तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्। संतोषो नाम यदृच्छालाभसंतुष्टिः। आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः। दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम्। ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः। ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा। मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा। जपो नाम विधि वद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तदिद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्। व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम्॥ १॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस प्रकार के भेद 'नियम' के कहे गये हैं। इसमें तप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से शरीर को सुखाना। संतोष अर्थात् दैव की इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उस पर संतोष रखना। आस्तिक्य का भाव यह है कि वेद द्वारा कहे हुए धर्म और अधर्म में विश्वास रखना। नीति पूर्वक प्राप्त हुए धन-धान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना ही दान कहा जाता है। ईश्वर-पूजन प्रसन्न स्वभाव से यथोचित मात्रा में विष्णु, रुद्र आदि का पूजन-अर्चन करना। सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का चिन्तन करना। ह्री अर्थात् वेद मार्ग में तथा लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कृत्य के करने में लज्जा का अनुभव होना। मति अर्थात्

वेदोक्त कर्म में श्रद्धा का उत्पन्न होना। जप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक गुरु ने जिस वैदिक मन्त्र का उपदेश दिया है, उसका अभ्यास करना। जप का अभ्यास दो तरह से होता है- वाचिक और मानसिक। मानसिक-जप मन के द्वारा ध्यान युक्त होने से होता है तथा वाचिक दो प्रकार से होता है-१. उच्चारण पूर्वक से तथा २. उपांशु (फुसफुसाहट) रूप में उच्चारण पूर्वक जप का यथोक्त फल होता है। उपांशु का उससे सहस्रगुना फल प्राप्त होता है तथा मानसिक जप करने का फल तो करोड़ गुना मिलता है। व्रत का तात्पर्य वेद के द्वारा कहे हुए विधि-निषेध का नियमित आचरण करना है॥ १॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ। स्वस्तिकं नाम जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे। ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥ १॥

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त तथा मयूर नाम वाले ये आठ प्रकार के आसन कहे गये हैं-इस (स्वस्तिक आसन) में पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं (घुटनों) के बीच में बराबर रखकर सीधा तनकर बैठना पड़ता है। इस क्रिया को ही स्वस्तिकासन कहा जाता है॥ १॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥२

पीठ के बायीं ओर दाहिना गुल्फ एवं दायीं तरफ बायाँ गुल्फ (टखनों) जोड़कर गोमुख के सदृश बैठना ही गोमुखासन है॥ १॥

अङ्गुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ॥३॥

हे शाण्डिल्य! दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को उल्टी रीति से पकड़कर रखना ही सर्वमान्य पद्मासन कहलाता है॥ ३॥

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः। इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम्॥ ४॥

एक जाँघ को एक पैर से तथा दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से जोड़कर बैठने को वीरासन कहते हैं॥ ४॥

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम्। हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥५॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः। सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा॥ ६॥

दाहिने टखने के साथ बायाँ टखना तथा बायें टखने के साथ दायें टखने को लगाकर बैठ जाना और दोनों हाथों को दोनों जानुओं (घुटनों) पर रखकर अँगुलियों को फैलाकर रखना चाहिए। तत्पश्चात् ठीक तरह से एकाग्र होकर मुँह फैलाकर घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। इसको ही सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदैव इस आसन की प्रशंसा करते हैं॥ ५-६॥

योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्। भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत्॥ ७॥

गुदा क्षेत्र को बायें पैर से दबाकर दायें पैर को लिङ्ग के ऊपर स्थिर करना; तत्पश्चात् भौंहों के बीच में लक्ष्य स्थिर करना ही सिद्धासन कहा जाता है॥ ७॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम्॥ ८॥

लिङ्ग के नीचे की ओर सीवनी प्रदेश में दोनों टखनों को स्थिर करने तथा हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को मजबूती से पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठना ही भद्रासन कहलाता है, जो सभी तरह के रोग एवं विष आदि को विनष्ट करने वाला है ॥ ८ ॥

संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः। सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम्॥ ९ ॥

सूक्ष्म सीवनी प्रदेश को बायें टखने के द्वारा दबा करके दाहिने गुल्फ (टखने) से बायें टखने को दबा करके (बैठना) ही मुक्तासन कहलाता है॥ ९॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां तु करद्वयोः। हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥१०॥ समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः। मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम्॥ ११॥

दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि से सटाकर स्थिर करना और हाथ की कोहनियों से नाभि के दोनों ओर दबा करके बैठना चाहिए। तदनन्तर मस्तक और पैरों को ऊर्ध्व की ओर उठाकर लकड़ी की तरह से आकाश में अधर स्थिर रखना ही मयूरासन कहलाता है। यह आसन सभी तरह के पापों का विनाश करने वाला है॥

शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगा विनश्यन्ति। विषाणि जीर्यन्ते॥ १२॥

इन आसनों के करने से शरीर के अन्दर विद्यमान रहने वाले सभी तरह के रोग विनष्ट हो जाते हैं तथा सभी प्रकार के विष स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं॥ १२॥

येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत्॥ १३॥

जो (मनुष्य) अशक्त हो, उसे जिस किसी आसन से सुख मिले, वही आसन करना चाहिए॥ १३॥

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति॥ १४॥

जिसने इन सभी आसनों को जीत लिया है, उसने तीनों लोक जीत लिये हैं, ऐसा समझना चाहिए॥१४॥

यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत्। तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति॥ १५॥

यम, नियम एवं आसन से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के पश्चात् मनुष्य को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है॥ १५॥॥।

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः। नाड्यः कतिसंख्याकाः। तासामुत्पत्तिः कीदृशी। तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति। तेषां कानि स्थानानि। तत्कर्माणि कानि। देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति॥ १॥

तत्पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा–किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं? नाड़ियों की संख्या कितनी होती है? उनकी उत्पत्ति किस तरह से हुई? उसमें कितने प्रकार के वायु रहते हैं? उनका स्थान कौन सा है? उनके कार्य क्या-क्या होते हैं? इस शरीर में जो भी कुछ जानने के लिए आवश्यक है, वह सभी कुछ आप मुझे बताने की कृपा करें॥ १॥

स होवाचाथर्वा। अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति। शरीरात्प्राणो द्वादशाङ्गुलाधिको भवति॥ २॥ शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति॥ ३॥

तदनन्तर उन अथर्वा ऋषि ने कहा कि यह शरीर छियानबे (९६) अंगुल का प्रमाण स्वरूप है। यह

प्राण-शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल और अधिक होता है। इस शरीर में उपस्थित रहने वाले प्राण को योग के अभ्यास द्वारा जो भी मनुष्य अग्नि के साथ सम अवस्था में स्थिर करता है या फिर उससे भी कम करता है, वह श्रेष्ठ योगी कहलाता है॥ २-३॥

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम्। चतुष्पदां चतुरश्रम्। विहङ्गानां वृत्ताकारम्। तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति॥ ४॥

मनुष्यों की देह में अग्नि का स्थान त्रिकोण की भाँति तप्तस्वर्ण के सदृश प्रकाश युक्त होता है। चौपायों का आयताकार तथा पक्षियों का गोलाकार होता है। इस अग्नि स्थान में क्षीणकाय, शुभ अग्निशिखा रहती है॥ ४॥

गुदादद्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति। चतुष्पदां हृन्मध्यम्। विहगानां तुन्दमध्यम्। देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति॥ ५॥

गुदामार्ग से दो अङ्गुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे की ओर मनुष्य के शरीर का मध्यस्थल होता है। चौपायों के हृदय का मध्य एवं पक्षियों के पेट का मध्य ही उनके शरीरों के बीच का मध्य स्थल होता है। शरीर का वह बीच का भाग नौ अंगुल ऊँचा तथा चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डे के सदृश होती है॥ ५॥

तन्मध्ये नाभिः। तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्। तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवोभ्रमति॥६ तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति। देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत्॥ ७॥

उसके मध्य में नाभि है तथा उसमें बारह अरों से युक्त चक्र स्थित है। उस चक्र के मध्य में पुण्य-पाप से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ जीव यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है। जिस प्रकार से मकड़ी अपने द्वारा निर्मित तन्तु (जाल) के अन्दर भ्रमण करती रहती है, उसी तरह से यह जीव भी वहीं पर विचरण करता रहता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर सतत आरूढ़ रहता है॥ ६-७॥

नाभेस्तिर्यगध ऊर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति। यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकाले चापानेनाग्निना च स्फुरति। हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति॥ ८॥

नाभि के समीप नीचे एवं ऊपर की ओर कुण्डलिनी का क्षेत्र स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की प्रकृति से युक्त एवं आठ कुण्डली (घुमाव) बनाये हुए है। यह शक्ति योग की अवस्था में वायु के संचार को यथावत् करके जल एवं अन्न आदि को चारों ओर से कन्धों के पार्श्व में स्थिर करके पुनः मुख से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक अपान तथा अग्नि के द्वारा जाग्रत् होती है। यह स्फुरणयुक्ता शक्ति हृदयाकाश में महान् उज्ज्वल एवं ज्ञानरूपा होती है॥ ८॥

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति। इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरी कुहूः शङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति॥ ९॥

कुण्डलिनी का आश्रय प्राप्त करके मध्य में स्थित रहने वाली चौदह मुख्य नाड़ियाँ हैं। ये क्रमशः इड़ा,

पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुसा एवं गान्धारी नामवाली हैं॥ ९॥

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रे विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति॥ १०॥

इन समस्त नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी विश्व को धारण करने में समर्थ तथा मोक्षमार्ग को प्रदान करने वाली है, ऐसा योगीजन कहते हैं। गुदा के पृष्ठ भाग में वह नाड़ी मेरुदण्ड के आश्रित रहती है तथा मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। यह स्पष्ट, सूक्ष्म एवं वैष्णवी रूपा होती है॥ १०॥

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति। दक्षिणभागे पिङ्गला। इडायां चन्द्रश्चरति। पिङ्गलायां रविः। तमोरूपश्चन्द्रः। रजोरूपो रविः। विषभागो रविः। अमृतभागश्चन्द्रमाः। तावेव सर्वकालं धत्तः। सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति। सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः। यशस्विनी-कुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति। गान्धारीसरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति। कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति। सुषुम्नापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति। कुण्ड-लिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते। पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति। पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति। याम्यक-र्णान्तं यशस्विनी भवति। जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शङ्खिनी भवति। इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति। पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलम्बुसा भवति। एतासु चतुर्दशसु नाडीष्वन्या नाड्यः संभवन्ति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः। यथाऽश्वत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम्॥ ११॥

इस सुषुम्ना नाड़ी के बायीं ओर इड़ा नामक नाड़ी है तथा दायीं ओर पिंगला नाड़ी स्थित है। इड़ा में चन्द्रमा चलायमान रहता है और पिंगला में सूर्य विचरण करता है। चन्द्रमा तमोगुण के स्वरूप वाला एवं सूर्य रजोगुण के स्वरूप से युक्त है। चन्द्रमा अमृत का क्षेत्र है तथा सूर्य विष का प्रभाग है। ये दोनों सम्पूर्ण काल को धारण करते हैं। सुषुम्ना नाड़ी काल का उपभोग करने वाली है। सुषुम्ना के पृष्ठ भाग की तरफ सरस्वती नाड़ी विद्यमान है तथा उसके बगल के क्षेत्र में कुहू नाड़ी स्थित है। यशस्विनी एवं कुहू के मध्य में वारुणी नाड़ी प्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी नाड़ी स्थित है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी नाड़ी विद्यमान है। कन्द के बीच में अलम्बुसा नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी के पूर्व भाग में लिंग क्षेत्र तक कुहू नाड़ी फैली हुई है। कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊपर की ओर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गयी हुई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अँगूठे तक फैली हुई है। पिङ्गला नाड़ी ऊपर की तरफ चलकर के दायीं नासिका तक पहुँचती है। पिंगला के पृष्ठ भाग की तरफ से दायीं आँख तक पूषा नाड़ी फैली हुई है। दायें कान तक यशस्विनी स्थित है। जिह्वा के ऊपरी भाग तक सरस्वती नाड़ी प्रतिष्ठित है। बायें कान तक ऊपर की ओर गमन करती हुई शंखिनी नाड़ी स्थित है। इड़ा नाड़ी के पृष्ठ भाग की ओर से बायें नेत्र तक गमन करने वाली गांधारी नाड़ी कहलाती है। गुदा क्षेत्र के मूल से नीचे-ऊपर की ओर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी कहलाती है। इन चौदह प्रकार की नाड़ियों में अन्य और दूसरी नाड़ियाँ भी स्थित हैं। उन नाड़ियों के अन्दर भी अन्य इस प्रकार की बहुत सी नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार से पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से संव्याप्त होते हैं,उसी तरह शरीर भी तरह-तरह की नाड़ियों से संव्याप्त है॥११॥

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति॥ १२॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त एवं धनञ्जय- ये दस तरह के वायु इन समस्त नाड़ी-संस्थानों में विचरण करते रहते हैं॥ १२॥

आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति। श्रोत्राक्षि-कटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति। गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगु-दाग्न्यगारेष्वपानः संचरति। सर्वसंधिस्थ उदानः। पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः। भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन्द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु चरन्समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्गकलेवरं व्याप्नोति। नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः। तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात्। अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्य-न्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम्। वायुना पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति। ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्यु-ष्णमकरोत्। जलोपरि समर्पितव्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्वमकरोत्। तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात्। समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयञ्छ्वासरूपेण देहे वायुश्चरति। नवभिर्व्योमरन्ध्रैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम्। निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते। विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवा-युकर्म। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म। देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म। शरीरपोषणादिकं समानकर्म। उद्गारादि नागकर्म। निमीलनादि कूर्मकर्म। क्षुत्करणं कृकरकर्म। तन्द्रा देवदत्त-कर्म। श्लेष्मादि धनञ्जयकर्म॥ १३॥

मुख , नासिका, गला, नाभि, पैर के दोनों अँगूठे तथा कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊर्ध्व के भागों में प्राणतत्त्व विचरण करता रहता है। कर्णेन्द्रिय, नेत्र, कमर, गुल्फ, नासिका, गला एवं कूल्हे के क्षेत्रों में व्यान भ्रमण करता रहता है। गुदा, लिंग, जानु, पेट, वृषण, कटि प्रदेश, नाभि और अग्निसंस्थान में अपान संव्याप्त रहता है। समस्त संधि अर्थात् जोड़ के संस्थानों में उदान सतत विचरण करता रहता है। पैर, हाथ एवं अन्य सभी अंग-अवयवों में समान संव्याप्त रहता है। खाये हुए अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ संव्याप्त करके समान वायु बहत्तर हजार नाड़ियों के मार्ग में विचरण करता रहता है एवं अग्नि के साथ सांगोपांग शरीर में विद्यमान रहता है। नाग आदि पाँच प्रकार की वायु त्वचा, अस्थि आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं। उदर में रहने वाले जल तथा अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर पेट में रहने वाला प्राण-वायु पृथक्-पृथक् करता है। आग के ऊपर जल रखकर तथा जल के ऊपर अन्न आदि प्रतिष्ठित कर स्वयं अपान के पास पहुँचकर वायु तत्त्व इसी अपान के साथ शरीर में स्थित अग्नि की ओर गमन करता है। अपान वायु से रक्षित अग्नि शरीर के मध्य में मन्द-मन्द प्रज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला एवं प्राण-वायु के द्वारा कोठे के मध्य में स्थित रहने वाले जल को खूब गर्म करता है और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल के सहित अन्न को प्राणवायु, अग्नियुक्त जल के द्वारा पकाता अर्थात् पचाता है तथा उसी में से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा (मल) आदि को पृथक्-पृथक् करता है। तदनन्तर समान वायु के साथ-साथ समस्त नाड़ियों में रस को प्रसारित करता हुआ प्राण-वायु श्वास के रूप में

शरीर में विचरण करता रहता है। शरीर के नौ व्योमरन्ध्रों (घटाकाश के छिद्रों) के द्वारा वायु, मल, मूत्र आदि को बाहर निष्कासित करता है। श्वासोच्छ्वास तथा खाँसी यह दोनों ही प्राण तत्त्व के कर्म कहलाते हैं। मल-मूत्र का बहिर्गमन कराना अपान वायु का कार्य कहलाता है। त्याग करना एवं स्वीकार करना आदि चेष्टाएँ व्यान का कार्य कहलाती हैं, शरीर का उन्नयन उदान का कार्य कहलाता है। शरीर को पोषण प्रदान करना समान का कार्य कहलाता है। डकार आदि नाग का कार्य है। पलक झपकाना कूर्म का कार्य है, भूख लगना कृकर का कार्य है। आलस्य देवदत्त का कार्य है तथा कफ आदि का उत्पन्न करना धनञ्जय का कार्य कहलाता है॥१३॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात्॥ १४॥

इस तरह से नाड़ी-संस्थान, वायु-संस्थान एवं उन सभी के कार्यों को ठीक तरह से जान-समझ कर नाड़ी को शुद्ध करना चाहिए॥ १४॥

॥ पंचमः खण्डः ॥

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत्॥ १ ॥

जिस पुरुष ने विद्या का अभ्यास किया हो, उसको यम-नियम से युक्त होकर सभी तरह की संगति का परित्याग करके सत्य रूपी धर्म में आरूढ़ होना चाहिए। क्रोध को वश में रखना, गुरु की सेवा शुश्रूषा में सतत लगे रहना, माता-पिता के आश्रित (संरक्षण में) रहना तथा पुनः अपने आश्रम में बताये गये श्रेष्ठ आचरण को समझने वाले के समीप में शिक्षा पाकर के फल, मूल तथा जलयुक्त तपोवन में जाना चाहिए। वहाँ जाकर सुरम्य प्रदेश में ब्रह्मघोष से युक्त, अपने धर्म में परायण ब्रह्मवेत्ताओं के सान्निध्य में तथा फल-मूल, पुष्प एवं जल आदि से परिपूर्ण किसी भी देव-स्थल में या नदी के तट पर किसी गाँव या शहर में अनुपम श्रेष्ठ मठ बनाना चाहिए। वह स्थान न तो बहुत ऊँचा हो और न ही अत्यन्त नीचा ही हो, न तो बहुत लम्बा तथा न ही अति चौड़ा ही हो। छोटे दरवाजे वाला, गोमय आदि से लीपा हुआ एवं पूर्णरूपेण सुरक्षित होना चाहिए। वहाँ वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को निरन्तर योगाभ्यास आदि आरम्भ कर देना चाहिए॥ १॥

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत्। द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत्पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया॥ २ ॥

देवों में प्रथम पूज्य गणपति का पूजन करने के पश्चात् अपने इष्टदेव को नमन-वंदन करके पूर्व में कहे गये आसन पर बैठना चाहिए। उस समय पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख रखना और सुकोमल आसन पर आसीन होकर के आसन को जय (सिद्ध) करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को गर्दन और मस्तक को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। दोनों भौंहों के मध्य चन्द्रमण्डल को देखना तथा दोनों नेत्रों से अमृत तत्त्व का पान करना चाहिए। इसके बाद बारह मात्राओं से इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु

खींचकर उसे पेट के अन्दर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित अग्नि मण्डल से संयुक्त करने का ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए तथा इसके बाद पिंगला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिंगला से वायु भरकर अन्त:कुम्भक करके इड़ा नाड़ी से उसे बाहर निकालना चाहिए॥ २॥

त्रिचतुस्त्रिचतु:सप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंधिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति। ततः शरीरे लघुदीप्तिवह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति॥ ३-४॥

इस तरह से ४३ दिन (त्रिचतु:=४३), तीन, चार या सात मास (त्रि चतु: सप्त) अथवा एक वर्ष (त्रिचतु: ३×४=१२ मास) पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार तथा उनके मध्य में छ: बार तक अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि हो जाती है। तदनन्तर इस अभ्यास से शरीर में हल्कापन, चेहरे में चमक (कान्ति), अग्नि की अभिवृद्धि तथा नाद श्रवण होने लगता है॥ ३-४॥

॥ षष्ठ: खण्ड: ॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरककुम्भकभेदेन स त्रिविधः। ते वर्णात्मकाः। तस्मात्प्रणव एव प्राणायामः॥ १-२॥

प्राण तथा अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम होता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। वे रेचक, पूरक, कुम्भक (प्राणायाम) वर्ण के स्वरूप से युक्त हैं इस कारण प्रणव ही प्राणायाम कहलाता है॥ १-२॥

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति॥३॥ अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवतीति॥ ४॥

पद्म आदि किसी भी आसन पर आसीन होकर पुरुष को ध्यान करना चाहिए- 'नासिका' के अग्रभाग पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से आवृत, लाल रंग के अंगवाली, हंस पर आसीन, अपने हाथ में दण्ड को धारण किये हुए, बालरूप, 'अ' कार मूर्ति से युक्त 'गायत्री' हैं। 'उ' कार मूर्ति सावित्री श्वेत-शुभ्र अंग से युक्त, गरुड़ के आसन पर प्रतिष्ठित युवावस्था से युक्त, अपने हाथ में चक्र धारण किये हुए हैं। इसी तरह से 'म' कार मूर्ति सरस्वती कृष्णांगी, वृषभ पर आसीन, वृद्धावस्था को प्राप्त, अपने हाथ में त्रिशूल को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार 'अ' कार आदि तीनों वर्णों का सम्मिलित रूप 'ॐ' है तथा वह सम्पूर्ण का कारण एकाक्षर स्वरूप परम ज्योति है। ऐसा चिन्तन करना चाहिए॥ ३-४॥

ध्यायेत् इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन्पूरितं वायुं चतुःषष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन्पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकारमूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः-पुनः कुर्यात्॥ ५॥

इस ध्यान के पश्चात् पुन: इड़ा नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु सोलह मात्रा में खींचे तथा उस समय 'अ' कार का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद इसी वायु को चौंसठ मात्रा में अन्त:कुम्भक करे तथा उस समय 'उ' कार का ध्यान करना चाहिए तथा उसके पश्चात् पिंगला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्राओं से संयुक्त उस अन्दर भरी हुई वायु को बाहर निष्कासित करे । उस समय 'म' कार मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार से यह क्रिया निरन्तर बार-बार करते रहना चाहिए॥ ५॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत्तया संपूर्य धारयेत्। तदेते श्लोका भवन्तिप्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥ १॥

इसके पश्चात् आसन के दृढ़ हो जाने पर योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करके, दूसरों का हित चाहते हुए, स्वल्पाहार पर रहते हुए, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल को शुष्क करने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करता रहे। उस समय बद्धपद्मासन पर आरूढ़ हो, चन्द्र नाड़ी के द्वारा वायु को भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद सूर्य नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। तदनन्तर सूर्यनाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे तथा चन्द्र नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार जिस नाड़ी के द्वारा रेचक करे, उसी नाड़ी से पुनः पूरक करने के बाद कुम्भक करना चाहिए। इस भाव को प्रकट करने वाले निम्न प्रकार के श्लोक वर्णित किये गये हैं- ''सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी के द्वारा प्राण को अन्दर भरकर कुम्भक करे तथा दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करे। तत्पश्चात् पुनः पिंगला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रक्रिया से सूर्य और चन्द्र नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का प्रतिदिन निरन्तर अभ्यास करने से योगी की सभी नाड़ियाँ तीन मास में ही पूर्ण शुद्ध हो जाती हैं॥ १॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ २॥

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में इसी तरह से चार बार मन्द-मन्द गति से अस्सी मात्राओं तक कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए॥ २॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे। उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥ ३॥

कनिष्ठ प्राणायाम के करते समय शरीर में पसीना आ जाता है, मध्यम स्तर का प्राणायाम करने में शरीर में कँप-कँपी छूटती है और श्रेष्ठ प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी अपने आसन से उठ जाता है॥ ३॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्। दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते॥ ४॥

प्राणायाम करते समय श्रम के कारण शरीर में से जो पसीना निकल आता है, उस पसीने को शरीर में मसल लेना चाहिए, क्योंकि इससे योगी का शरीर अत्यधिक मजबूत और हल्का हो जाता है॥ ४॥

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्। ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः॥५॥

प्राणायाम का अभ्यास करते समय प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध एवं घृत के भोजन को ही अत्यधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। तत्पश्चात् जब अभ्यास स्थिर हो जाता है, तब किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती॥ ५॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥ ६

जिस प्रकार शनैः-शनैः सिंह, गज और व्याघ्र आदि को वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार वायु भी प्राणायाम के अभ्यास से धीरे-धीरे वश में आ जाती है; लेकिन इसके विपरीत नियम से चलने पर यानी जल्दबाजी करने से वायु योगी का विनाश कर देती है॥ ६॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत्। युक्तंयुक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ७॥

अत: जिस प्रकार से ठीक बने, वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगे, वैसे ही पूरक करना तथा ठीक लगने तक ही कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥७

यथेष्टधारणाद्वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ८॥

यथेष्ट शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्नि प्रज्वलित होती है तथा नाड़ियों के शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है और शरीर रोगरहित हो जाता है॥ ८॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते। सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुत:॥ ९॥

विधि-विधान पूर्वक प्राणायाम करने से योगी के समस्त नाड़ी-समूह शुद्ध हो जाते हैं। तब सुषुम्ना नाड़ी का मुख भेदन करके वायु सुखपूर्वक उसमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ९॥

मारुते मध्यसंचारे मन:स्थैर्यं प्रजायते। यो मन: सुस्थिरो भाव: सैवावस्था मनोन्मनी॥ १०॥

वायु जब बीच में सञ्चरित होती है, तब मन सुस्थिर होता है और जब मन की ठीक तरह से स्थिरता हो जाती है, तब उसी स्थिरता को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है॥ १०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिध:। कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणक: ॥११

साधक को पूरक के अन्त में (कुम्भक के समय) जालन्धर नामक बन्ध करना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त एवं रेचक के प्रारंभ में उड्डियान नामक बन्ध करना चाहिए॥ ११॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिग:॥ १२॥

नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पश्चिम (पीछे) की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है॥ १२॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्। योगी जराविनिर्मुक्त: षोडशो वयसा भवेत्॥१३

अपान वायु को ऊर्ध्व की तरफ ले जाकर तथा प्राणवायु को कण्ठ से नीचे की ओर लाकर के योगी साधक वृद्धावस्था से रहित होकर सोलह वर्ष की आयु वाला हो जाता है॥ १३॥

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहि:स्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्। तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति॥ १३-१॥

योगी सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु को अन्दर की ओर खींचकर सिर के बालों से लेकर पैर के नख की नोंक तक में वायु को रोक कर अर्थात् कुम्भक करके बायीं नाड़ी के द्वारा वायु को बाहर निकाले अर्थात् रेचक करे। ऐसी क्रिया करने से कपाल की शुद्धि होती है और नाड़ियों में रहने वाले समस्त रोगों का पूर्णतया विनाश ही हो जाता है॥ १३-१॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनै: पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन्कुर्यात्। तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति॥ १३-२॥

हृदय से लेकर कण्ठ पर्यन्त शब्द के साथ दोनों नासिका छिद्रों के द्वारा धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। यह क्रिया चलते हुए तथा खड़े हुए भी करने ही रहना चाहिए, क्योंकि इस क्रिया से कफ का शमन और जठराग्नि की वृद्धि होती है॥ १३-२॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायन्ते॥ १३-३॥

मुख के द्वारा सीत्कार अर्थात् सी-सी करते हुए वायु अन्दर भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक की क्रिया करनी चाहिए। इससे भूख-प्यास, आलस्य अथवा निद्रा का प्रादुर्भाव नहीं होता॥ १३-३॥

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्त-क्षुधादीनि नश्यन्ति॥ १३-४॥

जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करके दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक करना चाहिए। इससे गुल्म (गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख आदि रोगों का शमन हो जाता है॥ १३-४॥

अथ कुम्भकः। स द्विविधः सहितः केवलश्चेति। रेचकपूरकयुक्तः सहितः। तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत् । केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भकात्कुण्डलिनीबोधो जायते।॥ १३-५॥

अब कुम्भक के सन्दर्भ में कहते हैं, उसके दो भेद हैं- (१) सहित और (२) केवल। रेचक तथा पूरक से जो संयुक्त हो, उसे सहित और उनसे जो रहित हो, वह केवल है। इसमें से केवल जब तक सिद्ध न हो, तब तक सहित का अभ्यास करते रहना चाहिए और जब 'केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक के द्वारा ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है॥ १३-५॥

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पटूवग्निर्भवति॥ १३-६॥

इस सिद्धि के पश्चात् योगी-साधक कृश शरीर से युक्त, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्रों से सम्पन्न, नाद श्रवण करने वाला, समस्त रोगों से रहित, बिन्दु को जय करने वाला (ब्रह्मचर्यसिद्ध) तथा प्रज्वलित जठराग्नि से युक्त हो जाता है॥१३-६॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ १४॥

अन्तःकरण में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य की दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है तथा इसे ही समस्त तन्त्र-शास्त्रों में गुप्त रहस्य के रूप में मान्यता प्राप्त है॥ १४॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी॥ १५॥

अन्तर्लक्ष्य में जिस योगी का चित्त और पवन विलय को प्राप्त हो गया हो, वह योगी साधक सतत निश्चल नेत्रों द्वारा बाहर की ओर नीचे की तरफ देखता हो, किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ न देखता हो, यही खेचरी मुद्रा है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान एवं मङ्गलमयी होने के कारण वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य एवं अशून्य रहित परमतत्त्व अविनाशी पद रूप में प्रकाशित होता रहता है॥ १५॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्द-भावोत्तरम्। ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत्॥ १६॥

अर्ध उन्मीलित नेत्रों से युक्त, एकाग्र मनवाला तथा नासिका के अग्रभाग पर स्थित दृष्टि से सम्पन्न योगी

अचल भाव को पाने के पश्चात् सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी को भी विलय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समस्त बाहरी विषयों से विहीन एवं दीप्तिमान् जो तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है। हे शाण्डिल्य! इस प्रकार तुम्हें जानना चाहिए॥ १६॥

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ। पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्॥ १७॥ तस्मात्खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। तत उन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति। ॥ १७.१॥

योगी साधक दोनों नेत्रों की पुतलियों को ज्योति से जोड़कर दोनों भौंहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह साधक के प्रारम्भिक अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षणमात्र में ही 'उन्मनी' स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिए साधक को खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, उससे वह उन्मनी दशा को प्राप्त करता है, फिर उसे योग-निद्रा की प्राप्ति हो जाती है। जिस साधक को योग-निद्रा की प्राप्ति हो, वह योगी फिर काल के वश में नहीं होता॥ १७-१७.१॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव॥ १८॥

इस कारण हे शाण्डिल्य! शक्ति के बीच में मन को केन्द्रित करो। शक्ति को मन के अन्दर गतिशील रखकर तुम मन के द्वारा मन को ही देखो तथा सुखी-समुन्नत जीवन व्यतीत करो॥ १८॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु। सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय॥

ऐसे ही (चैतन्य) आकाश के बीच में आत्मा को स्थित करके तथा आत्मा के मध्य में (चैतन्य) आकाश को प्रतिष्ठित देखना चाहिए। इसके पश्चात् सभी को (चैतन्य) आकाशमय करके, ऐसा ध्यान करें कि इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं॥ १९॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका। सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव॥ २०॥

योगी को बाह्यजगत् की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार अपने भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस तरह समस्त प्रकार को चिन्ताओं का परित्याग करके मात्र चैतन्य स्वरूप हो जाना चाहिए॥ २०॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले यथा। तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते॥ २१॥

जिस तरह से कपूर अग्नि में तथा नमक जल में विलीन हो जाता है, उसी तरह से ध्यानस्थ हुए योगी का मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है॥ २१॥

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः॥ २२॥

जो भी कुछ जानने योग्य है और जो प्रतीत होता है, उसका जो ज्ञान है, उसे ही मन कहते हैं। ज्ञान एवं ज्ञेय सभी कुछ एक ही साथ विनष्ट हो गया है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पथ नहीं है॥ २२॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम्। मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते॥ २३॥

ज्ञेय वस्तु का परित्याग कर देने से मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है और जब मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है, तब कैवल्य ही कैवल्य शेष रह जाता है॥ २३॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर। योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥ २४॥

हे मुनीश्वर! चित्त को विनष्ट करने के दो प्रमुख मार्ग हैं- १. योग और २. ज्ञान। योग अर्थात् चित्त की वृत्तियों का शमन करना तथा ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्त्व को यथार्थ रूप में देखना॥ २४॥

तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत्। मनः स्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते॥ २५॥

मन को जब अपने वश में कर लिया जाता है, तब वह निश्चित ही शान्त हो जाता है। मन की चंचलता के शान्त होते ही इस संसार का विलय हो जाता है॥ २५॥

सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा। शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः॥ २६॥

जिस प्रकार सूर्य की गति (आलोक) शान्त हो जाने पर संसार का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं सज्जनों की संगति से वैराग्य के अभ्यास का योग हो जाने से भी संसार शान्त हो जाता है॥ २६॥

अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु। यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात्॥ २७॥
एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते। पूरकाद्यनिलायामादृढाभ्यासादखेदजात्॥ २८॥
एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुध्यते। ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्। सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ २९॥

सर्वप्रथम सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए, तत्पश्चात् लम्बे समय तक ध्यान एवं एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास हो जाने से प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है अर्थात् प्राणवायु को अपने वश में कर लिया जाता है। इसी प्रकार बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया बन्द हो जाती है (मन वश में हो जाता है)। तदनन्तर ॐकार के उच्चारण के बाद शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है अर्थात् प्राण तत्त्व को अपने वश में कर लिया जाता है॥ २७-२९॥

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्। ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥

तालु के मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब सतर्कतापूर्वक जिह्वा द्वारा दबाया जाता है, तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में आ जाता है और तभी प्राणगति अवरुद्ध (अपने वश में) हो जाती है॥ ३०॥

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे। अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३१॥

तालु से ऊर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण गलित (चेष्टा-शून्य)हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध किया जाता है॥ ३१॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे। संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३२॥

नासिका के अग्रभाग के सामने द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान-दृष्टि जब अत्यन्त शान्त हो जाती है, तभी प्राणों का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३२॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते। चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३३॥

भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापार बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तभी प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है॥ ३३॥

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्। असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३४

केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञानज्ञेय रूप तथा मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तभी प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है॥ ३४॥

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने। अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३५॥

हे मुने! चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान-मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३५॥

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः। नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३६

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनों-उपदेशों का अनुसरण करके भाँति-भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३६-क॥

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ३६-ख॥

योगी साधक कुण्डलिनी को संकुचित करके (ऊपर खींचकर) किवाड़ को खोलकर मुक्ति का द्वार प्रशस्त करे॥ ३६-ख॥

येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता।
कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति॥ ३६-ग॥

जिस मार्ग से गमन करना होता है, उसी मार्ग का द्वार मुख से आच्छादित करके कुण्डलिनी शयन करती है। वह तिर्यक् स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है॥ ३६-ग॥

सा शक्तिर्येन चालिता स्यात्स तु मुक्तो भवति। सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम्॥ ३६-घ॥

इस कुण्डलिनी महाशक्ति को जो योगी निरन्तर संचालित करता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह कुण्डलिनी साधक के कण्ठ में ऊर्ध्व भाग की तरफ यदि शयन करती हुई हो, तो वह योगियों को मुक्ति प्रदान कर देने वाली होती है, किन्तु यदि वह कण्ठ के नीचे शयन करती हो, तो ज्ञानरहित साधकों के लिए बन्धनकारी सिद्ध होती है॥ ३६-घ॥

इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ३६-ङ॥

इड़ा आदि दोनों मार्गों का परित्याग करके सुषुम्ना के रास्ते उसका आगमन होता है, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है॥ ३६-ङ॥

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्। इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ ३७॥

वायु (प्राणायाम) का संपूर्ण अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए। इस अवसर पर ज्ञानी पुरुष को मन की वृत्ति को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए॥ ३७॥

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत्। सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत्॥ ३८॥

यहाँ पर यह बात नहीं है कि अमुक दिन विष्णु का पूजन नहीं करना चाहिए अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना चाहिए, बल्कि सदा ही विष्णु की पूजा करते रहना चाहिए। केवल रात्रि में अथवा दिन में ही न पूजना चाहिए॥ ३८॥

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्त्रोतः समन्वितः। तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥३९

हे शाण्डिल्य! पाँच इन्द्रियों के प्रवाह वाला हृदय रूप रिक्त (आकाश) स्थान ज्ञान को प्रादुर्भूत करने वाला है तथा वहीं खेचरी मुद्रा स्थित रहती है। अतः आप उसी का सेवन करें॥ ३९॥

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः। तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः॥ ४०

बायीं एवं दाहिनी नाड़ी में स्थित होकर मध्य में वायु का संचरण होता रहता है तथा उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित रहती है, इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है॥ ४०॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्। तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ ४१॥

इड़ा एवं पिंगला के मध्य में शून्य भाग स्थित है। वहाँ वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं पर प्रतिष्ठित रहती है एवं वहीं सत्य भी स्थित रहता है ॥ ४१ ॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः। संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥ ४२क

चन्द्रमा एवं सूर्य की दोनों नाड़ियों के बीच में आधार-रहित धरातल स्थित है, वहीं व्योम मण्डल में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है ॥ ४२-क ॥

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वा चित्तं च खे चरति तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति॥ ४२-ख॥

छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भृकुटि के बीच में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत (उल्टी) होकर गमन करने लगती है, तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जिह्वा एवं चित्त दोनों ही कपाल के छिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तभी ऊर्ध्व की ओर गई हुई जिह्वा वाला पुरुष अमरता को प्राप्त कर लेता है ॥ ४२-ख ॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः॥ ४२ग

बायें पैर की एड़ी से मूलरन्ध्र को दबाकर दाहिना पैर आगे की तरफ फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ना तथा इसके पश्चात् नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को भर कर कण्ठबन्ध (जालन्धर बन्ध) लगाना एवं ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करना चाहिए। इस क्रिया से समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है। इसके बाद विष भी अमृत के सदृश पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त एवं त्वचा के असाध्य एवं पुराने रोग विनष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट करने वाला है॥ ४२-ग॥

वामपादपार्ष्णियोनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत्। तेनापरोक्षसिद्धिः॥

बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान के साथ संयुक्त करके, दाहिना पैर बायें पैर पर रखे तथा वायु को अन्दर भरकर, ठुड्डी को हृदय की तरफ दबाकर योनि स्थान को संकुचित कर मन के मध्य अपनी आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस क्रिया से अपरोक्ष सिद्धि की प्राप्ति होती है॥ ४२-घ॥

बाह्यात्प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥४३ ॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा। सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः॥ ४४क॥

बाहर से प्राणवायु को अन्दर की ओर आकृष्ट करके उदर में प्रतिष्ठित करे और वहाँ से उसे नाभि के मध्य में, नाक के अग्रभाग में तथा पैर के अँगूठे में मन द्वारा प्रयासपूर्वक धारण करे। इस तरह से सन्ध्याकाल में यह क्रिया सदैव करने वाला योगी साधक समस्त रोगों से मुक्ति पाकर श्रम-रहित हो जाता है॥ ४३-४४-क॥

नासाग्रे वायुविजयं भवति। नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः।
पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति॥ ४४-ख॥

नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करने से वायु को वश में किया जा सकता है, नाभि के मध्य में स्थिर करने से सभी रोगों का नाश होता है तथा पैर के अँगूठे में स्थिर करने से शरीर हल्का हो जाता है॥ ४४ख

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः। श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा॥ ४५॥

जो मनुष्य जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर सतत पान किया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता तथा उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ४५॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत्। त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती॥ ४६॥

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को अपनी ओर आकृष्ट करके उसको पीता रहता है, उसकी वाणी में तीन मास में ही कल्याण स्वरूपा माँ सरस्वती प्रकट हो जाती हैं॥ ४६॥

एवं षण्मासाभ्यासात्सर्वरोगनिवृत्तिः। जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्। यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते॥ ४७॥

इसी तरह से छः मास पर्यन्त अभ्यास करने से समस्त प्रकार के रोगों का शमन हो जाता है। जो विद्वान् पुरुष जिह्वा द्वारा वायु को ग्रहण करके जिह्वा के मूल में उसे अवरुद्ध करता है, वह अमृत का पान करता है तथा उसका सब प्रकार से कल्याण ही होता है॥ ४७॥

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे। विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते॥

इड़ा नाड़ी के द्वारा दोनों भौंहों के मध्य में आत्मा में ही आत्मा (मन) को धारण कर लेने से पुरुष देवों के आहार का भेदन करता है, इस क्रिया को सम्पन्न करते समय यदि वह रोगी भी होता है, तो समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है॥ ४८॥

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः। घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते॥

(इड़ा एवं पिंगला) दोनों नाड़ियों के द्वारा वायु को नाभि तक खींचकर पेट के दोनों भागों में जो मनुष्य एक घड़ी तक चलाता रहता है, वह सभी रोगों से छूट जाता है॥ ४९॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम्। विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे॥ ५०॥

जो मनुष्य एक मास तक तीनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) काल में जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर आकृष्ट करके उदर के मध्य भाग में अवरुद्ध करता है, वह भी देवताओं के आहार का भेदन करने वाला हो जाता है॥ ५०॥

[मनुष्य का आहार तब पचता है जब उसके पाचक रस खाये हुए पदार्थों का भेदन करने में समर्थ होते हैं। देवताओं के सूक्ष्म आहार मनुष्य के प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन सामान्य लोग उसका उपयोग नहीं कर पाते। योगी अपनी चेतना से उसका भेदन करके उसका लाभ प्राप्त करने की स्थिति में पहुँच जाता है।]

ज्वराः सर्वेऽपि नश्यन्ति विषाणि विविधानि च। मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह। सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ॥ ५१॥

जो पुरुष नित्य मुहूर्त भर के लिए मन के साथ वायु को नासिका के अग्रभाग पर धारण करता है, उसके सभी तरह के ज्वर विनष्ट हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के विषों का शमन हो जाता है। उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णरूप से छूट जाते हैं ॥ ५१॥

तारसंयमात्सकलविषयज्ञानं भवति। नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम्। तदधश्चित्त-संयमादग्निलोकज्ञानम्। चक्षुषि चित्तसंयमात्सर्वलोकज्ञानम्। श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोक-ज्ञानम्। तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋतिलोकज्ञानम्। पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम्। वामकर्णे संय-माद्वायुलोकज्ञानम्। कण्ठे संयमात्सोमलोकज्ञानम्। वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम्।

मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम्। पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम्। पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम्। पादसन्धौ संयमान्नितललोकज्ञानम्। जङ्घे संयमात्सुतललोकज्ञानम्। जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम्। ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम्। कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम्। नाभौ चित्तसंयमाद्भूलोकज्ञानम्। कुक्षौ संयमाद्भुवर्लोकज्ञानम्। हृदि चित्तस्य संयमात्स्वर्लोकज्ञानम्। हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम्। कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम्। भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोकज्ञानम्। मूर्ध्नि चित्तसंयमात्सत्यलोकज्ञानम्। धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम्। तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात्सर्वजन्तुरुतज्ञानम्। संचितकर्मणि चित्तसंयमात्पूर्वजातिज्ञानम्। परचित्ते चित्तसंयमात्परचित्तज्ञानम्। कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्यरूपम्। बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम्। सूर्ये चित्तसंयमाद्भुवनज्ञानम्। चन्द्रे चित्तसंयमात्ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्। स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। तारे सिद्धदर्शनम्। कायाकाशसंयमादाकाशगमनम्। तत्तत्स्थाने संयमात्तत्तत्सिद्धयो भवन्ति॥ ५२॥

आँख की पुतली पर संयम करने से सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, नासिका के अग्रभाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। नेत्र में चित्त का संयम करने से सभी लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रोत्र में संयम करने से यम लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बगल में चित्त का संयम करने से राक्षसों के लोक का ज्ञान होता है। पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है। बायें कान में चित्त का संयम करने पर वायु लोक का ज्ञान होता है। कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है। बाँयी आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है, पैर के नीचे (तलवे) में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है। पैर (पंजे) में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है। पैर के जोड़ (टखने) में चित्त का संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है। पैर की जंघा (पिंडली) में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है। जानु (घुटने) में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, ऊरु (जाँघ) में संयम करने से रसातल का ज्ञान होता है। कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है, नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है। पेट में संयम करने से भुवः लोक का ज्ञान होता है। हृदय में चित्त का संयम रखने से स्वः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, हृदय के ऊर्ध्व भाग में चित्त का संयम करने से महः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। कण्ठ में संयम करने से जनः लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भौंहों के मध्य में संयम करने से तपःलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है। विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है। सञ्चित कर्म में संयम करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। दूसरे लोगों के चित्त में संयम रखने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है। शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का-सा रूप हो जाता है, बल में संयम करने से हनुमान् आदि के जैसा बल प्राप्त हो जाता है। सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। चन्द्र में संयम करने से समस्त तारामण्डलों का ज्ञान हो जाता है, ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है। स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। नाभिचक्र में संयम करने से शरीर व्यूह का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख-प्यास समाप्त

हो जाती है। कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है। तारा में संयम करने से सिद्ध दर्शन होता है तथा शरीर के आकाश में संयम करने से मनुष्य आकाश में गमन कर सकता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से उस स्थान में स्थित विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥ ५२॥

[यहाँ संयम का अर्थ अपने चित्त के माध्यम से स्थान विशेष में स्थित दिव्य चेतन धारा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना। तादात्म्य की स्थिति में उस चेतना विशेष के साथ जुड़े सारे तथ्य चित्त की अनुभूति में सहज ही आने लगते हैं। योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि की एकत्र स्थिति को 'संयम' कहा जाता है।]

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः॥ १॥

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं। वह पाँच प्रकार का है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने (इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने की अभ्यस्त होती हैं, उन्हें बाह्य उपकरण में से हटाकर अन्तःकरण की रसानुभूति से जोड़ लेने) को प्रत्याहार कहा जाता है। जो-जो दिखाई देता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए, (आँख, नाक, कान आदि विभिन्न अवयवों की अनुभूति वास्तव में आत्मा के ही कारण है। इसका बोध होना) यही प्रत्याहार है। नित्य किये गये कर्मों के फल का परित्याग (कर्म के फल में रस लेने की अपेक्षा कर्म करने में ही रस एवं सार्थकता की अनुभूति होने पर फल की कामना न रहना) ही प्रत्याहार है। समस्त प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित होना (अन्तःस्थिति उच्च रसों की अनुभूति के आधार पर विषयों के रस की कामना न रहना), यह प्रत्याहार है। अट्ठारह मर्म-स्थलों (आगे कहे गये) में क्रमशः धारणा करना (उन स्थानों पर स्थित चेतन दिव्य प्रवाहों के साथ चित्त का तादात्म्य स्थापित करके दिव्यानुभूति प्राप्त करना), यही प्रत्याहार है॥ १॥

पादाङ्गुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्धि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत्॥ २॥

पैर का अँगूठा, गुल्फ (टखने), जंघा (पिंडली), जानु (घुटने), ऊरु (जाँघ), गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नासिका, आँख, भौंहों के बीच का भाग, ललाट एवं सिर-इन सभी स्थलों में उतार-चढ़ाव के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए॥ २॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ धारणा। सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति॥ १॥

अब धारणा को स्पष्ट करते हैं। यह तीन प्रकार की होती है। अपनी अन्तरात्मा में मन की धारणा करना, दहरा (हृदय) आकाश में बाह्याकाश की धारणा करना तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा करनी चाहिए। ये ही तीन प्रकार हैं॥ १॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ ध्यानम्। तद्द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम्॥ १ ॥

अब इसके बाद ध्यान को बतलाते हैं-यह दो प्रकार का होता है, प्रथम-निर्गुण एवं द्वितीय-सगुण। मूर्ति का चिन्तन करना सगुण कहलाता है तथा आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना निर्गुण कहलाता है॥ १ ॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति॥ १ ॥

अब इसके अनन्तर समाधि का वर्णन करते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा की ऐक्यावस्था, (ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता) की त्रिपुटीविहीन,परमानन्द के रूप से युक्त एवं शुद्ध चैतन्यमय अवस्था ही समाधि कहलाती है॥१ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति॥ १ ॥

तदनन्तर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों में (चारों वेदों का अध्ययन करने पर भी) ब्रह्म विद्या को प्राप्त न कर पाने से भगवान् अथर्वा की शरण में पहुँचकर प्रश्न किया- 'हे भगवन्! आप हमें ब्रह्म विद्या का अध्ययन कराएँ, जिससे कि मुझे कल्याण की प्राप्ति हो'॥ २ ॥

स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ॥ २ ॥

तत्पश्चात् अथर्वा मुनि ने कहना प्रारम्भ किया "हे शाण्डिल्य! ब्रह्म, सत्य, विज्ञान एवं अनन्त रूपों में संव्याप्त है॥ २ ॥

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्॥ ३ ॥

जिसमें यह सभी कुछ ओत-प्रोत है। जिसमें यह प्रादुर्भूत होता है तथा अस्त भी होता है,उसी तरह से जिसको समझ लेने से यह सभी कुछ समझ लिया जाता है,वह हाथ-पैर से विहीन,नेत्रों से रहित,कार्य विहीन,जिह्वा रहित, शरीर विहीन, स्वीकार न किये जाने योग्य तथा स्पष्ट रूप से बताये न जा सकने योग्य है॥३

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। यत्केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्। आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत्परं च ब्रह्म। तत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि॥ ४॥

जिसे प्राप्त किये बिना वाणी एवं मन पीछे की ओर वापस हो जाते हैं। जो मात्र ज्ञान से ही पाया जा सकता है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रचार-प्रसार हुआ है, जो अनुपम एवं अद्वितीय है, आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, अति सूक्ष्म, निरञ्जन, क्रियाविहीन, एकमात्र सत्य स्वरूप, चेतना से सम्पन्न, आनन्द स्वरूप,

एकरस से सम्पन्न, मंगलमय, अत्यन्त शांत एवं अमर है, वही परम अविनाशी ब्रह्म है। वही तुम हो। ज्ञान के द्वारा तुम उसे जानो॥ ४॥

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि॥ ५॥

जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में प्रमुख, सब प्रकार से ज्ञान सम्पन्न, सर्वेश्वर, समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा, सभी प्राणियों में निवास करने वाले, सब प्राणियों में छिपे हुए, सभी प्राणियों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग के द्वारा ही जाने जा सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि, पालन एवं विलय स्वयं करता है, वही आत्मा है। तुम आत्मा में ही उन सबको स्थित जानो॥ ५॥

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि॥ ६॥

तुम शोक बिल्कुल न करो। आत्मा का विशिष्ट ज्ञान पाकर के तुम शोक का अन्त कर सकोगे॥ ६॥

॥ तृतीयोऽध्यायः॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परंब्रह्म। तस्मात्कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिँल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति॥१॥

इस प्रकार अथर्वा मुनि से जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! जो परब्रह्म एकाक्षर, क्रिया विहीन, मङ्गलमय, सत्ता मात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे यह जगत् किस प्रकार से प्रादुर्भूत होता है? किस प्रकार वह प्रतिष्ठित होता है तथा किस तरह से उसमें विलीन हो जाता है? मेरी यह शंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है॥ १॥

स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति। अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति॥२-३॥

ऐसा सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा-हे शाण्डिल्य! यह सत्य है कि परब्रह्म निष्क्रिय एवं अक्षर रूप है, तब भी इस अविनाशी परब्रह्म के तीन स्वरूप-सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल हैं॥ २-३॥

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्य-ममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्॥ ४॥

जो सत्यरूप, विज्ञानयुक्त, आनन्दस्वरूप, क्रियारहित, निरञ्जन, सर्वव्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, चतुर्दिक् मुखवाला, अनिर्वचनीय और अमर है, यह ब्रह्म का निष्कल रूप है॥ ४॥

अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा। तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे। तदिदमस्य सकलं रूपम्॥ ५॥

इसके पश्चात् अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति और माया शक्ति है, वह लाल, श्वेत एवं कृष्ण रंग से युक्त है। उस (माया) की सहायता प्राप्त करके यह देव कृष्ण एवं पीत रंग से युक्त होकर सभी का ईश्वर और नियन्ता होता है। यह इस ब्रह्म का 'सकल' रूप है॥ ५॥

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। अथैतस्मात्तप्यमानात्सत्यकामात्त्रीण्यक्षराण्यजायन्त। तिस्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्नयश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान्सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात्स एव पश्चात्स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात्स एव सर्वम्। अथास्य देवस्यात्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम्॥६

तत्पश्चात् इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त कर इच्छा की कि "मैं विभिन्न रूपों में प्रकट (प्रादुर्भूत) हो जाऊँ।" तदनन्तर तप प्रारम्भ किया। तभी समस्त कामनाओं से सम्पन्न तीन अक्षर प्रादुर्भूत हुए, वैसे ही तीन व्याहृतियाँ, तीन पदों वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण एवं तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। जो यह देव भगवान् होकर समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सर्वत्र व्याप्त रहने वाला, समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी एवं माया के साथ क्रीड़ा- कल्लोल करता है, वही ब्रह्मा, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवताओं एवं सभी भूत-प्राणियों के रूप में है। वही अग्रभाग में, वही पृष्ठभाग में, वही उत्तर की ओर, वही दक्षिण की ओर, वही नीचे की ओर तथा वही ऊर्ध्व की ओर प्रतिष्ठित है। इस तरह से वही सब कुछ है। यह देव अपनी शक्ति से क्रीड़ा करने वाला तथा अपने भक्तों के प्रति अनुकम्पा बनाये रखने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर, वस्त्र रहित, कमल की पंखुड़ी के सदृश कोमल, चार भुजाओं से सम्पन्न, भयंकरता से रहित एवं पापरहित होकर प्रकाश से युक्त है। यही उसका 'सकल-निष्कल' रूप है॥ ६॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन्सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति। स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परंब्रह्मेति॥ १-२॥

इसके पश्चात् महर्षि शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पुनः प्रश्न किया- "हे भगवन्! मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य युक्त एवं आनन्दस्वरूप एकरस सम्पन्न यह परब्रह्म क्यों कहा जाता है? " तब अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया- "हे शाण्डिल्य! वह ब्रह्म स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है तथा अन्य दूसरों को वृद्धि प्रदान करता है, अतः इस कारण से वह अविनाशी शाश्वत ब्रह्म कहलाता है॥ १-२॥

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति। यस्मात्सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति॥ ३-४॥

इसके अनन्तर 'वह आत्मा क्यों कहा जाता है?' (ऐसा पूछने पर अथर्वा मुनि ने कहा -) वह (ब्रह्म) सर्वत्र सभी में विद्यमान रहता है, सभी को स्वीकार करता है तथा सभी का भक्षण कर लेता है अर्थात अपने में मिला लेता है, इस कारण वह आत्मा कहलाता है॥ ३-४॥

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति। यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या च महत ईशते तस्मादुच्यते महेश्वर इति॥ ५-६॥

वह महेश्वर क्यों कहा जाता है? (अथर्वा मुनि ने कहा-) क्योंकि वह शब्द ध्वनि एवं आत्मशक्ति से बड़ों-बड़ों का नियंत्रण करता है तथा बड़ों-बड़ों का ईश्वर है, इसलिए वह महेश्वर कहलाता है॥ ५-६॥

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति। यस्मात्सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयो ऽभवत्तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति॥

वह दत्तात्रेय क्यों कहा जाता है ? (अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया-) क्योंकि अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने के उपरान्त अत्रि ऋषि ने पुत्र प्राप्ति की कामना की। तदनन्तर उनके ऊपर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए ज्योतिष्मान् भगवान् (शिव) ने स्वयं को ही उन अत्रि ऋषि को पुत्र रूप में प्रदत्त किया और वे स्वयं अत्रि एवं अनसूया के द्वारा प्रादुर्भूत हुए । इस प्रकार से वे दत्तात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ७-८॥

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद। अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति॥ ९-१०॥

इन समस्त अर्थ सहित नामों को जो व्युत्पत्ति सहित समझता है, वह सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है। इसके अनन्तर जो (इस आत्म) विद्या के द्वारा इस परमात्म तत्त्व की उपासना करता है, वह ''मैं ही परमात्मा हूँ'' इस प्रकार के भाव से ब्रह्म का वर्णन करने वाला (ब्रह्मवेत्ता) बन जाता है॥ ९-१०॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति। दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्। आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम्॥ ११॥ भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्। चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम्॥ १२॥ ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्। भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम्॥ १३॥एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्। स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥ १४॥ इत्यों सत्यमित्युपनिषद्॥ १५॥

यहाँ पर ये निम्न श्लोक कहे गये हैं— ''मंगल स्वरूप वाले, शान्तरूप वाले, इन्द्रनीलमणि के समान श्याम, आत्ममाया के साथ रमण करने वाले, अवधूत, नग्न शरीर वाले, भस्म लगे हुए शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुए , सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, चार भुजाओं से युक्त, उदार अंग वाले, प्रफुल्ल कमल के समान नेत्र वाले, ज्ञानयोग के भण्डार, सम्पूर्ण विश्व के गुरु, योगी जनों के प्रिय, अपने भक्तजनों पर दया करने वाले, सबके साक्षी एवं सिद्धजनों द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव शाश्वत, सनातन पुरुष हैं तथा देवों के भी देव अर्थात् आदिदेव हैं। इस तरह से जो पुरुष निरन्तर सदा ही उन (देवपुरुष) का ध्यान करता रहता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इति ॐ सत्यम् अर्थात् यही सत्य है। इस प्रकार से यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) पूर्ण हुई ॥ ११-१५॥''

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... इति शान्तिः॥

॥ इति शाण्डिल्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ शारीरकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २० मन्त्र हैं, जिसमें सृष्टि प्रक्रिया का विशद वर्णन है। सर्वप्रथम शरीर में विद्यमान पंचतत्त्वों का परिचय कराया गया है। इसके बाद पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं आदि का उत्पत्ति-क्रम वर्णित है। अन्तःकरण चतुष्टय तथा उनका शरीर में स्थान कहाँ है? इसका भी उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य अनेक तत्त्वों का क्रमशः उद्भव और विकास वर्णित है। आगे चल कर सत,रज, तम-तीनों गुणों का स्वरूप और विभाग का वर्णन किया गया है। अन्त में १७ तत्त्वों वाले सूक्ष्म शरीर, २४ तत्त्वों वाली प्रकृति तथा पुरुष को लेकर २५ तत्त्व वाले पूरे विश्वब्रह्मांड का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। तत्त्वबोध की दृष्टि से इस उपनिषद् का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

ॐ अथातः पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम्। यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजो यत्संचरति स वायुर्यत्सुषिरं तदाकाशम्॥ १॥

पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों का समुच्चय ही यह शरीर है। इस शरीर में जो ठोस पदार्थ हैं, वह पृथ्वी तत्त्व है। जो द्रव पदार्थ हैं, वह जल तत्त्व है। जो ऊष्मा है, वही अग्नि तत्त्व है। जो सतत गतिशील है, वह वायु तत्त्व है और जो सुषिर (पोला-छिद्रयुक्त) है, वह ही आकाश तत्त्व है॥ १॥

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि। श्रोत्रमाकाशे वायौ त्वगग्नौ चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घ्राणमिति। एवमिन्द्रियाणां यथाक्रमेण शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चेति विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः॥ २॥

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश तत्त्व में श्रोत्र, वायु तत्त्व में त्वचा, अग्नि (तेज) तत्त्व में नेत्र, जल तत्त्व में जिह्वा तथा पृथिवी तत्त्व में घ्राणेन्द्रिय विद्यमान है। इन सभी इन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं, वे सभी पृथिवी आदि महाभूतों से प्रादुर्भूत हुए हैं॥ २॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि। तेषां क्रमेण वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः॥ ३॥

वाक्, हस्त, पाद, गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय)-कर्मेन्द्रियाँ कही गयी हैं। इन सभी इन्द्रियों के विषय क्रम से वचन, आदान-प्रदान, गमन, विसर्जन और आनन्द हैं, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से ही प्रकट होते हैं॥

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषयाः। मनःस्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति॥ ४॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार- इन चारों को अन्तःकरण (चतुष्टय) कहा गया है। इनके विषय क्रमशः इस प्रकार हैं-१. संकल्प-विकल्प, २. निश्चय, ३. अवधारणा और ४. अभिमान। मन का क्षेत्र गले का अन्तिम भाग, बुद्धि का स्थान मुख, चित्त का क्षेत्र नाभि और अहंकार का क्षेत्र हृदय बताया गया है॥ ४॥

अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्चेति पृथिव्यंशाः। मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्रस्वेदा अबंशाः। क्षुत्तृष्णालस्यमोहमैथुनान्यग्नेः। प्रचारणविलेखनस्थूलाक्ष्युन्मेषनिमेषादि वायोः। कामक्रोधलोभमोहभयान्याकाशस्य॥ ५॥

अस्थि, त्वचा, नाड़ी, रोमकूप तथा मांस- ये सभी पृथ्वी तत्त्व के अंश हैं। मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र तथा स्वेद (पसीना)—जल तत्त्व के अंश हैं। क्षुधा, पिपासा, आलस्य, मोह और मैथुन-अग्नि तत्त्व के अंश हैं। फैलाना, दौड़ना, गति करना (चलना), उड़ना, पलकों को संचालित करना आदि वायु तत्त्व के अंश हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि आकाश तत्त्व के अंश हैं॥ ५॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसाश्चापां गुणाः। शब्दस्पर्शरूपाण्यग्निगुणाः। शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ। शब्द एक आकाशस्य॥ ६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध- ये सभी पृथिवी तत्त्व के गुण कहे गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस- ये सभी जल तत्त्व के गुण बताए गये हैं। शब्द, स्पर्श और रूप-ये तीनों अग्नि तत्त्व के गुण कहे गये हैं। शब्द तथा स्पर्श वायु तत्त्व के गुण बताये गये हैं और आकाश तत्त्व का मात्र एक ही गुण शब्द कहा गया है॥ ६॥

सात्त्विकराजसतामसलक्षणानि त्रयो गुणाः॥ ७॥

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन लक्षणों से युक्त ये तीन गुण कहे गये हैं॥ ७॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम्॥ ८॥
अमानित्वमदम्भित्वमास्तिकत्वमहिंस्रता। एते सर्वे गुणाः ज्ञेयाः सात्त्विकस्य विशेषतः॥ ९॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना, शुचिता (पवित्रता), संतोष, सरलता, अमानिता का भाव, दम्भ न करना, आस्तिकता, हिंसा न करना आदि ये सभी गुण विशेषतया सात्त्विक स्वभाव वाले मनुष्यों के कहे गये हैं॥ ८-९॥

अहं कर्ताऽस्म्यहं भोक्ताऽस्म्यहं वक्ताऽभिमानवान्। एते गुणा राजसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवित्तमैः॥

मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला हूँ, मैं वक्ता (बोलने वाला) हूँ-इस तरह के अभिमान युक्त गुण, राजस स्वभाव वाले मनुष्यों के बताए गए हैं॥ १०॥

निद्रालस्ये मोहरागौ मैथुनं चौर्यमेव च। एते गुणास्तामसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवादिभिः॥ ११॥

निद्रा, आलस्य, मोह, आसक्ति, मैथुन और चौर कृत्य- ये समस्त गुण तामस वृत्ति से युक्त मनुष्यों के कहे गये हैं॥ ११॥

ऊर्ध्वे सात्त्विको मध्ये राजसोऽधस्तामस इति॥ १२॥

सर्वश्रेष्ठ ऊर्ध्व पद सात्त्विक गुण को कहा गया है, राजस गुण को मध्यम तथा तामस गुण को अधम बताया गया है॥ १२॥

सत्यज्ञानं सात्त्विकम्। धर्मज्ञानं राजसम्। तिमिरान्धं तामसमिति॥ १३॥

पूर्णसत्य (ब्रह्म) ज्ञान सात्त्विक है। धर्मज्ञान राजस है और अन्धकार से युक्त अर्थात् तिमिरान्ध (अधर्ममूढ़ता) ही तामस है॥ १३॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयमिति चतुर्विधा अवस्थाः। ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत्। अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः। चित्तैककरणा सुषुप्तिः। केवलजीवयुक्तमेव तुरीयमिति॥ १४॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय- ये चार अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण मिलकर के चौदह करण (सक्रिय) रहते हैं। स्वप्नावस्था में चार अन्तःकरण संयुक्त रूप से (सक्रिय) रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में केवल चित्त ही एक करण (सक्रिय) रहता है तथा तुरीयावस्था में केवल जीवात्मा ही रह जाता है॥ १४॥

उन्मीलितनिमीलितमध्यस्थजीवपरमात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ॥ १५॥

उन्मीलित (अर्थात् खुले हुए) तथा निमीलित (अर्थात् बन्द नेत्रों) की मध्य स्थिति में जीव और परमात्मा के बीच में जीवात्मा क्षेत्रज्ञ होता है॥ १५॥

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सुसूक्ष्मं लिङ्गमुच्यते ॥ १६॥

ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन एवं बुद्धि-इन सत्रह का सूक्ष्म स्वरूप लिङ्ग शरीर कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए॥ १६॥

मनो बुद्धिरहंकार खानिलाग्निजलानि भूः। एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे॥ १७॥

मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये आठ प्रकृति के विकार कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त सोलह विकार और बताये गये हैं॥ १७॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पंचमम्। पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्चैव दशमी मता॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च। त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्रकृतानि तु॥ १९॥ चतुर्विंशतिरव्यक्तं प्रधानं पुरुषः परः इत्युपनिषत्॥ २०॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणेन्द्रिय-ये पाँच विकार तथा गुदा, उपस्थ (जननेन्द्रिय), हाथ, पैर, तथा वाक्—ये पाँच और शब्द,स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—ये पाँच, ये सभी तथा उपर्युक्त मन आदि अष्टविकार मिलकर प्रकृति के (८+५+५+५ = २३) तेईस तत्त्व हुए। चौबीसवाँ अव्यक्त प्रधान (प्रकृति) है, पुरुष उससे भी परे (कहा गया) है, (इस प्रकार कुल पच्चीस तत्त्वों के समुच्चय वाला यह विश्वब्रह्माण्ड है) यही (शारीरक) उपनिषद् है॥१८-२०॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः॥

॥ इति शारीरकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ संन्यासोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में संन्यास क्या है? कैसे ग्रहण किया जाता है? उसके लिए कैसा आचार-व्यवहार होना चाहिए आदि का विशद वर्णन है। दूसरा अध्याय काफी बड़ा है। इसकी शुरुआत साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व) से की गई है। संन्यास का अधिकारी कौन है? इसकी विस्तृत गवेषणा की गई है। संन्यासी का भेद बताते हुए १. वैराग्य संन्यासी २. ज्ञान संन्यासी ३. ज्ञान-वैराग्य संन्यासी और ४. कर्म संन्यासी की विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे चलकर छः प्रकार के संन्यास का क्रम उल्लिखित हुआ है-कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। इसी क्रम में आत्मज्ञान की स्थिति और स्वरूप का भी वर्णन उपनिषद्कार ने कर दिया है। संन्यासी के लिए आचरण की पवित्रता और भिक्षा में मिले स्वल्प भोजन में ही संतुष्ट होने का विधान बताया गया है। उसे स्त्री, भोग आदि शारीरिक आनन्द प्राप्ति से दूर रहने का निर्देश है। इस प्रकार आहार-विहार का संयम बरतते हुए नित्य प्रति आत्म चिन्तन में तल्लीन रहना चाहिए। ॐकार का जप करते रहना चाहिए-इसी से उसके अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रकाश प्रकट होता है और वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामो योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति। कोऽयं संन्यास उच्यते। कथं संन्यस्तो भवति। य आत्मानं क्रियाभिर्गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यां पुत्रान्बन्धूननुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान्सर्वांश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत्सर्वस्वं दद्याद्यजमानस्य गा ऋत्विजः सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान्सर्वेषु समारोपयेत्। सशिखान्केशान्विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत्। यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेमं ध्यात्वाऽनवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेच्च। चतुर्षु वर्णेषु भिक्षाचर्यं चरेत्। पाणिपात्रेणाशनं कुर्यात् औषधवदशनमाचरेत्। औषधवदशनं प्राश्नीयात्। यथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वा नगरे वापि वसेत्। पक्षा वै मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत् । विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्णीयान्नान्यत्प्रतिगृह्णीयाद्यद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति। यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति। तं होवाचेदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानं विद्या शिखा नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण जलतीरे निकेतनम्। ब्रह्मवादिनो वदन्त्यस्तमित आदित्ये कथं वास्योपस्पर्शनमिति। तान्होवाच यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा तदप्येतदृषिणोक्तम्। सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते ॥ १ ॥

अब संन्यास उपनिषद् का वर्णन करते हैं। क्रमानुसार नश्वर जगत् का परित्याग कर देने वाला विरक्त ही संन्यासी होता है। (प्रश्न) संन्यास किसे कहते हैं? संन्यासी किस तरह का होता है? (उत्तर) संन्यासी वह है, जो आत्मा के उत्थान हेतु माता-पिता, स्त्री-पुत्र, बान्धव आदि के द्वारा अनुमोदित पूर्व में कही क्रियाओं का परित्याग कर देता है; जो हमेशा की तरह ऋत्विजों को नमन-वंदन करने के पश्चात् वैश्वानर यज्ञ सम्पन्न करता है। इस पुनीत अवसर पर यजमान अपना सभी कुछ दान कर दे तथा ऋत्विज् सम्पूर्ण सामग्री को पात्रों समेत हवन कर दे। संन्यासी द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों तथा सभ्य (वैदिक कालीन अग्नि) एवं आवसथ्य (स्मृतिकालीन अग्नि) को प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान पाँचों वायुओं में आरोपित करना चाहिए। शिखा (चोटी) सहित सभी केशों का मुण्डन करा देना चाहिए। यज्ञोपवीत को त्याग दे एवं पुत्र को देखकर इस तरह कहे कि तुम यज्ञ रूप हो, सर्वस्वरूप हो। यदि पुत्र न हो, तो वह अपनी आत्मा को ही लक्ष्य करके उपदेश देकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर गमन कर जाए। चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) से भिक्षा स्वीकार करनी चाहिए। हाथ रूपी पात्र में भिक्षा ग्रहण कर भोजन करना चाहिए। भोजन को औषधि के समान ग्रहण करना चाहिए अर्थात् मात्र प्राण रक्षा की दृष्टि से आहार लेना चाहिए और जो कुछ प्राप्त हो जाए, वही ग्रहण करना चाहिए, जिससे चर्बी की वृद्धि न हो। इस प्रकार क्षीणकाय होकर गाँव में एक रात्रि एवं नगर में पाँच रात्रि तक निवास करना चाहिए। चातुर्मास (वर्षा के मास) में एक ही गाँव अथवा नगर में रुक जाना चाहिए या फिर पक्ष (पखवारा) को ही मास समझकर दो महीने तक निवास करना चाहिए। फटे वस्त्र अथवा वल्कल वस्त्र ही धारण करना चाहिए, अन्य वस्त्रों को ग्रहण न करे। इस तरह क्लेश सहना ही तप-तितिक्षा है। जो इस क्रम से संन्यास धारण करता है, उसके लिए यज्ञोपवीत क्या है? शिखा क्या है? आचमन किस तरह का है? इन सभी का उत्तर इस प्रकार है- आत्मा का ध्यान ही संन्यासी का यज्ञोपवीत है। विद्या ही उसकी शिखा (चोटी) है। सर्वत्र स्थित जल के लिए उदर (पेट) ही संन्यासी का पात्र है तथा जलाशय का तट ही उसका आश्रय-स्थल है। इसी प्रकार का ब्रह्मवादी भी होता है। उसके लिए सूर्य के अस्ताचल की ओर गमन करने पर आचमन किस तरह का है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है-उस (संन्यासी) के लिए रात्रि एवं दिन दोनों ही एक जैसे हैं। उसके लिए न रात्रि होती है, न दिन होता है। जो (संन्यासी अथवा साधक) अपनी आत्मा के अनुसंधान में सतत लगा रहता है, विद्वज्जनों के अनुसार उसके लिए सदैव दिन ही है॥ १॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः॥

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति॥ १॥

चालीस तरह के संस्कारों से सम्पन्न, सभी से पूर्ण रूप से विरक्त, चित्त को परिष्कृत रखने वाला, आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार को भस्मीभूत करके चारों साधनों (१) विवेक (नित्यानित्य वस्तु का ज्ञान), (२) वैराग्य (लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की इच्छा का न होना), (३) षड्सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा), (४) मुमुक्षुत्व (मोक्ष की प्रबल इच्छा) से सम्पन्न ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है॥ १॥

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः। स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति॥ २॥

जो (साधक) संन्यास का निश्चय कर ले और फिर उसे स्वीकार न करे, तो वह कृच्छ्र (कठोर-तप) व्रत करने पर ही दुबारा संन्यास धर्म ग्रहण कर सकता है॥ २॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः। संन्यासविघ्नकर्त्ता च त्रीनेतान्पति-तान्विदुः॥ ३॥

जो (व्यक्ति) संन्यास से पतित (गिर) हो जाते हैं, जो पतित को संन्यास की दीक्षा प्रदान करते हैं अथवा जो संन्यास धर्म ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न करते हैं, वे तीनों ही (महा) पतित कहे गये हैं॥ ३॥

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी कुष्ठी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको नास्तिको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः। संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः॥ ४॥

नपुंसक, पतित, अङ्गहीन, स्त्रैण (नारी स्वभाव वाला), बधिर, बालक, वाचाल, पाखण्डी, चक्री (चक्र चिह्न से अंकित अपराधी या कुचक्र रचने वाला), कुष्ठी, वैखानस एवं ब्राह्मण पद से भ्रष्ट, वेतनभोगी अध्यापक, अजितेन्द्रिय, अग्निहोत्र से रहित, नास्तिक विरक्त होते हुए भी संन्यास-दीक्षा के उपयुक्त नहीं होते। यदि कहीं वे संन्यासी हो भी जाएँ, तब भी वे महावाक्य के उपदेश में पूर्ण सक्षम अधिकारी नहीं होते॥ ४॥

आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः। क्षयीतथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति॥ ५॥

पतित की सन्तान, निकृष्ट नख से युक्त, मैले-दुर्गन्धयुक्त दाँत वाले, क्षयरोग ग्रस्त, विकलांग आदि संन्यास-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं होते॥ ५॥

संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा। व्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत्॥ ६॥

जिन्हें अकस्मात् वैराग्य हो गया हो, महापातकी, व्रात्य (संस्कारहीन) एवं लोक में निंदित व्यक्तियों को संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए॥ ६॥

व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम्। सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत्। एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम्॥ ७॥

जो (मनुष्य) व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम और स्वाध्याय-रहित हैं, सत्य एवं शुचिता से विहीन हैं, उन्हें संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इस तरह के लोग चाहें तो 'आतुर संन्यासी' हो सकते हैं; किन्तु ऐसे लोग संन्यास के नियमानुसार अधिकारी नहीं हो सकते॥ ७॥

ॐ भूः स्वाहेति शिखामुत्पाट्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्। यशो बलं ज्ञानं वैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्त्वा ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं च विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत्॥ ८॥

'ॐ भूः स्वाहा' मन्त्र पढ़कर शिखा (चोटी) को दूर कर दे अर्थात् काट दे; किन्तु यज्ञोपवीत को रहने दे। 'हे यज्ञ! (आप हमें) बल, ज्ञान, वैराग्य एवं मेधा को प्रदान करें, इस प्रकार कहकर यज्ञोपवीत को छिन्न-भिन्न कर दे। 'ॐ भूः स्वाहा' मंत्र पढ़कर वस्त्र एवं कटि-सूत्र को जलाशय में विसर्जित करके 'संन्यस्तं मया' (मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया), इस मंत्र का उच्चारण तीन बार करना चाहिए॥ ८॥

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः। एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति॥९॥

संन्यासी एवं द्विज को देखकर भास्कर अपने स्थल से चलायमान होने लगता है कि कहीं यह हमारे मण्डल को भेद करके परब्रह्म में न समा जाए॥ ९॥

षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च। कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत्॥१०॥

जो ज्ञानी मनुष्य 'मैं संन्यासी हो गया' ऐसा स्वीकार वचन बोलता है, वह अपने जन्म के पूर्व की साठ पीढ़ियों तथा आगे आने वाली साठ पीढ़ियों को भवसागर से मुक्त कर देता है॥ १०॥

ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः। प्रैषाग्निर्निर्दहेत्सर्वांस्तुषाग्निरिव काञ्चनम्॥ ११॥

संन्यासी के जो पैतृक दोष हैं तथा जो स्वयं के अपने शारीरिक दोष हैं, उन सभी को वह उसी तरह से भस्म कर देता है, जिस तरह तुषाग्नि सुवर्ण की गन्दगी को जला डालती है॥ ११॥

सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत्॥ १२॥

हे सखा! आप हमारी रक्षा करें, इस प्रकार कहकर दण्ड को धारण करना चाहिए॥ १२॥

दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम्। पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम्॥ १३॥

अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम्। नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यतिः॥ १४॥

दण्ड उत्तम-श्रेष्ठ बाँस का सीधा, छाल सहित, समान (संख्या युक्त) गाँठ वाला होना चाहिए। उसका आविर्भाव श्रेष्ठ स्थान में हुआ हो, किसी भी तरह का दाग-धब्बा आदि न हो, जला हुआ भी न हो तथा कृमि-कीटक आदि के द्वारा खाया भी न गया हो पर्व ग्रन्थि-युक्त (गाँठ सहित) वह (दण्ड) लम्बाई में नासिका, शिखा (चोटी) अथवा भृकुटी तक का होना चाहिए॥ १३-१४॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते। न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः॥ १५॥

दण्ड एवं आत्मा का संयोग सदा ही श्रेयस्कर है। इस कारण संन्यासी को दण्ड के अभाव में तीन बार बाण फेंकने की दूरी से बाहर न जाना चाहिए॥ १५॥

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथासुखं विहरेत्॥ १६॥

हे सर्वसौम्य! आप जीवन के आधारभूत जल को धारण करने वाले हैं, मुझसे मन्त्रणा करते रहें— इस प्रकार से कहकर संन्यासी कमण्डलु को हाथ में ग्रहण कर योग पट्ट से सुशोभित होकर सुखानुभूतिपूर्वक यत्र-तत्र भ्रमण करे॥ १६॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥ १७॥

(संन्यासी को) सभी तरह के धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य दोनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर जिसके द्वारा इस प्रकार सत्य-असत्य का परित्याग किया जाता है, उसका भी त्याग कर देना चाहिए॥ १७॥

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी। कर्मसंन्यासीति चातुर्विध्यमुपागतः॥ १८॥

संन्यासी के चार भेद बतलाये गये हैं- (१) वैराग्य संन्यासी (२) ज्ञान संन्यासी (३) ज्ञान-वैराग्य संन्यासी (४) कर्म संन्यासी॥१८॥

तद्यथेति। दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य। प्राक्पुण्यकर्मविशेषात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी॥

दृष्ट एवं आनुश्रविक विषयों के प्रति तृष्णारहित होकर तथा पूर्व-जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होने के कारण जिस मनुष्य ने संन्यास-धर्म ग्रहण किया है, वह 'वैराग्य संन्यासी' है॥ १९॥

[सांख्य-योग की मान्यतानुसार 'दृष्ट' विषय वे हैं, जो इस लोक में 'दृष्टिगोचर' होते हैं, जैसे-रूप, रस, गन्ध आदि, धन-सम्पत्ति, स्त्री, राज-ऐश्वर्य इत्यादि। 'आनुश्रविक' विषय वे हैं, जो वेद और शास्त्रों द्वारा सुने गए हैं, ये भी

दो प्रकार के होते हैं-(क) देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलय का आनन्द (ख) दिव्य गन्ध-रस आदि, अणिमा-गरिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ। वैराग्य संन्यासी उक्त दोनों प्रकार के विषयों से विरक्त होता है।]

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी॥ २०॥

शास्त्रों का ज्ञान पाकर, पाप-पुण्य और सांसारिक अनुभवों को सुनकर, प्रपञ्च से परे (उपराम) होकर, शरीर वासना (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा), शास्त्र वासना (शास्त्रों पर अत्यधिक निर्भर करना), लोक वासना (लौकिक व्यवहारों की प्रमुखता) का परित्याग करके, समस्त प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियों को वमन किये हुए अन्न की भाँति मान करके, साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होकर जो संन्यास धर्म को स्वीकार करता है, 'उसे ज्ञान संन्यासी' कहा गया है॥ २०॥

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी॥ २१॥

क्रमानुसार सभी का अभ्यास करके, सभी अनुभव लेकर, ज्ञान एवं वैराग्य के तत्त्व को अच्छी तरह से जान करके, देह मात्र अवशिष्ट मानकर जो संन्यास-धर्म को ग्रहण करता है, 'वह ज्ञान वैराग्य संन्यासी' कहलाता है॥ २१॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी॥ २२॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ- इन तीनों आश्रमों का पालन करने के पश्चात् वैराग्य (की दृढ़ स्थिति) न होने पर भी नियमानुसार संन्यास ग्रहण करना चाहिए, यह लक्षण 'कर्म-संन्यासी' के कहे गये हैं॥ २२॥

स संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंस। परमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति॥ २३॥

इस संन्यास के छः भेद हैं- कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत॥ २३॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमात्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः॥ २४॥

कुटीचक संन्यासी शिखा (चोटी) एवं यज्ञोपवीत को अपने शरीर में धारण किये रहता है। इसके अतिरिक्त वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन (लँगोटी), चादर, कंथा (कथरी) को ग्रहण करने वाला, माता-पिता तथा गुरु की आराधना करने वाला; बटलोई, कुदाली और छीका मात्र अपने पास रखने वाला तथा एक ही जगह पर भोजन करने वाला, ऊपर की ओर श्वेत त्रिपुण्ड्र मस्तक में धारण करने वाला और त्रिदण्ड भी धारण करने वाला होता है॥ २४॥

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी। कुटीचकवत्सर्वसमो इ मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी॥२५

बहूदक संन्यासी शिखा आदि, कंथा (कथरी) त्रिपुण्ड्र को धारण करने वाला तथा सभी तरह से कुटीचक की भाँति मधुकरी (भिक्षा) की वृत्ति वाला होता है, वह केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करता है॥ २५॥

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी। असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी॥२६

'हंस' नामक संन्यासी जटाधारी (लम्बे केशों वाला,) त्रिपुण्ड्र एवं ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण करने वाला, अनजान स्थान पर माँगकर भोजन करने वाला तथा कौपीन (लँगोटी) मात्र धारण करने वाला होता है॥ २६

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एककौपीनधारी। शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी।॥ २७॥

'परमहंस' संन्यासी शिखा-यज्ञोपवीत से विहीन पाँच घरों से हाथ रूपी पात्र में भिक्षा प्राप्त करने वाला, एक लँगोटी, एक चादर तथा एक बाँस का दण्ड अपने पास में रखने वाला होता है अथवा शरीर पर भस्म धारण कर एक चादर ही अपने पास रखता है और सभी कुछ का परित्याग कर देता है॥ २७॥

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी अन्नाहारी । चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८॥

'तुरीयातीत' संन्यासी सब कुछ त्याग देने वाला, गोमुख वृत्ति वाला, तीन गृहों से फल अथवा अन्न की भिक्षा लेने वाला, अपना शरीर नग्न रखने वाला अर्थात् बिना वस्त्रादि के शरीर को रखने वाला होता है। वह अपने शरीर को मरे हुए की भाँति जान करके किसी तरह जीवन निर्वाह करता है॥ २८॥

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपा-नुसंधानपरः॥ २९॥ जगत्तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम्। यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः। कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः॥ ३०॥

'अवधूत' नामक संन्यासी किसी भी तरह का नियम नहीं मानता। पतित और निन्दित के अतिरिक्त समस्त जातियों में अजगर वृत्ति से आहार प्राप्त करने वाला होता है। वह अपने स्वरूप की खोज में ही सतत लगा रहता है। यह जो वृक्ष, घास-पात, पर्वत आदि सम्पूर्ण विश्व है, वह मेरे से अलग है। जो कुछ बाह्य जगत् में दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अत्यन्त जड़ है। मैं किस तरह उसमें स्थित रह सकता हूँ; क्योंकि मैं विराट् हूँ, काल के द्वारा कल्पित एवं जल्दी ही विलय होने वाला भी मैं नहीं हूँ॥ २९-३०॥

जडया कर्णशष्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया। शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः॥३१॥

मैं (संन्यासी) वह जड़ शब्द रूप नहीं हूँ; जो कि क्षण-मात्र ही ठहरता है। शून्य आकृति एवं स्वरूप से युक्त अचेतन भी मैं नहीं हूँ॥ ३१॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा। चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः॥३२

इस प्रकार क्षण भर में नष्ट होने वाली एवं बनने-बिगड़ने वाली त्वचा भी मुझसे अलग है। मैं वह जड़ (अचेतन) स्पर्श नहीं हूँ, जो कि चैतन्यता के प्रभाव से आत्मानुभूति प्राप्त करता है॥ ३२॥

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया। स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः॥३३॥

चंचलता से युक्त मन एवं मन से युक्त जिह्वा द्वारा द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन शक्ति भी मैं नहीं हूँ॥ ३३

दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः। केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः॥ ३४॥

इसी तरह से दृश्य एवं दर्शन के विलीन हो जाने से विनष्ट हो जाने वाला अचेतन जड़ अनुभव भी मैं नहीं हूँ, मैं तो केवल द्रष्टा मात्र हूँ॥ ३४॥

नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः। पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः॥ ३५॥

गन्ध भी जड़ पदार्थ से युक्त तथा घ्राणेन्द्रिय के द्वारा परिकल्पित है, ऐसी तुच्छ जड़-गन्ध भी मैं नहीं हूँ॥

निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः। शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥ ३६॥

मैं (संन्यासी) पञ्च इन्द्रियों के भ्रम से विहीन, मनन रहित. शान्त स्वरूप से युक्त तथा मलिनता रहित शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ। ॥ ३६॥

चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः। सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलोऽहं निरञ्जनः। निर्विकल्पचिदाभास एक आत्मास्मि सर्वगः॥ ३७॥

मैं (संन्यासी) चैतन्य से भी परे चिन्मात्र प्रकाश से युक्त हूँ। मैं बाह्य एवं अन्तः में संव्याप्त रहने वाला निष्कल (कलारहित), निरञ्जन, निर्विकल्प, चिदाभास एवं सर्वत्र व्याप्त रहने वाला आत्मतत्त्व हूँ॥ ३७॥

मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः। सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा॥ ३८॥

मुझ एक चैतन्य स्वरूप के द्वारा ही घट-पट आदि से लेकर सूर्य पर्यन्त सभी दीपक के सदृश तेजवान् विनिर्मित किये जाते हैं॥ ३८॥

मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियवृत्तयः। तेजसान्तः प्रकाशेन यथाग्निकणपङ्क्तयः॥ ३९॥

ये सभी इन्द्रियों की विचित्र एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ (पंक्तियाँ) मेरे अन्तःकरण के प्रकाश से ही प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे-अग्नि से चिनगारियाँ निःसृत होती हैं॥ ३९॥

अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी। शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु॥ ४०॥

यह पवित्र चिन्मय दृष्टि अन्तरहित, शाश्वत, आनन्द का उपभोग करने वाली एवं अत्यन्त शान्ति प्रदान करने वाली है। यह अन्य समस्त दृष्टियों पर विजय पाने वाली है॥ ४०॥

सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने। प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥ ४१॥

यह मुक्तात्मा सभी तरह की भावनाओं में स्थायी रूप से स्थित रहता है, यह चैत्य अवस्था से भी मुक्त चिदात्मा है। इस प्रत्येक चैतन्य रूप वाले आत्मा को नमस्कार है॥ ४१॥

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया। चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया॥ कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः। चितश्चैत्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते॥ ४३॥

कला एवं कल्पनाविहीन चित्शक्ति से ही इन विचित्र, स्वच्छ तथा समभाव सम्पन्न शक्तियों का प्राकट्य हुआ है। यह चित् शक्ति तीनों कालों में सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न, दृश्यजगत् के बन्धनों से मुक्त है॥४२-४३॥

सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम्। नैरात्मसिद्धात्मदशामुपयातैव शिष्यते॥ ४४॥ ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः। सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी॥४५॥ इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः। धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥ ४६॥

यह वाणी से न जाने जा सकने वाली है। शाश्वत असत्ता तथा निरति आत्मा के सदृश वही शेष रहती है। जो चित्शक्ति इच्छा एवं अनिच्छा में स्थित है, वह मलों से आच्छादित है तथा पाश से आबद्ध पक्षिणी की भाँति उड़ने में असमर्थ होती है। इच्छा एवं द्वेष से प्रादुर्भूत द्वन्द्वभाव के कारण ये मोहवश पृथिवीरूपी गड्ढे में पतित हुए कृमि-कीटकों के ही समान है॥ ४४-४६॥

आत्मनेऽस्तु नमो मह्यमविच्छिन्नचिदात्मने। परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम्॥४७

मुझ अविच्छिन्न चिद्रूप आत्मा को नमन-वंदन है। मैं सतत, परम प्रत्यक्ष, बुद्ध एवं उदित हूँ॥४७॥

उद्धृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते। तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं चिदात्मने॥

मैं उद्धृत हूँ, विकल्पों से परे हूँ, मैं जो हूँ, मैं ही सो हूँ, मुझे नमस्कार है। तुम और मैं अन्तरहित हैं। मैं एवं तुम दोनों ही चिदात्मा हैं। दोनों को नमस्कार है॥ ४८॥

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च। तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति। शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ४९॥

मुझ परम ईश्वर तथा शिव स्वरूप को नमस्कार है। यह (आत्मा) बैठता हुआ आसीन नहीं होता, जाते हुए भी नहीं जाता, शान्त रहते हुए भी व्यवहार में लगा रहता है, कार्य करता हुआ भी कभी आसक्त नहीं होता॥

सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञेयश्चाप्तबन्धुवत्। शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥५०॥

यह (आत्मा) सुलभ है, आप्त बन्धु के सदृश है एवं शरीर रूपी कमल पुष्प में भ्रमर की भाँति है॥५०॥

न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने। यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत्॥५१॥

न तो मुझ (आत्मा) को भोग करते रहने की इच्छा है और न ही भोग को त्यागने की, जो आता हो, वह आ जाए एवं जो जाना चाहता हो, वह चला जाये॥ ५१॥

मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते। भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवलः॥५२॥

मन से मन के अलग हो जाने पर, अहंकार के विसर्जित हो जाने पर तथा भाव के विनष्ट हो जाने पर मैं (आत्मा) केवल स्वस्थ रूप में स्थित रहता हूँ॥ ५२॥

निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कमनीहितम्। केवलास्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः॥५३॥

(मैं) भाव शून्य, अहंकाररहित, मनः शून्य, चेष्टारहित, स्पन्द विहीन तथा केवल शुद्ध आत्मा स्वरूप हूँ। मेरा शत्रु कहाँ हो सकता है?॥ ५३॥

तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात्। न जाने क्व गतोड्डीय निरहंकारपक्षिणी॥५४॥

मेरे शरीर रूपी पिंजड़े में निवास करने वाली निरहंकारिता रूपी पक्षिणी, तृष्णा रूपी रज्जु (रस्सी) को काटकर न जाने कहाँ उड़कर चली गई॥ ५४॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते॥५५॥

जिसमें अकर्तापन का भाव विद्यमान है, जिसकी बुद्धि में आसक्ति नहीं है, जो समस्त भूत-प्राणियों को समान भाव से देखता है, निश्चय ही उसी का जीवन शोभनीय है॥ ५५॥

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया। साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते॥५६॥

जिसकी अन्तःकरण अत्यन्त शीतल है, जिसकी बुद्धि राग-द्वेष आदि से मुक्त हो चुकी है तथा जो साक्षी भाव से इस जगत् का अवलोकन करता है, ऐसे उस श्रेष्ठ संन्यासी का जीवन अत्यधिक शोभनीय है॥

येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता। चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते॥५७॥

जिसको पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त हो गया है, जिसने अच्छाई एवं बुराई के ध्यान का परित्याग कर दिया है तथा जिस (संन्यासी) ने चित्त को चित्त में ही संयुक्त कर दिया है, उसका ही जीवन अत्यन्त सुन्दर है॥५७॥

ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम्। स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनामाभिधीयते॥५८॥

ग्राह्य एवं ग्राहक का सम्बन्ध विनष्ट हो जाने के पश्चात् स्थिर शान्ति का उदय होता है, इस कारण शान्ति को ही मोक्ष कहा जाता है॥ ५८॥

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता। हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना॥५९॥

जिस प्रकार से भुना हुआ बीज अंकुर प्रकट करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार जो जीवन से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उन सभी के हृदय की वासना-आसक्ति प्रायः पवित्रता से युक्त हो जाती है॥ ५९॥

पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी। आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति॥६०॥

वह पतित-पावन, परम उदार, शुद्ध सत्य को आत्मसात् करने वाले, आत्मध्यान सम्पन्न एवं अपने-अपने नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं॥ ६०॥

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते। निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥

जब चेतन तत्त्व-'चित्त-मुक्त' हो जाता है, तभी यह आत्मरूप चैतन्य तत्त्व कहा जाता है। जब स्वभाव-मन (इच्छा) रहित हो जाता है, तब उसमें किसी भी तरह के दोष प्रकट नहीं होते॥ ६१ ॥

सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मिकी। सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्नतु यत्र मनः क्षतम्॥६२॥

वही सत्यता है, वही शिव स्वरूप है, उसमें ही परमात्मा अवस्थित है। वही सर्वज्ञता है, वही सम्पूर्ण तृप्ति है, न कि जहाँ मन क्षतिग्रस्त (मेरे-तेरे में बँटा हुआ) हो। ॥ ६२ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । निरस्तमननानन्दःद संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥

यद्यपि मैं प्रलाप करता, परित्याग करता, स्वीकार करता, चक्षुओं को खोलता एवं बन्द करता रहता हूँ, फिर भी मैं मननशील, आनन्दस्वरूप, संवित् (ज्ञानरूप) आत्मा ही हूँ॥ ६३ ॥

मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन्परम्। आशापाशानलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम्॥ ६४ ॥

संवेद्य रूपी मन को दूर करके तथा मन को निर्मूल अर्थात् बिना इच्छा किये हुए आशा रूपी फन्दे को काट करके मैं केवल संवित् रूप ही हूँ॥ ६४ ॥

अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः। नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम्॥ ६५ ॥

शुभ एवं अशुभ संकल्पों से मुक्त तथा सम्यक् रूप से शान्त होकर मैं आरोग्य अवस्था में स्थित हूँ। इष्ट तथा अनिष्ट के भाव का परित्याग करके मैं केवल संवित् रूप ही हो गया हूँ॥ ६५ ॥

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरोऽस्म्यहम्।
निर्मलायां निराशायां स्वसंवित्तौ स्थितोऽस्म्यहम्॥ ६६ ॥

राग एवं द्वेष के भावों का परित्याग करके, विभागरहित, नश्वर जगत् में प्रतिष्ठित अत्यधिक विशेष रूप से दृढ़ आत्मारूपी साम्य के आश्रय में मैं पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हूँ। मैं अपनी निर्मल एवं आशारहित संवित् (आत्मिक दशा) में प्रतिष्ठित हूँ। ॥ ६६ ॥

ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः । कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ६७ ॥

चेष्टा और चेष्टारहित तथा हेय एवं उपादेय की भावना से मैंने मुक्ति को प्राप्त कर लिया है। मैं आत्मिक संतोष को कब प्राप्त करूँगा? स्वयं प्रकाश स्वरूप पद में कब प्रतिष्ठित होऊँगा॥ ६७ ॥

कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे । समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना॥ ६८ ॥

पर्वत-शृंखला की गुफा में आसन ग्रहण करके शांत भाव से कब चिन्तन-मनन करूँगा। मैं निर्विकल्प समाधि लगाकर शिला के समान कब चेष्टारहित हो जाऊँगा?॥ ६८ ॥

निरंशध्यानविश्रान्तिमूकस्य मम मस्तके। कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ॥ ६९ ॥

मैं उस अंश-विहीन अविनाशी ब्रह्म के चिन्तन में इस तरह से कब निश्चल हो जाऊँगा कि कोयल पक्षी हमारे मस्तक पर घोंसला विनिर्मित कर लें॥ ६९ ॥

संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् । विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम्॥ ७० ॥

मैं संकल्प रूपी वृक्षों तथा तृष्णा रूपी लताओं को काटकर मन रूपी विशाल वन को पारकर विस्तृत भूमि (मैदान) में पहुँचकर आनन्द पूर्वक विचरण करता हूँ ॥ ७० ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम्। निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः॥ ७१॥ स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता। आनन्दितोपशमता सदा प्रमुदितोदिता। पूर्णतोदारता सत्या कान्तिसत्ता सदैकता॥ ७२॥ इत्येवं चिन्तयन्भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा। निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह॥ ७३॥

मैं उस अविनाशी पद का स्वरूप हूँ, केवल हूँ, जय रूप हूँ, निर्वाण, निरीह (अहंरहित), अंशरहित, निरीप्सित (इच्छारहित) स्वच्छ, वीर्यवान्, सत्ताशाली, सत्य एवं ज्ञान स्वरूप हो गया हूँ। आनन्द, उपशम, प्रसन्नता, पूर्णता, उदारता, सत्य, द्वैतरहित आदि की भावना करते हुए संन्यासी को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। निर्विकल्प स्वरूप का पूर्ण जानकार होकर, निर्विकल्प बन करके ही रहना चाहिए॥ ७१-७३॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः। न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणम्। न यतेर्देवपूजनोत्सवदर्शनम्। तस्मान्न संन्यासिन एष लोकः। आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ। बहूदकस्य स्वर्गलोकः। हंसस्य तपोलोकः। परमहंसस्य सत्यलोकः। तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत्॥ ७४॥

आतुर संन्यासी यदि संन्यास लेने की इच्छा से जीवित रहे, तभी उसे क्रम-संन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शूद्र, स्त्री, पद-भ्रष्ट तथा रजस्वला से कभी भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए। किसी भी देवता के पूजनोत्सव को देखने के लिए संन्यासी को कभी नहीं जाना चाहिए। वे लौकिक कार्य संन्यासी के लिए नहीं हैं। आतुर और कुटीचक का भूः एवं भुवः लोक होता है, बहूदक का स्वर्गलोक होता है, हंस का तपोलोक एवं परमहंस का स्थान सत्यलोक होता है। तुरीयातीत तथा अवधूत श्रेणी के लोग भ्रमर-कीट के सदृश अपने स्वरूप का अन्वेषण करने हुए कैवल्य (केवल आत्मतत्त्व) रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ ७४॥

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिः। न सांख्यशास्त्राभ्यासः। न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति। अस्ति चेच्छवालंकारवत्कर्माचारविद्यादूरः। न परिव्राणनामसंकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत्। न देवताप्रसादग्रहणम्। न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात्॥ ७५॥

संन्यासी के लिए अपने स्वरूप के अनुसंधान के अलावा अन्य विभिन्न शास्त्रों का निरन्तर अभ्यास करना, ऊँट के ऊपर केशर लादने के सदृश बेकार है। संन्यासी के लिए योग की प्रवृत्ति अथवा सांख्य शास्त्र का मंत्र-तंत्र का व्यापार आदि तथा किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति वर्जनीय है। यदि कोई संन्यासी ऐसा करता है, तो वह मृतक शव के ऊपर आभूषणों के समान है तथा संन्यासी के कर्म एवं विद्या के अनुकूल नहीं है। संन्यासी को किसी भी देवता के नाम तथा कीर्तन आदि में भाग नहीं लेना चाहिए। कारण यह है कि कोई भी कार्य करने के बाद उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिए एरण्ड (रेड़ी) तेल के फेन के सदृश सभी का परित्याग कर देना चाहिए। संन्यासी को न तो किसी देवी-देवता का प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और न ही किसी बाह्य देवता आदि की पूजा ही करनी चाहिए॥ ७५॥

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशीभूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत्। माधुकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा कालं नयेत्। आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः॥ ७६॥

संन्यासी को चाहिए कि वह अपने अतिरिक्त सभी का त्याग करके अपने हाथ रूपी पात्र से मधुकरी

वृत्ति पर जीवनयापन करे। जिससे कि उसके शरीर में चर्बी की वृद्धि न हो तथा उसको सतत विचरण करते रहना चाहिए। वह हाथ रूपी पात्र के द्वारा या मुख रूपी पात्र के द्वारा भिक्षा ग्रहण करते हुए जीवन व्यतीत करे॥

आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च। वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥ ७७॥

संन्यासी को पेट के चार भागों में से दो भाग में आहार (भोजन) ग्रहण करना चाहिए। एक भाग में जल तथा एक भाग वायु-संचरण के लिए रिक्त रखना चाहिए॥ ७७॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित्। निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृहं यत्नतो व्रजेत्॥ ७८॥

(संन्यासी) सतत भिक्षावृत्ति पर ही आश्रित रहे। हमेशा एक ही घर से भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। जो शान्त-भाव से उसकी राह देखते हों, उन्हीं के यहाँ प्रयासपूर्वक भोजन के लिए जाना चाहिए॥ ७८॥

पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम्। गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निष्क्रान्तो न पुनर्व्रजेत्॥७९

संन्यासी को श्रेष्ठ आचरण वाले पाँच या सात घरों में भिक्षा के लिए जाना चाहिए तथा गौ के दोहन में जितना समय लगता है, उतनी ही देर तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। वह जहाँ से एक बार भिक्षा ग्रहण कर ले, वहाँ पुनः नहीं जाना चाहिए॥ ७९॥

नक्ताद्वरश्चोपवास उपवासादयाचितः। अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्मात्भैक्षेण वर्तयेत्॥ ८०॥

रात्रि के आहार (भोजन) से उपवास अधिक श्रेष्ठ है, उपवास की अपेक्षा अयाचित अर्थात् बिना माँगी हुई भिक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अयाचित भिक्षा की अपेक्षा माँगकर खाना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अतः यथा सम्भव भिक्षा का ही आश्रय लेना चाहिए॥ ८०॥

नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेद्गृहान्। नातिक्रामेद्गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते॥ ८१॥

भिक्षा काल में सव्य-अपसव्य (दायें-बायें) मार्ग से घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए। जिस घर में किसी तरह का दोष न हो, उसे भूल या मोह से भी नहीं छोड़ा जाना चाहिए (वहाँ भिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए)॥

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम्। व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते॥८२

यदि श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ श्रद्धा-भक्ति से विहीन हो, तो उसके यहाँ भिक्षा नहीं स्वीकार करनी चाहिए तथा जो संस्कार विहीन (व्रात्य) भी यदि श्रद्धा-भक्ति रखता हो, तो उसके यहाँ भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥

माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्॥ ८३॥

(संन्यासियों की) भिक्षा पाँच तरह की कही गयी है- असंकल्पित माधूकर, प्राक्प्रणीत, अयाचित, तात्कालिक तथा उपपन्न॥ ८३॥

मनः संकल्परहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा। मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम्॥ ८४॥

मन में किसी भी तरह का संकल्प किये बिना किन्हीं तीन, पाँच अथवा सात घरों में से मधुमक्खी के सदृश थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करना असंकल्पित माधूकर है॥ ८४॥

प्रातःकाले च पूर्वेद्युर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः। तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि वा॥८५

प्रातःकाल अथवा पिछले दिन कोई भी मनुष्य भक्तिपूर्वक भिक्षा के लिए निवेदन करे, तो उसके यहाँ जो भिक्षा ग्रहण की जाती है, उसे प्राक्प्रणीत भिक्षा कहते हैं॥ ८५॥

भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम्। अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः॥ ८६॥

भिक्षा के लिए विचरण करते समय संन्यासी को यदि कोई (व्यक्ति) निमंत्रित करे, तो उस (व्यक्ति) के यहाँ (अयाचित) भिक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए॥ ८६॥

उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत्। तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिः सदा॥ सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति। उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः॥ ८८॥

भिक्षा के लिए निकलते समय (संन्यासी को) यदि कोई ब्राह्मण उसके समीप में आकर भोजन करने को कहे, तो उस 'तात्कालिक' भिक्षा को सदा ही स्वीकार कर सकता है। यदि कोई ब्राह्मण मठ (आश्रम) में सिद्ध (तैयार) करके भोजन ले आये, तो उसे साधु 'उपपन्न' भिक्षा कहते हैं॥ ८७-८८॥

चरेन्माधुकरं भैक्षं यतिर्म्लेच्छकुलादपि। एकान्नं नतु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि। याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितम्॥ ८९॥

यदि संन्यासी को भिक्षा को विशेष आवश्यकता पड़ जाये, तो उसे म्लेच्छ के यहाँ से भी भिक्षा माँग लेनी चाहिए; परन्तु कभी भी एक ही स्थान से आहार स्वीकार नहीं करना चाहिए। चाहे वह बृहस्पति के सदृश पूज्य का ही घर क्यों न हो? संन्यासी को सर्वदा 'याचित' अथवा 'अयाचित' भिक्षा के द्वारा निर्वाह करना सर्वथा उचित है॥ ८९॥

न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा। नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी॥ ९०॥

वायु हर किसी को स्पर्श करता है, अग्नि सभी को जलाता है, जल में सभी तरह के मल-मूत्रादि डाल दिये जाते हैं, फिर भी ये सभी इन दोषों के स्पर्श से प्रदूषित नहीं होते। इसी तरह संन्यासी भी किन्हीं अन्य दोषों से दूषित नहीं होता॥ ९०॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत्॥ ९१॥

अग्नि-धूम्र एवं मूसल के शब्द से रहित, जिस जगह पर अग्नि बुझकर समाप्त हो चुकी हो तथा उपस्थित सभी लोग भोजन कर चुके हों, वहाँ पर ही योगी को मध्याह्न काल के पश्चात् भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥९१॥

अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम्। वर्जयित्वा चरेद्भैक्षं सर्ववर्णेषु चापदि॥ ९२॥

आपत्ति कालीन स्थिति में संन्यासी निन्दनीय परिवार, पतित एवं पाखण्डी-पदच्युत का परित्याग करके समस्त वर्ण-जातियों के यहाँ से भिक्षा प्राप्त कर सकता है॥ ९२॥

**घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्सुरया समम्। तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसंमितम्॥
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः॥ ९३-९४॥**

संन्यासी के लिए घृत कुत्ते के मूत्र के सदृश है, शहद मदिरा पान के समान है, तेल शूकर के मूत्र के समतुल्य है, लहसुन युक्त पदार्थ एवं उड़द, अपूप (मालपुआ) आदि के पदार्थ गोमांस के सदृश हैं, दूध मूत्र के सदृश है, अतः संन्यासी को सर्वदा घृत आदि से विहीन भिक्षा ही प्रयत्नपूर्वक स्वीकार करनी चाहिए॥

घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन। पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं स्थितिं नयेत्। पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत्॥ ९५॥ आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः। तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ ९६॥

घृत एवं सूपादि (चटनी, मिर्च-मसाला आदि) से युक्त पकवान को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। संन्यासी के लिए उसका हाथ भोजन ग्रहण करने का पात्र है। उस हाथ रूपी पात्र में सर्वदा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को दिन में एक ही बार भोजन ग्रहण करना चाहिए। दो बार भोजन कदापि न करे। जो मुनि गौ की भाँति केवल मुख से आहार ग्रहण करता है, (संचित नहीं करता) वह सभी में समभाव प्राप्त करके अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ९५-९६॥

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देवतार्चनम्। प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्॥ ९७॥

घृत (आज्य) को रुधिर के समान तथा इकट्ठा किये हुए अन्न को मांस की भाँति त्याग देना चाहिए। गन्ध एवं लेपन को गन्दी वस्तु के समान, नमक को अन्त्यज के समान, वस्त्र को जूँठे पात्र के सदृश, तेल मालिश को स्त्री प्रसंग की भाँति, मित्रों की हँसी-मजाक को मूत्र के समान, घमण्ड को गौ-मांस के समान, परिचित-मित्रों के घर की भिक्षा को चण्डाल के सदृश, स्त्री को सर्पिणी के समान, सुवर्ण (सोने) को कालकूट के समान, सभा आदि को श्मशानवत्, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान, एक ही घर के भोजन को मृतक-पिण्ड के समान जानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए। देवताओं का पूजन-अर्चन कभी न करे। सांसारिक प्रपञ्चों को त्यागकर उसे जीवन्मुक्त बनना चाहिए॥ ९७॥

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः। दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट्॥ ९८॥

आसन, पात्रलोप (बर्तन की चाह), सञ्चय, शिष्य बनाना, दिन में शयन करना तथा बेकार की बातें करना इत्यादि ये छः प्रकार के कार्य संन्यासी को बन्धन में डालने वाले हैं॥ ९८॥

वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम्। उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह संग्रहः॥ ९९॥ यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते। गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः॥ १००॥

वर्षा (पानी) के अलावा जो स्थान है, उसे आसन कहा जाता है। कहे हुए पात्रों के संग्रह में से एक ही तुम्बी आदि पात्र को ग्रहण करना चाहिए। संन्यासी के व्यवहार के लिए जो तुम्बी आदि पात्र कहे गये हैं, उनके खो जाने पर दूसरे के पात्रों को ले लेना ही पात्र-लोप है। अपना दण्ड खो जाने पर दूसरे का दण्ड ग्रहण कर लेना ही परिग्रह है॥ ९९-१००॥

कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः। शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः॥ १०१॥

कालान्तर (भविष्य) में भोगार्थ के लिए संग्रह करके रखना ही सञ्चय कहा जाता है। शुश्रूषा लाभ, पूजा एवं यश के लिए चेष्टा करना भी परिग्रह है॥ १०१॥

शिष्याणां नतु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः। विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते॥१०२॥

(जो शिष्य) आत्मकल्याण के लिए करुणा से युक्त होकर आये, उसे ही शिष्य बनाये। उसके अतिरिक्त अन्य किसी को शिष्य बनाना ही शिष्य संग्रह कहा जाता है। संन्यास में विद्या को दिन और अविद्या को रात्रि जाना जाता है॥ १०२॥

विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते। आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्तां विना तथा। अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते॥ १०३॥

इस कारण से विद्या के अभ्यास में प्रमाद बरतना दिन में शयन करना कहा जाता है। आध्यात्मिक कथा को छोड़कर भिक्षा की बात, अनुग्रह-परिप्रश्न (का उत्तर देने) के अतिरिक्त और जो बात की जाये, वह बेकार का बोला जाना समझा जाता है॥ १०३॥

एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम्। ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रसायनम्॥ १०४ ॥ कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम्। क्रिया कर्मविवादश्च गुरुवाक्य-विलङ्घनम्॥ १०५ ॥ संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम्। शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम्॥ १०६ ॥ विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम्। त्यक्तं संन्याससयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥ १०७॥ गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम्। प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥ १०८॥

एकान्न, घमण्ड और मत्सरता, गन्ध, पुष्प, आभूषण, पान खाना, तेल लगाना, क्रीड़ा, भोग की आकांक्षा, रसायन, खुशामद करना, निन्दा, कुशल, प्रश्न, खरीदने-बेचने की बातें, क्रियाकर्म, वाद-विवाद, गुरु के वाक्य का उल्लंघन, सन्धि विग्रह की बातें, पलङ्ग, सफेद वस्त्र, वीर्य त्याग, दिन में शयन करना, भिक्षा पात्र, स्वर्ण, विष, शस्त्र, जीव, हिंसा, क्रोध तथा मैथुन-इन सभी का संन्यासी पूर्णरूप से परित्याग कर दे। जो गृहस्थियों के धर्म, व्रत, गोत्रादि के आचरण, पिता तथा माता के कुल की सम्पत्ति आदि निषिद्ध कहे गये हैं, इन सभी का सेवन करने से नीच गति की प्राप्ति होती है॥ १०४-१०८॥

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वांस्त्रीषु न विश्वसेत्। सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम्॥१०९ स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम्। षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥ ११०॥

वृद्धावस्था को प्राप्त विद्वान् संन्यासी को वृद्धा स्त्री पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए; क्योंकि पुरानी गुदड़ी (कथरी) में पुराना वस्त्र ही लगाया जाता है। स्थावर (जड़), जंगम, बीज, सुवर्ण, विष, आयुध आदि इन छः वस्तुओं को संन्यासी मूत्र एवं विष्ठा के समतुल्य त्याज्य समझ करके कभी ग्रहण न करे॥ १०९-११०

नैवाददीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि। पक्वमापत्सु गृह्णीयाद्यावदन्नं न लभ्यते॥ १११॥

आपत्ति कालीन समय के अतिरिक्त रास्ते के लिए संन्यासी को अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए। कुयोग वश यदि अन्न न प्राप्त हो, तो पक्वान्न (पका हुआ अन्न) प्राप्त कर लेना चाहिए॥ १११॥

नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथे वसेत्। परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथंचन॥ ११२॥

स्वस्थ तथा युवावस्था को प्राप्त हुए संन्यासी को कभी भी किसी के घर में नहीं रुकना चाहिए। दूसरे किसी की कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए और न ही किसी को अपनी वस्तु देनी चाहिए॥ ११२॥

दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेत्। पक्वं वा यदि वाऽपक्वं याचमानो व्रजेदधः॥ ११३॥

संन्यासी को दूसरे अन्य भूत-प्राणियों के कल्याण हेतु दीनता (दया)का आचरण करना चाहिए। पका हुआ या फिर बिना पका हुआ अन्न माँगने से संन्यासी निम्न गति को प्राप्त करता है॥ ११३॥

अन्नपानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही। आविकं वानाविकं वा तथा पट्टपटानपि॥ ११४॥ प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतत्येव न संशयः। अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ११५॥

खाने-पीने वाले पदार्थों की सतत इच्छा रखने वाला एवं वस्त्रों में ऊनी वस्त्रों अथवा बिना ऊन से निर्मित वस्त्र, रेशमी वस्त्रादि वस्तुओं को स्वीकार करने से संन्यासी का निश्चित रूप से अधःपतन हो जाता है। उसे तो अद्वैतरूपी नौका में आसीन होकर जीवन-मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिए॥ ११४-११५॥

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डे त्वभोजनम्। मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते॥११६

यदि वाणी को दण्ड देना हो, तो (संन्यासी को) मौन रहना चाहिए, काया (शरीर) को दण्ड देना हो, तो भोजन नहीं करना चाहिए अर्थात् व्रत-उपवास रखे और यदि मन को दण्ड देने की इच्छा हो, तो फिर प्राणायाम करना चाहिए॥ ११६॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ११७॥

समस्त प्राणी कर्मों के द्वारा बन्धन में बँधते हैं और विद्या (आत्मज्ञान) के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इसी कारण ज्ञानवान् संन्यासी कर्म से सर्वदा दूर रहते हैं॥ ११७॥

रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते। भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः॥

(छोटी-छोटी) गलियों (वीथियों) में बहुत सारे प्राचीन वस्त्र प्राप्त हो जाते हैं तथा भिक्षा भी सर्वत्र प्राप्त होती रहती है। पृथिवी में चाहे जिस स्थान पर शयन करने हेतु स्थान मिल सकता है, तो फिर संन्यासी को और किस बात का दुःख है?॥ ११८॥

प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः॥ ११९॥

संन्यासी को सभी तरह के प्रपञ्च अर्थात् माया को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देना चाहिए। जो संन्यासी अपनी अन्तरात्मा में ज्ञानरूपी अग्नि को समारोपित कर लेता है, वही महान् ज्ञानी-अग्निहोत्री कहलाता है॥

प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी। ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरीभाक्तमेव च ॥ १२०॥

संन्यासियों की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है- १. मार्जारी और २. वानरी। जो संन्यासी ज्ञान का अभ्यास करते हैं, उनमें मुख्य रूप से मार्जारी प्रवृत्ति होती है और गौण रूप से वानरी प्रवृत्ति होती है॥ १२०॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥१२१

(किसी व्यक्ति के) बिना पूछे ही संन्यासी को नहीं बोलना चाहिए तथा अनीति एवं अन्यायपूर्वक प्रश्न करे, तब भी उसे नहीं बोलना चाहिए। ज्ञानवान् होकर भी संन्यासी को (जन सामान्य के समक्ष) मूढ़ के सदृश आचरण करना चाहिए॥ १२१॥

सर्वेषामेव पापानां सङ्घाते समुपस्थिते। तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत्॥ १२२॥

यद्यपि किसी कारणवश पाप-प्रसङ्ग उपस्थित हो जाए, तो बारह हजार की संख्या में तारक मंत्र का जाप करके, उस पाप को विनष्ट कर देना चाहिए॥ १२२॥

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते इत्युपनिषद्॥ १२३॥

जो संन्यासी नित्य-प्रतिदिन बारह हजार बार ॐकार रूपी प्रणव मंत्र का जप करता है, उसे बारह मास के अन्दर ही अविनाशी परब्रह्म का (अपने इष्ट का) साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी यह (रहस्यमयी संन्यास) उपनिषद् है॥ १२३॥

ॐ आप्यायन्तु .... इति शान्तिः॥

॥ इति संन्यासोपनिषत्समाप्ता॥

॥ सुबालोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल सोलह खण्ड हैं, जिसमें प्रश्नोत्तर शैली में अध्यात्मदर्शन के गूढ़ विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पहले-दूसरे खण्ड में रैक्व ऋषि के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर घोरांगिरस ने सृष्टि प्रक्रिया के शुभारम्भ तथा विराट् ब्रह्म द्वारा सभी वर्णों, प्राणों, वेदों, वृक्षों, पशुओं-प्राणियों आदि के सृजन का उल्लेख है। तीसरे खण्ड में आत्मतत्त्व का स्वरूप तथा उसको जानने का उपाय बताया गया है। चौथे खण्ड में हृदय के मध्यभाग में आत्मा की संस्थिति, जो बहत्तर हजार नाड़ी समूहों में विद्यमान बताई गई है, पंचम खण्ड में अजर-अमर आत्मा को उपासना का उल्लेख चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय) आदि के उपलक्षण के साथ किया गया है। छठवें खण्ड में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा आदि तथा आदित्य, रुद्र, वायु आदि ऋग्वेद, सामवेदादि सभी नारायण रूप हैं- ऐसा कहा गया है। सातवें खण्ड में पृथिवी, जल, वायु, तेज आदि में विद्यमान उस चेतना का उल्लेख जिसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, बुद्धि आदि जान नहीं पाते, वह भी नारायण का प्रतिरूप है। आठवें खण्ड में हृदय गुहा में विद्यमान आनन्दरूप आत्मतत्त्व का उल्लेख है। नौवें खण्ड में समस्त पदार्थ किसमें अस्त होते हैं-यह पूछे जाने पर चक्षु, श्रोत्र, नासिका आदि से होते हुए अन्ततः, तुरीय में विलीन होते हैं-यह कहा गया। दसवें खण्ड में सभी किसमें प्रतिष्ठित हैं ? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न लोकों के रूप में बताते हुए अन्त में आत्मस्वरूप परब्रह्म में प्रतिष्ठित बताया गया है। ग्यारहवें खण्ड में शरीर से आत्मा के उत्क्रमण का क्रम उल्लिखित है। बारहवें और तेरहवें खण्ड में संन्यासी-मोक्षार्थी के आहार-विहार और चिन्तन-मनन का ढंग वर्णित है। चौदहवें में एक-दूसरे के अन्न (भक्ष्य) का उल्लेख करते हुए मृत्यु को परमदेव के साथ एकाकार बताया गया है। पन्द्रहवें खण्ड में विज्ञान सब आत्मतत्त्व के शरीर के उत्क्रमण के बाद किसे दग्ध करता है, इस परम्परा का उल्लेख है-प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि के क्रम में अन्ततः मृत्यु को भी दग्ध कर देता है- यह बताते हुए कहा गया है कि उस समय न सत् रहता है, न असत् और न सदसत्। इसी को निर्वाण (मुक्ति) विद्या कहा गया है। सोलहवें खण्ड में इस उपनिषद् की महत्ता और फलश्रुति का वर्णन करते हुए बात समाप्त की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

तदाहुः किं तदासीत्तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥ १ ॥

ऋषियों की सभा में ऋषि प्रमुख रैक्व ऋषि के द्वारा सृष्टि के सन्दर्भ में प्रश्न किये जाने पर कि सृष्टि के पूर्व क्या था? घोराङ्गिरस ने कहा-सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत् और न सदसत् था॥ १॥

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी ॥२ ॥

(इसके बाद क्या-क्या उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा-सर्वप्रथम आदितत्त्व से) तम की उत्पत्ति हुई, तम से भूत आदि (अक्षर, अव्यक्त, अहंकार आदि) का आविर्भाव हुआ। भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई॥ २॥

तदण्डं समभवत्तत्संवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्ताद्भूमिमुपरिष्टादाकाशं मध्ये पुरुषो दिव्यः सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सहस्रबाहुरिति ॥ ३॥

यही (सब मिलकर) ब्रह्माण्ड रूप अण्ड हो गया। इसमें एक संवत्सर (अवधि विशेष) तक स्थित होकर पुरुष ने इसे दो भागों में विभक्त कर दिया। नीचे का भाग पृथिवी और ऊपर का भाग आकाश हुआ, इन दोनों के मध्य में सहस्र शिर वाला, सहस्र नेत्रों वाला, सहस्र पैरों और सहस्र बाँहों वाला दिव्य पुरुष (विराट् पुरुष) प्रकट हुआ॥ ३॥

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत्त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥ ४॥

उसने सर्वप्रथम प्राणियों की मृत्यु को सृजा। जिसका स्वरूप तीन नेत्रों वाले रुद्र, तीन मस्तक वाले और तीन पैरों वाले खण्डपरशु का था॥ ४॥

तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश स मानसान्सप्त पुत्रानसृजत्ते ह विराजः सप्त मानसानसृजन्ते ह प्रजापतयः॥ ५॥

अपने द्वारा रचे हुए इस रूप को देखकर वह (ब्रह्मा) भयभीत हुए, तब वे (रुद्र) ब्रह्मा में ही प्रविष्ट हो गये। तदनन्तर उन्होंने (ब्रह्मा ने) सात मानस पुत्र उत्पन्न किये, उन सात पुत्रों ने (पुनः) सात विराट् मानसपुत्रों को जन्म दिया, वे (सात पुत्र) ही प्रजापति हुए॥ ५॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात्सर्वमिदं जायते॥६॥

इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, दोनों बाँहों से क्षत्रिय, दोनों जंघाओं से वैश्य तथा दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु तथा प्राण और हृदय से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ॥६॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात्क्रोधजो रुद्रो जायते॥ १॥

(उस पूर्व वर्णित विराट् के) अपान वायु से निषाद, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व, अस्थियों से पर्वत, रोमों से ओषधि-वनस्पतियाँ और क्रोध (युक्त) ललाट से रुद्र उत्पन्न हुए॥ १॥

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युप-व्याख्यानानि च सर्वाणि च भूतानि ॥ २॥

वह विराट् पुरुष महान् भूतरूप है, उसके निःश्वास ही ऋग्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष शास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान, उपव्याख्यान और सभी प्राणी हैं॥ २॥

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। आत्मानं द्विधाऽकरोदर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिर्भूत्वा ऋषीन्यक्षराक्षसगन्धर्वान्ग्राम्यानारण्यांश्च पशूनसृज-दितरा गौरितरोऽनड्वानितरा वडवेतरोऽश्व इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वंभरीतरो विश्वंभरः॥३॥

वह (विराट्) हिरण्य (स्वर्ण) के समान ज्योतिर्मय है, जिसमें यह आत्मा (प्रत्यगात्मा) और समस्त लोक अवस्थित हैं। उसने अपने दो भाग किये, जिनमें आधे से स्त्री और आधे से पुरुष प्रकट हुआ। उसने देव

होकर देवों का सृजन किया, ऋषि होकर ऋषियों का सृजन किया। इसी प्रकार यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों को बनाया। तत्पश्चात् ग्रामों तथा अरण्यों में रहने वाले पशुओं का सृजन किया। इनमें कोई गाय, कोई बैल, कोई घोड़ी, कोई घोड़ा, कोई गधा, कोई गधी, कोई सबका पालन करने वाली और कोई सबका पालक हुआ॥ ३॥

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा संदग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ ४॥

अन्त में वह (विराट् पुरुष) वैश्वानराग्नि होकर समस्त प्राणियों को जला देता है। यह पृथिवी जल में लय हो जाती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ भूतादि (अहंकार) में, अहंकार-महत् तत्त्व में, महत् तत्त्व अव्यक्त में ,अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तमस् (अज्ञान) में लय हो जाता है और तमस् परम देव (परमेश्वर) में एकाकार हो जाता है। इसके पश्चात् न सत् रहता है, न असत् रहता है और न सत्-असत् का सम्मिलित रूप रहता है। यही निर्वाण का अनुशासन है और यही वेद का अनुशासन एवं शिक्षा है॥ ४॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

द्वितीय खण्ड में विश्वोत्पत्ति के पूर्व की स्थिति सत्-असत् से परे कही गई है। यहाँ दूसरा मत प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं-

असद्वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययममहान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ १॥

अथवा प्रथम सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् (अस्तित्व में होते हुए भी अप्रकट या अव्यक्त) था। यह आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुई है और न ही उसने इससे प्रतिष्ठा पायी है। वह आत्मा अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यय है, न महान् है, न विस्तार युक्त है, वह जन्म रहित (अजन्मा) है, ऐसा मानकर धीर पुरुष शोक नहीं करते॥ १॥

अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रमशिरस्कमपाणिपादमस्निग्धमलोहितमप्रमेयमह्रस्वमदीर्घमस्थूलमनण्वनल्पमपारमनिर्देश्यमनपावृतमप्रतर्क्यमप्रकाश्यमसंवृतमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन॥ २॥ एतद्वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदनेनानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्त्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद॥३॥

यह आत्मा प्राण रहित, मुख रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, नेत्र रहित, अनाम, अगोत्र, सिर रहित, बिना हाथ-पैर का, स्नेह रहित, अलोहित (रक्तरहित अथवा रज आदि गुणत्रय रहित) और अप्रमेय है। यह न लम्बा है, न मोटा है, न स्थूल है, न छोटा है, न कम है। यह अपार है, इसे बताया भी नहीं जा सकता। यह अनावृत है, इसके नियम पर तर्क नहीं किया जा सकता, यह अप्रकाश्य है, असंवृत (असंकीर्ण) है, अन्तर-बाह्य रहित है, न वह कुछ खाता है और न कोई उसे खाता है। इसे सत्य, दान, अनशन प्रधान तप, ब्रह्मचर्य, अखण्ड वैराग्य और अनाशक (स्त्री आदि विषय भोगों के प्रति आसक्ति रहित

होना) इन षट् साधनों द्वारा ही जानना चाहिए। इसी प्रकार दम (इन्द्रियदमन), दान और दया इन तीनों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा करने वाले का प्राण उत्क्रमण नहीं करता (अर्थात् अन्यत्र नहीं जाता), वरन् इस आत्मतत्त्व में ही विलीन हो जाता है और ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २-३ ॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ १ ॥

हृदय के मध्यभाग में रक्त वर्ण के मांस पिण्ड के बीच वह सूक्ष्म आत्म-तत्त्व विद्यमान है। वह कुमुद (रात्रि में विकसित होने वाले कुमुद पुष्प) के समान श्वेतवर्ण वाला और अनेक प्रकार से विकसित हुआ है। हृदय में दस छिद्र होते हैं, जिनके अन्दर प्राण निवास करते हैं॥ १॥

[ऋषि स्थूल हृदय के मध्य सें स्थित पिण्ड में आत्मतत्त्व के होने की बात कहते हैं। वर्तमान विज्ञान के अनुसार हृदय में स्थित पेसमेकर, के साथ इसकी संगति बैठती है। हृदय की धड़कन का मूल स्पंदन वहीं से उभरता है, जिसे जीव चेतना द्वारा उद्भूत स्पंदन ही कहा जा सकता है। हृदय में १० छिद्रों की बात स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों संदर्भों में सिद्ध होती है। हृदय की धड़कन के साथ प्राण संचरित होते हैं, ५ प्राण एवं ५उपप्राण कुल दस प्रकार के प्राणों का संचरण हृदय से होता है, यह सूक्ष्म व्याख्या हुई। स्थूल हृदय में भी १० छिद्र इस प्रकार पाये जाते हैं-दाहिने ऑरिकल में शरीर के ऊपरी भाग से आने वाले रक्त का छिद्र सुपीरियर वैनाकोवा तथा २. नीचे से आने वाले के लिए इन्फीरियर वैनाकोवा ३. दाहिने आरि० से दाहिने वेंट्रिक्ल का छिद्र, ४. दायें वेंट्रिक्ल से फेफड़ों से रक्त जाने का मार्ग 'ट्रंक्स', ५,६. बायें फेफड़े से बायें आरि० में प्रवेश के दो मार्ग; ७,८. दायें फेफड़े से रक्त प्रवेश के दो मार्ग, ९. बायें आरि० से बायें वेन्ट्रि० सें रक्त जाने का मार्ग एवं १०. बायें वेंट्रिक्ल से शरीर पोषण के लिए रक्त से भेजने का मार्ग।]

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च यदा व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च ऋषींश्च यदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यक्षराक्षसगन्धर्वान्यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्देवान्स्कन्दं जयन्तं चेति यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते तदा पश्यति दृष्टं च श्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ॥ २ ॥

यह जीव (जाग्रदवस्था में) जब प्राण के साथ संयुक्त होता है, तब बहुत सी नदियों और विविध प्रकार के नगरों को देखता है। जब व्यान के साथ संयुक्त होता है, तब देवों और ऋषियों का दर्शन करता है। जब अपान के साथ संयुक्त होता है, तब यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों का दर्शन करता है। जब उदान के साथ संयुक्त होता है, तब देवलोकों, देवों और जयन्त को देखता है। जब समान के साथ संयुक्त होता है, तब देवलोकों और धन का दर्शन करता है। जब वैरम्भ के साथ संयुक्त होता है, तब देखे हुए को, सुने हुए को, खाये हुए को, बिना खाये हुए को, सत् और असत् सभी को देखता है॥ २॥

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति। तासामेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखा नाडीसहस्राणि भवन्ति यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति शब्दानां च करोत्यथ यद्द्वितीये स कोशे स्वपिति तदेमं च लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान्विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति हरितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः ॥३ ॥

इस हृदय की दस-दस अर्थात् सौ नाड़ियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार नाड़ी -

शाखायें होती हैं। इस प्रकार हजारों नाड़ियाँ होती हैं, जिनमें यह आत्मा शयन करता है और शब्दों की क्रिया करता है। द्वितीय कोश में जब आत्मा शयन करता है, तब इह लोक और परलोक का दर्शन करता है, समस्त शब्दों को जानता है, उस स्थिति में इसे संप्रसाद कहते हैं । प्राण शरीर की रक्षा करता है। ये नाड़ियाँ हरित वर्ण, नीले, पीले, लाल और श्वेत वर्ण के रक्त से अभिपूरित हैं (अर्थात् वात, पित्तादि रसों से पूर्ण हैं)॥ ३॥

अथात्रैतद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तथा हिता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिल एवेदं सलिलं वनं भूयस्तेनैव मार्गेण जाग्राय धावति सम्राडिति होवाच॥ ४॥

इस शरीर में स्थित सूक्ष्म हृदय कमल, रात्रि में खिलने वाले कुमुद के सदृश श्वेत वर्ण का है, जो अनेक प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ है। एक बाल को हजार हिस्सों में चीर दिया जाए, इतनी पतली हिता नामक नाड़ियाँ होती हैं। हृदयाकाश परम कोश है, जिसमें यह दिव्य आत्म तत्त्व निवास करता है। जब यह निद्रा की अवस्था में होता है, तो किसी प्रकार की कामना नहीं करता और न ही कोई स्वप्न देखता है। वहाँ न कोई देवता है, न देवलोक है, न यज्ञ है, न उसकी क्रियाएँ हैं। उस स्थिति में (वह) न माता है, न पिता है, न बन्धु है, न बान्धव है, न चोर है, न ब्रह्म हत्यारा है। वह (आत्मा) तेजस्वरूप है, अमृत है। जल ही जल है, वन के समान है। इस मार्ग से आत्मा जाग्रदवस्था की ओर दौड़ता है, सम्राट् (जिसका अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो चुका है, ऐसे अनुभूतिवान् व्यक्ति) ने ऐसा कहा है॥ ४॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

इस खण्ड में ज्ञानेन्द्रियों,अन्तःकरण एवं कर्मेन्द्रियों के माध्यम से आत्मा की सक्रियता का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में जो आत्मा से सम्बद्ध है,उसे अध्यात्म,भौतिक सृष्टि से सम्बद्ध को अधिभूत तथा देव शक्तियों से सम्बद्ध को अधिदैवत कहा गया है। जीवन की विभिन्न धाराओं की व्याख्या इन्हीं तीनों विशेषणों के संदर्भ में की गयी है-

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥ १॥

(इस प्रकार जाग्रत् आदि कोशत्रय में निवास करने वाला) आत्मा उन-उन स्थानों में रहने वालों को स्थान प्रदान करता है। नाड़ी उनका मूल साधन है। चक्षु अध्यात्म है। देखा जाने वाला (द्रष्टव्य) पदार्थ अधिभूत है और आदित्य अधिदैवत है। नाड़ी उसका मूल कारण है। जो चक्षु इन्द्रिय में, द्रष्टव्य पदार्थ में, आदित्य में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस सम्पूर्ण शरीर में संचरण करता है, यह आत्मा है। उस आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए, जो अजर, अमर, अभय, अशोक और अनन्त है॥ १॥

[नाड़ी को अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का मूलकारण कहा गया है। दृष्टि का विकास और विलय उससे सम्बद्ध नाड़ी में होता है, यह स्पष्ट है। जिस प्रकार आत्मा के स्थान शरीर में विभिन्न नाड़ियाँ हैं, वैसे ही अधिभूत के लिए प्रकृति में तथा अधिदैवत के लिए विराट् पुरुष में नाड़ियाँ हैं। आगे नवम खण्ड में स्पष्ट किया गया है कि आदित्य आदि

भी उनसे सम्बद्ध विराट् नाड़ियों से ही उद्‌भूत और उन्हीं में विलीन होते हैं।]

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः श्रोत्रे यः श्रोतव्ये यो दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥ २॥

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी अध्यात्म है, श्रोतव्य शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं। इन तीनों का मूल कारण नाड़ी है। श्रोत्र में, श्रोतव्य शब्द में, दिशाओं में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और सम्पूर्ण शरीर के अन्दर जो संचरित होता है, वह आत्मा है। इसी की उपासना करनी चाहिए। यह जरारहित, मृत्युरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है॥ २॥

नासाध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नासायां यो घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यां ....नन्तम्॥ ३॥

(उपर्युक्त के समान ही) नासिका अध्यात्म है, घ्रातव्य(सूँघने के विषय)अधिभूत हैं और पृथिवी अधि दैवत है। नाड़ी उनका मूल स्थान है। जो नासिका में, घ्रातव्य गन्ध में, पृथिवी में, नाड़ी में....अनन्त है॥ ३॥

जिह्वाध्यात्मं यो रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यां ....नन्तम्॥ ४॥

(इसी प्रकार) जिह्वा अध्यात्म है, स्वादिष्ट पदार्थ अधिभूत हैं और वरुण अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो जिह्वा में, स्वाद लेने के रस में, वरुण में और नाड़ी में ....अनन्त है॥ ४॥

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यां..........नन्तम्॥ ५॥

(इसी प्रकार) त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श योग्य वस्तु अधिभूत है और वायु अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो त्वगिन्द्रिय में, स्पर्श किये गये पदार्थ में, वायु में और नाड़ी में ....अनन्त है॥ ५॥

मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यां ....नन्तम्॥ ६॥

(इसी प्रकार) मन भी अध्यात्म है, मन्तव्य (मन का विषय) अधिभूत है, चन्द्रमा अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो मन में, जो मन्तव्य में, जो चन्द्रमा में, जो नाड़ी में ....अनन्त है॥ ६॥

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्मणि यो नाड्यां............. नन्तम्॥ ७॥

(इसी प्रकार) बुद्धि अध्यात्म है, बोद्‌धव्य (बुद्धि का विषय) अधिभूत है, ब्रह्मा अधिदैवत है और नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो बुद्धि में, बोद्‌धव्य में, ब्रह्मा में, जो नाड़ी में .... अनन्त है॥ ७॥

अहंकारोऽध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं योऽहंकारे योऽहंकर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यां.......... नन्तम्॥ ८॥

अहंकार अध्यात्म है, अहंकर्तव्य (अहं का विषय) अधिभूत है, रुद्र अधिदैवत हैं और नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो अहंकार में, अहं के विषय में , रुद्र में, नाड़ी में ....अनन्त है॥ ८॥

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्ते

यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां........... नन्तम्॥ ९॥

(इसी प्रकार) चित्त अध्यात्म है, चेतयितव्य (चिन्तन का विषय) अधिभूत है, उसमें क्षेत्रज्ञ अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो चित्त में, चेतयितव्य में, क्षेत्रज्ञ में, नाड़ी में ....अनन्त है॥ ९॥

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां............नन्तम्॥ १०॥

(उपर्युक्त की तरह ही) वाक् (वाणी) अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो वाणी में,वक्तव्य में, अग्नि में, नाड़ी में ....अनन्त है॥ १०॥

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्ते य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां............ नन्तम्॥ ११॥

(इसी प्रकार) दोनों हाथ अध्यात्म हैं, ग्रहणीय पदार्थ अधिभूत हैं, इन्द्र अधिदैवत हैं तथा नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो हाथ में, ग्रहण करने के विषय में, इन्द्र में, नाड़ी में .... अनन्त है॥ ११॥

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाड्यां.............. नन्तम्॥ १२॥

(इसी तरह) दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य अधिभूत है, विष्णु अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूलस्थान है। जो पैर में, गन्तव्य में, विष्णु में, नाड़ी में...................अनन्त है॥ १२॥

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्यां ....नन्तम्॥ १३॥

(उपर्युक्त जैसा) पायु (गुदा) अध्यात्म है, विसर्जयितव्य(विसर्जन करने का विषय)अधिभूत है और मृत्यु अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो गुदा में, विसर्जनीय में, मृत्यु में, नाड़ी में ...अनन्त है॥१३॥

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥१४

इसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्दयितव्य (आनन्द का विषय) अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो उपस्थ (जननेन्द्रिय) में, जो आनंद के विषय में, जो प्रजापति में, जो नाड़ी में, जो प्राण में, जो विज्ञान में, जो आनन्द में, जो हृदयाकाश में और जो इस सम्पूर्ण शरीर में संचरित होता है, वही यह आत्मा है। इस आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। यह जरा रहित, मरण रहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है॥ १४॥

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपास्यमानो न च सर्वसौख्यान्युपास्यति वेदशास्त्रैरुपास्यमानो न च वेदशास्त्राण्युपास्यति यस्यान्नमिदं सर्वं न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनः प्रशास्तान्नमयो भूतात्मा प्राणमय इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा विज्ञानमयः कालात्मानन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यं नास्त्यमृतं कुतो नान्तःप्रज्ञो न बहिःप्रज्ञो नोभयतःप्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाप्रज्ञोऽपि नो विदितं वेद्यं नास्तीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति

वेदानुशासनम्॥ १५॥

यह (तुर्यातिरिक्त) ईश्वर सर्वज्ञ है, यह सर्वेश है, सर्वाधिपति है, अन्तर्यामी है और यही सबका उत्पत्ति स्थान है। समस्त सुखों के द्वारा यही उपास्य है, पर यह समस्त सुखों की उपासना नहीं करता। यह वेद और शास्त्रों का भी उपास्य है, पर यह वेद और शास्त्रों की उपासना नहीं करता। सभी अन्न इसके हैं, पर यह किसी का अन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सभी का नेत्र, सब को आज्ञा देने वाला, अन्नमय भूतों (प्राणियों) की आत्मा, प्राणमय इन्द्रियों की आत्मा, मनोमय संकल्प स्वरूप, विज्ञानमय कालरूप, आनन्दमय और लयात्मक है। उसमें अद्वैत (एकत्व) नहीं है, तो द्वैत कहाँ हो सकता है ? वह मर्त्य नहीं है, तो अमृत कैसे हो सकता है ? वह न अन्तःप्रज्ञ है और न बाह्यप्रज्ञ है। वह दोनों (अन्तर् और बाह्य) में भी प्रज्ञ नहीं है। वह प्रज्ञानघन नहीं है, न प्रज्ञ (बहुत जानने वाला) ही है, न अप्रज्ञ (बिना जानने वाला) होकर भी इसे कुछ जानना शेष है। इसके अतिरिक्त निर्वाण के लिए और कोई उपदेश (अनुशासन) नहीं है अर्थात् मोक्ष के लिए यही अनुशासन है। यही वेद की शिक्षा व अनुशासन है॥ १५॥

॥ षष्ठःखण्डः ॥

नैवेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते॥ १॥

सृष्टि के पूर्व इस संसार में कुछ भी नहीं था। यह निर्मूल और निराधार था, (उसी से) इस प्रजा का आविर्भाव हुआ ॥ १॥

चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणःपादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः॥ २॥

चक्षु और द्रष्टव्य नारायण हैं, श्रोत्र और श्रोतव्य नारायण हैं, घ्राण शक्ति और घ्रातव्य नारायण हैं, जिह्वा और रस लेने का विषय नारायण हैं, त्वचा और स्पर्शयितव्य नारायण हैं, मन और मन्तव्य (मन का विषय) नारायण हैं, बुद्धि और बुद्धि का विषय नारायण हैं, अहंकार और अहंकर्त्तव्य नारायण हैं, चित्त और चिन्तन नारायण हैं, वाक् और वक्तव्य नारायण हैं, हाथ और दातव्य (देने का विषय) नारायण हैं, पैर और गन्तव्य नारायण हैं, पायु (गुदा) और विसर्जयितव्य नारायण हैं, उपस्थ और आनन्दयितव्य (आनन्द का विषय) नारायण हैं। नारायण ही धाता (धारण कर्ता), विधाता, कर्त्ता, विकर्ता (विशिष्ट रूप से रचना करने वाला) और एकमात्र दिव्य देव हैं॥ २॥

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूंषि सामानि मन्त्रोऽग्निराज्याहुतिर्नारायण उद्भवः संभवो दिव्यो देव एको नारायणः॥ ३॥

आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदादि के मन्त्र, अग्नि और घृत की आहुति भी नारायण ही हैं। यही नारायण एक, दिव्य, देव और सभी के उत्पत्ति रूप हैं॥ ३॥

माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः॥ ४॥

नारायण ही माता-पिता, भाई, निवास, शरण, मित्र तथा गति (सद्गति) हैं ॥ ४ ॥

विराजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशिशुरासुरासूर्या-भास्वतीविज्ञेयानि नाडीनामानि दिव्यानि ॥ ५ ॥

नारायण ही विराजा, सुदर्शना, जिता, सोम्या, अमोघा (मोघा), कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशुरा, असुरा, सूर्या, भास्वती—इन दिव्य नाड़ियों के रूप में हैं ॥ ५ ॥

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमाः कालः कविर्धाता ब्रह्मा प्रजापतिर्मघवा दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं य दिशश्च सर्वं नारायणः ॥ ६ ॥

जो गरजता है, गाता है, (वायु रूप होकर) बहता है, बरसता है, जो वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, काल, कवि, धाता, प्रजापति, ब्रह्मा, मघवा (इन्द्र), दिवस, अर्ध दिवस, कलाएँ, कल्प, ऊर्ध्वभाग, दिशाएँ और सभी कुछ है, वे सब नारायण ही हैं ॥ ६ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ ७ ॥

यह जो कुछ वर्तमान में है, जो पूर्व में हो चुका है और जो आगे भविष्य में होगा, वह सब पुरुष (परमेश्वर) ही है। इस अमर जीव-जगत् के भी वही स्वामी हैं। जो अन्न द्वारा वृद्धि प्राप्त करते हैं, उनके भी वही स्वामी हैं। वही विष्णु का परम पद है, जिसे विद्वज्जन सदैव देखते हैं। यह अन्तरिक्ष में फैले हुए चक्षु के समान है। क्रोधित न होने वाले तथा सतत जाग्रत् रहने वाले विप्रगण इसका साक्षात्कार करते हैं, यही विष्णु का परम पद है। यही निर्वाण का उपदेश है, यही वेद का अनुशासन है। यही वेद की सीख है ॥ ७ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन्यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरे संचरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥ १ ॥

जो शरीर के अन्दर हृदय रूपी गुहा में निवास करता है, वह आत्मा अज, एक और नित्य है। उसका शरीर पृथिवी है, जो पृथिवी में संचरित होता है; पर पृथिवी जिसे नहीं जानती। जल जिसका शरीर है, जो जल में संचरित होता है; पर जल जिसे नहीं जानता। तेज जिसका शरीर है, जो तेज में संचरित होता है; पर तेज जिसे नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, वायु में जो संचरित होता है; पर वायु जिसे नहीं जानता । आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है; पर आकाश जिसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन में

संचरित होता है; पर मन जिसे नहीं जानता । बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में संचरित होता है; पर बुद्धि जिसे नहीं जानती। अहंकार जिसका शरीर है, जो अहंकार में संचरित होता है; पर अहंकार जिसे नहीं जानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है; पर चित्त जिसे नहीं जानता। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में सञ्चरित होता है; पर अव्यक्त जिसे नहीं जानता। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है; पर अक्षर जिसे नहीं जानता। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु में संचरित होता है; पर मृत्यु जिसे नहीं जानती, वे सर्वभूतों के अन्तरात्मा, विनष्ट पाप वाले, एक, दिव्य, देव, नारायण हैं॥ १॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ घोराङ्गिरा रैक्काय ददौ रैक्को रामाय ददौ रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ २॥

यह विद्या (नारायण ने) अपान्तरतम नामक ब्राह्मण (अति प्राचीन काल के सिद्ध ब्राह्मण) को दी थी। अपान्तरतम ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने घोराङ्गिरस को, घोराङ्गिरस ने रैक्क को, रैक्क ने राम को और राम ने समस्त भूतों को प्रदान की। इस प्रकार यह निर्वाण का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद की शिक्षा है॥२॥

॥ अष्टमः खण्डः॥

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोमांसक्लेदावकीर्णे शरीर-मध्येऽत्यन्तोपहते चित्रभित्तिप्रतीकाशे गान्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्बुदव-च्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचि-न्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लये न पश्यन्ति॥१

सभी शरीरों के अन्दर हृदय रूपी गुहा में यह शुद्ध आत्मा निवास करता है। शरीर तो मेद, मांस और रक्त से अभिपूरित है, जो अत्यन्त नश्वर और चित्रभित्ति (चित्रस्थ दीवार) के समान गन्धर्व नगर तुल्य, केले के गर्भ की तरह निस्सार, जल के बुलबुले की तरह चञ्चल है; किन्तु उससे परे रहने वाला आत्मा अचिन्त्यरूप, दिव्य, प्रकाशवान्, असङ्ग, शुद्ध, तेजःस्वरूप, अरूप, सर्वेश्वर, अचिन्त्य और अशरीर है। हृदय रूपी गुहा में निवास करने वाला वह (आत्मा) अमृत और देदीप्यमान है। विद्वान् उसको आनन्दरूप में देखते हैं और उसमें विलय हो जाने के पश्चात् उससे भिन्न कुछ भी नहीं देखते॥ १॥

॥ नवमः खण्डः॥

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वेऽस्तं गच्छन्तीति। तस्मै स होवाच चक्षुरेवाप्येति यच्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्यमेवास्त-मेति विराजामेवाप्येति यो विराजामेवास्तमेति प्राणमेवाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच॥ १॥

इसके पश्चात् रैक्क ने घोराङ्गिरस से प्रश्न किया-हे भगवन्! ये समस्त पदार्थ किसमें अस्त होते हैं? (यह सुनकर) घोराङ्गिरस ने रैक्क को उत्तर दिया-जो पदार्थ चक्षु के प्रति प्राप्त (प्रकट) होते हैं (दिखाई देते हैं), वे चक्षु (अपने अन्तर्यामी) में ही अस्त हो जाते हैं। जो द्रष्टव्य पदार्थ आदित्य के प्रति प्रकट होता है, वह आदित्य में ही विलीन हो जाता है। जो आदित्य, विराजा (सुषुम्ना नामक नाड़ी का ही एक नाम) के प्रति प्रकट होता है,

वह विराजा में ही विलीन हो जाता है। जो विराजा प्राण के प्रति प्रकट होती है, वह प्राण में ही विलीन हो जाती है। जो प्राण, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। जो विज्ञान, आनन्द के प्रति प्रकट होता है, वह आनन्द में ही अस्त होता है। जो आनन्द, तुरीय के प्रति प्रकट होता है, वह तुरीय में ही अस्त होता है। वह तुरीय अमृत, अभय, अशोक,अनन्त और निर्बीज ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ १॥

[जिस-जिस संज्ञा वाली नाड़ियाँ मनुष्य में होती हैं, वे सभी मूलतः विराट् पुरुष में भी होती हैं, जिस तरह विराट् पुरुष-परमात्मा का अंश आत्मा है, वैसे ही नाड़ियाँ भी विराट् के नाड़ी तंत्र की अंग हैं। आदित्य आदि देवों का प्राकट्य और विलय उन्हीं के प्रति कहा गया है। आगे के मंत्रों में भी अधिदेवता का विलय जिन नाड़ियों में कहा गया है, वे सभी विराट् की नाड़ियाँ ही मान्य हैं।]

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्त-निर्बीजमेवाप्येतीति होवाच॥ २॥

इसी प्रकार जो श्रोत्र के प्रति प्रकट होता है, वह श्रोत्र में ही अस्त होता है। जो श्रोत्र, श्रोतव्य के प्रति प्रकट होता है, वह श्रोतव्य में ही अस्त होता है। जो श्रोतव्य, दिशाओं के प्रति प्रकट होता है, वह दिशाओं में ही अस्त होता है। जो दिशाएँ, सुदर्शना के प्रति प्रकट होती हैं, वे सुदर्शना में ही अस्त होती हैं। जो सुदर्शना, अपान के प्रति प्रकट होती है, वह अपान में ही अस्त होती है। जो अपान विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। वह विज्ञान अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म में विलीन हो जाता है॥ २॥

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत............... होवाच॥ ३॥

इसी प्रकार जो पदार्थ नासिका के प्रति (गन्धरूप में) प्रकट होते हैं, वे नासिका में ही अस्त होते हैं। जो नासिका, घ्रातव्य (सूँघे जाने योग्य) पदार्थों के प्रति प्रकट होती है, वह घ्रातव्य में ही अस्त हो जाती है। जो घ्रातव्य, पृथिवी के प्रति प्रकट होता है, वह पृथिवी में ही विलीन हो जाता है। जो पृथिवी, जिता नामक नाड़ी के प्रति प्रकट होती है, वह जिता में ही अस्त होती है। जो जिता, व्यान के प्रति प्रकट होती है, वह व्यान में ही विलीन हो जाती है। जो व्यान, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही विलुप्त हो जाता है। वह विज्ञान, अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म में लय हो जाता है॥ ३॥

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवाप्येति यो रसयितव्यमेवास्तमेति वरुणमेवाप्येति यो वरुणमेवास्तमेति सौम्यामेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.................. होवाच॥ ४॥

इसी प्रकार जो पदार्थ जिह्वा के प्रति प्रकट होते हैं, वे जिह्वा में ही विलीन हो जाते हैं। जो जिह्वा, रसयितव्य के प्रति प्रकट होती है, वह रसयितव्य में ही विलीन हो जाती है। जो रसयितव्य, वरुण को प्राप्त होता है, वह वरुण में ही विलीन हो जाता है। जो वरुण, सौम्या नामक नाड़ी को प्राप्त होता है, वह सौम्या में ही विलीन हो जाता है। जो सौम्या, उदान के प्रति प्रकट होती है, वह उदान में ही अस्त हो जाती है। जो उदान, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही लय हो जाता है। वह विज्ञान अमृत, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ ४॥

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयितव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति मोघामेवाप्येति यो मोघामेवास्तमेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत............ होवाच॥ ५॥

जो पदार्थ त्वचा को प्राप्त होते हैं, वे त्वचा में ही विलीन हो जाते हैं। जो त्वचा, स्पर्शयितव्य के प्रति प्रकट होती है, वह स्पर्शयितव्य में ही अस्त हो जाती है। जो स्पर्शयितव्य, वायु को प्राप्त होता है, वह वायु में ही विलीन हो जाता है। जो वायु मोघा के प्रति प्रकट होती है, वह मोघा नामक नाड़ी में ही विलीन हो जाती है। जो मोघा, समान के प्रति प्राप्त होती है, वह समान में ही अस्त हो जाती है। जो समान, विज्ञान को प्राप्त होती है,वह विज्ञान में ही अस्त हो जाती है। वह अमर,अभय,अशोक,अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है॥५॥

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्यमेवास्तमेत्य-ग्निमेवाप्येति योऽग्निमेवास्तमेति कुमारामेवाप्येति यः कुमारामेवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.............. होवाच॥ ६॥

जो पदार्थ वाक् को प्राप्त होते हैं, वे वाक् में ही अस्त होते हैं। जो वाक्, वक्तव्य को प्राप्त होती है, वह वक्तव्य में ही अस्त होती है। जो वक्तव्य, अग्नि को प्राप्त होता है, वह अग्नि में ही विलीन हो जाता है। जो अग्नि, कुमारा नामक नाड़ी को प्राप्त होती है, वह कुमारा में ही विलीन हो जाती है। जो कुमारा, वैरम्भ को प्राप्त होती है, वह वैरम्भ में ही अस्त हो जाती है। जो वैरम्भ, विज्ञान को प्राप्त होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। वह विज्ञान अमर, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है॥ ६॥

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवास्तमे-तीन्द्रमेवाप्येति य इन्द्रमेवास्तमेत्यमृतामेवाप्येति योऽमृतामेवास्तमेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत...................... होवाच॥ ७॥

(ऐसा कहने के पश्चात् उन घोराङ्गिरस ने पुनः कहना प्रारम्भ किया कि) जो हाथ को प्राप्त कर लेता है, वह हाथ में ही विलीन हो जाता है। यह हाथ, लेने योग्य पदार्थ के प्रति गमन करता है, अतः यह लेने वाले पदार्थ में ही लीन होता है, यह पदार्थ, इन्द्र के प्रति प्रस्थान करता है, इस कारण से यह इन्द्र में ही विलीन हो जाता है, यह इन्द्र, अमृता नाड़ी के प्रति जाता है, इस कारण यह अमृता में ही अस्त हो जाता है, यह अमृता, मुख्य के पास जाती है, अतः मुख्य में ही अस्त हो जाती है, यह मुख्य, विज्ञान के पास जाता है, इस कारण से विज्ञान में ही अपने को विलीन कर लेता है और यह विज्ञान, तुरीय के प्रति गमन करता है, इस कारण यह अमर, निर्भय, अशोक एवं अन्तरहित तथा बीजविहीन तुरीयावस्था को ही प्राप्त कर लेता है॥ ७॥

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेति विष्णुमेवाप्येति यो विष्णुमेवास्तमेति सत्यामेवाप्येति यः सत्यामेवास्तमेत्यन्तर्याममेवाप्येति योऽन्तर्याममेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद............. होवाच॥ ८॥

(इसी प्रकार) जो पैर के प्रति गमन करता है, वह पैर में ही विलीन होता है, यह पैर, गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थान करता है, इस कारण से यह गन्तव्य स्थान में विलीन हो जाता है, यह गन्तव्य स्थान विष्णु के प्रति जाता है, इस कारण से यह विष्णु में ही विलीन हो जाता है, यह विष्णु, सत्या नाड़ी की ओर प्रस्थान करता है, इसलिए यह सत्या नाड़ी में ही अपने को विलीन कर लेता है, यह सत्या, अन्तर्याम की ओर गमन करती है, इसलिए यह अन्तर्याम में ही लय ही जाती है, यह अन्तर्याम, विज्ञान की ओर गमन करता है, इसलिए यह

विज्ञान में ही विलय हो जाता है तथा यह विज्ञान, तुरीय के समक्ष जाता है, इस कारण से यह मृत्युरहित, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित एवं अबीज तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ ८॥

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति यो विसर्जयितव्यमेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्यमामेवास्तमेति प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद......... होवाच॥ ९॥

(ऐसा कहने के अनन्तर फिर उन्होंने कहा-) जो गुदा को प्राप्त करता है, वह गुदा में ही विलय को पाता है, यह गुदा, विसर्जन योग्य मल त्याग को प्राप्त करता है, अतः यह त्यागने योग्य में ही विलय को प्राप्त करता है, यह मलत्याग, मृत्यु को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्यु में ही विलीन हो जाता है,यह मृत्यु, मध्यमा नाड़ी को प्राप्त करती है, इसलिए यह मध्यमा में ही विलीन होती है,यह मध्यमा, प्रभञ्जन नामक वायु को प्राप्त करती है, अतः यह प्रभञ्जन वायु में ही विलय को प्राप्त होती है,यह प्रभञ्जन वायु विज्ञान को प्राप्त होती है, इस कारण प्रभञ्जन वायु का अस्त विज्ञान में ही होता है। यह विज्ञान, तुरीय के पास जाता है, इसलिए वह मृत्युरहित, भयविहीन, अशोक, अनन्त एवं निर्बीज तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है॥ ९॥

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमेवास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवास्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति कुर्मिरमेवाप्येति यः कुर्मिरमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत .... होवाच॥ १०॥

(यह कहने के पश्चात् पुनः उन्होंने कहना प्रारंभ किया कि) जो उपस्थ को प्राप्त करता है, वह उपस्थ में ही लीन हो जाता है और यह उपस्थ, आनन्द स्वरूप विषयों को प्राप्त करता है, इस कारण यह आनन्द में विलय हो जाता है। यह आनन्द, प्रजापति के पास जाता है, इस कारण यह प्रजापति में विलीन हो जाता है। यह प्रजापति, नासीरा नाड़ी को ओर प्रस्थान करता है, अतः यह नासीरा में ही विलीन हो जाता है। यह नासीरा, कुर्मिर नाड़ी की ओर गमन करता है, इस कारण से यह कुर्मिर नाड़ी में ही लय होती है। यह कुर्मिर विज्ञान की ओर जाती है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है। यह विज्ञान तुरीय को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, शोकविहीन, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को ही प्राप्त करता है॥ १०॥

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मन्तव्यमेवाप्येति यो मन्तव्यमेवास्तमेति चन्द्रमेवाप्येति यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमेवाप्येति यः शिशुमेवास्तमेति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत............ होवाच॥ ११॥

(इसके बाद उन्होंने पुनः कहा कि) जो मन को प्राप्त करता है, वह मन में ही विलीन हो जाता है। यह मन, विचारणीय विषय को प्राप्त करता है, इस कारण से यह विचारणीय विषयों में लीन हो जाता है,यह विचारणीय, चन्द्रमा को तरफ गमन कर जाता है, इसलिए यह चन्द्रमा में ही लय हो जाता है, यह चन्द्रमा, शिशु नाड़ी को ओर गमन करता है, इस कारण यह शिशु में ही विलीन हो जाता है, यह शिशु नाड़ी श्येन की ओर गमन करती है, इस कारण वह श्येन में ही लय होती है, यह श्येन, विज्ञान को तरफ गमन करता है, इस कारण से यह विज्ञान में ही विलीन हो जाता है तथा यह विज्ञान, तुरीय के प्रति गमन करता है, इस कारण से यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को प्राप्त होता है॥ ११॥

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेति बोद्धव्यमेवाप्येति यो बोद्धव्यमेवास्तमेति ब्रह्माणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यामेवाप्येति यः सूर्यामेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति यः कृष्णमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत............ होवाच॥ १२॥

(ऐसा कहने के उपरान्त उन्होंने फिर कहा कि) जो बुद्धि को प्राप्त करता है, वह बुद्धि में ही विलीन हो जाता है। यह बुद्धि, जानने योग्य विषयों की ओर प्रस्थान कर जाती है, इस कारण यह जानने योग्य विषयों में ही विलीन हो जाती है। यह जानने का विषय, ब्रह्मा की ओर गमन कर जाता है, इसलिए यह ब्रह्मा में ही अस्त हो जाता है, यह ब्रह्मा सूर्या नाड़ी को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय सूर्या में ही हो जाता है, यह सूर्या कृष्ण को प्राप्त करती है, इसलिए यह कृष्ण में ही विलीन हो जाती है, यह कृष्ण, विज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है और यह विज्ञान, तुरीय को प्राप्त हो जाता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को ही प्राप्त करता है॥ १२॥

अहंकारमेवाप्येति योऽहंकारमेवास्तमेत्यहंकर्तव्यमेवाप्येति योऽहंकर्तव्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्यसुरामेवाप्येति योऽसुरामेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत............ होवाच॥ १३॥

(इस प्रकार कहने के पश्चात् उन महर्षि ने कहा कि) जो अहंकार को प्राप्त करता है, वह अहंकार में ही विलीन हो जाता है। यह अहंकार, कर्त्तव्य को प्राप्त करता है, इसलिए यह कर्त्तव्य में ही लय हो जाता है। यह कर्त्तव्य, रुद्र को प्राप्त करता है, इस कारण इसका लय रुद्र में ही होता है, यह रुद्र, असुरा नाड़ी को प्राप्त करता है, इसलिए इस रुद्र का विलय असुरा नाड़ी में ही हो जाता है। यह असुरा नाड़ी श्वेत को प्राप्त करती है, अतः इस असुरा का विलय श्वेत में ही होता है। यह श्वेत, विज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है। यह विज्ञान, तुरीय को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीय को ही प्राप्त होता है॥ १३॥

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चेतयितव्यमेवाप्येति यश्चेतयितव्यमेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति यः क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्येति यो नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येति तदमृत............... होवाच॥ १४॥

(इस प्रकार कहने के बाद पुनः उन्होंने कहना शुरू किया कि) जो चित्त को प्राप्त कर लेता है, वह चित्त में ही विलीन हो जाता है। यह चित्त, चिन्तन योग्य को पा लेता है, इस कारण यह चिन्तन करने योग्य में ही लय हो जाता है। यह चिन्तन करने योग्य, क्षेत्रज्ञ को प्राप्त कर लेता है, इस कारण इसका विलय क्षेत्रज्ञ में ही होता है। यह क्षेत्रज्ञ, भास्वती नाड़ी में गमन कर जाता है, इस कारण यह भास्वती नाड़ी में ही विलीन हो जाता है। यह भास्वती, नाग वायु के पास जाती है, इस कारण यह नाग वायु में ही अस्त हो जाती है। यह नाग वायु, विज्ञान की ओर जाती है, इस कारण यह विज्ञान में विलय हो जाती है। यह विज्ञान, आनन्द को प्राप्त कर लेता है, इस कारण यह आनन्द में ही विलीन हो जाता है और वह आनन्द मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं निर्बीज तुरीय में जाता है, इस कारण से यह तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

य एवं निर्बीजं वेद निर्बीज एव स भवति न जायते न म्रियते न मुह्यते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्याचक्षते॥ १५॥

(उन घोराङ्गिरस जी ने पुनः कहा कि) जो भी मनुष्य इस तरह से निर्बीज रूपी तत्त्व को जान लेता है, वह निर्बीज हो जाता है। वह अजन्मा हो जाता है, मृत्यु एवं मोह को भी नहीं प्राप्त करता। उसका भेदन नहीं

होता, जलता भी नहीं, छेदा भी नहीं जाता, कम्पायमान भी नहीं होता तथा कुपित भी नहीं होता है। इस प्रकार सभी कुछ दग्ध करने वाली यह आत्मा ही है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का मत है॥ १५॥

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न सांख्यैर्न योगैर्नाश्रमैर्नान्यैरात्मानमुपलभन्ते प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्थानेन तमेतं ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना उपलभन्ते शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद॥ १६॥

यह आत्मा सैकड़ों तरह के प्रवचन करने मात्र से नहीं प्राप्त होता, अनेकों शास्त्रों का अध्ययन करने से भी नहीं मिलता, बुद्धि तथा ज्ञान का सान्निध्य प्राप्त कर लेने से भी यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। वैसे ही मेधा, वेदों, यज्ञों, उग्र-तपश्चर्या, सांख्यज्ञान, योग, आश्रम अथवा अन्य दूसरे प्रयत्नों से भी वह आत्मा प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म में निष्ठा रखने वाला जो मनुष्य प्रवचन के द्वारा, प्रशंसा (गुरु सेवा) के द्वारा तथा व्युत्थान (सामान्य जीवन क्रम से ऊपर उठकर) के द्वारा आत्मज्ञानपरक शास्त्रों का श्रवण करता हुआ शम, दम, उपरति एवं तितिक्षा में स्थित होकर समाधिनिष्ठ हुआ आत्मा को आत्मा में ही देखता है, वही आत्म तत्त्व को प्राप्त कर पाता है। जो भी मनुष्य इस तरह से आत्मतत्त्व को जानता है, वह सभी का आत्मा हो जाता है॥ १६॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति रसातललोकेष्विति होवाच कस्मिन्रसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भूर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति भुवर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति सुवर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्सुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति महर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्महर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति जनोलोकेष्विति होवाच। कस्मिन् जनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति तपोलोकेष्विति होवाच। कस्मिँस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सत्यलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्सत्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति स होवाच॥ १॥

इसके बाद पुनः रैक्व मुनि ने घोराङ्गिरस से प्रश्न किया कि "हे भगवन्! किसमें सभी प्रतिष्ठित हैं?" तदनन्तर उन घोराङ्गिरस ने कहना प्रारम्भ किया कि रसातल के लोकों में सभी कुछ रहता है। "यह रसातल का लोक किसमें स्थित है?" तब उन्होंने कहा कि यह 'भू लोक' में स्थित है। यह भूलोक किसमें स्थित है? उन्होंने कहा- "यह भुवः लोक में प्रतिष्ठित है।" यह भुवर्लोक किसमें ओत-प्रोत है? तब उन्होंने बताया कि "यह स्वर्लोक में स्थित है"। यह स्वर्लोक किसमें ओत-प्रोत है? उन्होंने उत्तर दिया कि "यह महर्लोक में प्रतिष्ठित है।" यह महर्लोक किसमें ओत-प्रोत है?" (उत्तर) यह जनोलोक में प्रतिष्ठित है।" इस प्रकार उन ऋषि ने पुनः कहा-यह जनोलोक किसमें ओत-प्रोत है?" (उत्तर) यह तपोलोक में स्थित है, ऐसा उन्होंने कहा। (प्रश्न) यह तपोलोक किसमें ओत-प्रोत है? उन्होंने कहा कि यह सत्यलोक में स्थित है। यह सत्य लोक किसमें ओत-प्रोत है? यह प्रजापति लोक में प्रतिष्ठित है, ऐसा उन्होंने कहा-"यह प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है?" यह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित है" ऐसा उन्होंने बताया। यह ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत

है ? (यह अन्य किसी में ओत-प्रोत नहीं है) "समस्त लोक आत्म स्वरूप परब्रह्म में माला के दानों की भाँति ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार उन्होंने कहा" ॥ १ ॥

एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान्वेदात्मैव स भवतीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ २ ॥

जो पुरुष इन सभी लोकों की आत्मा में ही स्थित रहता है, वह आत्मस्वरूप ही हो जाता है। इस तरह यह निर्वाण (मोक्ष) विषय का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है एवं यही वेद की आज्ञा है ॥ २ ॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन्योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद्वाव स्थानमुत्सृज्यापक्रामतीति तस्मै स होवाच। हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यश्चतस्रो भवन्ति रमारमेच्छाऽपुनर्भवेति तत्र रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयत्यरमा पापेन पापमिच्छया यत्स्मरति तदभिसंपद्यते अपुनर्भवया कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा शीर्षकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं भित्त्वा पृथिवीं भिनत्ति पृथिवीं भित्त्वाऽपो भिनत्त्यपो भित्त्वा तेजो भिनत्ति तेजो भित्त्वा वायुं भिनत्ति वायुं भित्त्वाकाशं भिनत्त्याकाशं भित्त्वा मनो भिनत्ति मनो भित्त्वा भूतादिं भिनत्ति भूतादिं भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाव्यक्तं भिनत्त्यव्यक्तं भित्त्वाक्षरं भिनत्त्यक्षरं भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ १ ॥

इसके बाद रैक्क मुनि ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! यह विज्ञानघन आत्मा जब शरीर से उत्क्रमण करता है, तब किस जगह का परित्याग करके, किस रास्ते से बाहर की ओर प्रस्थान करता है ? यह सुनकर घोराङ्गिरस ने कहना प्रारम्भ किया कि "हृदय के मध्य भाग में मांस का लाल पिण्ड स्थित है। उस पिण्ड में चन्द्रमा के द्वारा विकसित होने वाले कमलिनी पुष्प की भाँति शुभ्र श्वेत एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कमल विद्यमान है। उस सूक्ष्म कमल का विभिन्न तरह से विकास हुआ है। उसके मध्य में समुद्र स्थित है, इस समुद्र के बीच में कोश (स्थान विशेष) स्थित है। उसमें चार प्रकार की नाड़ियाँ-रमा,अरमा, इच्छा एवं अपुनर्भवा हैं। इनमें से रमा नाड़ी पुण्य कृत्यों के माध्यम से पुण्य लोक में ले जाती है, अरमा नाड़ी पाप कृत्य के द्वारा पापलोक में ले जाती है, इच्छा नाड़ी के द्वारा जिसको याद किया जाता है, उसको प्राप्त किया जाता है तथा अपुनर्भवा नाड़ी के द्वारा इस हृदय के मध्य में स्थित कोश को खोला जाता है, कोश को खोलकर मस्तक के शीर्ष (ब्रह्मरन्ध्र) को खोला जाता है, मस्तक के शीर्ष को खोलकर पृथिवी का भेदन करता है, पृथिवी का भेदन करने के पश्चात् जल का भेदन करता है, जल का भेदन करने के बाद तेज (प्रकाश) को भेदता है, तेज का भेदन करने के पश्चात् वायु का भेदन करता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेदकर मन का भेदन करता है, मन को भेदकर अहंकार का भेदन करता है, अहंकार का भेदन करने के पश्चात् वह महत्तत्त्व का भेदन करता है, महत्तत्त्व को भेद कर प्रकृति को भेदता है, प्रकृति का भेदन करने के पश्चात् वह अक्षर का भेदन करता है, अक्षर का भेदन करने के बाद वह मृत्यु का भेदन करता है और वह मृत्यु परमादिदेव परमात्मा में ही एक रूप रहती है। इस एकाकार के पश्चात् सत्, असत् तथा सदसत् आदि कुछ भी नहीं रहता।

इस प्रकार से यह निर्वाण (मोक्ष) का अनुशासन है और यही वेद का अनुशासन है, वेद की आज्ञा है॥ १॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

ॐ नारायणाद्वा अन्नमागतं पक्वं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्वमादित्ये पुनः पक्वं क्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्नं पर्युषितं पूतमन्नमयाचितमसंक्लृप्तमश्नीयान्न कंचन याचेत॥ १॥

नारायण के द्वारा अन्न का आगमन हुआ है। वह (अन्न) महासंवर्तक (प्रलय काल में) ब्रह्म के लोक में पका है, इसके बाद वह आदित्य (कालाग्नि) में पका है और इसके पश्चात् वह क्रव्यादि (कल्याण-आवसथ्याग्नि) में पका है। पुनः (प्राणियों के द्वारा खाये जाने पर) जठराग्नि में पका है। इस गीले-बासी (अन्न) को संन्यासी (कभी न खाये, अपितु) पवित्र, अयाचित (बिना माँगे हुए), असंकल्पित (किसी घर विशेष से संकल्पपूर्वक न लेना) भिक्षा में प्राप्त अन्न को ही ग्रहण करे। इस तरह से संन्यासी को किसी से भी अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए॥ १॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

बाल्येन तिष्ठासेद्बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाण्डित्येन निरवधिकारतयोपलभ्येत कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेतोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्सत्योऽ यमात्मा॥ १॥

(ज्ञानी के लिए) बाल्यकाल में ही सदैव बने रहने की कामना करना, बालकों जैसे स्वभाव वाला, असंग (आसक्ति रहित) रहना एवं निरवद्य (बिना दोष के) रहना, मौन रहना तथा पाण्डित्य को प्राप्त करना, अवधि रहित (वर्णाश्रम आदि से परे रहने वाले) अधिकार को प्राप्त करना, यही अन्तिम कैवल्य स्थिति बतलायी गयी है। प्रजापति ने कहा कि श्रेष्ठ पद को जान लेने के बाद वृक्षों के नीचे निवास करना, जीर्ण वस्त्रों को धारण करना, किसी की भी सहायता न प्राप्त करना तथा एकाकी ही समाधि अवस्था में लीन रहना चाहिए। इस तरह से पुरुष आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाला, पूर्णकाम एवं कामनाओं से रहित होता है। उस पुरुष की समस्त इच्छाएँ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। फिर वह पुरुष हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, न्यौला, सर्प, राक्षस या गन्धर्व आदि में मृत्यु का रूप समझकर किसी से भी भयभीत नहीं होता। वृक्ष की भाँति स्थिर रहने की कामना करता रहता है। उसे यदि कोई काटकर नष्ट कर दे, तब भी वह क्रोधरहित रहता है, कम्पायमान नहीं होता, कमल की तरह निर्लिप्त रहना चाहता है। अस्त्र-शस्त्रादि से छेदा भी जाये, तब भी क्रोधित न हो, अपनी जगह पर स्थिर रहकर आकाश की तरह से वह (निर्लिप्त) रहना चाहता है। छिन्न-भिन्न कर देने पर क्रोधित न हो, कंपित न हो, सदैव सत्य के प्रति आरूढ़ रहना चाहता है। यही आत्मा का सत्य रूप है॥ १॥

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापो हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न

सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ २॥

समस्त गन्धों का हृदय पृथ्वी है, सभी तरह के रसों का हृदय जल है, समस्त रूपों का हृदय तेज (प्रकाश) है, सभी स्पर्शों का हृदय वायु है, सभी प्रकार के शब्दों का हृदय आकाश है, समस्त गतियों का हृदय अव्यक्त (प्रकृति) है, सभी तरह के सत्त्वों (प्राणियों) का हृदय मृत्यु है तथा वह मृत्यु परमादिदेव परमात्मतत्त्व में एक रूप होकर रहता है। इसके बाद न सत् है, न असत् है और न ही सदसत् है। इस तरह यह मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है, वेदों का अनुशासन है॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

पृथिवी वान्नमापोऽन्नादा आपो वान्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वान्नं वायुरन्नादो वायुर्वान्नमाकाशोऽन्नाद आकाशो वान्नमिन्द्रियाण्यन्नादानीन्द्रियाणि वान्नं मनोऽन्नादं मनो वान्नं बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वान्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वान्नमक्षरमन्नादमक्षरं वान्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १॥

पृथ्वी अन्न है, जल अन्न का भक्षण करने वाला है, जल अन्न है तथा ज्योति (तेज या अग्नि) अन्न का भक्षण करने वाली है, ज्योति ही अन्न है, वायु अन्न का भक्षण करने वाली है, वायु ही अन्न है और आकाश अन्न खाने वाला है, आकाश ही अन्न है तथा इन्द्रियाँ अन्न ग्रहण करने वाली हैं, इन्द्रियाँ ही अन्न हैं, मन अन्न ग्रहण करने वाला है, मन ही अन्न है और बुद्धि अन्न ग्रहण करने वाली है, बुद्धि ही अन्न है तथा प्रकृति अन्न ग्रहण करने वाली है, प्रकृति ही अन्न है और अक्षर अन्न को खाने वाला है, अक्षर ही अन्न है और मृत्यु अन्न को ग्रहण करने वाली है। यह मृत्यु ही परमदेव परब्रह्म में एक रूप हो जाती है। इसके पश्चात् सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, सत्-असत् भी नहीं है। यही निर्वाण (मुक्ति) का उपदेश है, यही वेद का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है॥ १॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन्योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद्वाव स्थानं दहतीति तस्मै स होवाच योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं मुख्यमन्तर्यामं प्रभञ्जनं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशं दहति जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयं च महतां च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं दहत्यभास्करममर्यादं निरालोकमतः परं दहति महान्तं दहत्यव्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासन मिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १॥

इसके पश्चात् रैक्क मुनि ने घोराङ्गिरस से पुनः प्रश्न किया-'' हे भगवन्! यह विज्ञान स्वरूप आत्मा जब शरीर से बाहर उत्क्रमण करता है, तब वह किसके द्वारा, किस स्थान को जलाता है?'' ऐसा सुनकर उन घोराङ्गिरस ने कहा- ''वह विज्ञानघन आत्मा बाहर उत्क्रमण करता है,'' तब सबसे पहले प्राण को, क्रमशः अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभञ्जन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को एवं नाग को दग्ध करता है। तत्पश्चात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश को

दग्ध करता है, इसके बाद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, महानता के लोक तथा परलोक को भी दग्ध कर देता है, तदनन्तर लोक एवं अलोक को दग्ध करता है, धर्म एवं अधर्म को दग्ध करता है, तत्पश्चात् बिना सूर्य के, बिना मर्यादा के और बिना आलोक के वह सभी स्थलों को दग्ध कर देता है, उसके बाद महत्तत्त्व को दग्ध कर देता है, प्रकृति को दग्ध करता है, अक्षर को दग्ध करता है तथा मृत्यु को भी दग्ध कर देता है। मृत्यु ही परमादिदेव परमतत्त्व में एकाकार हो जाती है , उसके बाद न सत् है, न असत् और न ही सत्-असत् है। यही निर्वाण (मुक्ति) का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद का अनुशासन है॥ १॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्या नैव च प्रवक्तव्या। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १॥

सौबाल (सुबाल सम्बन्धी) जिस ब्रह्म का बीज है, ऐसे इस उपनिषद् को अन्य किसी को नहीं प्रदान करना चाहिए, जो अत्यधिक शान्त न हो, जो पुत्र न हो, जो शिष्य न हो तथा जो एक वर्ष तक पास में न रहा हो। इस प्रकार से अनजान कुलशील वाले मनुष्य को भी नहीं प्रदान करना चाहिए और न ही उसे बताना चाहिए। जिस व्यक्ति की परमात्मशक्ति के ऊपर तथा परमात्मा के सदृश ही गुरु के ऊपर परम श्रेष्ठ भक्ति हो, उसी के लिए ये अर्थ (विशेष ज्ञान) बतलाये गये हैं तथा ऐसे ही महान् आत्मा को ये प्रकाशित करते हैं। यही निर्वाण (मुक्ति) का आदेश है, यही वेदों की शिक्षा है तथा यही वैदिक अनुशासन है॥ १॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति सुबालोपनिषत्समाप्ता॥

॥ स्वसंवेद्योपनिषद् ॥

'स्व'-आत्मतत्त्व का, संवेद्य-अनुभव प्राप्त करना, इस उपनिषद् का प्रयोजन है। इसमें एक ही मन्त्र चार प्रखण्डों में विभक्त है। पहले प्रखण्ड में प्राणियों की उपमा जल बुद्बुद से दी गई है और कहा गया है, जैसे जल का बुद्बुद जल में विलीन होकर जल के साथ एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों का समूह, अमृतसागर स्वरूप परब्रह्म में विलीन हो जाता है, परन्तु ऐसी स्थिति ज्ञान-प्राप्ति के बाद ही सम्भव होती है, अधिकांशतया तो प्राणी अज्ञान से ही आवृत होते हैं।

दूसरे प्रखण्ड में बताया गया है कि सभी काल, कर्मात्मक और स्वभावात्मक होते हैं। यथार्थ में पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा कोई नहीं होता, केवल 'मत' (आत्मतत्त्व की निष्ठा) की ही यथार्थता है। इसमें परिनिष्ठित व्यक्ति के लिए मोक्ष-नरक आदि कुछ भी नहीं होता।

तीसरे प्रखण्ड में तत्त्वज्ञान को गुहा में प्रविष्ट बताते हुए कहा गया है कि सामान्य जनों की इस मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती। साकार उपासना प्रधान लोग अज्ञान में भटकते रहते हैं। तत्त्वज्ञानी को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा कुत्ते, गधे, बिल्ली में चैतन्यतत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।

अन्तिम चतुर्थ प्रखण्ड में सभी को आत्मतत्त्व सम्पन्न मानकर, सबकी सेवा करने का मर्म समझाया गया है। अन्त में 'गुरु' की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि सब कुछ गुरु की कृपा से ही जाना जा सकता है, उनसे बढ़कर कोई भी नहीं-यह तथ्य जानने वाला ही जीवन्मुक्त हो पाता है।

ॐ सर्वेषां प्राणिबुद्बुदानां निरंजनाव्यक्तामृतनिधौ विलयविलासः स्थितिर्विजृम्भते। तेषामेव पुनर्भवनं नो इहास्ति। स यथा मृत्पिण्डे घटानां तन्तौ पटानां तथैवेति भवति। वस्तुतो नोपादानमत एव नोपादेयमत एव न निमित्तमत एव न विद्या न पुराणं नो वेदा नेतिहासा इति न जगदिति न ब्रह्मा नो विष्णुः नाथ रुद्रो नेश्वरो न बिन्दुः नो कलेति अग्रे मध्येऽवसाने सर्वं यथावस्थितं यथावस्थितज्ञानं तेषां नो भवत्यागमपुराणेतिहासधर्मशास्त्रेषु धृताभिमानास्ते। यत्तानि तु मुग्धतरमुनिशब्दवाच्यैः जीवबुद्बुदैः रचितानीति भवन्ति। तत्र प्रामाण्यं तादृशानामेव। ते त्वज्ञानेनावृताः सयत्नेन गर्भास्तदप्येष श्लोको भवति। तदत्र श्लोको भवति॥ १-क॥

ॐ प्राणिस्वरूप बुलबुलों (पानी के बुलबुलों) का निरञ्जन और अव्यक्त अमृत के सागर परब्रह्म में विलीन हो जाने की स्थिति प्रकट और सत्य है। यह अवश्य ही होती है। ब्रह्मलीन हो जाने वालों का पुनरागमन नहीं होता। उनकी स्थिति मृत्तिकापिण्ड में कुम्भ की तरह और धागों में कपड़े की तरह हो जाती है। वस्तुतः वह न उपादान है, न उपादेय और न निमित्त ही है। वह विद्या, पुराण, वेद, इतिहास भी नहीं है। न जगत् है, न ब्रह्मा, न विष्णु, न रुद्र, न ईश्वर न बिन्दु और न कला ही है। आगे (आदि), मध्य और अन्त में उन सबको (प्राणियों को) यथावस्थित ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे आगम, पुराण, इतिहास एवं धर्मशास्त्रों में अभिमान धारण करने वाले होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे जीव मुनि द्वारा उच्चरित किये गये श्रेष्ठ वचनों रूपी बुद्बुदों द्वारा विनिर्मित होते हैं। वहाँ (उस सन्दर्भ में) वैसों की ही प्रामाणिकता मान्य होती है। वे तो

अज्ञान से आवृत हैं। बहुत प्रयत्न करने पर कुछ ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, फिर भी यह उक्ति प्रसिद्ध है,कि वे सब (जीव) अज्ञान युक्त हैं, मुग्धतर हैं॥ १-क॥

इह तेनाप्यज्ञानेन नो किञ्चित्। अथ यथावस्थितज्ञानेन किंचित् नेति यदस्ति तदस्ति यन्नास्ति नास्ति तत्। कालकर्मात्मकमिदं स्वभावात्मकं चेति। न सुकृतं नो दुष्कृतम्। अत एव सुमेरुदातारो गोदातारो वा गोघ्नैः ब्राह्मणघ्नैः सुरापानैः पश्यतोहरैः परोक्षहरैर्वा गुरुपापनिष्ठैः सर्वपापनिष्ठैः समानास्त एते। तैश्च न गौः न ब्राह्मणः न सुरा न पश्यतोहरः न परोक्षहरः न गुरुपापानि न लघुपापानि मत एव तन्निष्ठाः मत एव न निर्वाणं नो निरय इति तदप्येष श्लोको भवति॥ १-ख॥

यहाँ उस अज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं है और उस यथावस्थित ज्ञान से भी कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका अस्तित्व है, उसका है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसका नहीं है। ये सभी काल-कर्मात्मक और स्वभावात्मक हैं। पुण्य और पाप भी नहीं है। अतएव सुमेरु (स्वर्ण) दाता, गोदाता अथवा गोहन्ता, ब्राह्मणहन्ता, सुरापायी, डाकू, चोर, गुरु (महान्) पापनिष्ठ तथा सर्वपापनिष्ठ ये सभी एक ही समान हैं। उनके लिए न गौ है, न ब्राह्मण है, न शराब पीने वाला है, न डाकू है, न चोर है, न बड़े पाप हैं, न छोटे पाप हैं। उनके लिए तो (उनका) मत सर्वोपरि है, क्योंकि मत में ही उनकी निष्ठा है। मोक्ष और नरक भी उनके लिए कुछ भी नहीं है। ऐसा इस श्लोक का अर्थ है॥ १-ख॥

तत्त्वज्ञानं गुहायां निविष्टमज्ञानिकृतमार्गं सुष्ठु वदन्ति। ते तत्र साभिमाना वर्तन्ते। पुष्पितवचनेन मोहितास्ते भवन्ति। स यथातुरा भिषग्ग्रहणकाले बाला अपथ्याहितगुडादिना जनन्या वञ्चिता इति नानादेवता गुरुकर्मतीर्थनिष्ठाश्च ते भवन्ति। केचिद्वयं वैदिका इति वदन्ति। नान्येऽस्मभ्यम्। केचिद्वयं सर्वशास्त्रज्ञा इति। केचिद्वयं देवानुग्रहवन्तः। केचिद्वयं स्वप्ने उपास्यदेवताभाषिणः। केचिद्वयं देवा इति। केचिद्वयं श्रीमद्रमारमणनलिनभृङ्गा इति। केचित्तु नृत्यन्तु। केचित्तु मूर्खा वयं परमभक्ता इति वदन्तो रुदन्ति पतन्ति च। ये केचनैते ते सर्वेऽप्यज्ञानिनः। ये तु ज्ञानिनो भवन्ति ये तत्त्वज्ञानिनश्च तैस्तेषां को विशेषः। मत एव केषाञ्चित्कैश्चिद्भेदः। मत एव यत्र विरिञ्चिविष्णुरुद्रा ईश्वरश्च गच्छन्ति तत्रैव श्वानो गर्दभाः मार्जाराः कृमयश्च मत एव न श्वानगर्दभौ न मार्जारः न कृमिः नोत्तमाः न मध्यमाः न जघन्याः। तदप्येष श्लोको भवति॥१-ग॥

तत्त्वज्ञान को गुहा में प्रविष्ट कहा गया है। अज्ञानियों द्वारा किये गये (ज्ञान हेतु अपनाये गये) मार्ग को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि वे अभिमान सहित उस मार्ग पर चलते हैं। वे पुष्पित (मुग्ध) वचनों के द्वारा मोहित हो जाते हैं। जिस प्रकार माताएँ बच्चों को दवा खिलाते समय अपथ्य गुड़ आदि मिलाकर उन्हें दवा खिलाती हैं अर्थात् अपथ्य गुड़ का प्रलोभन देकर औषधि खिला देती हैं; उसी प्रकार अनेक देवों की उपासना, गुरुओं के प्रति निष्ठा, तीर्थ सेवन और विभिन्न सत्कर्म करने वाले भी इन्हें (देवों आदि को) ठगते हैं अर्थात् उनके उपर्युक्त कर्मों के पीछे भी उनकी यही इच्छा रहती है कि हमारी सद्गति हो। कुछ लोग हम वैदिक हैं, ऐसा कहते हैं। अन्य लोग ऐसा नहीं कहते। कुछ अपने को समस्त शास्त्रों का ज्ञाता कहते हैं, कुछ अपने को देव अनुग्रहवान् कहते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम स्वप्न में अपने उपास्य देवता द्वारा बताई गई बात बता

देते हैं (जैसे लोग चोरी का सामान मिलने आदि के विषय में बता देते हैं।) कुछ लोग अपने को देवता बताते हैं। कुछ कहते हैं कि हम भगवान् विष्णु रूपी कमल पर गुंजार करने वाले भ्रमर (अर्थात् वैष्णव) हैं। कुछ (परम भक्त होने की) प्रसन्नता में नृत्य करें, तो करें। कुछ मूर्खजन अपने को परम भक्त बताते हुए रोते हैं और पतित होते हैं। जो भी इस प्रकार के हैं, वे प्रायः सभी अज्ञानी हैं। जो ज्ञानी हैं और जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनमें परस्पर कौन वरिष्ठ (विशेष) है (अर्थात् कोई नहीं)। किन्हीं का किन्हीं से केवल मत में ही भेद दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वमान्य मत है कि जहाँ ब्रह्मा,विष्णु, रुद्र और ईश्वर जाते हैं, वहीं कुत्ते, गधे, बिल्लियाँ और कृमि भी जाते हैं। यह भी सर्वमान्य है कि कुत्ते, गधे, बिल्लियाँ और कृमि न उत्तम हैं, न मध्यम हैं और न नीच हैं (सबका सृष्टि में अपना-अपना उपयुक्त स्थान है)। इस श्लोक का यही अर्थ हुआ॥ १-ग॥

न तच्छब्दः न किंशब्दः न सर्वे शब्दाः न माता नो पिता न बन्धुः न भार्या न पुत्रो न मित्रं नो सर्वे तथापि साधकैरात्मस्वरूपं वेदितुमिच्छद्भिर्जीवन्मुमुक्षुभिः सन्तः सेव्याः। भार्या पुत्रो गृहं धनं सर्वं तेभ्यो देयम्। कर्माद्वैतं न कार्यं भावाद्वैतं तु कार्यं। निश्चयेन सर्वाद्वैतं कर्तव्यम्। गुरौ द्वैतमवश्यं कार्यम्। यतो न तस्मादन्यत्। येन सर्वमिदं प्रकाशितम्। कोऽन्यः तस्मात्परः। स जीवन्मुक्तो भवति स जीवन्मुक्तो भवति। य एवं वेद। य एवं वेद॥१-घ॥

इसलिए न 'तत्' शब्द है, न 'किम्' शब्द है (अर्थात् प्रश्न और उत्तर कुछ नहीं है) और न सभी शब्द (अर्थात् अन्य कोई शब्द) हैं। न माता, न पिता, न बंधु, न पत्नी, न पुत्र, न मित्र और अन्य सब भी नहीं हैं, तो भी साधकों को आत्म स्वरूप को समझने की आकांक्षा से और जीवन्मुक्त होने की आकांक्षा से सन्त सेवा करनी चाहिए। स्त्री, पुत्र, धन, गृह सब कुछ उन्हें अर्पित कर देना चाहिए अर्थात् उनके निमित्त उनका मोह छोड़ देना चाहिए। कर्माद्वैत नहीं भावाद्वैत करना चाहिए। निश्चित ही सर्वाद्वैत करना चाहिए। गुरु में द्वैत अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उनसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। उनके द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है अर्थात् गुरु की कृपा से ही सब कुछ जाना जाता है। उनसे बढ़कर अन्य कौन है अर्थात् कोई नहीं। जो इस तथ्य को सम्यक् रूप से जानता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है॥१-घ॥

॥ इति स्वसंवेद्योपनिषत् समाप्ता ॥

॥ हंसोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं। ऋषि गौतम एवं सनत्कुमार के प्रश्नोत्तर रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। इसमें ऋषि गौतम द्वारा ब्रह्मविद्या की बात पूछे जाने पर सनत्कुमार जी ने वह प्रसंग सुनाया, जो महादेव जी ने श्री पार्वती जी को सुनाया था।

यह बड़ा ही गुह्य ज्ञान है, जिसे महादेव ने शान्त (मनोनिग्रह युक्त), दान्त (इन्द्रियनिग्रह युक्त) और गुरुभक्त को ही देने की बात कही है। वह हंस (जीवात्मा) सभी शरीरों में उसी प्रकार विद्यमान है, जैसे काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल। उसकी प्राप्ति के लिए षट्चक्र वेधन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। अष्टदल कमल से उसकी वृत्तियों का साम्य बताते हुए शुद्ध स्फटिक मणि सदृश ब्रह्म 'का स्वरूप वर्णित किया है। यही 'हंस' भी कहा जाता है। इसके ध्यान से नाद की उत्पत्ति कही गई है। जिसकी अनेक रूपों में अनुभूति होती है। इसी की चरमावस्था में परब्रह्म से साक्षात्कार होता है। यही अवस्था समाधि की स्थिति है। इसी स्थिति में शुद्ध-बुद्ध, नित्य, निरञ्जन, शान्त स्वरूप परब्रह्म के प्रकाशित होने का वेदानुवचन भी प्रसिद्ध है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः। (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

गौतम उवाच-भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद। ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि केनोपायेन जायते॥

ऋषि गौतम ने (सनत्कुमार से) प्रश्न किया-हे भगवन्! आप समस्त धर्मों के ज्ञाता और समस्त शास्त्रों के विशारद हैं। आप यह बताने की कृपा करें कि ब्रह्म विद्या किस उपाय द्वारा प्राप्त की जा सकती है॥ १॥

सनत्कुमार उवाच-विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम॥ २॥

सनत्कुमार ने कहा-हे गौतम! महादेव जी ने समस्त धर्मों (उपनिषदों) के मतों को विचार कर श्री पार्वती जी के प्रति जो भी कहा (व्याख्यान दिया) उसे तुम मुझसे सुनो॥ २॥

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसंनिभम्। हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥ ३॥

यह गूढ़ रहस्य किसी अज्ञात (अनधिकारी) से नहीं बताना चाहिए। योगियों के लिए तो यह (ज्ञान) एक कोश के समान है। हंस (परम आत्मा) की आकृति (स्थिति) का वर्णन भोग एवं मोक्षफल प्रदाता है॥

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामः।
ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय। हंसहंसेति सदा ध्यायन्॥ ४॥

जो गुरुभक्त सदैव हंस-हंस (सोऽहम्, सोऽहम्) का ध्यान करने वाला, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय तथा शान्त मन:स्थिति (इन्द्रियों) वाला हो, उसके समक्ष हंस-परमहंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए॥ ४॥

सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते। यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा मृत्युमत्येति॥ ५॥

जिस प्रकार तिल में तेल और काष्ठ में अग्नि संव्याप्त रहती है। उसी प्रकार समस्त शरीरों में व्याप्त होकर यह जीव 'हंस-हंस' इस प्रकार जप करता रहता है। इसे जानने के पश्चात् जीव मृत्यु से परे हो जाता है॥ ५॥

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन्ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येव सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति॥ ६॥

(हंस ज्ञान का उपाय-) सर्वप्रथम गुदा को खींचकर आधार चक्र से वायु को ऊपर उठा करके स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करे, तदुपरांत मणिपूरक चक्र में प्रवेश करके अनाहत चक्र का अतिक्रमण करे। इसके पश्चात् विशुद्ध चक्र में प्राणों को निरुद्ध करके आज्ञाचक्र का ध्यान करे, फिर ब्रह्मरंध्र का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान करते हुए कि मैं त्रिमात्र आत्मा हूँ। योगी सर्वदा अनाकार ब्रह्म को देखता हुआ अनाकारवत् हो जाता है अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं सर्वं व्याप्तम्॥ ७॥

वह परमहंस अनन्तकोटि सूर्य सदृश प्रकाश वाला है, जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् संव्याप्त है ॥ ७ ॥

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम्॥ ८॥

उस (जीव भाव सम्पन्न) हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ हैं। हृदय स्थित जो अष्टदल कमल है, उसके विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ विराजती हैं। इसके पूर्व दल में पुण्यमति, आग्नेय दल में निद्रा और आलस्य आदि, दक्षिणदल में क्रूरमति, नैर्ऋत्य दल में पाप बुद्धि, पश्चिमदल में क्रीड़ा वृत्ति, वायव्य दल में गमन करने की बुद्धि, उत्तर दल में आत्मा के प्रति प्रीति, ईशान दल में द्रव्यदान की वृत्ति, मध्य दल में वैराग्य की वृत्ति, (उस अष्टदल कमल के) केसर (तन्तु) में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्नावस्था, लिङ्ग में सुषुप्तावस्था होती है। जब वह हंस (जीव) उस पद्म का परित्याग कर देता है, तब तुरीयावस्था को प्राप्त होता है। जब नाद उस हंस में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत स्थिति को प्राप्त होता है॥ ८॥

अथो नाद आधाराद्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः। स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते॥ ९॥

इस प्रकार मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक जो नाद विद्यमान रहता है, वह शुद्ध स्फटिकमणि सदृश ब्रह्म है, उसी को परमात्मा कहते हैं॥ ९॥

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता।
हमिति बीजम्। स इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम्॥ १०॥

इस प्रकार इस (अजपा मंत्र) का ऋषि हंस (प्रत्यगात्मा) है, अव्यक्त गायत्री छन्द है और देवता परमहंस (परमात्मा) है। 'हं' बीज और 'सः' शक्ति है। सोऽहम् कीलक है॥ १०॥

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति। सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति॥११॥ अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासौ भवतः॥१२॥ एवं कृत्वा हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत्॥ १३॥

इस प्रकार इन षट् संख्यकों द्वारा एक अहोरात्र (अर्थात् २४ घंटों) में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिए जाते हैं। (अथवा गणेश आदि ६ देवताओं द्वारा दिन-रात्रि में २१,६०० बार सोऽहम् मंत्र का जप किया जाता है।) 'सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासाय अतनु सूक्ष्म प्रचोदयात् इति अग्नीषोमाभ्यां वौषट्' इस मंत्र को जपते हुए हृदयादि अंगन्यास तथा करन्यास करे। तत्पश्चात् हृदय स्थित अष्टदल कमल में हंस (प्रत्यगात्मा) का ध्यान करे॥ ११-१३॥

अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दु स्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ।
द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते॥ १४॥

अग्नि और सोम उस (हंस) के पक्ष (पंख) हैं, ओंकार सिर, बिन्दु सहित उकार (हंस का) तृतीय नेत्र है, मुख रुद्र है, दोनों चरण रुद्राणी हैं। इस प्रकार सगुण-निर्गुण भेद से-दो प्रकार से कण्ठ से नाद करते हुए, हंस रूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। अतः नाद द्वारा ध्यान करने पर साधक को उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति को 'अजपोपसंहार' कहते हैं॥ १४॥

एवं हंसवशात्तस्मान्मनो विचार्यते॥ १५॥

समस्त भाव हंस के अधीन हो जाते हैं, अतः साधक मन में स्थित रहते हुए हंस का चिन्तन करता है॥

अस्यैव जपकोट्यां नादमनुभवति एवं सर्वं हंसवशान्नादो दशविधो जायते। चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थम्। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः॥ १६॥ नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत्॥ १७॥

इसके (सोऽहम् मंत्र के) दस कोटि जप कर लेने पर साधक को नाद का अनुभव होता है। वह नाद दस प्रकार का होता है। प्रथम-चिणी, द्वितीय-चिञ्चिणी, तृतीय-घण्टनाद, चतुर्थ-शंखनाद, पंचम-तंत्री, षष्ठ-तालनाद, सप्तम-वेणुनाद, अष्टम-मृदङ्गनाद, नवम-भेरीनाद और दशम-मेघनाद होता है। इनमें से नौ का परित्याग करके दसवें नाद का अभ्यास करना चाहिए॥ १६-१७॥

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्। तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः॥१८॥
पञ्चमे स्त्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्। सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे॥ १९॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम्। दशमं परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ॥ २०॥

इन नादों के प्रभाव से शरीर में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रथम नाद के प्रभाव से शरीर में चिन-चिनी हो जाती है अर्थात् शरीर चिन-चिनाता है। द्वितीय से गात्र भंजन (अंगों में अकड़न) होती है, तृतीय से शरीर में पसीना आता है, चतुर्थ से सिर में कम्पन (कँप-कँपी) होती है, पाँचवें से तालु से स्राव उत्पन्न होता है, छठे से अमृत वर्षा होती है, सातवें से गूढ़ ज्ञान-विज्ञान का लाभ प्राप्त होता है, आठवें से परावाणी प्राप्त होती है, नौवें से शरीर को अदृश्य करने (अन्तर्धान करने) तथा निर्मल दिव्य दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है और दसवें से परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके साधक ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है॥ १८-२०॥

तस्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धं पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति वेदानुवचनं भवतीत्युपनिषत्॥ २१॥

जब मन उस हंस रूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, उस स्थिति में संकल्प-विकल्प मन में विलीन हो जाते हैं तथा पुण्य और पाप भी दग्ध हो जाते हैं, तब वह हंस सदा शिवरूप, शक्ति (चैतन्य स्वरूप) आत्मा सर्वत्र विराजमान, स्वयं प्रकाशित, शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरञ्जन, शान्तरूप होकर प्रकाशमान होता है, ऐसा वेद का वचन है। इस रहस्य के साथ इस उपनिषद् का समापन होता है॥ २१॥

ॐ पूर्णमदः .... इति शान्तिः॥

॥ इति हंसोपनिषत्समाप्ता॥

परिशिष्ट-१

परिभाषा-कोश -१०८उपनिषद्-ब्रह्मविद्या खण्ड

१. **अक्षय—** कोश ग्रन्थों के अनुसार अक्षय का अर्थ है-'**नास्ति क्षयोऽस्य**' अर्थात् जिसका कभी क्षय (क्षरण) न हो, जो अविनाशी हो। जो सदा रहने वाला शाश्वत और कल्पान्त स्थायी हो। उपर्युक्त सभी गुणों का ईश्वर में समावेश है। अत: परमात्मा को अक्षय कहते हैं। अक्षय अर्थ में ही 'अक्षर' शब्द भी प्रयुक्त होता है- '**न क्षरमिति अक्षरम्**' अर्थात् जो कभी अपने स्वरूप से विचलित न हो, वह अक्षर है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो इस 'अक्षर' (ब्रह्म) को (भलीप्रकार) जान लेता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है-**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्** (कठो० १.२.१६)।

वस्तुत: संसार में दो प्रकार की सृष्टि है-क्षर और अक्षर। सभी परिवर्तनशील, यहाँ तक जीव-जगत् भी 'क्षर' हैं; किन्तु जो सदैव एक सा ही रहता है, कूटस्थ है-वह 'अक्षर' है-**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते** (गी० १५.१६)। कभी विनष्ट न होने के अर्थ में-विशेषण रूप में भी अक्षय शब्द कई शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे-अक्षय तृतीया, अक्षय चतुर्थी, अक्षय नवमी, अक्षय पात्र तथा अक्षय वट आदि।

२. **अग्निष्टोम** —अग्निष्टोम एक श्रौत यज्ञ है। यह यज्ञ प्राय: दो प्रकार का होता है—१. सोमयज्ञ २. हविर्यज्ञ। जिस यज्ञ में सोमरस से आहुति प्रदान की जाती है, वह सोमयज्ञ तथा जिसमें दूध, दही, घी और पुरोडाश आदि पिष्टक आहुति देकर यजन किया जाता है, वह हविर्यज्ञ कहलाता है। 'अग्निष्टोम' सोमयज्ञ के अन्तर्गत आता है। इसमें प्रथम सोमरस से आहुति दी जाती है, तत्पश्चात् सोमरस का पान किया जाता है। इस यज्ञ का काल वसन्त ऋतु माना जाता है; क्योंकि वसन्त में सोम प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता रहा-**वसन्ते अग्निष्टोमः इति कात्यायनः**। इस यज्ञ में प्रमुखत: अग्निदेव का स्तवन किया जाता है, इसलिए इसका नाम अग्निष्टोम पड़ा है- **अग्नीनां स्तोमः इति अग्निष्टोमः**। इसमें अग्निदेव के अतिरिक्त कुछ विशेष उद्देश्यों से इन्द्र और वायु आदि देवताओं का स्तवन भी किया जाता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (६.१.१) में उल्लेख है कि प्रजापति ने बहु प्रजा के सृजन की इच्छा से अग्निष्टोम का दर्शन किया, उसे लाये और उसके माध्यम से प्रजा का सृजन किया-**प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्तेनेमाः प्रजा असृजत।**

३. **अग्निहोत्र—** अग्निहोत्र एक यज्ञ विशेष है, जिसमें मात्र अग्निदेव के लिए ही आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं—**अग्नये हूयतेऽत्र** (वाच० पृ० ६१)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्राचीन काल में एक बार प्रजापति के भय से अग्निदेव के पलायन करने पर प्रजापति ने उसी अग्नि में 'स्वाहा' पूर्वक आहुतियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम आहुति से पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, द्वितीय आहुति से अश्वादि जन्मे। इस पर अग्नि को यह भय उत्पन्न हो गया कि प्रजापति बारम्बार आहुतियाँ प्रदान करके अपना अभीष्ट प्राप्त करेंगे और उन्हें (अग्नि को) उन आहुतियों का भाग भी न देंगे। आहुतियों का भाग मात्र देवगण ही ग्रहण करेंगे, तब तो मैं भूखा ही रहूँगा। अत: इस बार अग्निदेव पलायन न करके प्रजापति के अन्दर ही प्रविष्ट हो गये। प्रजापति ने कहा कि हे अग्ने! जन्म ग्रहण करो-जन्म ग्रहण करो। अग्निदेव ने कहा कि मुझे आहुतियों का भाग नहीं मिलता, अत: भूखा रहकर मैं सेवा करने में असमर्थ हूँ। प्रजापति ने यह कहकर उन्हें भाग प्रदान किया कि अग्निहोत्रगत वह हवि आपके लिए ही दी गई थी (**अग्नये हूयते इति अग्निहोत्रम्**)। इसके पश्चात् प्रजापति के उदर से अग्निदेव का पुन: प्राकट्य हुआ-**सोऽग्निरबिभेत्। आहुतीभिर्वै माऽऽप्नोतीति। स प्रजापतिं पुनः प्राविशत्**.........(तैत्ति० ब्रा० २.१.२.५)। अग्निहोत्र के दो प्रकार बताए गए हैं-एक तो प्रतिदिन चलते रहकर एक मास में पूर्ण होने वाला तथा दूसरा यावज्जीवन (जीवनभर) चलने वाला। आजीवन चलने वाले अग्निहोत्र में प्रात:-सायं दोनों समय अग्नि में आहुति प्रदान की जाती है और अन्त में अग्निहोत्री का दाह संस्कार भी उसी अग्नि से किया जाता है। विवाह के पश्चात् ब्राह्मण को वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य को शरद ऋतु में अग्नि स्थापन करके शास्त्र वर्णित मन्त्र से अग्निहोत्र प्रारम्भ करना चाहिए। प्राचीनकाल में तो विभिन्न प्रकार के हव्य पदार्थों से अग्निहोत्र होता था; पर अब दुग्ध, घृत आदि सुलभ द्रव्यों द्वारा ही अग्निहोत्र करने का प्रचलन है।

४. **अजपा गायत्री—** जो जप बिना प्रयत्न के ही स्वाभाविक रूप से चलता रहे, वह अजपा जप कहलाता है- **प्रयत्नेन न जप्या अप्रयत्नोच्चारितत्वात् जप कर्मणि** ......(वाच० पृ० ८९)। इसे सोऽहम् तथा हंस साधना भी कहते हैं। सहज

श्वास-प्रश्वास के क्रम में जब हम श्वास को अन्दर खींचते हैं, तो वायु प्रवेश के साथ ही एक सूक्ष्म ध्वनि होती है, जिसका उच्चारण 'सो ऽऽऽ' जैसा होता है। कुछ देर श्वास अन्दर ठहरती है, उस समय 'अ ऽऽऽ' जैसी ध्वनि होती है तथा जब श्वास बाहर निकलती है, तो 'हं' जैसी ध्वनि होती है। इन्हीं तीनों ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने से 'सोऽहम्' के अजपा जप की स्थिति बन जाती है—**श्वासप्रश्वासयोः बहिर्गमनागमनाभ्याम् अक्षरनिष्पादनरूपे जपे स च हंसः सोहमित्याकारस्यैव तदाकारमन्त्रे च** (वाच०पृ०८९)। शास्त्रों के अनुसार रात्रि और दिन में कुल मिलाकर हम २१,६०० बार श्वास ग्रहण करते हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से जिस मन्त्र का जप चलता है, उसे हंस मन्त्र या अजपा मन्त्र कहते हैं। प्राणों की रक्षा करने वाली शक्ति का नाम गायत्री है-**गयान् प्राणान् त्रायते इति गायत्री**। इस साधना से प्राण शक्ति को रक्षा होती है। अतः इसे अजपा गायत्री कहते हैं।

५. **अजपा जप—** द्र०- अजपा गायत्री।

६. **अजपा मन्त्र—** द्र०- अजपा गायत्री।

७. **अजर—** अध्यात्म सम्बन्धी प्रकरणों में प्रायः 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है। अजर का शाब्दिक अर्थ है- '**नास्ति जराऽस्याः**' अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था न हो। देवों को भी 'अजर' कहा जाता है; क्योंकि वे भी कभी वृद्ध नहीं होते। कोश ग्रन्थों में उल्लेख है कि '**नास्ति जरा यस्य, देवे। तेषां षड्भावविकारमध्ये जायतेऽस्ति वर्धते इति तिसृणामेव दशानां सद्भावात् तदुत्तरवर्त्तिनीनां 'विपरिणमते अपक्षीयते नश्यतीति' तिसृणामभावादजरत्वम्** (वाच०पृ०९०)' अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था न हो, जैसे देवता। उनमें छः भाव विकारों के बीच-जन्म,अस्तित्व तथा विकास इन तीन अवस्थाओं को स्थिति तथा परिवर्तन, क्षरण और नाश, इन तीन अवस्थाओं का अभाव होने से 'अजरता' सिद्ध होती है। आत्मा और परमात्मा के विशेषण रूप में भी 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है; क्योंकि ये सभी अवस्थाओं (जन्म, शैशव, कैशोर्य, युवावस्था, जरावस्था और मृत्यु) से परे हैं। घृतकुमारी को भी अजरा कहते हैं; क्योंकि वह औषधि-वनस्पति कभी सूखती नहीं अर्थात् कभी वृद्ध नहीं होती।

८. **अज्ञान-आवरण—** नैयायिकों के अनुसार ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है- **अज्ञानञ्च ज्ञानाभाव इति नैयायिकाः**। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने पाँच प्रकार के अज्ञान का सृजन किया था, ये हैं-तम, मोह,महामोह,तामिस्र और अन्धतामिस्र-**सृष्टिकाले ब्रह्मा प्रथमं पञ्च प्रकारमज्ञानं ससर्ज। यथा तमः, मोहः, महामोहः, तामिस्रं, अन्धतामिस्रं इति श्रीभागवतम्** (श०क० खं०१ पृ० २३)। ज्ञान के विरोधी भाव को अज्ञान कहते हैं, ऐसा वेदान्त का मत है। सत् और असत् के वास्तविक रूप को जानने के लिए त्रिगुणात्मक भावरूप ज्ञान आवश्यक है और जो इसमें अवरोध उत्पन्न करे, वही अज्ञान है। कई स्थलों पर 'अज्ञान' के साथ 'आवरण' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि अज्ञान वस्तुस्थिति पर आवरण के समान होता है, जो मूल स्थिति से अवगत नहीं होने देता, इसी से जीव मोहित होते देखे जाते हैं। गीता (५.१५) में उल्लेख है- '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**'। वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं- १. आवरण २. विक्षेप। अज्ञान अपनी प्रथम शक्ति-आवरण से रज्जु के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझने देता और अपनी द्वितीय शक्ति-विक्षेप से उसमें 'सर्प' होने को नवीन कल्पना उत्पन्न कर देता है। आवरण शक्ति के विषय में श्री नृसिंह सरस्वती ने लिखा है कि जो सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत कर लेती है, वह आवरण शक्ति है- **सच्चिदानन्द -स्वरूपमावृणोत्यावरणशक्तिः** (वे० सा० सु०पृ० १३)।

९. **अद्वयानन्द—** ब्रह्म और जीव तथा आत्मा और जगत् को एक ही मानने वाली विचारधारा को अद्वैतवाद कहते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं; पर आचार्य शंकर ने इन्हें एक ही माना है। वेदों और उपनिषदों में भी यही प्रतिपादन है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दो० ३.१४.१); **नेह नानास्ति किंचन** (बृह०उ० ४.४.१९)। ऋग्वेद में उल्लेख है कि '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' (ऋ० १.१६४.४६)। द्वित्व का भेद जहाँ नहीं है, उस भाव की अनुभूति का नाम ही अद्वयानन्द है। कोश ग्रन्थों में उल्लेख है-**नास्ति द्वयं द्वित्वं भेदः तज्ज्ञानं वा यस्य यत्र वा तादृश आनन्दः** (वाच० पृ० ११९)। ब्रह्मरूप आनन्द ही अद्वयानन्द है-**ब्रह्मरूपानन्दे अद्वैतानन्दे। अर्थतो ऽप्यद्वयानन्दमतीतद्वैतभानत इति वे० सा०** (वाच०पृ० ११९)। हिन्दी विश्वकोश में उल्लेख है कि अद्वय से उत्पन्न आनन्द या ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न आनन्द या आत्मबोध से उत्पन्न आनन्द ही अद्वयानन्द है-**अद्वयात् लब्धः आनन्दः। ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञानोदित आनन्द** (हि०वि० को० खं०१पृ० ३४३)। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान या आत्मबोध से उत्पन्न आनन्द को आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द या परमानन्द कहते हैं। सतत स्थिर रहने के कारण इस आनन्द को अखण्डानन्द-सदानन्द भी

कहते हैं-**अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः। बहिरन्तः सदानन्द रसास्वादनमात्मनि** (अध्यात्मो० २७)।

१०. **अद्वैत**— द्र०-ज्ञान खण्ड।

११. **अध्यारोप-अपवाद**— अध्यारोप और अपवाद न्याय का उल्लेख वेदान्त दर्शन में मिलता है। जिसके माध्यम से ब्रह्म-जीव का ऐक्य प्रतिपादित किया जाता है, उस प्रणाली को अध्यारोप कहते हैं। दूसरे शब्दों में अवस्तु में वस्तु का आरोप अध्यारोप है। जैसे रज्जु (रस्सी) में सर्प का आरोप, सर्प रूप अवस्तु (जो वहाँ उपस्थित नहीं है) का रज्जु रूप-वस्तु (जो वहाँ उपस्थित है) में आरोप ही अध्यारोप है; उसी प्रकार ब्रह्म रूप वस्तु में जगत् रूप अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। वेदान्त विमर्श पृ० १०३ में यह तथ्य इस प्रकार निर्दिष्ट है-"**असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादि सकलजड समूहोऽवस्तु।**" इस अध्यारोप को ही आचार्य शंकर ने अध्यास कहा है- **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति** (ब्र० सू० शां०भा० १.१.१)।

इसी प्रकार विपर्यय या विपर्यास (वस्तु के विपरीत प्रतीति), भ्रम आदि शब्द भी अध्यारोप के ही पर्यायवाची हैं। अध्यारोप (मिथ्या-प्रतीति) का निराकरण अपवाद द्वारा होता है। अपवाद की व्युत्पत्ति अप उपसर्ग पूर्वक वद् धातु से घञ् प्रत्यय से मानी गयी है, जिसका अर्थ निषेध या निराकरण है। अध्यारोप के कारण वस्तु में अवस्तु का आरोप हो जाने से-रज्जु में सर्प के आरोप से वह सर्प ही प्रतीत होती है; पर जब प्रकाश के माध्यम से यह सिद्ध हो जाये कि यह सर्प नहीं रज्जु ही है, तो यह प्रक्रिया (निराकरण प्रक्रिया) अपवाद कहलायेगी। वे०सा० में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्वाद् वस्तु विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्** (वे०सा० खण्ड २१) अर्थात् अध्यारोप के कारण रस्सी सर्पाभास (सर्प होने का आभास) रज्जु का विवर्त [रज्जु का अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए, अन्यरूप (सर्प के रूप में) भासित होना] होने से रज्जु मात्र ही ही जाती है अर्थात् सर्प की अधिष्ठान (आधार) रूप रज्जु को अपने मूल रूप में पहचान लेना ही अपवाद है। इसी प्रकार वस्तुरूप ब्रह्म में अध्यारोपित अवस्तु जड़ जगत् को वस्तुतः ब्रह्म ही जान लेना अपवाद है। पैङ्गलोपनिषद् में भी अध्यारोप और अपवाद द्वारा स्वरूप का निश्चय करने के तथ्य की पुष्टि की गई है-.........**अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते** (पैङ्गलो० २.१.८)।

१२. **अध्यास**—द्र०-**अध्यारोप-अपवाद**।

१३. **अध्वर्यु**— आर्ष ग्रन्थों में यज्ञ सम्पन्न कराने वाले ऋत्विजों (ब्राह्मणों) के अन्तर्गत 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज् का भी उल्लेख मिलता है। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इनकी (ऋत्विजों की) संख्या प्रायः सोलह (ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र,पोता, उद्गाता,प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य, होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता) बतायी गई है; पर प्रमुखतः इनकी संख्या सात ही है। ऋग्वेद में इनका वर्णन इन शब्दो में मिलता है-**तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः। तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे** (ऋ० २.१.२)। ये ऋत्विज् होता, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा हैं। इनमें होता का कार्य ऋचाओं का गान करना तथा अध्वर्यु का कार्य प्रार्थना, निर्ऋतिनाशक मन्त्रोच्चारण तथा यज्ञ के व्यावहारिक कार्य करना है। वाचस्पत्यम् के अनुसार अध्वर्यु का प्रमुख कार्य यजुर्वेदज्ञ होकर यज्ञ की विधि-व्यवस्था बनाना तथा होता को प्रोत्साहित करना है—**अध्वरमिच्छति ....। यजुर्वेदज्ञे होमकारिणि ऋत्विजि। 'निर्मिमीते क्रिया संघैरध्वर्य्युर्यज्ञियं वपु' रिति सा०भा०। ....होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीति......सि०कौ०** (वाच०पृ०१४२)।

१४. **अनन्त**— द्र०- **ज्ञानखण्ड**।

१५. **अनाहत नाद**— अनाहत शब्द दो पदों से मिल कर बना है। अन्+आहत अर्थात् जो शब्द बिना आघात या धक्का के अपने आप उत्पन्न हुआ हो। योगीजन इस नाद को दोनों कानों में अँगुली लगाकर सुनते हैं। ओंकार ध्वनि या सोऽहम् ध्वनि अनाहत या अनहद नाद कहलाती है। तन्त्र शास्त्र में वर्णन मिलता है कि हृदय स्थित सुषुम्ना के मध्य में द्वादशदल कमल में स्थित शब्द ब्रह्ममय है, जो अनाहत है-**तन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धे हृदयस्थिते सुषुम्णामध्यस्थे द्वादशदलपद्मे शब्दो ब्रह्ममयः, शब्दोऽनाहतो यत्र दृश्यते अनाहताख्यं तत् पद्मं मुनिभिः परिकीर्त्तित-मित्युक्तलक्षणे** (वाच०पृ० १६१)। शास्त्रों में उल्लेख है कि हठयोग में कुण्डलिनी को जाग्रत् किया जाता है। वह जब जाग्रत् होने की स्थिति में ऊर्ध्वमुखी होती है, उस समय बिना किसी आघात के जो विस्फोट होता है, वही अनाहत नाद है। इसका अनुभव किसी को शंख

ध्वनि की तरह, किसी को भ्रमरगुञ्जन और किसी को सोऽहम् नाद तथा किसी को ॐकार ध्वनि की तरह होता है।

१६. **अनियामकत्व—** उपनिषदों में कई स्थानों पर 'अनियामकत्व' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'नियामक' शब्द से बना है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है- **नि+यम-णिच्-ण्वुल्, नियमकारके नियामकत्वम् अदृष्टकालादेः "कारणस्य कार्यं प्रति नियामकत्वम्"** अर्थात् कारण का नियमन,नियन्त्रण करने वाला। हिन्दी विश्वकोश में भी इसका अर्थ नियम करने वाला, नियम या कायदा बाँधने वाला, व्यवस्था करने वाला आदि दिया है। इसी नियामक शब्द में अभावार्थक 'अ' उपसर्ग जोड़ने से भाववाचक संज्ञा में 'अनियामकत्व' शब्द बनता है, जो किसी को वश में-नियन्त्रण में न रखने वाले गुण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निर्वाण उपनिषद् में परमहंस की स्थिति का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- **'अनियामकत्व निर्मल शक्तिः'** अर्थात् अनियामकत्व ही उनकी (परमहंसों की) निर्मल शक्ति होती है। ईश्वर के द्वारा सभी जीव नियन्त्रित हैं; क्योंकि वह उनका नियामक है- **ईश्वरेण स्वस्वकार्ये नियम्यत इति नियम्यं जीवजातम्। तदन्तर्यामिनियामकः ईश्वरः** (निर्वाणो० ५२ टीका)। परमहंस लोग मायातीत हो जाने के कारण तथा सर्वसाक्षित्व के कारण अनियामकत्व गुण से ओत-प्रोत होते हैं अर्थात् वे न किसी के द्वारा नियन्त्रित होते हैं और न ही वे किसी को अपने वश में करते हैं,वरन् साक्षीभाव से युक्त रहते है-**तयोः मायिकत्वेन तदतीतत्वं अनियामकत्वं सर्वसाक्षित्वम्** (निर्वाणो० ५२ टीका)।

१७. **अनुपवीत —** भारतीय संस्कृति में द्विज को यज्ञोपवीतधारी होना आवश्यक माना जाता है। जिसका दूसरा जन्म हुआ हो, वह द्विज कहलाता है- **द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विजः** अर्थात् जिसने वर्तमान ढर्रे के जीवन को छोड़कर आदर्शवादिता के क्षेत्र में प्रवेश करके नया जन्म धारण किया हो, वह द्विज कहलाता है और उसका प्रतीक होता है, यज्ञ का उपवीत (धागा) यज्ञोपवीत। यज्ञोपवीतधारी होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति जो यज्ञीय जीवन (त्यागमयजीवन) जीता हुआ, अपने को पवित्र बनाता हुआ, परमार्थ परायणता के पथ पर अग्रसर होता है। अपने धर्म का पालन न करता हुआ, जो यज्ञोपवीत भी धारण नहीं करता, वह अनुपवीत कहलाता है। प्राचीन काल में वर्णाश्रम धर्मानुसार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार था। ये यदि यज्ञोपवीत धारण नहीं करते थे, तो इन्हें अनुपवीत कहा जाता था। उपवीतधारी को यज्ञीय जीवन जीने के साथ ही गायत्री उपासक होना आवश्यक है; क्योंकि यज्ञोपवीत वस्तुतः गायत्री की ही मूर्तिमान् प्रतिमा है। गायत्री मन्त्र के नौ शब्द यज्ञोपवीत के नौ धागे तथा एक प्रणव व तीन व्याहृतियाँ उसकी चार ग्रन्थियाँ हैं। उपवीत रूप में गायत्री की प्रतिमा को धारण न करने.वाला ही अनुपवीत है। अथर्वशिर उपनिषद् में उल्लेख है कि इस उपनिषद् का पाठ करने वाला श्रोत्रिय न हो, तो श्रोत्रिय और अनुपवीत हो, तो उपवीत वाला हो जाता है- **य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति, अनुपनीत उपनीतो भवति** ....(अथर्वशिर० ७)।

१८. **अनुष्टुप्—** महर्षि कात्यायन ने सर्वानुक्रमणिका में सात वैदिक छन्दों का उल्लेख किया है- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। जिसमें अनुष्टुप् भी एक छन्द है। इसमें आठ-आठ अक्षर के चार पाद होते हैं। वैदिक काल में अनुष्टुप् छन्द का नाम मिलता है- **"अनुष्टुभा सोम उक्थैः"** (ऋ० १०.१३०.४)। अनुष्टुप् छन्द सरल और मधुर होने से श्लोक रचना में सहज पड़ता है। श्रुतबोध में अनुष्टुप् छन्द का लक्षण बताते हुए लिखा है-**पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। षष्ठं गुरु विजानीयादित्यनुष्टुभ लक्षणम्** (श्रुतबोध) अर्थात् सभी पादों का पञ्चम वर्ण एवं द्वितीय-चतुर्थ पाद का सप्तम वर्ण लघु और षष्ठ वर्ण गुरु रहने से अनुष्टुप् छन्द कहलाता है। किसी-किसी स्थल में पञ्चम वर्ण भी गुरु रहता है। यथा- **"तिथ्यादितत्त्वं तत् प्रीत्यै"** (स्मार्त)। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है कि अनुष्टुप् छन्द से स्वर्ग प्राप्ति की कामना पूर्ण होती है- **अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीतः**। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि एकविंशस्तोम, अथर्ववेद, आप्तोर्याम नामक याग, अनुष्टुप् छन्द और वैराजसाम ब्रह्मा के उत्तर मुख से उत्पन्न हुआ था- **"एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च। अनुष्टुभं स वैराजम् उत्तरादसृजन् मुखात्"** (वि०पु० १.५.४५)। इसी प्रकार जगती छन्द में चार चरण होते हैं,जिनमें प्रत्येक में बारह-बारह वर्ण होते हैं। त्रिष्टुप् छन्द में भी चार चरण होते हैं, जिनमें प्रत्येक में ग्यारह-ग्यारह वर्ण (अक्षर) होते हैं।

१९. **अन्तर्यामी— द्र०-ज्ञानखण्ड -अन्तर्यामी साक्षी।**

२०. **अन्तःकरण चतुष्टय— द्र० - ज्ञानखण्ड ।**

२१. **अपरिग्रह**— द्र०- यम।

२२. **अपरिग्रही**— भारतीय योग दर्शन में यम-नियम के अन्तर्गत अपरिग्रह का बहुत महत्त्व है। योग दर्शन में यम के पाँच भेद निरूपित किये गये हैं- **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अधिक संग्रह न करना)-ये यम कहलाते हैं। इसी प्रकार गायत्री उपासक-यज्ञोपवीतधारी को शास्त्र वर्णित जिन नौ गुणों से युक्त होना अनिवार्य है, उनमें भी अपरिग्रह महत्त्वपूर्ण गुण है- **अहिंसा सत्यमस्तेयं तितिक्षा चापरिग्रहः। आस्तिक्यं संयमं शान्तिः शुचिश्च नवसंख्यकाः।** जो साधक आवश्यकता मे अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है, वह परिग्रही तथा जो ऐसा नहीं करता वह अपरिग्रही कहलाता है। जैन धर्म के अनुसार मोह का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार कर देना भी अपरिग्रह की श्रेणी में माना जाता है। महर्षि व्यास का कथन है कि विषयों में विविध दोष दर्शन कर, उन्हें ग्रहण न करना अपरिग्रह है- **विषयाणामर्जनरक्षण-क्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः** (सां०यो०द०व्या०भा०)। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अपरिग्रह स्थिर हो जाने पर साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है- **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता-सम्बोधः** (यो०द० २.३९)। समाज में अपरिग्रह धर्म का पालन करना सभी के लिए आवश्यक है। इस व्रत का समुचित रूप से पालन न होने से समाज में असमानता दिखाई देती है। यदि समाज के व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक धन-साधन अपने पास न रखें (अपरिग्रही बनें), तो उससे अनेक अभावग्रस्तों की पूर्ति हो सकती है और सम्पूर्ण समाज सुखी-समुन्नत बन सकता है।

२३. **अपान**— पाँचों प्राणों में से यह एक है। वेदान्तसार के अनुसार ये प्राणादिवायु निम्नलिखित है- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान- **वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः** (वे०सा०, खण्ड १३)। ऊर्ध्वगमनशील नासाग्रवर्ती वायु को प्राण कहा जाता है। अपान मलादि का निःसरण करके जीवन प्रदान करता है, जैसा कि हलायुध कोश में कहा गया है- **'अपानयति मलादिनिःसारणेन जीवयति।'** अपान वायु की अवस्थिति गुदा और उपस्थ में होती है। नाभि से नीचे की ओर जाना इसका स्वभाव है। अतः इसे अधोगमनशील कहा गया है। योग दर्शन के अनुसार मूत्र, पुरीष (मल), गर्भादि के बहिर्निःसरण को प्रक्रिया जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, उसे अपान कहा जाता है (यो०सू० ३.३९)। योगी लोग मलद्वार से जल को ऊपर खींचकर आँतों का शोधन कर लेते हैं, इसी से इसका नाम अपान है। इस प्रक्रिया के लिए आधुनिक योगियों में श्री देवरहा बाबा विशेष ख्याति-सिद्ध थे।

२४. **अमनस्क स्थिति**— योग की विभिन्न स्थितियों में एक उन्मनी अवस्था या उन्मनी भाव का भी वर्णन मिलता है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि साधक जब ब्रह्म से एकाकार हो जाता है, तब उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है। उन्मनी अवस्था अर्थात् तत्त्वज्ञान पूर्ण स्थिति-**उन्मनी नाम तत्त्वज्ञानम्** (मं०ब्रा०उ० २.२.४ टीका)। उन्मनी अवस्था के द्वारा मनरहित स्थिति हो जाती है, जिसे अमनस्क स्थिति कहते हैं- **उन्मन्या अमनस्कं भवति** (मं०ब्रा०उ० २.२.४) अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है। मन का प्रमुख कार्य इच्छा करना, संकल्प-विकल्प करना है; किन्तु अमनस्क स्थिति में साधक इन से रहित हो जाता है। संस्कृत के प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में उल्लेख है- **नास्ति कार्य्यक्षमं मनो यस्य। ....मनोवृत्तिहीने योगिनि च। सर्वथा मनःशून्य** (वाच०पृ० ३१८)। इस अमनस्क स्थिति वाले साधक के लिए स्थूल पूजा-उपचार का कोई महत्त्व नहीं रहता, फिर तो निश्चिन्त (चिन्ता रहित) अवस्था ही उसका ध्यान है, सर्वकर्म निराकरण ही आवाहन है, निश्चयात्मक ज्ञान ही आसन है,उन्मनी भाव ही पाद्य है, अमनस्क स्थिति अर्घ्य है, सदैव दीप्ति और अमृतवृत्ति ही स्नान है, सबमें ब्रह्म भावना ही गन्ध है, दर्शन के स्वरूप में स्थित होना ही अक्षत है। ....मौन ही स्तुति है तथा सभी प्रकार से हर स्थिति में सन्तोष ही विसर्जन है— **तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम् .....सर्वसंतोषो विसर्जनमिति ...** (मं०ब्रा०उ० २.२.५)। इस प्रकार ब्रह्म-अनुसन्धान करने वाला साधक ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

२५. **अमरोली मुद्रा**— द्र०-मुद्रा।

२६. **अमानित्वगुण** — अनेक सद्गुणों में अमानित्व गुण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे एक प्रकार से लज्जाशीलता का गुण भी कह सकते हैं। निरहंकारिता या दम्भ शून्यता भी अमानित्व है। वाचस्पत्यम् पृ० ३२१ में उल्लेख है- **अभिमानशून्ये ''अमानित्वमदम्भित्वम्'' गीता।** निरहंकारी या अमानित्व गुण सम्पन्न व्यक्ति सबके हृदय में अपना

स्थान बना लेता है तथा कठोर से कठोर व्यक्ति से वह अपना कार्य अपनी विनम्रता द्वारा सम्पन्न करा लेता है। इस गुण का कोई मूल्य नहीं; किन्तु इससे सब कुछ क्रय किया जा सकता है। यह संत वचन है कि **शालीनता बिना मोल मिलती है; किन्तु उससे सब कुछ खरीदा जा सकता है।** सामान्य स्थिति में जहाँ अपनी थोड़ी सी निन्दा सुनकर व्यक्ति उत्तेजित हो जाते हैं, वहीं अमानित्व सम्पन्न व्यक्ति उसे (निन्दक को) अपनी साधना में सहायक मानते हुए उसका उपकार मानते हैं। एक सूफी संत ने लिखा है- '**निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय, बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय।**' संन्यासी व्यक्ति को मान-अपमान से अलग रहना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् के अनुसार दूसरों के द्वारा प्राप्त आदर साधक के तप-उपार्जन में बाधक है एवं दूसरों के द्वारा किया गया अपमान उसके तप-उपार्जन में सहायक है। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए संन्यासी के गुणों के सन्दर्भ में उपनिषद्कार ने लिखा है- **न सुखं न दु:खं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जित:, निन्दाहंकारमत्सरग-र्वदम्भेर्ष्या.... निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत्** (ना०परि० ३.९०)।

२७. **अवधारणा**— अवधारणा शब्द का उपयोग प्राय: किसी विषय में मन में उत्पन्न कल्पना, धारणा या विचार के उदय होने, बनने या स्थिर होने के सन्दर्भ में किया जाता है। कुछ कोश ग्रन्थों में इसका अर्थ किसी तथ्य के सम्बन्ध में निश्चय, पुष्टिकरण, (विषय की)सीमा निश्चित करना आदि किया गया है। संस्कृत हिन्दी कोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है — **अवधारणा-अव+धृ+णिच्+ल्युट्,** जिसके उपर्युक्त कई अर्थ बताये गये हैं। उपनिषदों में अन्त:करण चतुष्टय के नियमों के सन्दर्भ में अवधारणा का उल्लेख हुआ है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्त:करण चतुष्टय के अन्तर्गत आते हैं। शारीरकोपनिषद् में सङ्कल्प-विकल्प को मन का विषय, अध्यवसाय (निश्चित होने की प्रक्रिया) को बुद्धि का विषय, अभिमान को अहंकार का विषय तथा अवधारणा (किसी विषय का तथ्य निश्चित हो जाने) को चित्त का विषय कहा गया है—**मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्त:करणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसा-याभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषया:** (शारीरको० ४)। इसी उपनिषद् में मन का स्थान गलान्त (गले का अन्तिम भाग), बुद्धि का स्थान मुख, अहंकार का हृदय तथा चित्त का स्थान नाभि कहा गया है— **मन: स्थानं गलान्तं बुद्धेर्वद-नमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति** (शारीरको० ४)।

२८. **अवधूत**— सनातन धर्म के अनुसार चार आश्रम माने जाते हैं, जिनमें जीवनावधि को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है। ये हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें अन्तिम आश्रम संन्यास है। इसे प्रव्रज्या आश्रम भी कहते हैं, क्योंकि इसमें परिव्राजक (संन्यासी) लोकमंगल और आत्म कल्याण के निमित्त निरन्तर परि+व्रज्या (परिभ्रमण) करता रहता है। संन्यासी व्यक्ति उसे कहते हैं, जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके संसार के समस्त आकर्षणों का परित्याग कर दिया हो, साथ ही वह एक मात्र मोक्ष के उपाय में लगा हो। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने वाले के लिए पञ्चमात्राएँ धारण करने का निर्देश दिया गया है— **अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधान:** (शाट्यायनी० ६)। त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र-कौपीन (उत्तरीय-लँगोटी), शिक्य (छींका) और पवित्री ये ही स्थितिभेद से संन्यासियों के लिए निर्धारित पञ्चमात्राएँ कहलाती हैं। इन्हें स्थिति के अनुरूप यथा-शास्त्र-निर्देश यति को आजीवन धारण करना चाहिए-**त्रिदण्डमुपवीतं च वास: कौपीनवेष्टनम्। शिक्यं पवित्रमित्येतद्विभृयाद्यावदायुषम्** (शाट्यायनी० ७)। यति की इन पंचमात्राओं को ब्रह्म (ॐकार) में समाहित माना गया है- **पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुता:** (शाट्यायनी० ८)।

संन्यासोपनिषद् में संन्यासियों के छ: प्रकार वर्णित हैं- कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत-**संन्यास: षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति** (संन्यासो० २.२३)। अवधूत संन्यास की सर्वोच्च श्रेणी है। अवधूतोपनिषद् के मन्त्र २ में अवधूत को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है- **अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते** अर्थात् जो अक्षर (अविनाशी), वरेण्य (श्रेष्ठ) तथा संसार के बन्धन से मुक्त हो गया हो, साथ ही तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्य का अर्थरूप हो उसे अवधूत कहते हैं। इसी प्रकार संन्यासोपनिषद् में अवधूत की स्थिति का विवेचन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि अवधूत अनियम वाला होता है (अर्थात् उसके लिए जप, यज्ञादि का कोई नियम अनिवार्य नहीं है)। वह पतित और निन्दित व्यक्ति के अतिरिक्त सभी वर्णों में अजगर वृत्ति (जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जाए) से भोजन ग्रहण करता है। अवधूत सतत आत्मानुसंधान में निरत रहता हुआ पर्वत, वृक्ष, घास, तृणादि जड़ पदार्थों से अपने को पृथक् मानता है कि

मैं तो चेतन तत्त्व हूँ तथा काल से कवलित और शीघ्र नष्ट होने वाला नहीं हूँ—**अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः। ....नाहमचेतनः** (संन्यासो० २.२९-३०)। संन्यासो के अन्य भेद इस प्रकार हैं—

(क) कुटीचक- कुटीचक (जिसे कुटीचर भी कहते हैं) शिखा और यज्ञोपवीतधारी होता है, जो दण्ड, कमण्डलु, लँगोटी, चादर और कन्था (गुदड़ी) धारण करता है। वह माता-पिता और गुरु की आराधना में तन्मय रहते हुए पिठर (बटलोई), खनित्र (फावड़ा) और शिक्य (छींका) धारण करके मन्त्र साधन परायण रहकर एक ही स्थान पर अन्नग्रहण करने वाला, श्वेत और ऊर्ध्वमुखी त्रिपुण्ड्र धारण करने वाला तथा तीन दण्ड रखने वाला होता है-**कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरःपिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः** (संन्यासी० २.२४)।

(ख) बहूदक- बहूदक शिखा आदि तथा कन्था, त्रिपुण्ड्रधारी होकर सब प्रकार कुटीचक के समान आचरण वाला होता है तथा मधुकरी वृत्ति से केवल अष्टग्रास भोजनग्राही होता है-**बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी** (संन्यासो० २.२५)।

(ग) हंस— हंस का रूप इस प्रकार विवेचित है- **हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी** (संन्यासो० २.२६) अर्थात् हंस प्रवृत्ति वाला संन्यासो जटाधारण करने वाला त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला, अनिश्चित स्थान पर भिक्षाटन करके भोजन ग्रहण करने वाला और शरीर पर मात्र कौपीन धारण करने वाला होता है।

(घ) परमहंस- परमहंस की वृत्ति बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- **परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी** (संन्यासो०२.२७) अर्थात् परमहंस वृत्तिवाला संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत धारण न करके करपात्री होकर मात्र पाँच घरों से ही भिक्षा ग्रहण करता है, जो मात्र एक कौपीन, एक चादर और एक दण्ड धारण करने वाला होता है अथवा शरीर पर केवल भस्म लगाकर मात्र चादर धारण करता है, इसके अतिरिक्त सर्वत्यागी होता है। परमहंस को ही भिक्षु कहते हैं। सामान्यतः भिक्षु शब्द से तात्पर्य भिक्षा माँगने वाला प्रतीत होता है; पर इस वृत्ति की निन्दा करते हुए परमहंसोपनिषद् में लिखा है कि जो काष्ठ दण्ड धारण करके सब आशाओं से युक्त है तथा ज्ञान, क्षमा, वैराग्य आदि गुणों से शून्य होकर मात्र भिक्षावृत्ति से ही जीवनयापन करता है, वह पापी यतिवृत्ति का विनाशक है और रौरव नामक नरक में जाता है। सच्चा भिक्षु वह है, जो आशाम्बर है तथा नमस्कार, स्वाहा, स्वधा से रहित, स्वर्ण आदि का संग्रह न करके, राग-द्वेष से रहित होकर अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित रहता है- **आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो......... स भिक्षुस्सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं .... आत्मन्येवावस्थीयते** (परमहंसो० ४)।

(ङ) तुरीयातीत- तुरीयातीत को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है- **तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः** (संन्यासो० २.२८) अर्थात् तुरीयातीत संन्यासो गोमुखवृत्ति से केवल तीन घरों से फल अथवा अन्नाहार ग्रहण करता है। वह भोजन देह धारण करने मात्र के लिए ही ग्रहण करता है तथा यह मानता है कि मैं तो चेतन आत्मा हूँ, शरीर तो मृतक के समान है।

इस प्रकार संन्यासियों की छः श्रेणियाँ हैं, जो स्वरूप भेद से अलग-अलग नाम वाली हैं। इनके अतिरिक्त संन्यासोपनिषद् ने संन्यासियों की चार अन्य श्रेणियों का भी उल्लेख किया है। ये हैं-वैराग्य संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी, ज्ञान वैराग्य संन्यासो और कर्म संन्यासो। इनमें वैराग्य संन्यासो वह है, जो दृश्य-श्रव्य विषयों के प्रति निःस्पृह है और पूर्वार्जित पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य होने के कारण जिसने संन्यास धर्म ग्रहण किया है- **तद्यथेति। दृष्टानुश्रविक .... वैराग्य संन्यासी** (संन्यासो० २.१९)। ज्ञान संन्यासो वह है, जो शास्त्रज्ञान पाकर, सांसारिक सद्गुणों एवं दुर्गुणों का अनुभव करके प्रपञ्च से उपराम होकर शरीर, शास्त्र और लोक वासनाओं का परित्याग करके, संसार की समस्त प्रवृत्तियों को वमनान्न मानकर चारों साधनों से मुक्त होकर संन्यास धर्म स्वीकार करता है— **शास्त्रज्ञानात्पापपुण्य .... ज्ञानसंन्यासी** (संन्यासो० २.२०)। ज्ञान वैराग्य संन्यासो उसे कहा गया है, जो क्रमशः सभी का अभ्यास करके, समस्त अनुभव प्राप्त करके, ज्ञान और वैराग्य के तत्त्व को भलीभाँति समझकर, देह मात्र को अवशिष्ट मानकर संन्यासधर्म ग्रहण करता है- **क्रमेण सर्वमभ्यस्य ....ज्ञानवैराग्य संन्यासी** (संन्यासो० २.२१)। इसी प्रकार कर्म संन्यासो वह है, जो ब्रह्मचर्य,

गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रमों में विधिवत् रहने के पश्चात् भी वैराग्य उत्पन्न न होने पर नियमानुसार संन्यास ग्रहण करता है- **ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा .... स कर्मसंन्यासी** (संन्यासो० २.२२)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संन्यास के पूर्वोक्त छः भेद इसी कर्म संन्यास के भेद कहे गये हैं।

२९. **अविद्या — द्र० - ज्ञानखण्ड।**

३०. **अविमुक्त** — अविमुक्त का शाब्दिक अर्थ है, जो मुक्त न हो अर्थात् मुक्ति लाभ न कर सके। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार कनपटी को 'अविमुक्त' कहते हैं। जाबाल उपनिषद् (१.१) के अनुसार यह ब्रह्म का स्थान है। मूर्द्धा (ब्रह्मरन्ध्र) और चिबुक (दाढ़ी) का मध्यवर्ती स्थान भी अविमुक्त कहलाता है। अन्यत्र उल्लेख पाया जाता है कि भौंहों एवं घ्राण का मध्य स्थान अविमुक्त क्षेत्र है-**अविमुक्तं नाम ......वक्ष्यमाण आत्मविदां काशीनगरस्थानीयो भ्रुवोर्घ्राणस्य च सन्धिः** (जाबालो०-अड्यार माइनर उपनिषद् पृ० ४०१)। काशी क्षेत्र भी अविमुक्त कहा जाता है। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में लिखा है- ''**न विमुक्तं शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः**'' अर्थात् शिव और शिवा के परित्याग न करने से काशी को अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं। कुछ लोग काशी के निकट गंगातट से पाँच कोश दूर स्थान को भी अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं।

३१. **अष्टग्रह**— ग्रह के सन्दर्भ में सामान्य अवधारणा नवग्रहों को है, जिन्हें सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नाम से जाना जाता है। बाद में हुई खोजों के अनुसार नेप्च्यून, प्लूटो और यूरेनस ग्रहों को भी सम्मिलित कर लेने पर यह संख्या बारह मानी जाने लगी है, किन्तु आध्यात्मिक सन्दर्भ में कुछ उपनिषदों में ग्रह शब्द का अर्थ व संख्या इस अवधारणा से भिन्न है, जैसे—अथर्वशिर उपनिषद् में भगवान् रुद्र को स्तुति करते हुए देवों द्वारा उन्हें अष्टग्रह रूप कहा गया है—**यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमो नमः** (अथर्वशिर० ४)। बृहदारण्यक उपनिषद् में अष्टग्रह और अष्ट अतिग्रहों का संकेत इन शब्दों में उपन्यस्त है— **इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ....कतमे त इति** (बृह० उ० ३.२.१)। ये अष्टग्रह प्राण, वाक्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा नाम से वर्णित हैं। इसी प्रकार इन ग्रहों (पंच ज्ञान इन्द्रियों, एक कर्मेन्द्रिय तथा मन, प्राण) के विषयों को अतिग्रह कहा गया है। जैसे प्राण ग्रह का अतिग्रह अपान है और अपान अतिग्रह द्वारा वह गृहीत है, इससे ही प्राण ग्रह गन्धों को सूँघने का कार्य सम्पन्न करता है—**प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति** (बृह०उ० ३.२.३)। इसी प्रकार वाक् शक्ति ग्रह है, नाम रूपी अतिग्रह से वह गृहीत है, इसीलिए वाणी से उच्चारण सम्पन्न हो पाता है— **वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति** (बृह०उ० ३.२.३)। इसी प्रकार जिह्वा को ग्रह, रस को उसका अतिग्रह; श्रोत्र को ग्रह, शब्द को उसका अतिग्रह; मन को ग्रह, कामना को उसका अतिग्रह; हाथों को ग्रह, कर्म को उसका अतिग्रह तथा त्वचा को ग्रह और स्पर्श को उसका अतिग्रह निरूपित करके इन ग्रहों की सक्रियता अतिग्रहों के माध्यम से ही बताई गई है।

३२. **अष्टदलकमल**— उपनिषदों में शरीरगत चक्रों का आलंकारिक वर्णन है। जैसे-कुण्डलिनी को सर्पिणी, सहस्रार चक्र के स्थल को क्षीर सागर, इसी प्रकार अनाहत चक्र को अष्टदल कमल अथवा हृदय कमल भी कहते हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में अष्टदलकमल इन शब्दों में परिभाषित है- **अष्टौ दलानि यस्य। अष्टपत्रकमले** अर्थात् जिसमें आठ दल या पत्ते हों ऐसा कमल। अष्टदलकमल हृदय कमल को कहा जाता है। इसी को ब्रह्मपुर की संज्ञा भी प्रदान की गई है। इसका स्थान हृदय के पास है। क्षुरिकोपनिषद्कार ने प्रत्याहार प्रकरण में हृदय स्थित रक्तोत्पल (लाल कमल) जैसे प्रतीत होने वाले को 'दहर पुण्डरीक' कहा है, वेदान्त में भी इसे दहर पुण्डरीक ही कहा गया है- **ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्। दहरं पुण्डरीकं तत् वेदान्तेषु निगद्यते** (क्षुरिको० १०)। इसे ही अनाहत चक्र भी कहा जाता है। इसकी साधना करने से यह (अनाहत चक्र) जाग्रत् हो जाता है। इसका लक्षण इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त हो जाना है। इससे वाक्पतित्व, कवित्वशक्ति भी प्राप्त होती है। शिवसार तन्त्र में कहा गया है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थान में अभिव्यक्त होता है, यथा-**शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः। अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते॥**

३३. **अष्टाङ्ग योग**— चित्तवृत्ति के निरोध के लिए की जाने वाली योग क्रिया के आठ उपाय या अंग माने जाते हैं। इनमें से पाँच बहिरंग कहलाते हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। तीन अन्तरंग कहलाते हैं- धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हीं को अष्टांग योग कहते हैं। पातञ्जल योग में मन और इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकने को यम कहा जाता है। यम के पाँच भेद हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वेदान्तसार में नियम की विवेचना

करते हुए लिखा है, जो साधक को जन्म के हेतुभूत काम्य धर्मों से निवर्तित कर मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में बाँध देते हैं, उन्हें नियम कहा जाता है। नियम पाँच प्रकार के हैं- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार शरीर जिस स्थिति में स्थिर एवं सुखपूर्वक रहे, उसे आसन कहा जाता है। जिसे आसन की सिद्धि हो जाती है, उसे शीतोष्णादि द्वन्द्व अभिभूत नहीं करते हैं। पातञ्जल योग प्रदीप के अनुसार प्राणों को वश में करने का नाम प्राणायाम है। प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार अपने शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर हो जाता है। प्राणायाम के मुख्यत: तीन भेद हैं- रेचक, पूरक और कुम्भक । प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखा जाता है। अपने चिन्तन को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाये रहना प्रत्याहार है। चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर एक स्थान या विषय में लगाना धारणा है। योग सूत्र के अनुसार चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है- **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'**(यो०द० ३.१)। चित्त को चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर सतत स्थिर करना ध्यान कहलाता है। उपनिषद् में कहा गया है- मन का विकारों से मुक्त होना ही ध्यान है- **''ध्यानं निर्विषयं मन:''** (मैत्रे० २.३)। योग के आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि है। ध्यान की पराकाष्ठा को समाधि कहा गया है। इसे योग का चरम फल भी कहते हैं। इसमें साधक अपने चित्त को बाह्य जगत् से मोड़कर आत्मा में स्थिर कर लेता है, ऐसी अवस्था में वह विविध शक्तियों को धारण करने में समर्थ हो जाता है और अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त होता है। समाधि के प्राय: दो भेदों का निरूपण किया जाता है- १. सविकल्पक समाधि और २. निर्विकल्पक समाधि।

३४. **असूया—** अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने वाले साधक के अन्दर अनेक प्रकार के विकार भी प्राय: उत्पन्न होते रहते हैं, जैसे- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन पर विजय प्राप्त कर साधक जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्राप्त करता है। इसी प्रकार का एक दोष 'असूया' है। असूया का अर्थ किसी के गुणों में भी दोष देखने की प्रवृत्ति से है-**असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम्** (वाच० पृ० ५५८)। अमरकोश भी इसी तथ्य को पुष्टि करता है-**असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि।** यह किसी के प्रति क्रोध-द्रोह के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। काव्यकारों ने इसे एक प्रकार का संचारी भाव माना है। योग दर्शन में मनोगत कालुष्य के भेदों में असूया भी वर्णित है। उसके अनुसार अपने से श्रेष्ठ पुरुष के सद्गुणों में भी दोषदर्शन-दोषारोपण करना 'असूया' कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार दूसरे के गुणों को सहन न करना (उनसे ईर्ष्या रखना) असूया कहलाता है-**ईर्ष्याऽसूया....** (वात्स्या० ४.१.३)

३५. **अस्तेय—** द्र०-यम।

३६. **अहंकार—** द्र०- ज्ञानखण्ड-अन्त:करण चतुष्टय।

३७. **अहिंसा—** द्र०-यम-नियम।

३८. **आग्नेय—** सामान्यत: आग्नेय शब्द का अर्थ अग्नि से सम्बन्धित है। यह शब्द विभिन्न शब्दों के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है। अग्नि में दी जाने वाली विशेष प्रकार को आहुति 'पुरोडाश' को भी आग्नेय कहा गया है- **''आग्नेय: पुरोडाशो भवति''** (वाच०पृ० ६२०)। अठारह पुराणों में अग्निपुराण को भी अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण आग्नेय पुराण कहते हैं- **''आग्नेयं वेदसम्मितम्।'' इत्युक्ते अग्निप्रोक्ते महापुराणभेदे अग्निपुराणशब्दे विवृति:** (वाच०पृ० ६२०)। दक्षिण और पूर्व के मध्यवर्ती दिशा को भी आग्नेय दिशा कहते हैं; क्योंकि उसके देवता अग्नि होते हैं। स्वर्ण को भी आग्नेय कहते हैं; क्योंकि उसका आविर्भाव अग्नि के वीर्य से ही हुआ है। जैमिनीय उपनिषद् के अनुसार यह पृथिवी भी आग्नेय है; क्योकि प्रारम्भ में यह अग्नि का गोला मात्र थी। बदलते-बदलते इस वर्तमान रूप में आ गई है।

३९. **आग्नेय यज्ञ—** द्र०-आग्नेयी इष्टि।

४०. **आग्नेयी इष्टि—** श्रौत सूत्रों में कामनाओं को पूर्ति के लिए विभिन्न इष्टियों का विधान है। सामान्यत: इष्टि शब्द-कामना, कामना की गई वस्तु, दान संग्रह तथा यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु श्रौत ग्रन्थों में इसे विशेष प्रयोजनों के लिए किया जाने वाला याग (यज्ञ) माना गया है। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श पृ० ४६८ में इष्टि इन शब्दों में परिभाषित है ''आहिताग्नि (नियमित रूप से यज्ञ करने वाले) के द्वारा दर्श (अमावस्या) तथा पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाने वाला याग इष्टि है।'' प्रयोजन भेद से इष्टियो के कई प्रकार हैं। जैसे-मित्रविन्देष्टि, आग्नेयी इष्टि, अधिक श्रीकामेष्टि, चित्रेष्टि, प्रजा कामेष्टि, प्राजापत्येष्टि, त्रैधातवी इष्टि, वैमृधीष्टि, अन्वारम्भणीय इष्टि तथा अन्त्येष्टि आदि। इष्टियाँ असंख्य हैं;

किन्तु स्थानाभाव से यहाँ कुछ प्रमुख इष्टियों की चर्चा की जा रही है। महर्षि कात्यायन के अनुसार किसी भी कामना की सिद्धि के लिए **आग्नेयी इष्टि** करनी चाहिए-**आग्नेयं प्रतिकाममाहरेत्** (का० श्रौ० सू० ४.५.१५)। आग्नेयी इष्टि में अग्निदेव के निमित्त आठ कपाल [कपाल मिट्टी का एक पात्र होता है, जिसमें पुरोडाश (हव्य विशेष) पकाया जाता है] पुरोडाश पूर्वक याग सम्पन्न होता है। आग्नेयी इष्टि को ही आग्नेय यज्ञ भी कहते हैं। आग्नेयी इष्टि के अधिष्ठाता अग्निदेव होते हैं। जाबालोपनिषद् में आहिताग्नि संन्यास विधि प्रकरण में आग्नेयी इष्टि करके ही संन्यास लेने का विधान बताया गया है -...... **तदु तथा न कुर्यात्। आग्नेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्हि वै प्राणः**' (जाबालो० ४.२) अर्थात् आहिताग्नि यदि संन्यास ले, तो उसे आग्नेयी इष्टि ही करनी चाहिए; क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस इष्टि से प्राण को वृद्धि होती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि संन्यास धारण करने के पूर्व द्विज (चाहे वह गृहस्थ हो या वनस्थ) को चाहिए कि वह सर्वस्व दक्षिणा देकर प्रजापति का यज्ञ (प्राजापत्य यज्ञ) करे अर्थात् इस इष्टि.के अधिष्ठाता प्रजापति के लिए पुरोडाशपूर्वक आहुतियाँ समर्पित करके **प्राजापत्य इष्टि** करे तथा अग्नियों (ज्ञानाग्नि) को अपने आत्मा में स्थापित करे। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-**वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सर्ववेद सदक्षिणाम्। प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि** (याज्ञ० स्मृ० ३.५६)। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् पृ० ४५०७ में प्राजापत्य इष्टि को सर्ववेद दक्षिणा कोटि की इष्टि विवेचित करते हुए ग्रन्थकार ने उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है-"**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेद सदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥**" पाठ भेद से यह श्लोक शंख स्मृति ७.१ में भी मिलता है। जाबालोपनिषद् में भी कुछ आचार्यों का मन्तव्य विवेचित है कि वे संन्यास धारण करते समय आग्नेयी इष्टि के स्थान पर प्राजापत्य इष्टि करते हैं-'..........**केचन आचार्याः** प्रजापतिदेवताकां प्राजापत्यामेवेष्टिं **कुर्वन्ति** .... (जाबालो० ४.२ टीका)।' प्राजापत्य इष्टि के पुरोडाश के सम्बन्ध में कपाल संख्या का विवरण प्राप्त नहीं होता।

त्रैधातवी इष्टि काम्य इष्टि है, जिसका अनुष्ठान गवामयन सत्र (जिसका दूसरा नाम संवत्सर सत्र है), जो एक वर्ष तक होता है, के अन्त में किया जाता है। इसके प्रमुख देव इन्द्र और विष्णु हैं; क्योंकि वृत्र से युद्ध करके इन्होंने वीर्यरूप यजु, ऋक् और सामवेद प्राप्त किये थे। इन्हीं तीनों वेदों (त्रिधातु वाली विद्या) से क्रमशः इष्टि करते हैं, इसीलिए इसे त्रैधातवी इष्टि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन इन शब्दों में मिलता है-**तमनुपरामृश्य संलुप्याच्छिनत्सैषेष्टिरभवत्तद्यदेतस्मिन्नाशये त्रिधातुरिवैषा विद्याऽऽशेत तस्मात्त्रैधातवी नाम** (शत० ब्रा० ५.५.५.६)। जाबालोपनिषद् में भी त्रैधातवी इष्टि का उल्लेख मिलता है; किन्तु वहाँ इसे त्रैधातवी इसलिए माना गया है कि इसमें प्रयुक्त अग्नि तीन रूप शुक्ल, रोहित (लोहित) और कृष्ण वर्ण वाली होती है, जो क्रमशः तीन धातुओं सत, रज और तम से युक्त होती है-.........**ततस्त्रैधातवीयामेवेन्द्रदेवता** ....**कुर्यात्।तत्रोपपत्तिः।एतयैवेष्ट्या त्रयो धातवो यदुताग्नेयं रूपत्रयं सत्त्वं शुक्लं रजो रोहितं तमः कृष्णम्** (जाबालो० ४.२ टीका)। इस इष्टि में बारह कपाल हवि विशेष से (त्रैधातवी इष्टि के लिए चावल और जौ से निर्मित की जाती है) यजन किया जाता है; क्योंकि यह वर्षभर (बारह महीने) की इष्टि होती है। कात्यायन श्रौत सूत्र में इसे उदवसानीया इष्टि भी कहा गया है-'**त्रैधातव्युदवसानीया सर्वत्र**' (का०श्रौ०सू० १३.४.७)।

४१. **आत्मज्ञान—** द्र०-ज्ञानखण्ड-आत्मा-जीवात्मा।

४२. **आत्मतत्त्व —** द्र०- ज्ञानखण्ड-आत्मा-जीवात्मा।

४३. **आत्मविद्या —** द्र०- ज्ञानखण्ड- **श्रेय-प्रेय मार्ग, आत्मा-जीवात्मा।**

४४. **आत्मश्राद्ध—** स्वर्गस्थ देवों, ऋषियों, देवमानवों आदि की आत्माओं की शान्ति के लिए श्राद्ध कर्म का विधान है। श्राद्ध प्रायः आठ प्रकार के होते हैं-देवश्राद्ध, ऋषिश्राद्ध, दिव्यश्राद्ध, मनुष्यश्राद्ध, भूतश्राद्ध, पितृश्राद्ध, मातृश्राद्ध और आत्मश्राद्ध। जब व्यक्ति अपनी आत्मा की शान्ति के लिए स्वयं श्राद्ध करे, तो उसे आत्मश्राद्ध कहा जाता है। जब कोई क्रमिक अथवा आतुर संन्यास धारण करता है, तो वह प्रायश्चित्त स्वरूप कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके अष्ट श्राद्ध करता है, जिसके अन्तर्गत आत्मश्राद्ध में अपना, पिता का और पितामह का श्राद्ध किया जाता है; परन्तु पिता जीवित हों, तो उनका श्राद्ध न करके अपना, पितामह का और प्रपितामह का श्राद्ध किया जाता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् में इसका उल्लेख इन शब्दों में संप्राप्य है- **प्रथमं .....आत्मश्राद्धे आत्मपितृ पितामहान् जीवत्पितृ कश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति** (ना० परि० ४.३७)।

४५. **आत्म साक्षात्कार—** द्र०-ज्ञानखण्ड-साक्षात्कार।

४६. **आत्मा**— द्र०- ज्ञानखण्ड -आत्मा-जीवात्मा।

४७. **आत्मा-परमात्मा**—द्र०-ज्ञानखण्ड -आत्मा-जीवात्मा।

४८. **आनन्द**— द्र०- ज्ञानखण्ड -आनन्द-परमानन्द।

४९. **आपः**— द्र०- ज्ञानखण्ड।

५०. **आवागमन**— द्र०-ज्ञानखण्ड -आवागमन चक्र।

५१. **आसन**— हठ योग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की मुद्राओं, बन्ध तथा आसनों द्वारा यौगिक क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, जिनके द्वारा नस-नाड़ियों का शोधन करके शरीर को स्वस्थ, चित्त को प्रसन्न और एकाग्र किया जाता है।

पातञ्जल योग में 'आसन' इन शब्दों में परिभाषित है- '**स्थिरसुखमासनम्** (पातं०यो० सा० पा० सूत्र-४६)' अर्थात् जो स्थिर और सुखदायी हो, वही आसन है। जिस प्रकार स्थिर होकर, अविचल होकर, कष्ट रहित होकर, सुखपूर्वक लम्बे समय तक बैठा जा सके, वह आसन है। स्थिति के अनुरूप विभिन्न साधकों के लिए पृथक्-पृथक् आसन ग्रहणीय होते हैं। वैसे तो विभिन्न प्रकार के आसनों का वर्णन पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में मिलता है; किन्तु नौ प्रकार के आसन ही प्रमुख हैं। जो इस प्रकार हैं-**स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा। भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च॥ सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव** (जां०दर्शनो० ३.१-२) अर्थात् स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख ये नौ प्रकार के आसन हैं।

क. **स्वस्तिकासन**— स्वस्तिक आसन का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- **जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे। समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत्** (जा०दर्शनो० ३.२) अर्थात् जिसमें घुटनों और जंघाओं के बीच दोनों पैरों को सम्यक् प्रकार से रखकर ग्रीवा, मस्तक और शरीर को समान भाव से धारण कर (अथवा एक सीध में रखकर) अभ्यास किया जाता है, वह स्वस्तिकासन कहलाता है।

ख. **गोमुखासन**— गोमुख आसन को स्थिति इस प्रकार वर्णित है- **सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते** (जा० दर्शनो० ३.३) अर्थात् दाहिने पैर के गुल्फ (टखने) को बायीं ओर के पृष्ठ पार्श्व (नितम्ब) के नीचे ले जाये और बायें पैर के गुल्फ को दायीं ओर के पृष्ठ पार्श्व के नीचे ले जाकर बैठे—यह गोमुखासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में गोमुखासन में उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त दायें हाथ को सिर को तरफ से तथा बायें हाथ को नीचे होकर पीठ पर ले जाकर दायें हाथ की तर्जनी अँगुली से बायें हाथ की तर्जनी अँगुली को मजबूती से पकड़ने का भी उल्लेख मिलता है।

ग. **पद्मासन**— जाबालदर्शन उपनिषद् ३.४-५ में पद्मासन इस प्रकार परिभाषित है-**अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु॥ ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्। पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम्** अर्थात् जंघाओं के ऊपर दोनों पाद तलों को स्थिर करके(रखकर)दोनों हाथों से (पीछे होकर) पैरों के अँगूठों को पकड़कर स्थिरता से बैठना पद्मासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में इस स्थिति में दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर रखना तथा चिबुक (ठोड़ी) को हृदय के पास सटाकर रखने का भी उल्लेख मिलता है। यह आसन समस्त रोगों के भय से मुक्ति दिलाने वाला है।

घ. **वीरासन**— वीरासन को स्थिति इस प्रकार है-**दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत्। ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम्** (जा० दर्शनो० ३.६)। जाबालदर्शन उपनिषद् में वीरासन को स्थिति संक्षेप में वर्णित है; किन्तु हठयोग प्रदीपिका में इसका उल्लेख अधिक स्पष्ट है- यथा-**एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम्। इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम्** (हठ०प्र० १.२१) अर्थात् दक्षिण पाद वाम ऊरु पर और वाम पाद दक्षिण ऊरु (जंघा) पर रखकर शरीर को सीधा रखने से वीरासन की स्थिति बनती है।

ङ. **सिंहासन**— सिंहासन का स्वरूप इस प्रकार है-**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरत् ॥ हस्तौ जानौ ....योगिभिः सदा** (जा० दर्शनो० ३.६.१-३) अर्थात् दक्षिण टखने (गुल्फ) को बायीं ओर वृषण के नीचे सीवन के बगल में रखे, इसी प्रकार बायें टखने को दायीं ओर वृषण के नीचे सीवन के बगल में रखे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर जमाकर तथा अँगुलियाँ फैलाकर मुख को भी खोलकर फैलाए तथा दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करे। यह सिंह नामक आसन सदैव योगियों द्वारा पूजित है। कुछ ग्रन्थों में उपर्युक्त स्थिति में जीभ को बाहर निकाल कर ठोड़ी पर लगाने तथा सिंह को तरह आवाज निकालने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

च. **भद्रासन—** भद्रासन इस प्रकार है-**गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्॥ भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम्** (जा०दर्शनो० ३.७) अर्थात् इस आसन में दोनों पैरों के गुल्फों (टखनों) को वृषण के नीचे सीवन के दोनों पार्श्व भागों में इस प्रकार रखा जाता है कि बायाँ टखना सीवन के वाम पार्श्व में और दायाँ टखना सीवन के दक्षिण पार्श्व भाग में स्थिर हो जाए। इसके बाद सीवन के पार्श्व भागों में स्थित पैरों का हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर हुआ जाता है। भद्रासन विष से उत्पन्न रोगों का विनाशक है।

छ. **मुक्तासन—** मुक्तासन की स्थिति इस प्रकार है-**निपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां दक्षिणेतरगुल्फतः। वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत्** (जा०दर्शनो०३.८-९) अर्थात् सीवन को सूक्ष्म रेखा को बायें टखने से दबाकर, बायें टखने को दायें टखने से दबाकर बैठने को स्थिति मुक्तासन कहलाती है। इसकी दूसरी विधि इस प्रकार बतायी गई है-**मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि। गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने** (जा० दर्शनो० ३.९) अर्थात् उपस्थ (लिङ्ग) के ऊपर बायें टखने को स्थिर करके, बायें टखने पर दायें टखने को स्थिर करके बैठने को स्थिति भी मुक्तासन कहलाती है।

ज. **मयूरासन—**मयूरासन को परिभाषा इस प्रकार विवेचित है-**कूर्पराग्रं मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः॥ भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः। समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः॥ मयूरासनमेतत्स्या-त्सर्वपापप्रणाशनम्** (जा० दर्शनो० ३.१०-१२) अर्थात् दोनों हथेलियों को भूमि पर टिकाकर, कोहनियों के आगे के भाग को नाभि के दोनो पार्श्वों में स्पर्श करके स्थिर चित्त होकर सिर और पादों को ऊँचा करके आकाश में दण्डवत् (पृथिवी के समानान्तर) होकर स्थित हो जाये। यह मयूर नामक आसन समस्त पापों का विनाश करने वाला है।

झ. **सुखासन— सुखासन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते॥ तत्सुखासनमित्यु-क्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत्** (जा० दर्शनो० ३.१२-१३) अर्थात् जिस प्रकार भी बैठने से सुख और धैर्य बना रहे, वही सुखासन कहलाता है। अशक्त साधकों को इसी आसन का आश्रय लेना चाहिए।

ञ. **सिद्धासन—** उपर्युक्त नौ आसनों के अतिरिक्त एक अन्य आसन 'सिद्धासन' भी प्रचलित है। उसकी स्थिति इस प्रकार वर्णित है-बायें पैर की एड़ी को सीवन के मध्य में मजबूती पूर्वक इस प्रकार स्थिर करके कि उसका तलवा दायें पैर की ऊरु (जंघा) को छूता हुआ हो। इसी प्रकार दायें पैर को लिङ्ग की जड़ के ऊपर इस तरह स्थापित करे कि उसका तलवा बायें पैर को जंघा का स्पर्श करे। तदुपरान्त बायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को दायें पैर की जंघा और पिण्डली के बीच में ले ले तथा इसी तरह दायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को बायें पैर को जंघा और पिण्डली के बीच में ले ले, यह सिद्धासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में इस स्थिति में ठोड़ी को हृदय के समीप रखकर दृष्टि को भृकुटि के मध्य में स्थिर करने का वर्णन भी मिलता है। यह आसन मोक्ष कपाट का भेदन करने वाला कहा गया है-**योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्॥ ......सिद्धासनं प्रोच्यते** (हठ० प्र० १.३५)।

५२. **आस्तिकता— द्र०-ज्ञानखण्ड।**

५३. **आहवनीय — वैदिक** ग्रन्थों में अग्नियों के अनेक प्रकार वर्णित हैं। जैसे—आहवनीय अग्नि, गार्हपत्य अग्नि और दक्षिणाग्नि आदि। अथर्ववेद ९.७.१३ में इन तीनों अग्नियों की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार दी गई है- **योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः** अर्थात् जिस अग्नि से अतिथियों (देवों) का आवाहन किया जाता है, वह आहवनीय,गृहस्थित अग्नि गृहपति तथा अन्नपाचन करने वाली अग्नि को दक्षिणाग्नि कहते हैं। इन्हें श्रौत अग्नियाँ भी कहते हैं। महाराज मनु ने गार्हपत्य अग्नि को पिता, दक्षिणाग्नि को माता तथा आहवनीयाग्नि को गुरु की संज्ञा प्रदान की है-**'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी'** (मनु० २.२३१)। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श में पारिभाषिक शब्दकोश के अन्तर्गत आहवनीय कुण्ड का भी नाम है। जिसमें आहवनीयाग्नि द्वारा देवों का आवाहन किया जाता है, उसे आहवनीय खर (कुण्ड) कहते हैं, जिसका स्थान यज्ञशाला में पूर्व की ओर होता है- **आहूयन्तेऽस्मिन्नाहुतयइत्याहवनीयः**। गार्हपत्याग्नि का स्वरूप सात्त्विक है, यज्ञशाला में गार्हपत्य खर (कुण्ड) का स्थान पश्चिम की ओर होता है। दक्षिणाग्नि का स्वरूप रजोगुणी है, यज्ञशाला में इसका स्थान दक्षिण की ओर होता है। कठरुद्रोपनिषद् में भी आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य अग्नियों का उल्लेख हुआ है- **......गार्हपत्यदक्षिणा-ग्न्याहवनीयेषु अरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके** (कठरुद्रो०३)। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और सभ्य—ये श्रौत अग्नियाँ तथा आवसथ्य अग्नि स्मार्त कही जाती है।

५४. **इड़ा**— द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्ना नाड़ी।

५५. **इन्द्रयोनि-वेदयोनि** —द्र०-कपालाष्टक।

५६. **इन्द्रियाँ**— द्र०-ज्ञानखण्ड- अंतःकरण चतुष्टय।

५७. **इष्ट**— भारतीय धर्म ग्रन्थों में इष्ट एक बहुप्रचलित शब्द है। जिसका सामान्य अर्थ है-अभिलषित, चाहा हुआ अथवा वाञ्छनीय। वाचस्पत्यम् पृ० ९९० में इष्ट की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **इष्ट त्रि० इष कर्मणि क्त। अभिलषिते, प्रिये** ....। यज्ञ, संस्कार तथा एरंण्ड वृक्ष आदि शब्दों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। अपने पूजित देव के लिए भी इष्ट शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे-किसी के इष्ट देव हनुमान् जी हैं, तो किसी के गणपति और किसी के राम और कृष्ण। इच्छा के विषय में भी इस शब्द का प्रयोग कई जगह होता है, जैसे- **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्** (गी०-३.१०)।

५८. **ईशान**—द्र०- त्र्यम्बक।

५९. **ईश्वर पूजन**—द्र०- नियम।

६०. **उञ्छवृत्ति**— द्र०- गृहस्थ।

६१. **उड्डियान बन्ध**—द्र०- बन्ध।

६२. **उत्तरायण**— ज्योतिर्विदों ने सम्पूर्ण आकाश मण्डल को दो भागों में विभक्त किया है- १. विषुवत् (मध्य) रेखा का उत्तरीभाग, २. विषुवत् रेखा का दक्षिणी भाग। सूर्य वर्षभर में छः माह उत्तरी भाग और छः माह दक्षिणी भाग में दृश्यमान होता है। जब सूर्य मकर रेखा से उत्तर (कर्क रेखा) की ओर जाता है, तो उसे उत्तरायण कहा जाता है तथा जब सूर्य कर्क रेखा से दक्षिण (मकर रेखा) की ओर जाता है, तो उसे दक्षिणायन कहा जाता है। यह ६-६ मास का समय होता है। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार-**भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम्।** सूर्य मकर संक्रान्ति से छः मास तक उत्तर की ओर रहता है, इस काल को उत्तरायण कहा जाता है। उत्तरायण में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ परिगणित की जाती हैं। **''शिशिरश्च वसन्तोऽपि ग्रीष्मः स्यादुत्तरायणे'** (हारीत)।

६३. **उदुम्बर**—द्र०-वानप्रस्थ।

६४. **उन्मनी अवस्था**—द्र० - अमनस्क स्थिति।

६५. **उन्मनी भाव**—द्र०- अमनस्क स्थिति।

६६. **उपदेष्टा**— सामान्यतः उपदेष्टा धर्म का उपदेश करने वाले को कहते हैं, इसीलिए इसके लिए धर्मोपदेशक या उपदेशक शब्द भी प्रयुक्त होता है। वाचस्पत्यम् के अनुसार उपदेष्टा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **उपदेष्टृ-पु० उप+दिश-तृच्। १. गुरौ कर्मोपदेशके २. आचार्य्ये** अर्थात् कर्मोपदेशक और गुरु तथा आचार्य के अर्थ में उपदेष्टा शब्द का प्रयोग किया जाता है। आचार्य के अर्थ में ऋत्विजों को भी परिगणित किया गया है; क्योंकि वे यज्ञादि कर्मों में प्रत्यक्ष मार्गदर्शन (उपदेश) देते हैं। शास्त्र मान्यता है कि आचार्यों, ऋत्विजों के रूप में स्वयं भगवान् हरि ही कर्म का उपदेश प्रदान करते हैं- **चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः'' वेणी०** (वाच०पृ० १२११)।

भारतीय संस्कृति में उपदेष्टा की बहुत महत्ता है; क्योंकि वह जो कुछ उपदेश करता है, उसे पहले अपने जीवन में उतारता है, इसलिए वह आचरणीय होता है। इसी कारण उपदेष्टा का दूसरा नाम आचार्य है। वैसे तो गुरु को गोविन्द (ब्रह्म) से भी बड़ा बताया गया है तथा प्रणाम-अभिवादन के क्रम में गोविन्द से पहले गुरु को प्रणाम करने का परामर्श दिया गया है- **गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय (कबीर)**; किन्तु उपदेशक की अर्चना गुरु से भी पूर्व करने का शास्त्रीय विधान मिलता है- **तस्योपदेष्टारमपि पूजयेच्च ततो गुरुम्** (वाच०पृ० १२११)।

६७. **उपनयन**—द्र०-अनुपवीत।

६८. **उपरति**— जीवन के चार लक्ष्यों में मोक्ष प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए साधक को षट्सम्पत्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। ये षट्सम्पत्तियाँ- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान कहलाती हैं। इनमें उपरति का

बहुत महत्त्व है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् के अनुसार 'उपरति' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- उप+रम+क्तिन्। जिसके कई अर्थ होते हैं, जैसे-विरति (विरक्ति), मृत्यु, प्राप्त विषयों के प्रति इन्द्रियों की उदासीनता तथा विहित कर्म विधान का संन्यास की स्थिति में परित्याग (**विहित कर्मणाम् विधानतस्त्यागरूपे संन्यासे ''पुमर्थः कर्मणा नेति धीर्या सोपरतिर्भवेत्''**-वाच०पृ० १२८३); किन्तु विषयों से वैराग्य या उनके प्रति उदासीनता के भावार्थ में ही उपरति का अधिक प्रचलन है। अध्यात्मोपनिषद् मंत्र २८ में उपरति का उल्लेख इस रूप में आया है- **वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्यात्मो० २८) अर्थात् वैराग्य का प्रतिफल बोध (आत्मज्ञान) है और बोध (ज्ञान) का फल उपरति अर्थात् विषयों से विरक्ति है। (उपरति के फलस्वरूप) आत्मानन्द से जो शान्ति प्राप्त होती है, वह उस उपरति का ही फल है। अतः आसक्ति ही अशान्ति और उपरति ही शान्ति का कारण है। उपरति धारण करने वाले साधक को उपराम कहते हैं।

६९. **उपराम**— द्र०-उपरति।

७०. **उपवीत**— द्र०-अनुपवीत।

७१. **उपाधि**— द्र०-ज्ञानखण्ड।

७२. **ऊर्ध्वपुण्ड्र**— द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र।

७३. **ऊर्ध्वरेता**— ऊर्ध्वरेता शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**ऊर्ध्वमूर्ध्वगं नाधः पतत् रेतो यस्य** अर्थात् जिसका रेतस् (वीर्य) अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी हो गया हो, उसे ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। रेतस्, पौरुष का प्रतीक है। अधिकांश लोगों का रेतस् अधोगामी होता है; किन्तु जिसके वीर्य को गति नीचे को ओर जाने से रुककर ऊर्ध्वगामी हो जाती है, वह ऊर्ध्वरेता कहलाता है-**रेतो हि पुंचिह्नेन प्रायः सर्वेषामधो गच्छति यस्तस्य अधोगतिं संरुणद्धि स ऊर्ध्वरेता इत्युच्यते** (वाच० पृ० १३९२)। इसलिए अखण्ड ब्रह्मचारी को भी ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। जैसे- भीष्म, हनुमान्, सनकादिमुनि, भगवान् महादेव आदि। भीष्म (देवव्रत) ने अपने पिता शान्तनु के अभीष्ट विवाह के लिए स्वयं विवाह नहीं किया। अतः वे आजीवन ब्रह्मचारी रहने के कारण ऊर्ध्वरेता नाम से प्रख्यात हो गये। शंकर का भी एक नाम ऊर्ध्वरेता है- **ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभस्थलः** (वाच० १३९२)। जाबाल दर्शनोपनिषद् के नवें खण्ड में भी भगवान् शंकर की स्तुति में ऊर्ध्वरेता शब्द आया है-**ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम्** (जा० दर्शनो० ९.२)। इस प्रकार शास्त्रों में ऊर्ध्वरेता की बहुत महिमा गायी गई है; क्योंकि अधोगामी रेतस् जहाँ कुछ ही सृजनात्मक कार्य कर पाता है, वही ऊर्ध्वगामी रेतस् से चित्त के एकाग्र होने, चिन्तन परिष्कृत होने से लेकर विभिन्न महत्त्वपूर्ण ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी बना देता है। हनुमान् जैसे भक्त इसी शक्ति के सहारे 'अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता' बन गये थे।

७४. **ऋचा**— ऋचा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **ऋच्यते स्तूयतेऽनया** (वाच०) अर्थात् जिससे देवों की स्तुति या अर्चना की जाती है, वह ऋचा है। सामान्य रूप से ऋचा का अर्थ स्तुति या पूजा से लिया जाता है। वैदिक मंत्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है; किन्तु विशेष रूप से ऋग्वेद के मंत्रों को ऋचा कहा जाता है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी हिन्दू धर्मकोश में लिखा है कि प्राचीन वैदिक काल में देवताओं के सम्मानार्थ उनकी जो स्तुति को जाती थी, उन्हें ऋक् या ऋचा कहते थे। ऋग्वेद ऐसी ही ऋचाओं का संग्रह है, इसीलिए उसका नाम ऋग्वेद पड़ा।

७५. **ऋत** —द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत-सत्य।

७६. **ऋत्विक्**— द्र०-ज्ञानखण्ड- ऋत्विज्।

७७. **ऋषि**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

७८. **एकत्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड-एकत्व-ऐक्य।

७९. **एषणात्रय**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

८०. **ओंकार**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

८१. **कपालाष्टक**— प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में योग विषयक विवेचन में कपालाष्टक शब्द का उल्लेख मिलता है। योग के आठ अंग बताये गये हैं। इन्हीं आठ अङ्गों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को

कपालाष्टक भी कहते हैं। कपालाष्टक की व्याख्या करते हुए उपनिषद्व्याख्याकार ब्रह्मयोगी ने लिखा है-**कं परमसुखमसुखकामादिवृत्तिभ्यः पृथक् कृत्य पालयन्तीति कपालानि योगाङ्गानि** (परब्रह्मो० २ टीका) अर्थात् 'क' से तात्पर्य परमसुख प्रदाता और कामादिवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले असुख (कष्ट) को पृथक् करके पाल अर्थात् साधक का पालन-पोषण करने वाले कृत्य कपाल (योगाङ्ग) कहलाते हैं। इनके अष्टक को ही कपालाष्टक कहते हैं, जो कि योगदर्शन में आसन-प्राणायाम आदि आठ अङ्ग प्रख्यात हैं-**तेषामष्टकं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहा-रधारणाध्यानसमाध्यात्मकं कपालाष्टकमष्टाङ्गयोगमनुसन्धाय यथावदभ्यस्य तद्बलेन चित्तगतमालिन्यं संक्षाल्य निर्विशेषज्ञानमवाप्य कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः** (परब्रह्मो० २ टीका) अर्थात् यम नियमादि अष्टाङ्ग योग अथवा कपालाष्टक का यथावत् अभ्यास करने से उत्पन्न ऊर्जा द्वारा चित्तगत मलिनता धुल जाती है, जिससे साधक निर्विशेष ज्ञान को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता हैं। इसी प्रक्रिया (कपालाष्टक-अष्टांगयोग) द्वारा हृदय स्थल में जो स्तन या कदली पुष्पवत् लटका रहता है और योग के समय ऊपर उठता हुआ विकसित होता है। इसी में वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस प्रकार अपने हृदय कमल में ध्यान करने वाला शुभाशुभ से परे होकर कर्मों से निर्लिप्त हो जाता है-**तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एव स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः वेदयोनिरिति। ......कर्मभिर्न लिप्यते** (परब्रह्मो० २)।

८२. **कर्मफल—** द्र० - ज्ञानखण्ड।

८३. **कर्म संन्यासी-द्र- अवधूत।**

८४. **कर्मेन्द्रियाँ—** द्र०- **ज्ञानखण्ड-अन्तःकरण चतुष्टय।**

८५. **कला—** कला एक व्यापक अर्थवाला तथा बहुप्रचलित शब्द है। वाचस्पत्यम् पृष्ठ १७८३ में कला की व्युत्पत्ति इन शब्दों में विवेचित है-**कलयति कलते वा कर्त्तरि अच्, कल्यते ज्ञायते कर्मणि अच् वा** अर्थात् जो किसी के कर्म अथवा स्थिति को द्योतित करती है,वह कला है। जैसे चन्द्रमा के सोलहवें भाग को उसकी एक कला कहते हैं—**चन्द्रमण्डलस्य षोडशे भागे यथा च चन्द्रस्य षोडशभागस्य कला शब्द वाच्यत्वम्** (वाच० पृ०१७८३)। यों तो तिथियाँ पन्द्रह होती हैं; किन्तु प्रतिपदा से चतुर्दशी तक १४ तिथियाँ दोनों पक्षों (शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष) में उभयनिष्ठ हैं। इनमें चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की १४ कलाएँ होती हैं। अमावस्या और पूर्णिमा में, एक में चन्द्रमा बिल्कुल नहीं दीखता व दूसरे में पूरा दीखता है, अतः ये भी दो कलाएँ होने से १४+२=१६ कलाएँ कहलाती हैं। चन्द्रमा की सोलह कलाओं के नाम इस प्रकार हैं-अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीतिरङ्गा, पूर्णा तथा स्वरजा। इसी प्रकार सूर्य की भी द्वादश कलाएँ वर्णित हैं। इन्हें द्वादशादित्य भी कहते हैं। सूर्य की कलाएँ इस प्रकार हैं-तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा। वैसे कुल चौंसठ कलाएँ बतायी गई हैं; जो पूर्णतया परब्रह्म में मानी जाती हैं। वैदिक मान्यतानुसार परब्रह्म का त्रिपाद् ऊर्ध्वलोकों में और एक पाद (चतुर्थांश) भूलोक (विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में) व्याप्त है (**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः** - ऋ० १०.९०.४)। इसी कारण भूलोक पर १६ कलाएँ ही विद्यमान हैं और इन्हें 'पूर्ण कला' कहा जाता है। अवतारों के विषय में भी उनकी दस कलाओं, बारह कलाओं, सोलह कलाओं का उल्लेख मिलता है, जो उनकी विशेषताओं, शक्ति व स्थिति का बोध कराती हैं। जैसे राम बारह कला के और कृष्ण सोलह कला के अवतार माने जाते हैं।

वस्तुतः जीव मात्र में एक-दो कलाएँ होती हैं और जैसे-जैसे वह अपने को विकसित करता जाता है; वैसे-वैसे उसकी कलाएँ भी बढ़ती जाती हैं। जैसे उद्भिज्जों-वृक्ष, लता, गुल्म आदि में एक (अन्नमय) कला होती है अर्थात् ये भोजन ग्रहण करते व विकसित होते हैं; इसी प्रकार स्वेदजों (मक्खी, मच्छर, जूँ, लीख आदि) में दो (अन्नमय व प्राणमय) कलाएँ होती हैं। अण्डजों (कबूतर, चिड़िया, तोता, मयूर आदि) में तीन (अन्नमय, प्राणमय व मनोमय) कलाएँ होती हैं। जरायुजों (घोड़ों, कुत्तों, हाथियों व गाय-भैंस आदि) में चार (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) कलाएँ होती हैं। मानव श्रेणी उपर्युक्त जीवों के बाद की सृष्टि में गिनी जाती है। मानवों में अन्नमय, प्राणयम, मनोमय, विज्ञानमय के अतिरिक्त आनन्दमय कला भी पायी जाती है। कुछ विशिष्ट मनुष्यों में उपर्युक्त पाँच कलाओं (पंचकोशों) के अतिरिक्त तीन अन्य कलाएँ भी देखी जाती हैं। जो इस प्रकार हैं- १. अतिशायिनी कला २. विपरिणामिनी कला ३. संक्रामिणी कला। **प्रथम** अतिशायिनी कला के कारण ही आद्यशंकराचार्य ने दस-बारह वर्ष की अवस्था में वह कार्य कर लिया था, जो सामान्य व्यक्ति के लिए कल्पनातीत होते थे।

द्वितीय विपरिणामिनी कला के द्वारा साधक अणिमा आदि आठ सिद्धियों के माध्यम से शरीर को हल्का-भारी,

छोटा-बड़ा करके परकाया प्रवेश भी कर सकते हैं। तृतीय संक्रामिणी कला के द्वारा साधक अपनी शक्ति दूसरों में भी प्रविष्ट कर सकते हैं, जैसे रामकृष्ण परमहंस जी ने स्वामी विवेकानन्द में शक्तिपात किया था और योगेश्वर कृष्ण ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। उपर्युक्त कलाएँ मानवों तक सीमित हैं, इसके ऊपर की ९से १६ तक की कलाएँ देवों व अवतारों में होती हैं। पूर्णकलाएँ १६ मानी गई हैं अर्थात् पूर्ण अवतार षोडश कलायुक्त होता है। देवों-अवतारों की ८ कलाएँ इस प्रकार हैं- १. प्रभ्वी २. कुण्ठिनी ३. विकासिनी ४. मर्यादिनी ५. संह्लादिनी ६. आह्लादिनी ७. परिपूर्ण ८. स्वरूपावस्थिति। इनमें **प्रभ्वी** का अर्थ ईश्वर की उस परिभाषा से सम्बन्धित है, जिसमे उन्हें 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ प्रभु' कहा गया है अर्थात् असम्भव को भी संभव कर दिखाना—जैसे खम्भे में से नृसिंह अवतार। **कुण्ठिनी** कला से पंचमहाभूत या विषादि को प्रभावरहित किया जा सकता है, जैसे शिव ने विष प्रभाव कम करके ही हलाहल पान किया था। **विकासिनी** कला के द्वारा ही भगवान् वामन ने तीन पगों में समूचे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था। **मर्यादिनी** कला के द्वारा श्रीराम सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी मर्यादाओं में बँधे रहे व मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए।

संह्लादिनी कला से भगवान् कृष्ण ने अऋतु में फूल-फल आदि उत्पन्न करके प्रकृति के नियम में हस्तक्षेप कर दिया था। **आह्लादिनी** कला से ही राधिका ने नित्य कृष्ण जी के साथ रहकर उनका अनुरञ्जन किया था। **स्वरूपावस्थिति** कला के द्वारा सम्पूर्ण कलाओं को समेट कर अपने मूलरूप में अवस्थित हुआ जा सकता है, जैसे—द्वापर में श्री कृष्ण जी ने अपनी सभी कलाओं को समेटकर मूल रूप में धारण किया था, जिससे उन्हें पूर्ण अवतार माना जाता है।

उपर्युक्त कलाओं के अतिरिक्त अन्य भी लौकिक कलाएँ हैं, जैसे—वास्तुकला, चित्रकला, हस्तकला, काष्ठकला, स्थापत्यकला, वक्तृताकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि।

८६. **कल्पान्त—** भारतीय कालगणना के क्रम में 'कल्प' का उल्लेख किया जाता है। यह एक बहुत लम्बी अवधि होती है। सृष्टि का कालचक्र चार युगों में विभक्त है। सतयुग (कृतयुग), त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। इनमें सतयुग की अवधि १७,२८,००० वर्ष, त्रेतायुग की १२,९६,००० वर्ष, द्वापरयुग की ८,६४,००० वर्ष तथा कलियुग की अवधि ४,३२,००० वर्ष मानी गई है। चारों युगों की सम्मिलित अवधि ४३,२०,००० वर्ष की एक चतुर्युगी कहते हैं। इस प्रकार की एक सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्माजी का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात्रि होती है। एक हजार चतुर्युगी अथवा ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। तदुपरान्त प्रलय की स्थिति आती है, जिसमें सब कुछ विनष्ट हो जाता है। इस अवधि को कल्पान्त कहते हैं। इस प्रकार कल्प का साधारण अर्थ हुआ सृष्टि रचना से लेकर उसके विनाश तक का समय। विद्वानों का कहना है कि अब तक ब्रह्माजी के ५० वर्ष बीत चुके हैं, ५१ वाँ वर्ष चल रहा है, जिसके तीन युग बीत चुके हैं, चौथा चल रहा है। युगों की काल-गणना के अनुसार एक कल्प की अवधि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष मानी जाती है। एक अन्य मान्यता के अनुसार कलियुग की आयु १२०० वर्ष, द्वापर २४०० वर्ष, त्रेता की ३६०० वर्ष और सतयुग की आयु ४८०० वर्ष है। इस प्रकार एक चतुर्युगी १२००० वर्षों की हुई तथा ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर तथा १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। अस्तु, १४ मन्वन्तरों के समापन की अवधि कल्पान्त कहलाती है।

८७. **कामना— द्र०-ज्ञानखण्ड-षड्रिपु-षड्वर्ग।**

८८. **कुटीचक— द्र० - अवधूत।**

८९. **कुण्डलिनी—** भारतीय योग शास्त्रों में कुण्डलिनी महाशक्ति का बहुत महत्त्व है। कहते हैं कि यदि किसी साधक की कुण्डलिनी जाग जाये, तो वह सभी ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। तांत्रिक मतानुसार इसे परमेश्वर की वह पराशक्ति कहा गया है, जो प्रत्येक जीव के शरीर में प्रसुप्तावस्था में रहती है। यह मनुष्य देह में मेरुदण्ड से नीचे मूलाधार (गुदा और उपस्थ के मध्य स्थित चक्र) में कुण्डली मारकर सर्पिणी की तरह स्थित है, इसीलिए इसका नाम कुण्डलिनी पड़ा है। तन्त्रसार में इसे एक देवी माना गया है, जो षट्चक्रों के अन्तर्गत मूलाधार में सूक्ष्म रूप से निवास करती है। कुण्डलिनी के सन्दर्भ में उल्लेख है कि वह स्वयम्भू लिङ्ग में साढ़े तीन चक्कर लगाये देवी रूप (सर्पिणी रूप) में प्रतिष्ठित है। करोड़ों विद्युत्प्रभा के प्रकाश की तरह देदीप्यमान तथा उदीयमान सूर्य की कान्ति वाली उस कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए साधक दृढ़ासन पर बैठकर श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया (प्राणायाम) द्वारा प्राण मन्त्र (गायत्री मन्त्र) से उसे उठाकर (जाग्रत् करके) मन की एकाग्रता तथा सम्पूर्ण शुभ-शान्ति प्राप्त करते हैं-**ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्। तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥ कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम्। तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः॥ उद्यद्दिनकरोद्योतां .....चिन्तयेत्** (श०क० खण्ड २, पृ० १४०)।

विवेक मार्तण्ड में कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप इस प्रकार विवेचित है कि वह कुण्डलिनी देदीप्यमान सर्पाकार कमल नाल के समान शुभ प्रतिफल प्रदान करने वाली है, जो योगविद्या के जानकारों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली तथा इस विद्या से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए बन्धन का कारण है। मानवी काया में कन्दस्थल (उपस्थ के ऊपर और नाभि से नीचे स्थित नाड़ियों का गुच्छक) के ऊपर अष्टप्रकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति वलयाकार में ब्रह्मरंध्र के द्वार को अपने मुख से आच्छादित किए (रोके) हुए प्रसुप्तावस्था में है। साधक हठयोग, प्राण साधना द्वारा उस कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करके मानो मोक्ष प्राप्ति के द्वार ब्रह्मरंध्र में लगे ताले को ताली (चाभी) द्वारा खोलता है- **प्रस्फुरद् भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा। मूढानां बन्धिनी सास्ति योगिनां मोक्षदायिनी॥ कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुटिलाकृतिः। ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥ येन मार्गेण ....मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्** (वि०मार्त० ५२-५६)। जाबाल दर्शनोपनिषद् में कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है- **नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम** (जा०दर्शनो० ४.११) अर्थात् नाभि स्थल से दो अंगुल नीचे अष्ट प्रकृति (पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) से युक्त वह कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है। कुण्डलिनी शक्ति के सन्दर्भ में महायोग विज्ञान में उल्लेख है कि जिसकी मूलाधार शक्ति प्रसुप्त है, उसका सारा संसार प्रसुप्त है; जिसकी कुण्डलिनी जगी, समझना चाहिए कि उसका भाग्योदय हो गया है। योगिनी तंत्र के अनुसार कुण्डलिनी के जागते ही अन्तराल में छिपा वैभव अनायास ही दृष्टिगोचर होने लगता है। कुण्डलिनी जाग्रत् कर लेने वाले साधक के लिए जगत् में कुछ भी असंभव नहीं।

१०. **कूटस्थ— द्र०-ज्ञानखण्ड।**

११. **कृच्छ्र चान्द्रायण**—कृच्छ्र शब्द का सामान्य अर्थ कष्टसाध्य या कठिनाई से प्राप्त होने वाला है। शारीरिक तप या प्रायश्चित्त के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। चन्द्रमा की कलाओं के साथ जो कष्टसाध्य प्रायश्चित्त तप किया जाता है, उसे कृच्छ्र चान्द्रायण कहते हैं। प्रायश्चित्त के अतिरिक्त यह व्रत धर्म संचय के लिए भी किया जाता है। चान्द्रायण व्रत में चन्द्र कलाओं के बढ़ने एवं घटने के अनुरूप भोजन ग्रहण किया जाता है। प्राचीन काल से ही चान्द्रायण व्रत दो प्रकार से किए जाते हैं, यवमध्य (जौ के समान बीच में मोटा एवं दोनों छोरों में पतला) एवं पिपीलिका मध्य (चींटी के समान बीच में पतला एवं दोनों छोरों में मोटा) मनु० (११.२७), याज्ञ० स्मृ० (३.३२३), वसिष्ठ स्मृ०(२७.२१), बौधा० ध०सू०(४.५.१८) आदि में चान्द्रायण व्रत (यवमध्यप्रकार) की परिभाषा इस प्रकार दी है- मास के शुक्ल पक्ष से प्रथम दिन एक ग्रास (कौर) भोजन किया जाता है, दूसरी तिथि को दो ग्रास, तीसरी तिथि को तीन ग्रास और इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन ग्रहण किया जाता है। तत्पश्चात् कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन १४ ग्रास, दूसरे दिन १३ ग्रास, इस प्रकार एक-एक ग्रास कम करते-करते कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावस्या के दिन निराहार रहकर पूर्ण उपवास किया जाता है।

दूसरी विधि (पिपीलिका मध्य) में यदि कोई कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को व्रत आरम्भ करता है, तो वह एक-एक ग्रास कम करते हुए प्रथम दिन में केवल १४ ग्रास, फिर १३ ग्रास, फिर बारह ग्रास खाता है, इसी प्रकार ग्रासों में कमी करते हुए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को केवल एक ग्रास खाता है तथा अमावस्या को एक ग्रास भी नहीं लेता। इसके उपरान्त शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास लेता है और इस प्रकार बढ़ाता-बढ़ाता पूर्णमासी के दिन १५ ग्रास खाता है। इस प्रकार ये दो प्रकार के कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत होते हैं। कृच्छ्र चान्द्रायण के सन्दर्भ में आश्रमोपनिषद् में संन्यासियों की आचार संहिता के क्रम में हंस (संन्यासियों का एक प्रकार) के विषय में उल्लेख है कि वह एक दण्ड धारण करने वाले, शिखा विहीन, यज्ञोपवीतधारी, हाथ में शिक्य (छींका) और कमण्डलु धारण करने वाले, ग्राम व शहर में निर्धारित रात्रियों तक ही विश्राम करने वाले होते हैं। वे कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके आत्मा की प्रार्थना अर्थात् आत्म दर्शन का प्रयास करते हैं- **हंसा एक दण्डधराः शिखा वर्जिता ...कृच्छ्र चान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ४)।

१२. **कैवल्य**— हिन्दी विश्वकोश में कैवल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **कैवलस्य औपाधिक सुखदुःखादि रहितस्य चित्स्वरूपस्य भावः** अर्थात् उपाधि रूप सुख-दुःख रहित चैतन्य स्वरूप स्थिति कैवल्य है। जब व्यक्ति को विवेक का साक्षात्कार हो जाता है, तो अहंकार स्वतः ही मिट जाता है। फिर ऐसा नहीं लगता कि मैं कर्त्ता, सुखी व दुःखी हूँ। अहंकार विनष्ट हो जाने पर उसके कार्यरूप राग-द्वेष, धर्म और अधर्म आदि भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रारब्ध कर्म धीरे-धीरे मिट जाते हैं और अविद्या न रहने से फिर नया संस्कार नहीं बनता तथा संस्कार के अभाव में पुनर्जन्म नहीं

होता। वर्तमान शरीर का अवसान होने पर आत्मा चित् स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। इसी अवस्था को कैवल्य कहते हैं। पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार पुरुषार्थ से शून्य हुए गुण, जब अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, तब उस स्थिति को कैवल्य कहते हैं अथवा चिति-शक्ति का अपने वास्तविक स्वरूप (चैतन्य स्वरूप) में प्रतिष्ठित हो जाना हो कैवल्य है। व्यक्ति त्रिगुणातीत हो जाता है, उसकी यही स्थिति कैवल्य है- **पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति** (पातं० यो० सू० ४/३४)।

सांख्य दर्शन के अनुसार दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति हो कैवल्य है- **आत्यन्तिको दुःख त्रयाभावः कैवल्यम्**। हिन्दी विश्वकोश में वर्णित जैन मान्यता के अनुसार कैवल्य अवस्था मुक्ति से पूर्व होती है। **ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय**—ये चार कर्म विनष्ट हो जाने पर आत्मा का 'केवल' (विशुद्ध) ज्ञान प्राप्त होता है, तब समस्त पदार्थों के सभी पर्यायों को यह जीव जान जाता है (तत्त्वार्थ सूत्र टीका)।

अध्यात्मोपनिषद् (१६) में कैवल्यावस्था इन शब्दों में निरूपित है- **जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः। समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ** अर्थात् जो जीवित स्थिति में ही कैवल्य-स्थिति (ब्रह्मनिष्ठा) प्राप्त कर चुका हो, वह विदेह (देहरहित) हो जाने पर ब्रह्मरूप हो जायेगा। इसलिए हे पापरहित! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प बनो। इस प्रकार जीवित रहते हुए समस्त संकल्प-विकल्पों एवं गुणों से रहित होकर केवल ब्रह्म में ही समाहित हो जाना (ब्रह्मनिष्ठ हो जाना) कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेना है।

१३. **क्षेत्रपाल**— तैंतीस कोटि देवों में क्षेत्रपाल देवता को भी परिगणित किया जाता है। सामान्यतः क्षेत्रपाल से तात्पर्य क्षेत्ररक्षक अथवा खेत का रखवाला होता है— **क्षेत्रं पालयति रक्षति** (हि०वि०को० खं० ५ पृ० ६२५)। प्रयोग सार में क्षेत्रपाल के ४९ भेद वर्णित हैं। जैसे-अजर, आपकुन्त, इन्द्रस्तुति, ईड़ाचार, उक्त, उन्माद और ऋषिसूदन आदि। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार-'क्षेत्रपाल शिव के अनुचर हैं।'

कार्तवीर्य को भी क्षेत्रपाल कहते हैं (मत्स्य पु० ४३.२७, वा०पु० ९४.२४)। शास्त्रों में यज्ञादि देव कार्यों में भी यज्ञ की रक्षार्थ क्षेत्रपालों को आवाहित करने का विधान है-**क्षेत्रपालान्नमस्यामि सर्वारिष्टनिवारकान्। अस्य यागस्य सिद्ध्यर्थं पूजयाराधितान् मया** (कर्म०भा०)। क्षेत्रपाल के तीन नेत्रों का उल्लेख मिलता है। इनका वर्ण नीलगिरि की तरह है। उनके मस्तक पर शुभ्र चन्द्र और सिर पर जटायें हैं। इनके चार हाथ हैं, जिनमें गदा, कपाल, रक्तवर्ण की पुष्पमाला और गन्धवस्त्र हैं। उनके कानों में सर्पकुण्डल हैं। क्षेत्रपाल की अर्चना से कान्ति, मेधा, बल, आरोग्य, तेज, पुष्टि, यश और सम्पत्ति आदि की वृद्धि होती है। समस्त प्रमुख पुण्य क्षेत्रों में एक-एक क्षेत्रपाल होते हैं, उनकी विधिवत् पूजा सम्पन्न होती है। कुमायूँ क्षेत्र में क्षेत्रपाल को कहीं भूमिया और कहीं स्वयम्भू कहते हैं।

१४. **खेचरी मुद्रा**— द्र०-मुद्रा।

१५. **गायत्र**— द्र०- ब्रह्मचारी।

१६. **गार्हपत्य**— द्र०- आहवनीय।

१७. **गुरु**— द्र०- ज्ञानखण्ड- गुरु-शिष्य।

१८. **गुरुकुल**— द्र०- ज्ञानखण्ड-गुरु-शिष्य।

१९. **गृहस्थ**— आश्रम धर्म के अनुसार चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थ कहलाता है। लक्ष्य की दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से इस आश्रम में अर्थ और काम (कामनाओं) की प्राप्ति (पूर्ति) की जाती है। इसे भी २५ वर्ष का माना गया है। इसमें व्यक्ति घर में रहकर पत्नी समेत अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता है। गरुड़ पुराण के अनुसार परिवार का नियमपूर्वक पालन-पोषण करता हुआ गृहस्थ साधक स्वाध्याय द्वारा ऋषि ऋण, यज्ञादि द्वारा देव ऋण और सन्तानोत्पादन (अथवा आश्रितों के परिपालन) द्वारा पितृऋण से मुक्त होता है।

गृहस्थों के चार भेद हैं- वार्ताकवृत्ति; शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। आश्रमोपनिषद् में इसका उल्लेख इन शब्दों में उपलब्ध है- **गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोर-संन्यासिकाश्चेति।**

वार्ताकवृत्ति गृहस्थ वे कहलाते हैं, जो कृषि एवं पशुपालन आदि आनन्दित व्यापार करते हुए सौ वर्ष तक यज्ञादि (जीवन यज्ञ) करते हुए आत्म उपासना (जीवन देवता की साधना-आराधना) करते हैं-**तत्र वार्ताकवृत्तयः**

......**आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० २)। **शालीनवृत्तिगृहस्थ** उन्हें कहा जाता है, जो स्वयं तो यज्ञादि कृत्य सम्पन्न करते हैं; पर दूसरों की वह क्रिया सम्पन्न नहीं कराते। स्वयं तो अध्ययन करते हैं, पर कराते नहीं; इसी प्रकार स्वयं दान देते हैं, पर दूसरों से दान-दक्षिणा ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार सौ वर्ष यज्ञादि सम्पन्न करते हुए आत्म साधना करते हैं। **यायावर गृहस्थ** वे हैं, जो स्वयं तो यज्ञादि करते ही हैं, दूसरों की भी कराते हैं; स्वयं भी अध्ययन करते हैं व दूसरों को भी तथा स्वयं (श्रेष्ठ कार्यों के निमित्त) दानादि ग्रहण करते हैं और लोकोपयोगी कार्यों के लिए दूसरों को भी दान देते हुए सौ वर्ष तक यज्ञीय जीवन जीकर आत्म प्रार्थना (आत्मा की साधना) करते है-**यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो०२)।

घोर संन्यासिक गृहस्थ उन्हें कहा जाता है, जो पवित्र जल द्वारा दैनिक कृत्य सम्पन्न करते हुए, उञ्छवृत्ति (खेतों में अवशिष्ट अनाज द्वारा आजीविका चलाना) अपनाकर अकिञ्चनवत् अपना निर्वाह करते हुए, सौ वर्ष तक यज्ञीय जीवन जीते हुए आत्म साधना करते हैं- **घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छ-वृत्तिमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० २)। इस प्रकार स्थिति भेद से गृहस्थों के ये चार प्रकार होते हैं।

१००. **घोर संन्यासिक**— द्र०- गृहस्थ।

१०१. **चतुर्दश भुवन**— सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन माने गये हैं, जिन्हें चतुर्दश भुवन भी कहा गया है। संस्कृत हिन्दी कोश पृ० ७४५ में इसकी पुष्टि इन शब्दों में की गई है- **इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते** (भर्तृ०३.२३)। चतुर्दश भुवन से तात्पर्य चौदह लोकों से है। चौदह लोको में से सात लोक ऊपर हैं एवं सात लोक नीचे हैं। ऊपर के लोकों को ऊर्ध्व लोक अथवा स्वर्गलोक कहते हैं। नीचे के लोकों को अधोलोक अथवा पाताल लोक कहते हैं। हि०वि० कोश में सात स्वर्ग अथवा ऊर्ध्वलोक इस प्रकार हैं- **भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्**। अधोलोक अर्थात् पाताल लोक इस प्रकार हैं- **अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल**।

भारतीय संस्कृति कोश के अनुसार अतल लोक वह है, जिसकी मिट्टी कृष्णवर्णा हैं तथा जहाँ मय दानव का पुत्र अपनी माया की सृष्टि रचते हुए निवास कर रहा है। वितल लोक में शंकर और पार्वती का निवास बताया गया है। सुतल लोक में राजा बलि रहते हैं, यहाँ की मिट्टी रक्तवर्णा है। तलातल लोक में दानवराज मय का निवास है, यहाँ की मिट्टी पीतवर्णा है। महातल लोक में काद्रवेय सर्पों का निवास स्थल है, जहाँ की मिट्टी मीठी बतायी जाती है। रसातल लोक में ऐसे दैत्य-दानव आदि निवास करते हैं, जो देवराज इन्द्र से भयभीत रहते हैं। यहाँ की मिट्टी पथरीली है। पाताल लोक वासुकि सहित विशालकाय सर्पों का निवास स्थल है, जहाँ की भूमि स्वर्णमयी है। इस प्रकार नीचे के ये सात लोक है।

उपनिषदों में इहलोक और परलोक दो ही लोक माने गये हैं, जबकि वेदादि में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन लोक वर्णित हैं।

१०२. **चरु**— 'चरु' शब्द वैदिक काल से ही प्रचलित है। प्राचीन काल में यज्ञीय पदार्थों (हविष्यान्न) को निर्मित करने के पात्र विशेष के रूप में सम्भवतः कड़ाही के रूप में इसका प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में चरु का कई बार उल्लेख हुआ है। यथा-**स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि। अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः** (ऋ० १.७.६)।

इस प्रकार अथर्ववेद में भी चरु का वर्णन इन शब्दों में संप्राप्य है- **उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्** (अथर्व० ९.५.६)। पात्र विशेष के रूप में 'चरु' शब्द का इतना प्रयोग हुआ कि बाद में उसमें पकाये जाने वाले हविष्यान्न को ही 'चरु' कहने लगे और हविष्यान्न के अर्थ में ही चरु शब्द रूढ़ हो गया। इसीलिए हिन्दी विश्वकोश में इस शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है-**चर्यते भक्ष्यतेऽग्न्यादिभिः । यद्वा चरति होमादिकम्** अर्थात् हव्यान्न अथवा होम के लिए पाक किया जाने वाला अन्न। चरु (विशिष्ट प्रकार का हविष्यान्न), जिसमें तण्डुल (चावल) की प्रमुखता रहती है, के निर्माण की विधि बहुत लम्बी हैं. जिसका सम्पूर्ण उल्लेख स्थानाभाव के कारण यहाँ सम्भव नहीं हैं। इसे कात्यायन श्रौत सूत्र ४.१.६.७ में देखा जा सकता है। 'श्रौत पदार्थ निर्वचनम्' नामक ग्रन्थ में भी चरु का उल्लेख पक्व तण्डुल के रूप में मिलता है- **ते च परिपक्वास्तण्डुलाः चरुपदवाच्याः** (श्रौ०प०नि० पृ० १९)। उपनिषद् ग्रन्थों में भी चरु का वर्णन आया है। कठरुद्रोपनिषद् के संन्यास प्रकरण में चरु का उल्लेख द्रष्टव्य है- **द्वादशरात्रस्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं अग्निम्** (कठरुद्रो० ३)।

१०३. **चातुर्मास्य**— द्र०-ज्ञानखण्ड -चातुर्मास्य-आग्रयण।

१०४. चान्द्रायण व्रत—द्र०- कृच्छ्र चान्द्रायण।

१०५. चित्त शुद्धि— द्र०-ज्ञानखण्ड -चित्त।

१०६. चिदात्मा— द्र०-चिद्घन।

१०७. चिदानन्द— द्र०-चिद्घन।

१०८. चिद्घन—परमात्मा को सत्, चित् और आनन्दस्वरूप कहते हैं। तीन तत्त्वों सत् (सत्य), चित् (चैतन्यता) और आनन्द (परम सुख-आन्तरिक सुख) की सघनता के कारण ही उसे सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन कहते हैं। इसीलिए उपर्युक्त गुणों से युक्त ईश्वर को समस्तपद के रूप में सच्चिदानन्दघन कहते हैं। अध्यात्मोपनिषद् में इसी तथ्य का उल्लेख इन शब्दों में है-**परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेय......... विक्रियम्। सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमऽव्ययम्** (अध्यात्मो० ६१) अर्थात् उस परब्रह्म को परिपूर्ण, आदि और अन्त से रहित, परिमाप रहित, विकार शून्य, सन्मय (सद्घन,) चिन्मय (चिद्घन), नित्य आनन्दमय (नित्य और आनन्दघन) तथा अविनाशी कहा गया है। कई अन्य विशेषताओं के कारण उस परमात्मा के और भी कई नाम हैं। जैसे- चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसे चिदात्मा कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **चित् चैतन्यमात्मा स्वरूपमस्य** (हि०वि०को०ख०६, पृ० ३९१) अर्थात् चैतन्य स्वरूप परब्रह्म ही चिदात्मा है। चैतन्य रूप होने से ही उसे चैतन्य व चिद्रूप भी कहते हैं। चैतन्य और आनन्द स्वरूप होने से उसे ही चिदानन्द कहते हैं। चित् शब्द में मयट् प्रत्यय लगने से उस परमेश्वर को चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय कहते हैं। निर्दोष, माया से रहित और विकाररहित होने के कारण उस ब्रह्म को ही निरञ्जन तथा निर्विकार कहते हैं— **निरञ्जनो निर्विकारः ....नास्ति** (आत्मो० १-घ)। कलाओं से रहित अथवा कलातीत होने के कारण उस ईश्वर को ही निष्कल कहते हैं—**तेनेदं निष्कलं ......पञ्चभिः** (ब्रह्मविद्यो० १७)। श्रेष्ठ (परम) पुरुष होने के कारण उस ब्रह्म को ही परम अथवा पुरुषोत्तम भी कहते हैं। ज्योतिस्वरूप होने के कारण उसे ही परम-ज्योति कहते हैं। प्राचीनतम होने के कारण उस ईश्वर को ही पुराण पुरुष तथा सम्पूर्ण सृष्टि का मूल तत्त्व होने से उसे ही परम तत्त्व कहते हैं। इसी तरह सबसे परे अथवा परे से भी परे होने के कारण उस परब्रह्म का एक नाम 'परात्पर' भी है। परमात्मा के उपर्युक्त गुणों का निरन्तर चिन्तन करते रहकर सतत आनन्दित रहने वाले परमात्म भाव में स्थित रहते हैं। इस प्रकार उस एक ही परब्रह्म के ये अनेक नाम हैं।

१०९. चिन्मय— द्र०-चिद्घन।

११०. चैतन्य— द्र०-चिद्घन।

१११. जगत्— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११२. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११३. जालन्धर बन्ध— द्र०-बन्ध।

११४. जितेन्द्रिय — धर्म पथगामी मुमुक्षु के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। जितेन्द्रिय का सामान्य अर्थ है-इन्द्रियों को जीत लेने वाला अथवा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने वाला। प्रख्यात संस्कृत कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में जितेन्द्रिय इन शब्दों में परिभाषित है-**जितानि वशीकृतानीन्द्रियाणि येन** अर्थात् जिसके द्वारा समस्त इन्द्रियाँ वश में कर ली गईं या जीत ली गई हैं, वह जितेन्द्रिय है। महाराज मनु ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है-**श्रुत्वा स्पृष्ट्वाथ दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः** (वाच०पृ० ३१२०)। इसका अभिप्राय है, किसी भी प्रकार का विषय सुनकर, कुछ भी स्पर्श करके, कुछ भी देखकर, कुछ भी भक्षण करके तथा कुछ भी सूँघ कर जो व्यक्ति न तो हर्षित होता है और न ही ग्लानि अनुभव करता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन में इस विषय में उल्लेख है कि आत्म शुद्धि हो जाने पर सत्त्वगुण प्रकट होता है, तब रजोगुण और तमोगुण नहीं आ सकते। कारण-कार्य न्याय से चित्त शुद्धि हो जाने पर रज और तम सत्त्वगुण से प्रभावित हो जाते हैं, जिससे वे चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करने रूप कार्य को नहीं कर पाते; वरन् सत्त्वगुण को सहायता करके हर विषय में अनासक्ति पैदा कर देते हैं, जिससे न किसी से राग होता है, न द्वेष या क्षोभ। निश्चित विषय (ईश्वर) में चित्त अनुरक्त होने के कारण अन्य विषयों (श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषयों) में मन नहीं रमता, जिससे इन्द्रियाँ पराजित हो जाती हैं। इस जितेन्द्रिय स्थिति के प्राप्त हो जाने पर आत्म दर्शन और मोक्ष का पथ प्रशस्त होता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् (३.३८) में भी उपर्युक्त मनु कथित

श्लोक की तरह ही कुछ पाठ भेद से जितेन्द्रिय की परिभाषा उल्लिखित है- **श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च ... जितेन्द्रियः।**

११५. ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी- द्र०-अवधूत।

११६. ज्ञान-संन्यासी-द्र०-अवधूत।

११७. ज्ञानाग्नि—ज्ञान और अग्नि दो शब्दों का समस्त पद ज्ञानाग्नि है, जिसका सामान्य अर्थ है-ज्ञान की अग्नि अथवा ज्ञानरूपी अग्नि। जिस प्रकार अग्नि का कार्य जलाकर भस्म कर देना है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि अज्ञान जनित विकारों को जलाकर भस्म कर देती है। श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख है कि जिसके सभी कार्य कामना और संकल्प से रहित हो जाते हैं, उसके सभी कर्म (प्रारब्ध कर्म) ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं। ऐसे उस पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं- **यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः** (गी० ४.१९)।

वेदान्त दर्शन में जीवन्मुक्त की स्थिति के सन्दर्भ में विवेचन है कि ज्ञानरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और अज्ञान द्वारा संचित कर्म—संशय, विपर्यय आदि बाधित हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति समस्त बन्धनों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है—**अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन......साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्य सञ्चित कर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिल बन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः** (वे०सा० खं०-३४)। मुण्डक उपनिषद् में भी ब्रह्मज्ञानरूप ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मों के विनष्ट होने तथा हृदयग्रन्थि के खुल जाने से समस्त संशयों के विनष्ट होने का वर्णन है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे** (मुण्डको० २.२.८)।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में ज्ञानाग्नि को ध्रुवाग्नि भी कहा गया है; क्योंकि ध्रुव (स्थिर) ज्ञानरूपी अग्नि का प्राकट्य हो जाने के बाद अज्ञान जनित समस्त विकार विनष्ट हो जाते हैं। स्व अज्ञान एवं उसके कार्यरूप प्रपञ्च के रूई के समान पर्वत (अम्बर) को जला देने में ज्ञानाग्नि ही सक्षम है, इसलिए इसे ध्रुवाग्नि कहा गया है-**स्वाज्ञान तत्कार्य स्वातिरिक्त प्रपञ्चतूलाचलभस्मीकरणपटुत्वात् ध्रुवाग्निः ....प्रचक्षते** (ब्रह्मविद्यो० १ ब्रह्म० भा०)।

११८. ज्ञानेन्द्रियाँ— द्र०-ज्ञानखण्ड—अन्तःकरण-चतुष्टय।

११९. तत्त्वमसि— द्र०-ज्ञानखण्ड -महावाक्य।

१२०. तप— द्र०-ज्ञानखण्ड -नियम।

१२१. तारक ब्रह्म-तारक मन्त्र— उपनिषदों में तारक ब्रह्म और तारक मंत्र की महत्ता प्रतिपादित की गई है। अथर्वशिखोपनिषद् में तारक को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है- ....**सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः संतारयतीति तारणात्तारः** (अथर्वशिख० २.१) अर्थात् जो समस्त दुःखों और भयों से मुक्त कर दे, वही तारक है। इसी प्रकार अथर्वशिर उपनिषद् में तारक का अर्थ किया गया है कि जिसके (जिस तारक मंत्र के) उच्चारण करने से ही गर्भ, जन्म, जरा-मरण एवं संसार के महाभयों से मुक्ति मिल जाती है, वह तारक ब्रह्म या तारक मंत्र है- **अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मजरामरणसंसारमहाभयात् संतारयति तस्मादुच्यते तारम्** (अथर्वशिर० ४९)। अद्वयतारकोपनिषद् में तो तारक का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसमें भी तारक ब्रह्म का स्वरूप इसी प्रकार विवेचित है-**गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात्तारकमिति** (अद्वयता० ३)। उपनिषद्कार ने तारक योग का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि नेत्र बन्द अथवा अर्धोन्मीलित रखकर भ्रूमध्य के ऊपरी स्थान में अन्तर्दृष्टि से इस प्रकार का भाव करे कि मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। इस प्रकार का ध्यान करते रहकर सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वाला तद्रूप (तारक रूप) हो जाता है-**योगी स्वान्तः ....ब्रह्माहमस्मीत्यालोकयन् तद्रूपः तारकरूपो भवति** (अद्वयता० २ ब्रह्म० भा०)। तारक ब्रह्म को प्रत्यगात्मा माना गया है- ......**संसारतारकत्वात् तारकं प्रत्यगात्मेत्यर्थः** (अद्वयता० ३ ब्रह्म० भा०) हिन्दी विश्वकोश में षडक्षर मंत्र को तारक मंत्र बताया गया है, जिसमें श्रीराम को इसका अधिष्ठाता माना गया है, यह षडक्षर मंत्र 'ॐ रामाय नमः' है। उपनिषदों (रामोत्तरतापनीयोपनिषद् २.३, अथर्वशिर० ४४ आदि) में 'ॐ कार' को भी तारक ब्रह्म—तारक मन्त्र कहा गया है।

१२२. तुरीयातीत— द्र०-ज्ञानखण्ड—अवधूत।

१२३. तुरीयावस्था— द्र०-ज्ञानखण्ड-तुरीय-तुरीयातीत।

१२४. तुर्यावस्था— द्र०-ज्ञानखण्ड -तुरीय-तुरीयातीत।

१२५. तैजस— द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१२६. त्रय शरीर— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१२७. त्रिगुणातीत-निर्गुण— द्र०-ज्ञानखण्ड--निर्गुण-सगुण।

१२८. त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र— संन्यासाश्रम में अनेक प्रकार के संन्यासी होते है। उनकी कई शाखाएँ हैं, जिनके अनुसार उनके चिह्न भी पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे कुछ संन्यासी एक दण्ड और कुछ त्रिदण्ड धारण करते हैं। इसी प्रकार कुछ त्रिपुण्ड्र, कुछ ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं। प्रख्यात संस्कृत शब्दकोश 'शब्द कल्पद्रुम' में त्रिदण्ड के सम्बन्ध में उल्लेख है- **'त्रिदण्डं चतुरङ्गुलगोबालवेष्टनादन्योन्यसम्बन्धं अस्त्यस्येति'** (श०क०खं० २ पृ० ६५६) अर्थात् त्रिदण्ड यतियों का वह चिह्न है, जिसमें चार-चार अङ्गुल के तीन दण्ड एक दूसरे में बँधे रहते हैं। यह तो त्रिदण्ड का स्थूल स्वरूप हुआ। इसके धारण करने के मूल में भाव यह है कि त्रिदण्डधारी-त्रिदण्डी यतियों के कायदण्ड, मनोदण्ड और वाग्दण्ड बुद्धि में स्थापित रहते हैं अर्थात् वे (त्रिदण्डी) ज्ञानशक्ति से मन, वचन और कर्म को नियन्त्रित रखते हैं- **वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते** (श०क० खं०२, पृ० ६५६)। हिन्दूधर्म कोश के अनुसार त्रिदण्डी संन्यासी श्री वैष्णव संन्यासी कहे जाते हैं, जो शैव दशनामी संन्यासियों से भिन्न है। इनमें केवल ब्राह्मण वर्णोत्पन्न ही ग्रहण किए जाते हैं, वे ही त्रिदण्ड धारण कर सकते हैं। नारद परिव्राजकोपनिषद् में उपनिषद्कार ने यतिचर्या का विवेचन करते हुए लिखा है कि यति को सतत सर्वभूतहितरत रहते हुए शान्त, त्रिदण्डी तथा कमण्डलुधारी होकर आत्मा में रमण करते हुए परिव्रज्या करनी चाहिए और एकाकी ही विचरण करना चाहिए, उसे मात्र भिक्षा के लिए ही ग्राम में प्रवेश करना चाहिए, अन्य कार्यों के लिए नहीं- **सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः। एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्** (ना०परि०३.५५)। काया, मन और वाणी को नियन्त्रित रखने वाले त्रिदण्डी को महायति की संज्ञा देते हुए उपनिषद् भाष्यकार ब्रह्मयोगी ने श्रुति का एक श्लोक उद्धृत किया है-**वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः। यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः** (ना०परि० ३.५४.६२ ब्रह्म० भा०)। शैव सम्प्रदाय का धार्मिक चिह्न त्रिपुण्ड्र है, जो भृकुटी (भौंहों) के ऊपर मस्तक के एक सिरे से दूसरे तक भस्म की तीन आड़ी रेखाओं के द्वारा अंकित किया जाता है। हिन्दी विश्वकोश में त्रिपुण्ड्र शब्द का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है- **त्रयाणां पुण्ड्राणां इक्षुवदाकाराणां समाहारः** अर्थात् ईख के आकार की तीन रेखाओं का समुच्चय त्रिपुण्ड्र है। इसे ललाट के अतिरिक्त वक्षस्थल, भुजाओं एवं अन्य अंगों पर भी अंकित किया जाता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् में बहूदक संन्यासी के लक्षण के सन्दर्भ में त्रिपुण्ड्र का उल्लेख किया गया है-**बहूदकः शिखादि कन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी ....कबलाशी** (ना०परि० ५.१३)। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय के सन्तों के ऊर्ध्व पुण्ड्र (मस्तक पर ऊपर की ओर खड़ी रेखा) धारण करने का विधान भी कुछ ग्रन्थों में मिलता है। कुटीचक के लक्षण में भी श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिदण्ड धारण करने का उल्लेख है-**एकत्रान्नादन परः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः** (ना०परि०५.१२)।

१२९. त्रिपाद् ब्रह्म— ब्रह्म की अनेक संज्ञाओं में एक संज्ञा त्रिपाद् ब्रह्म भी है। वेदों, उपनिषदों और पुराणों में सभी जगह त्रिपाद् ब्रह्म का उल्लेख मिलता है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-"**त्रयः पादा अस्य संख्या सुपूर्व्वस्य।**" जिसके पैरों (पादों या चरणों) की संख्या तीन हो, वह अर्थात् विष्णु भगवान्। पुराणों में उल्लेख है कि एक बार भगवान् विष्णु ने वामन रूप धारण करके राजा बलि से तीन पग भूमि की याचना की, बलि ने वह देना स्वीकार कर लिया, तब वामन ने अपना मूल स्वरूप (विराट् स्वरूप) दिखाया। बलि को ऐसा अनुभव हुआ कि पृथिवी उनके (विराट् भगवान् के) पादद्वय, अन्तरिक्ष मस्तक, सूर्य और चन्द्र दोनों नेत्र हैं आदि। इसे देखकर वे सम्मोहित हो गये। उस समय भगवान् के एक पाद से बलि की समस्त भूमि (पृथिवी), शरीर से आकाश, भुजाओं से समस्त दिशाएँ छा गईं। उनके दूसरे पाद में स्वर्ग के सभी लोक आ गये, परन्तु तीसरा पाद रखने की जगह शेष न बचने पर उनने उसे स्वर्ग लोक से लेकर मर्त्यलोक, जनः लोक, तपःलोक और सत्यलोक में विस्तारित किया। श्रीमद्भागवत में यह प्रकरण इस प्रकार विवेचित है— "**क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे, नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः। पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं, न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि। उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपरुपर्य्यथो, महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः**" (भा० ८.२०.३३-३४)। वेद के मत में संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष ही त्रिपाद् ब्रह्म है। उस ब्रह्मरूप पुरुष (त्रिपाद् ब्रह्म) के सन्दर्भ में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के ऋषि नारायण द्वारा दृष्ट एक-ऋचा में तीन पादों का वर्णन इस प्रकार है—**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि** (ऋ० १०.९०.४) अर्थात् ऊपर (दिव्यलोक में)

जिसके तीन चरण हैं, उस विराट् पुरुष के एक भाग से यह जगत् पुनः प्रकट हुआ। इसके पश्चात् उसने (विराट् पुरुष ने) अन्नभोजी (प्राणियों) तथा अन्न न खाने वाले (वनस्पति आदि) को संव्याप्त किया। परब्रह्मोपनिषद् में भी जीव के, हृदयाकाश में 'रमा' आदि तीनों नाड़ियों के आश्रय से जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं तथा बन्ध-मोक्ष आदि की अवस्था में विचरण करने एवं उस जीव का त्रिपाद् ब्रह्म ही शेष रहने का उल्लेख किया गया है—**सर्वत्र हिरण्मये परे ....तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रेष्य ततोऽनु तिष्ठति** (परब्रह्मो०२)।

१३०. **त्रिपुटी**— त्रिपुटी शब्द का उल्लेख प्रायः सभी कोशग्रन्थों में मिलता है। प्रख्यात कोशग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में त्रिपुटी इस प्रकार व्याख्यायित है- **त्रीणि पुटानि सन्त्यस्याः** अर्थात् जिसमें तीन पुट हों वह त्रिपुटी कहलाती है। त्रिवृता, निसोथ, सूक्ष्मैला (छोटी इलायची) आदि के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों पुटों का समाहार त्रिपुटी कहलाता है- **........त्रयाणां ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपाणां पुटानामाकाराणां समाहारः। ....भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात्। ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो** (श०क० खं०२, पृ०६५९)। बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के अतिरिक्त ध्याता, ध्यान,ध्येय और द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन का समाहार भी त्रिपुटी कहलाता है। मंडलब्राह्मण उपनिषद् में भी त्रिपुटी का उल्लेख हुआ है- **एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्ग समुद्रवन्निवातस्थित दीपवदचल संपूर्णभावाभावविहीन कैवल्य ज्योतिर्भवति** (मं० ब्रा०उ० २.३.१) अर्थात् कैवल्यावस्था प्राप्त साधक की जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी निरस्त हो जाती है, तब लहररहित सागर और वायुरहित स्थल में रखे दीप के समान वह स्थिर हो जाता है तथा सम्पूर्ण भाव और अभावों से रहित होकर केवल ज्योति रूप अवशिष्ट रहता है।

१३१. **त्रिष्टुप्**—द्र०-अनुष्टुप्।

१३२. **त्रैधातवी इष्टि**—द्र०-आग्नेयी इष्टि।

१३३. **त्र्यम्बक**— त्र्यम्बक देव का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। कोशग्रन्थों के अनुसार त्र्यम्बक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**त्रीणि अम्बकानि, नयनान्यस्य, त्रयाणां लोकानां अम्बकः पितेति वा** (वाच०पृ० ३३९६) अर्थात् तीन नेत्रों वाले भगवान् शिव या तीनों लोकों के पिता भगवान् रुद्र ही त्र्यम्बक हैं। त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में महेश या महादेव को रुद्र भी कहा जाता है; क्योंकि वे सृष्टि के संहारक हैं। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति से उनका रुद्र नाम और भी सार्थक हो जाता है-**रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा** (नि० १.१.५) अर्थात् वे (संहार करके) रुलाते हैं अथवा जीवों को कठोर दण्ड प्रदान करके रोने को विवश करते हैं, इसलिए ही वे रुद्र कहलाते हैं। रुद्रों की संख्या ग्यारह मानी गई है। एकादश रुद्रों में से एक का नाम त्र्यम्बक है। यजुर्वेद ३.६० में त्र्यम्बक देव की स्तुति इस प्रकार की गई है- **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम्, उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।** शिवजी को महेश या महेश्वर भी कहते हैं। महेश्वर का अर्थ है, महान् ईश्वर। हिन्दी विश्वकोश खं० १७ पृ०२९१ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**महांश्चासावीश्वरश्च कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं वा समर्थः यद्वा महत्या महामायया ईश्वरः शिव, महादेव।** ब्रह्मवै० पु० २.५.६.६७ में उल्लेख है- **विश्वस्थानाञ्च सर्वेषां महतामीश्वरः स्वयम्। महेश्वरञ्च तेनेमं प्रवदन्ति मनीषिणः॥** इसी प्रकार उपनिषद् में भी रुद्र को ही परब्रह्म, ईशान, महादेव और महेश्वर उपन्यस्त किया गया है-**तत् परंब्रह्मेति स एकः स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेवः** (अथर्वशिर०३)। ज्ञानाकांक्षी भक्तों को ज्ञान प्रदान करने, समस्त भावों का परित्याग कर आत्मज्ञान और योगैश्वर्य से अपनी महिमा में ही स्थित रहने के कारण इन्हें महेश्वर कहा गया है-**..................योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः** (अथर्वशिर०-४)। नोट- त्र्यम्बक के स्थान पर पाठ भेद से कुछ ग्रन्थों में त्रयम्बक अथवा त्रियम्बक शब्द भी मिलता है।

१३४. **दक्षिणाग्नि**—द्र०-आहवनीय।

१३५. **दक्षिणायन**—द्र०- उत्तरायण।

१३६. **दर्शयज्ञ**—आर्ष ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है, जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञ आदि। दर्श और पौर्णमास यागों (यज्ञों) का नामकरण इनके समय की स्थिति के अनुसार किया गया है। वाचस्पत्यम् में दर्श को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-**दृश्येते शास्त्रदृष्ट्या सूर्य्यचन्द्रौ एकत्र स्थितौ यत्र। ....सूर्य्येन्दु सङ्गमकाले अमावास्या तिथौ 'एकत्रस्थौ चन्द्रसूर्यौ दर्शनात् दर्श उच्यते** (वाच०पृ० ३४७३) अर्थात् जिस तिथि को चन्द्र और सूर्यदेव एक ही

स्थान पर एकत्र हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। चन्द्रमा और सूर्य के एक स्थान पर दृश्यमान होने के कारण इस अमावस्या तिथि को ही दर्श कहते हैं एवं इस तिथि में सम्पन्न होने वाले यज्ञ को दर्शयज्ञ कहते हैं। इसी प्रकार जिस दिन चन्द्र पूर्ण कलायुक्त दिखाई देता है, उसे पूर्णिमा तिथि कहते हैं- **पूर्णः कलाभिः पूर्णोमाश्चन्द्रमा यत्र। पूर्णिमायाम्** (वाच० पृ० ४४०२)। पूर्णिमा को सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ को पूर्णमास या पौर्णमास यज्ञ कहते हैं। श्रुतियों में भी प्रतिपक्ष दर्श और पूर्णमास यज्ञ सम्पन्न करने का वर्णन मिलता है,'**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत**', '**सर्वेभ्यो दर्श पूर्णमासौ श्रुतिः**' (वाच०पृ० ४४०२)। इसीलिए इन्हें श्रौतयाग कहा जाता है। दर्शपौर्णमास याग (यज्ञ) क्रमशः पूर्णिमा और अमावस्या को किये जाते हैं। समस्त कामनाओं की सिद्धि हेतु अग्निहोत्री इन अनुष्ठानों को प्रतिपक्ष करते रहते हैं- **सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ** (आप०श्रौ०सू० ३.१४.९)। दर्श और पौर्णमास में प्रमुखता पौर्णमास याग की ही है, इसी कारण पूर्णिमा को अग्नि परिग्रह के पश्चात् प्रथम पूर्णिमा आने पर ही पौर्णमास यागानुष्ठान प्रारम्भ होता है। अग्नि परिग्रह अमावस्या और पूर्णिमा दोनों को ही किया जा सकता है। यदि अमावस्या को अग्नि परिग्रह किया गया हो, तो पूर्णमासी आने तक प्रतीक्षा करने के बाद ही याग अनुष्ठान प्रारम्भ होता है। श्रौत ग्रन्थों में अग्निहोत्री को दर्श और पौर्णमास याग का अनुष्ठान सम्पूर्ण जीवन अथवा तीस वर्ष तक अथवा शारीरिक सामर्थ्य रहने तक करने का विधान है- **त्रिंशतवर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** (का०श्रौ०सू० ४.२.४७)। **यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत।.......त्रिंशतं वा वर्षाणि जीर्णो वा विरमेत्** (आप०श्रौ०सू० ३.१४.१२-१३)। कठरुद्रोपनिषद् में उच्चस्थिति के संन्यासी की स्थिति बताते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि उसके द्वारा अमावस्या को किया गया भोजन ही उसका दर्शयज्ञ तथा पूर्णिमा को किया गया भोजन ही उसका पौर्णमास यज्ञ है-**यद्दर्शे तद्दर्शं यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यं .....वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः** (कठरुद्रो० ३)। दर्श और पौर्णमास यज्ञ को दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि भी कहते हैं।

१३७. दहर पुण्डरीक— द्र०- अष्टदल कमल।

१३८. दीक्षा— भारतीय संस्कृति में जीवन को सफलता तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए दीक्षा अति आवश्यक मानी गयी है। हिन्दी विश्वकोश में दीक्षा शब्द की रचना इस प्रकार वर्णित है- **दक्षी भावे अ स्त्रियां टाप्**। इसके कई अर्थ हैं, जैसे नियम-संकल्प पूर्वक अनुष्ठान, अभीष्ट देवमन्त्र ग्रहण, यजन, पूजन, व्रत-संग्रह, उपनयन संस्कार आदि। उपनयन संस्कार में भी गुरु या आचार्य यज्ञोपवीत प्रदान करते समय शिष्य को गायत्री मंत्र की दीक्षा प्रदान करते हैं। तन्त्र ग्रन्थों में दीक्षा का विस्तार से वर्णन हुआ है। एक तन्त्र ग्रन्थ के अनुसार दीक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- **दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः** (वाच०पृ० ३६००) अर्थात् जो विमल ज्ञान देकर कर्म वासना का क्षय कर देती है, उसे तन्त्रज्ञ मुनियों द्वारा दीक्षा कहा गया है। प्रख्यात तन्त्र ग्रन्थ रुद्रयामल में दीक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-**ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम्। अतो दीक्षेतिं संप्रोक्ता दीक्षा तन्त्रार्थवेदिभिः** (वाच०पृ० ३६०२) अर्थात् जिससे शिव (कल्याणकारी) से तादात्म्य प्राप्त होता है तथा मलत्रय (लोभ, मोह, अहंकार) का प्रक्षालन होता है, उसे तन्त्रज्ञों ने दीक्षा कहा है। योगिनी तन्त्र तृतीय भाग के षष्ठ पटल में भी दीक्षा की महत्ता बताते हुए तन्त्रकार ने लिखा है-**दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।अतो दीक्षेति देवेशि! कथिता तत्त्वचिन्तकैः** अर्थात् जो ज्ञान-मति प्रदान करती तथा पाशबन्धनों को क्षीण करती है, उसे तत्त्वचिन्तकों ने दीक्षा नाम दिया है। दीक्षा से जीवन जीने की कला में दक्षता प्राप्त हो जाती है, जिससे व्यक्ति स्वयं तो सुख-शान्तिमय जीवनयापन करता ही है, समाज और संस्कृति के उत्कर्ष के लिए भी बहुत कुछ कर गुजरने को समुद्यत होता है। सद्गुरु से दीक्षा लिए बिना व्यक्ति 'निगुरा' कहलाता है, जो एक प्रकार की गाली है। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठ गुरु से दीक्षा अवश्य लेनी चाहिए। दीक्षा के बिना मंत्र का जप करना उसी प्रकार समुचित फलदायक नहीं होता, जिस प्रकार पत्थर की चट्टान में बोया बीज अंकुरित नहीं होता-**अदीक्षितस्य निन्दामाह तन्त्रसारे-अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जप पूजादिकाः क्रियाः। न भवन्ति श्रियै तेषां शिलायामुप्तबीजवत्** (वाच०पृ० ३६०२)।

यों तो शुभकार्य जितना शीघ्र हो, कर लेना चाहिए; किन्तु दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ समय श्रेष्ठ माने गये हैं। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार-शुक्ल पक्ष में दीक्षा शुभफल प्रदायक होती है। कृष्ण पक्ष में भी पंचमी तिथि तक ली जा सकती है। श्रीकामी को शुक्ल पक्ष में और मुमुक्षु को कृष्ण पक्ष में मंत्र दीक्षा लेना उचित है। विद्वानों का मत है कि रविवार को दीक्षा लेने से धन संचय,चन्द्रवार को शान्ति, भौमवार को आयुः क्षय, बुधवार को सौन्दर्य प्राप्ति, गुरुवार को ज्ञान प्राप्ति, शुक्रवार को सौभाग्य और शनिवार को यशनाश होता है। ये बातें सामान्य स्थलों पर लागू होती हैं; किन्तु

गङ्गादि पुण्य तीर्थ स्थलों, काशी, प्रयाग, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों में दीक्षा लेने के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया जाता। दीक्षा के अनेक प्रकार हैं—जैसे—मंत्रदीक्षा, अग्निदीक्षा, प्राणदीक्षा। तान्त्रिकों में प्रचलित दीक्षा भी कई प्रकार की होती है, जैसे-समयीदीक्षा, लोकदीक्षा, क्रियादीक्षा और कला दीक्षा आदि। उपनिषद् ग्रन्थों में भी दीक्षा की कई स्थानों पर महिमा गायी गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है-**कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति** (बृह०उ० ३.९.२३)। इसी प्रकार सोम की प्रतिष्ठा दीक्षा में निर्दिष्ट है-**सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायाम्** (बृह० उ० ३.९.२३)। निर्वाणोपनिषद् में अवधूत लक्षण में दीक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि परब्रह्म से संयोग ही उसकी दीक्षा है। उसके लिए किसी स्थूल कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है—**परमहंसः सोऽहम् ....संयोग दीक्षा** (निर्वाणो० २-१४)।

१३९. देव— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४०. देवयजन—वेदों, उपनिषदों आदि आर्ष ग्रन्थों में देवयजन शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। हिन्दी विश्वकोश में 'देवयजन' शब्द की रचना इस प्रकार विवेचित है-**देवा इज्यतेऽत्र यज आधारे ल्युट्**। इसके तीन अर्थ हैं- वेदिस्थान (यज्ञवेदी), यज्ञ करने का स्थल और पृथिवी। सामान्यतया इस शब्द का अर्थ 'देवताओं के लिए यज्ञ क्रिया' जैसा प्रतीत होता है; किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यज्ञवेदी, यज्ञकुण्ड, यज्ञस्थल आदि है। शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत्र सूत्र आदि ग्रन्थों में इसका अर्थ यज्ञवेदी, यज्ञ स्थल होने की पुष्टि की गई है-"**वेदीमार्जन प्रशंसार्थमितिहासमाह। आ समन्तात् मृतं सर्वदा नश्वरमामृतं तद्विपरीतं यद्देवयागाधिकरणभूतं स्थानम्**" (वाच०पृ०३७३९)। जाबालोपनिषद् में देवयजन का दार्शनिक स्वरूप इस प्रकार विवेचित है- "याज्ञवल्क्य के यह पूछने पर कि प्राणों का क्षेत्र तथा इन्द्रियों का देवयजन क्या है? बृहस्पति ने कहा कि अविमुक्त ही प्राणों का स्थल (कुरुक्षेत्र) है और वही इन्द्रियों का देवयजन (यज्ञस्थल) है तथा वही प्राणियों का ब्रह्मसदन भी है-**यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्** (जाबालो० १.१)। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श में उल्लेख है कि यागोचित स्थल में ही देवयजन का निर्माण किया जाता है। देवयजन के निमित्त उस स्थल की कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए, जैसे—जहाँ कृष्णसार मृग स्वाभाविक रूप से विचरते हों, वह स्थान देवयजन के लिए उपयुक्त होता है- **कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः** (मनु० २.२३)।

१४१. द्रष्टा— आर्ष ग्रन्थों में 'द्रष्टा' शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः 'देखने वाले' के अर्थ में ही द्रष्टा शब्द प्रचलित है; किन्तु विशेषणों सहित इसके कई प्रकार के शब्द व अर्थ बनते हैं; जैसे-मूकद्रष्टा (चुप रहकर देखने वाला), भविष्यद्रष्टा (भविष्य देखने वाला), दूरद्रष्टा (दूर तक देखने वाला), युगद्रष्टा (वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान खोजने वाला अथवा भावी युग के दृश्य को पहले से देख लेने वाला) आदि। इसी प्रकार ईश्वर का एक नाम भी सर्वद्रष्टा (सब कुछ देखने वाला) है। इसीलिए मैत्रेयी उपनिषद् में साधक कहता है कि मैं जगत् का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ अर्थात् वह ईश्वर ही जगत् का सर्वद्रष्टा है- **न जगत्सर्वद्रष्टास्मि** (मैत्रे० ३.१४)।

निरुक्तकार यास्क मुनि ने मन्त्रों का दर्शन करने वाले ऋषियों को भी 'द्रष्टा' की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार मन्त्रों अथवा ऋचाओं का दर्शन या साक्षात्कार करने के कारण ही वे ऋषि कहलाते हैं- **दर्शनात् ऋषिः** (नि०२.३.१२)। इसीलिए ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा गया है-**साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। .....ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मन्त्रकाले बभूवुः** (नि० १.६.२०)। पातञ्जल योग सूत्र में आत्मा को द्रष्टा तथा अन्तःकरण को दृश्य बताते हुए सूत्रकार ने इन दोनों के संयोग को दुःख का हेतु कहा है-**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः** (पातं० यो०सू० २.१७)। मैत्रेयी उपनिषद् २.२९ में उल्लेख है कि मुमुक्षु को चाहिए कि वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को वासना के साथ ही त्यागकर उस आत्मा का ही भजन करे (उसी में रमण करे), जिसमें दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है-**द्रष्टृदर्शन दृश्यानि त्यक्त्वा .... केवलं भज**। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में देहस्थित पुरुष को साक्षी होने से उपद्रष्टा कहा है-**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः** (गी० १३.२२)।

१४२. द्वैत—द्र०-ज्ञानखण्ड-अद्वैत।

१४३. धर्म— द्र०-ज्ञानखण्ड-धर्म-अधर्म।

१४४. धारणा— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४५. धृति— सामान्यत: धृति का उल्लेख धर्म के दस लक्षणों के अन्तर्गत आता है। मनुस्मृति ६.९२ में धृति (धैर्य या सन्तोष) को धर्म का प्रथम लक्षण माना गया है- **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥** धृ+क्तिन् से निर्मित धृति शब्द के कोश ग्रन्थों में कई अर्थ हैं जैसे- धारण करना, तुष्टि, सन्तोष, तृप्ति, धैर्य, मन की दृढ़ता और षोडश मातृकाओं में से एक का नाम आदि। श्री मल्लिनाथ ने रघुवंश की अपनी टीका में धृति को धैर्य या प्रीति माना है- **'धृतिर्धैर्यं प्रीतिर्वा'** (वाच०पृ० ३९०६)। मानसिक धारणा को भी धृति कहते हैं। गीता (१८.३३-३५) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इसके सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन भेद बताये हैं-**धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥**

औपनिषदिक परिप्रेक्ष्य में यमों के भी दस प्रकार हैं। पातञ्जल योग के अनुसार सामान्यत: पाँच यम व पाँच नियम माने जाते हैं; किन्तु जाबाल दर्शनोपनिषद् में इन्हें दस-दस माना गया है। जिनमें एक यम 'धृति' भी है-**अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश** (जा०दर्शनो० १.६)। उपनिषद्कार ने धृति को इन शब्दों में परिभाषित किया है- **वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञान निष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः** (जा०दर्शनो० १.१७) अर्थात् वेदादि की अनुकूलता (वैदिक मार्ग पर चलने) से ही सांसारिक प्राणियों को मोक्ष प्राप्त होता है। इससे भिन्न मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। इस प्रकार के दृढ़ निश्चय या दृढ़ धारणा को ही ज्ञानी जनों द्वारा धृति कहा गया है।

१४६. ध्यान— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४७. ध्रुवाग्नि-द्र०-ज्ञानाग्नि।

१४८. नवद्वार— आध्यात्मिक सन्दर्भ में मानव शरीर में स्थित नवद्वारों की चर्चा की जाती है। ये नव (९ की संख्या) द्वार शरीर में स्थित विभिन्न इन्द्रियों के छिद्र ही हैं। प्रख्यात कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में नवद्वार इन शब्दों में विवेचित है-**नवद्वाराणीव चित्तवृत्त्यादेर्बहिर्गमन साधनत्वात् यत्र। देहे तत्र नवभिर्द्वारैश्चित्तादेर्बहिर्गमनात्तस्य तथात्वम्। तथा हि द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके च मुखमेकमिति शीर्ष स्थानि सप्त द्वे पायूपस्थे अधः स्थे इति नवच्छिद्र रूपाणि द्वाराणि देहे सन्ति** (वाच.पृ. ३९८८) अर्थात् देहस्थित नवद्वारों के माध्यम से चित्त वृत्तियाँ बहिर्गमन करती हैं, इसीलिए दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र, एक मुख, एक उपस्थ तथा एक गुदा इन नौ छिद्रों वाली इन्द्रियों को नवद्वार कहते हैं। शास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि इस शरीर से जब प्राण बहिर्गमन करता है, तो इन्हीं नौ द्वारों में से किसी एक से होकर निकलता है; किन्तु योगीजन सहस्रार चक्र से प्राण निष्क्रमण करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लेख है-**नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः** .....(श्वेता०३.१८) तात्पर्य यह है कि वह परम पुरुष-आत्मा प्रकाश स्वरूप है, जो नवद्वार वाले शरीर रूप नगर में अन्तर्यामी होकर विद्यमान है, वही बाह्यजगत् में विविध प्रकार से लीलाएँ कर रहा है-मैत्रेयी उपनिषद् में शरीरगत नौ छिद्रों को मल निष्कासन करने वाला कहकर यह विधान बताया गया है कि इसे (इस शरीर को) छूकर स्नान करना चाहिए अथवा पवित्र रखना चाहिए-**विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते। नवद्वारमलस्रावं सदाकाले स्वभावजम्** (मैत्रे० २.५-६)।

१४९. नाद— द्र०-अनाहत नाद।

१५०. निःस्पृह-द्र०-ज्ञानखण्ड।

१५१. निदिध्यासन— भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म साक्षात्कार अथवा आत्मानुसन्धान के विविध आयामों में श्रवण, मनन आदि के क्रम में निदिध्यासन का भी उल्लेख है। वेदान्त दर्शन में यह उल्लेख इन शब्दों में है-**एवंभूतस्वरूप चैतन्य साक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षित तत्त्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते** (वे०सा०३०) अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप चैतन्य (ब्रह्म) के साक्षात्कार हो जाने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, ये अनुष्ठान आवश्यक हैं। ब्रह्म साक्षात्कार हेतु साधना का प्रथम चरण 'श्रवण' है। श्रुति वाक्यों द्वारा ब्रह्म के सन्दर्भ में सुनना (श्रवण करना) चाहिए; तदुपरान्त ही उस पर मनन, निदिध्यासन व समाधि (ध्यान की उच्चतम स्थति) सम्भव है। इन सबके बाद ही ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है। साधक द्वारा किसी सुयोग्य गुरु की शरण में जाकर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों

को सुनकर षड्विधलिङ्ग द्वारा ब्रह्म के सन्दर्भ में उनका अभिप्राय निर्धारित करना वेदान्त की भाषा में 'श्रवण' कहलाता है- **श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्** (वे०सा०३०)। अध्यात्मोपनिषद् में भी 'श्रवण' इसी प्रकार निर्दिष्ट है- **इत्थं वाक्यैस्तथार्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्** (अध्यात्मो०३३) अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य का अर्थानुसन्धान 'श्रवण' है। इसे और सरल शब्दों में कहें, तो इस प्रकार कह सकते हैं कि आप्त पुरुषों अथवा गुरु आदि के द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना 'श्रवण' अथवा 'सिद्धान्त श्रवण' कहलाता है। वेदान्तसार रचयिता श्री सदानन्द ने 'श्रवण' के अगले उपक्रम 'मनन' का अर्थ, श्रवण को गई अद्वितीय वस्तु का वेदान्तानुरूप तर्कों द्वारा चिन्तन करना बताया है-**मननं तु श्रुतस्याद्वितीय वस्तुनो वेदान्तानुगुण युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्** (वे०सा० ३०)। उपनिषद् में भी शब्दान्तर से मनन की यही परिभाषा वर्णित है--**युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्** (अध्यात्मो० ३३) अर्थात् श्रवण किए गए तथ्य के अर्थ पर तर्क पूर्वक विचार करना 'मनन' कहलाता है। मनन का अगला चरण निदिध्यासन है। इसमें साधक श्रवण और मनन किए गए विषय में सन्देहरहित होकर, उसमें चित्त को एकाग्र कर स्थिर कर लेता है, चित्त का यही एकतानत्व निदिध्यासन कहलाता है। उपनिषद्कार ने निदिध्यासन की स्थिति इस प्रकार बतायी है-**ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते** (अध्यात्मो० ३४)।

वेदान्तसार में निदिध्यासन की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-**विजातीय देहादि प्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्** (वे०सा० ३०)। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर आदि जड़ होने से (आत्मा के) विजातीय हैं, इन विजातीय विचारों से रहित तथा अद्वितीय वस्तु ब्रह्म विषयक सजातीय विचारों का सतत (तैलधारावत्) अविच्छिन्न प्रवाह ही निदिध्यासन है। दूसरे शब्दों में आत्मा को सजातीय प्रतीतियों में चित्त का अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होना ही निदिध्यासन है। निदिध्यासन के बाद अन्तिम अवस्था समाधि है। चित्त की एकाग्रता का नाम समाधि है। इसकी व्युत्पत्ति से ही इसका अर्थ स्पष्ट है-**सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनः यत्र स समाधिः** (वे०वि०पृ० २७९) अर्थात् विक्षेपों का परिहार हो जाने पर जब मन एकाग्र हो जाता है, उस स्थिति को 'समाधि' कहते हैं। स्थिति के अनुरूप इसके कई भेद भी होते हैं। इस सन्दर्भ में १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में समाधि प्रकरण में विस्तृत उल्लेख किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य बताते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन-आत्म साक्षात्कार को ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य बताया है-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्** (बृह०उ०२.४.५)।

१५२. **नियम**— योग दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए नियम पालन आवश्यक है। जिस प्रकार पातञ्जल योग में पाँच यम वर्णित हैं, उसी प्रकार पाँच नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भी हैं। योगदर्शन में उल्लेख है- **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः** (पातं०यो० सू०-३२)। अध्यात्म पथ के पथिक को अपने जीवन क्रम में इन नियमों को समाविष्ट करना आवश्यक है। शब्द कल्पद्रुम में नियम को व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**नियमः पुं- (नियमनमिति। नि+यम)** अर्थात् आत्म नियमन=नियन्त्रण। यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय,ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) को स्वभाव का अंग बनाने के लिए इन नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर पूजन) आवश्यक है। वस्तुतः यम और नियम अन्योन्याश्रित हैं। कुछ उपनिषदों व शास्त्रों में दशविध नियम वर्णित हैं- **तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु** (जा०दर्शनो० २.१) अर्थात् तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप और व्रत ये नियम हैं; किन्तु ऊपर वर्णित योग दर्शन के पाँच नियम (शौच, सन्तोष, तप आदि) ही अधिक प्रचलित हैं।

प्रथम-नियम **शौच** है। शौच अर्थात् पवित्रता, १. बाह्यशौच २. आभ्यन्तर शौच। मिट्टी और जल से शरीर, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि को शुद्ध रखना बाह्य शौच है। मैत्री आदि से ईर्ष्या, अभिमान, घृणा आदि मलों को साफ करना आन्तरिक या आभ्यन्तर शौच है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में उल्लेख है- **स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने। यत्तच्छौचं भवेद् बाह्यं मानसं मननं विदुः। अहं शुद्ध इति ज्ञानं ....रमते नरः** (जा०दर्शनो० १.२०-२२) अर्थात् मिट्टी और जल से शरीर को पवित्र रखना बाह्य शौच है; किन्तु ज्ञानीजन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ' ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। शरीर तो बाहर-भीतर उभयविध अशुद्ध है; पर इसमें निवास करने वाला देही अत्यन्त निर्मल है। ऐसा ज्ञान होने

पर उसे पवित्र किया जाए। अतः हे मुने! जो ज्ञान रूप पवित्रता को छोड़कर बाह्य पवित्रता में ही रमा रहता है, वह स्वर्ण के स्थान पर मिट्टी के ढेलों का ही संग्रह करता है।

दूसरा-नियम **सन्तोष है**। अपनी स्थिति के अनुरूप उचित प्रयास करने पर जो भी फल प्राप्त हो, उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है। सन्तोष को सुख का मूल और इसके विपरीत स्थिति को दुःख का मूल कहा गया है-**सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः**(मनु० ४.१२)। इसी तथ्य की पुष्टि जाबाल दर्शनोपनिषद् में भी मिलती है-**यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्। तत्सन्तोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैक तत्पराः** (जा०दर्शनो० २.५)। प्रभु इच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसी में सन्तुष्ट रहना विद्वानों ने सन्तोष कहा है। सर्वत्र अनासक्त भाव से रहकर ब्रह्मलोक तक के सुख से विरक्ति और हर स्थिति में प्रसन्नता यही सर्वश्रेष्ठ सन्तोष है।

तीसरा-नियम **तप है**। अश्व विद्या के कुशल सारथी द्वारा चञ्चल घोड़ों को साधने के समान, साधक द्वारा शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को समुचित प्रकार से वश में करना तप कहलाता है। जाबालदर्शन उपनिषद्कार ने तप की परिभाषा इस प्रकार की है- **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः** (जा० दर्शनो० २.३) अर्थात् वेदोक्त कृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत करके शरीर को क्षीण करना ही तप है, ऐसा विद्वान् कहते हैं। वस्तुतः उच्च आदर्शों के लिए कष्ट सहन करने का नाम ही तप है। महर्षि पतञ्जलि ने तप तीन प्रकार के माने हैं- शरीर का तप, वाणी का तप और मन का तप। शारीरिक तप के अन्तर्गत युक्त आहार- उचित आहार, सादा-सात्त्विक, सुपाच्य और मिताहार तथा युक्त विहार के अन्तर्गत संतुलित यात्रा, चलना-फिरना आदि है। इसी प्रकार युक्त कर्मचेष्टा अर्थात् नियमित रूप से कर्तव्य पालन, न अधिक श्रम, न आलस्य-प्रमाद बरतना, युक्त स्वप्नावबोध अर्थात् न अधिक सोना, न अधिक जागना। इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक-'**युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा**' (गी०६.१७)। वाणी के तप का अर्थ है-वाणी को संयमित रखना। हितकर, प्रिय, मधुर और मित बोले। मन का तप मन को संयमित रखना है। द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि के भाव मन में न रखना मन का तप है।

चौथा-नियम **स्वाध्याय** है। जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन आदि को सतत आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार विचार संस्थान मन-मस्तिष्क को सुव्यवस्थित-सन्तुलित रखने के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता अनिवार्य रूप से है। स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है- स्व-अपना, अध्याय-अध्ययन। अपना अध्ययन अर्थात् आत्मावलोकन ही स्वाध्याय है। वाचस्पत्यम् में स्वाध्याय की व्युत्पत्ति इन शब्दों में दी है- **स्वः स्वकीयत्वे विहित अध्यायः ......। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इति श्रुतिः**। स्वाध्याय के द्वारा वेद, शास्त्र, उपनिषद्, गीता व अन्य आर्षग्रन्थों का अध्ययन करके उससे प्राप्त ज्ञान के दर्पण में साधक अपने को देखकर आत्म समीक्षा करता है, जिससे आत्म सुधार होता है व आध्यात्मिक उन्नति होती चली जाती है। पातञ्जल योग के अनुसार ओंकार सहित गायत्री मंत्र का जप ही स्वाध्याय है।

पाँचवाँ-नियम **ईश्वर प्रणिधान** है। फल सहित समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। यह समस्त नियमों में प्रमुख है। पातञ्जल योग प्रदीप में साधन पाद सूत्र- ३२ को व्याख्या में ग्रन्थकार ने महर्षि वेदव्यास कृत भाष्य का उद्धरण देते हुए ईश्वर प्रणिधान का फल इस प्रकार विवेचित किया है-**शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥** जो योगी पुरुष शय्या और आसन पर विराजमान या पथ पर गमन करता हुआ अथवा एकान्तस्थ हो, हिंसा आदि वितर्कजाल को विनष्ट करके ईश्वर प्रणिधान करता है, वह अविद्या आदि क्लेशों का विनाश करता हुआ नित्य स्वरूप परमात्मा से युक्त हुआ जीवन्मुक्त का सुख प्राप्त करता है। अतः सभी यमों और नियमों को परब्रह्म में अर्पण करके ईश्वर प्रणिधान करे। जाबालदर्शनोपनिषद् ने ईश्वर प्रणिधान को ईश्वर पूजन कहा है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार दी है- **रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वर पूजनम्** (जा० दर्शनो० २.८) अर्थात् अनृत भाषण आदि दोषों से रहित तथा हिंसा आदि क्रूरता से मुक्त कर्म ही ईश्वर पूजन है।

१५३. **निरञ्जन— द्र०- चिद्घन।**

१५४. **निरहंकारिता—द्र०-अमानित्व गुण।**

१५५. **निर्गुण— द्र०-ज्ञानखण्ड -निर्गुण-सगुण।**

१५६. **निर्वाण—** निर्+वा+क्त से निर्मित निर्वाण शब्द का प्रयोग प्रायः निवृत्ति, शान्ति, अस्तगमन, वाणशून्य, शून्य, विश्रान्ति और मुक्ति या मोक्ष के अर्थ में होता है। दर्शन में इसका मुक्ति के अर्थ में ही अधिक प्रयोग हुआ है। सामान्य धारणा यह

है कि शरीर छूटने के उपरान्त पूर्व कर्मानुसार पुनर्जन्म होता है, पर किसी-किसी योगी के समस्त कर्मक्षय हो जाने पर मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म नहीं होता, यही स्थिति निर्वाण अथवा मोक्ष अथवा मुक्ति कहलाती है; किन्तु दर्शन ग्रन्थों में तृष्णा की सम्यक् निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है-**तृष्णाया विप्रहाणेन निर्वाणमिति कथ्यते** (हि०वि०को० खं० १२) अर्थात् यह जगत् कल्पित और आधाररहित है। अत: इस मिथ्या संसार के साथ अपने को सम्बद्ध रखने की प्रबल आकांक्षा का नाम ही तृष्णा है। इस तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर ही संसारोच्छेद, आत्माभिमान का विनाश और निर्वाण प्राप्त होता है। प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ के अनुसार अपनेपन और संसार के अभाव का नाम ही निर्वाण है। जिस अवस्था में न संसार है, न मैं हूँ, वह स्थिति दुर्बोध और गम्भीर है, यही स्थिति निर्वाण है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। वहाँ सर्वत्र इसका अभिप्राय मुक्ति से ही लिया गया है। उनका मन्तव्य है कि जिस प्रकार ईंधन न होने पर अग्नि निर्वाण की प्राप्त हो जाती है (बुझ जाती है), ठीक उसी तरह काम, कोध, लोभ और मोह जनित संस्कार के समूल नष्ट हो जाने से सत्ता या अस्तित्व का विलोप हो जाता है। सत्ता का निरोध ही निर्वाण कहलाता है। अश्वघोष ने बुद्ध चरित में उल्लेख किया है- **करुणायमाना ज्यायस्यो मृत्युभयविमोहिता:। नैर्वाणे स्थापनीयास्तत् पुनर्जन्मनिवर्त्तके** (हि०वि०को०खं० १२ पृ० ७१) अर्थात् निर्वाण द्वारा पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है। समस्त (अच्छे या बुरे) संस्कारों का क्षय हो जाने पर पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है (हि०वि०को०)। अस्तु, संस्कार समूह के क्षय हो जाने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। बोधिचर्यावतार ग्रन्थ में उल्लेख है कि सर्वत्याग (जगत्, सुख-दु:ख और अभिमान आदि सभी का त्याग) का ही दूसरा नाम निर्वाण है-**सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मन:** (हि०वि०को०खं० १२ पृ० ७२)।

निरालम्ब उपनिषद् के अनुसार मुक्ति या मोक्ष (निर्वाण) नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से नश्वर संसार के सुख-दु:ख प्रदाता सम्पूर्ण विषयों से ममत्व रूप बन्धन को नष्ट कर देना है-**मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तु विचारादनित्य संसारसुखदु:खविषयसमस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्ष:** (निरा० २९)। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने ज्ञानाग्नि द्वारा समस्त कर्मों के क्षय का उपदेश दिया है-**ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गी० ४.३७)। आत्मज्ञान हो जाने पर समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। ब्रह्म की अनुभूति हो जाने पर साधक अपने को अजर,अव्यय, सूक्ष्म, अक्षर, अविकल, निर्मल और निर्वाण मूर्ति अनुभव करने लगता है। "**एकोऽहम ....निर्वाणमयसंविदम्**" (मैत्रे० १.१४)।

१५७. निर्विकल्पक— द्र०-ज्ञानखण्ड -समाधि।

१५८. निर्विकार— द्र०-चिद्घन।

१५९. निष्कल— द्र०-चिद्घन।

१६०. निष्काम कर्म— द्र०- ज्ञानखण्ड।

१६१. पञ्चकोश—द्र०- ज्ञानखण्ड।

१६२. पञ्चतत्त्व-पञ्च तन्मात्राएँ— सम्पूर्ण सृष्टि पञ्चतत्त्वों अथवा पञ्चमहाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पञ्चतत्त्वों का ही बना हुआ है। ये पाँच तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। ये ही पाँचों तत्त्व समस्त पद के रूप में पंच तत्त्व कहलाते हैं। प्रख्यात कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में उल्लेख है-**पञ्चानां तत्त्वानां समाहार:। पञ्चसु भूतेषु स्वरोदय:**। तंत्र ग्रन्थों में पञ्च मकार-मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पञ्च तत्त्व कहा गया है- "**मद्यं मांसं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्चतत्त्वमिदं प्रोक्तं देवि! निर्वाणहेतवे। मकारपञ्चकं देवि! देवानामपि दुर्लभम्। पञ्चतत्त्वविहीनानां कलौ सिद्धिर्न जायते** (वाच० पृ०-४१८६)" अर्थात् मद्य-मांसादि पञ्च तत्त्व देवों को भी दुर्लभ हैं। इनके बिना कलियुग में निर्वाण सिद्धि नहीं मिल पाती। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह आलङ्कारिक वर्णन है। प्रत्यक्षत: इनका सेवन करके सिद्धि प्राप्त होने की बात नहीं कही गई है। अन्य तन्त्रग्रन्थों में गुरुतत्त्व, मंत्र तत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यान तत्त्व इन्हें पञ्चतत्त्व माना गया है- **गुरुतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि! देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं पञ्चतत्त्वं प्रकीर्तितम्** (निर्वाण तंत्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्चतत्त्वों का वर्णन है, वे पृथ्वी आदि पञ्चतत्त्व ही हैं। रामचरित मानस के किष्किन्धा काण्ड में एक चौपायी में इन तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है-**छिति, जल, पावक, गगन समीरा। पञ्च रचित अति अधम सरीरा॥** त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में इस अखिल जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी पञ्च तत्त्वों का उल्लेख मिलता है-इन तत्त्वों का अनुपात इस प्रकार है-पृथ्वी १/२+जल १/८+अग्नि १/८+आकाश १/८+वायु १/८=पृथिवीतत्त्व, इसी प्रकार अन्य चारों तत्त्वों के १/२ अंश में शेष चारों तत्त्वों का अनुपात १/८, १/८ होने पर ही वे

पूर्ण तत्त्व बनते हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में शरीर स्थित अङ्ग विशेषों में तत्त्वों की प्रधानता के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख है- **देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्। प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। आकाशांशस्तथा प्राज्ञः मूर्धांशः परिकीर्तितः** (जा०दर्शनो० ८.१-५) अर्थात् तत्त्वाधिक्य की दृष्टि से पाँव से घुटने तक का भाग (पृथिवी तत्त्व के आधिक्य के कारण) पृथिवी तत्त्व का भाग कहलाता है, घुटने से गुदा तक जलीय अंश, गुदा से हृदय तक का अग्न्यंश, हृदय से भौहों तक वाय्वंश तथा मस्तक क्षेत्र आकाशांश कहा गया है। इन तत्त्वों में देवों के ध्यान के सन्दर्भ में वर्णन है कि पृथिवी तत्त्वांश में ब्रह्मा का, जलतत्त्वांश में विष्णु का, अग्नितत्त्वांश में महेश का, वायुतत्त्वांश में ईश्वर का तथा आकाश तत्त्वांश में सदाशिव का ध्यान करना चाहिए-**ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा। अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्** (जा०दर्शनो० ८.५-६)।

१६३. पञ्चमहायज्ञ— द्र०-वानप्रस्थ।

१६४. पञ्चमात्रा—द्र०-अवधूत।

१६५. परब्रह्म— द्र०- ज्ञानखण्ड -ब्रह्म।

१६६. परमगति— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६७. परमज्योति—द्र०-चिद्घन।

१६८. परम तत्त्व— द्र०चिद्घन।

१६९. परम पद—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१७०. परमपुरुष—द्र०-चिद्घन।

१७१. परम व्योम— वेद, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों में परमव्योम शब्द का उल्लेख हुआ है। व्योम शब्द सामान्यतः अन्तरिक्ष या आकाश के लिए प्रयुक्त होता है; किन्तु इसमें परम विशेषण जोड़ देने से इसका अर्थ पराचेतना हो जाता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। ऋग्वेद १.१६४.३९ में वेदों की ऋचाओं के परमव्योम में स्थित होने का वर्णन है- **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः** अर्थात् अविनाशी ऋचाएँ परमव्योम में विद्यमान हैं, जहाँ सम्पूर्ण देव शक्तियों का वास है। कहा जाता है कि प्रलय हो जाने पर भी यह दिव्य ज्ञान तथा सृष्टि के तत्त्व कभी नष्ट नहीं होते; वरन् अपनी परम चेतना, पराचेतना या परमव्योम में समाहित हो जाते हैं और जब पुनः सृष्टि का आविर्भाव होता है, तब प्रकट होते हैं। यों तो यह बात कल्पित जैसी लगती है; किन्तु इसकी यथार्थता को कम्प्यूटर तन्त्र के मास्टर कम्प्यूटर के उदाहरण से स्पष्टतया समझा जा सकता है- जिस प्रकार मास्टर कम्प्यूटर के साथ माइक्रोवेव टावर्स द्वारा विभिन्न कम्प्यूटर जुड़े रहते हैं। देश के किसी भी कम्प्यूट्राइज्ड रेलवे स्टेशन से कहीं के भी रेलवे का टिकट बुक कराने से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ों को जानने तक में कम्प्यूटर की इस प्रणाली का उपयोग किया जाता है, किन्तु यदि किसी कम्प्यूटर में गड़बड़ी हो जाये, तो उसके पर्दे पर आँकड़े न आने पर भी वे पूर्णतः नष्ट नहीं होते, वरन् अपने मास्टर कम्प्यूटर में समा जाते हैं। जब मशीनरी ठीक हो जाती है, तो वे आँकड़े पुनः उस कम्प्यूटर पर भी आने लगते हैं, जो कुछ समय पहले खराब हो गया था। ठीक इसी तरह पराचेतना-परमव्योम में सम्पूर्ण ज्ञान व सृष्टि के सभी तत्त्व अवस्थित रहते हैं। पृथिवी आदि किसी एक केन्द्र (ग्रह) के नष्ट हो जाने पर भी वे नष्ट नहीं होते तथा परम व्योम में समाहित हो जाते हैं और नये सिरे से पुनः प्रकट होते हैं। ऋग्वेद में वाणीरूपी गौ के सहस्राक्षरों से युक्त होकर परम व्योम में संव्याप्त होने की बात इस मंत्र में द्रष्टव्य है- **गौरीर्मिमाय ...सहस्राक्षरा परमे व्योमन्** (ऋ० १.१६४. ४१)। एकाक्षरोपनिषद् में भी उस अक्षर ब्रह्म को संसार का आदि कारण, समस्त प्राणियों का स्वामी, पुराण पुरुष तथा समस्त भुवनों का रक्षक कहकर उस पराचेतना का ही संकेत दिया गया है—**एकाक्षरंत्वक्षरेऽत्रास्ति ...भुवनस्य गोप्ता** (एकाक्षरो० १)। उस एकाक्षर ब्रह्म को हिरण्यगर्भ स्वरूप कहकर प्राणियों के हृदय व्योम (हृदयाकाश) में प्रकाशित होने वाला विवेचित किया गया है- **वितत्य बाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भः .....अरिष्टनेमिः** (एकाक्षरो०४)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उस विराट् ब्रह्म को त्रिपादूर्ध्व कहकर यह बताया गया है कि उसके एक चरण में ये समस्त प्राणी हैं तथा तीन चरण अनन्त दिव्य लोक (परम व्योम) में स्थित हैं- **...पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** (ऋ० १०.९०.३) **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ....अभि** (ऋ० १०.९०.४)। अध्यात्मोपनिषद् में उल्लेख है कि जिस प्रकार घटाकाश (शरीर स्थित आकाश), महाकाश (परमव्योम) में स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके योगी को

सतत शान्त रहना चाहिए-**घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परमात्मनि ....तूष्णीं भव सदा मुने** (अध्यात्मो० ७)।

१७२. परमसिद्धान्तश्रवण—द्र०-निदिध्यासन।

१७३. परमहंस—द्र०-अवधूत।

१७४. परमात्मभाव— द्र०- अद्वयानन्द।

१७५. परमानन्द —द्र०-अद्वयानन्द।

१७६. परलोक—द्र०-ज्ञानखण्ड -परलोक, सप्तलोक।

१७७. परात्पर—द्र०-चिद्घन।

१७८. परिव्रजक —द्र०-ज्ञानखण्ड-परिव्रज्या, परिव्राजक।

१७९. पश्चिमलिङ्ग—भारतीय संस्कृति में चार आश्रम माने गये हैं, जो जीवन को चार भागों में विभाजित करते हैं। जीवन के प्रथम चरण का आश्रम ब्रह्मचर्य, द्वितीय चरण का गृहस्थ, तृतीय चरण का वानप्रस्थ और चतुर्थ चरण का आश्रम संन्यास कहलाता है। संन्यास आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को परिव्राजक भी कहते हैं। इनका प्रमुख कार्य अपने को पूर्णरूपेण परिष्कृत करके सतत लोकोपयोगी कार्यों में अपने को निरत रखकर परिव्रज्या करना होता है। संन्यासियों के कुछ चिह्न भी होते हैं, जैसे- शिक्य, कमण्डलु, दण्ड आदि। इन चिह्नों को धारण करने वाले संन्यासी (परिव्राजक) व्यक्त विष्णुलिङ्ग कहलाते हैं। उल्लेखनीय है कि परिव्राजकों (संन्यासियो) को विष्णुरूप मानने के कारण उन्हें विष्णुलिङ्ग कहते हैं। इनमें कुछ पूर्व लिङ्ग तथा कुछ पश्चिम लिङ्ग परिव्राजक कहलाते हैं-**परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः** (निर्वाणो० ३)। पूर्वलिङ्ग (व्यक्त विष्णु लिङ्ग) परिव्राजक होते हैं, जो संन्यास के गुणों, दया, क्षमा, करुणा, निरहंकारिता, निर्विकारिता आदि गुणों को धारण करके संन्यासी के बाह्य लिङ्ग (चिह्न) शिक्य, कमण्डलु, दण्ड आदि भी धारण करते हैं। पश्चिम लिङ्ग अथवा (अव्यक्त विष्णुलिङ्ग) परिव्राजक (संन्यासी) उन्हें कहते हैं, जो बाह्य चिह्न धारण न करके भी अन्तःकरण में संन्यासियों के समस्त गुण धारण किये रहते हैं। इन्हें ही अव्यक्त विष्णु लिङ्ग परिव्राजक भी कहते हैं। अड्यार से प्रकाशित निर्वाणोपनिषद् की टीका में ब्रह्मयोगी ने लिखा है-**पश्चिममन्तः संन्यासलक्षणमव्यक्तविष्णुलिङ्गिनश्चेति ....स्वबाह्यान्तर्विलसितविक्षेपग्रासव्यक्ताव्यक्तविष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थः** (निर्वाणो० १.५८ टीका)।

१८०. पाप-पुण्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पाप-पुण्य।

१८१. पिङ्गला—द्र०-ज्ञानखण्ड -सुषुम्ना नाड़ी।

१८२. पितर —द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१८३. पुनर्जन्म—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१८४. पुराण-पुरुष—द्र०-चिद्घन।

१८५. पुर्यष्टक— यह शरीर विभिन्न तत्त्वों से निर्मित है। प्रत्यक्षतः यह स्थूल शरीर ही दिखाई देता है। यह भी पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश तत्त्वों के सम्मिलन से निर्मित है। इसके अतिरिक्त इसी के अन्दर दो अदृश्य शरीर और हैं, जिन्हें सूक्ष्म व कारण शरीर कहा जाता है। इन दोनों शरीरों की रचना में पृथिवी आदि स्थूल पञ्चतत्त्व न होकर इनके सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। वेदान्त में सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। इसे देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता; वरन् अनुमान किया जा सकता है। सुख-दुःखादि की अनुभूति सूक्ष्म शरीर द्वारा ही होती है। लिङ्ग शरीर का अर्थ करते हुए स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है- **लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि, तानि च तानि शरीराणि च .... लिङ्गशरीराणि** (वे०सा० टीका खं० १३) अर्थात् जिसके माध्यम से प्रत्यगात्मा के सद्भाव का ज्ञान होता है, वह लिङ्ग शरीर है। स्थूल शरीर के अन्त हो जाने पर, यह सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) ही निकलकर अन्य स्थूल शरीर में प्रविष्ट होकर, नूतन जन्म धारण करता है। वेदान्त में सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्व (अंग) माने गये हैं। ये तत्त्व पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च वायु (प्राण), मन और बुद्धि हैं। शारीरकोपनिषद् में सूक्ष्म शरीर के अंग इन शब्दों में वर्णित हैं- '**बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सुसूक्ष्मं लिङ्गमुच्यते** (शारीरको० ५)। ब्राह्मणग्रंथों में सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर के सत्रह अंगों की गणना एक अन्य प्रकार से भी की गई है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) और पंच वृत्तियों (प्राण,

अपान, उदान, व्यान और समान) वाला एक प्राण ये सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं। सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर के इन सत्रह अवयवों को आठ अंगों में भी समाहित किया जाता है, इसीलिए इसे पुर्यष्टक भी कहते हैं। पुर्यष्टक का शाब्दिक अर्थ आठ पुरियों का समूह है। आठ अंगों को सम्भवतः आलंकारिक रूप से आठ पुरियाँ कहा गया होगा, इसलिए इसे पुर्यष्टक नाम दिया गया। पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर) के आठ अंग इस प्रकार वर्णित हैं-**ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च। मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्॥ प्राणोऽपानस्तथा ....अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः** (पंच०) अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक, प्राण पञ्चक, सूक्ष्म पञ्चभूत, अन्तःकरण चतुष्टय इन सभी को एक-एक इकाई मानकर कुल पाँच हुए। इसके अतिरिक्त काम, कर्म और अविद्या ये तीन मिलकर कुल आठ होते हैं। इन्हीं आठ अवयवों से मिलकर बने सूक्ष्म शरीर को पुर्यष्टक कहते हैं। पैङ्गलोपनिषद् में पुर्यष्टक इन शब्दों में विवेचित है-**अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चकमन्तःकरण चतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्** (पैङ्गलो० २.५)।

१८६. पौर्णमास्य यज्ञ—द्र०-दर्शयज्ञ।

१८७ प्रज्ञा—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१८८. प्रज्ञात्मा— उपनिषदों में कई स्थलों पर 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान या श्रेष्ठ बुद्धि है। विवेकवान्, विद्वान् या चैतन्य पुरुष को प्रज्ञावान् अथवा प्रज्ञान कहते हैं। इस प्रकार जिसके द्वारा बौद्धिक वृत्तियों, ज्ञातव्य विषयों तथा कामनाओं को ग्रहण किया जाता है, उसी का नाम प्रज्ञा है-**केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति। प्रज्ञयेति प्रब्रूयात्** (कौ०ब्रा०उ० १.६)। प्रज्ञा+आत्मा दो शब्दों से मिलकर प्रज्ञात्मा शब्द विनिर्मित हुआ है। सामान्यतः इसका अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान सम्पन्न अथवा विवेकवान् व्यक्ति हुआ; किन्तु कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के तृतीय अध्याय में इसे एक विशेष अर्थ में लिया गया है, वहाँ प्रज्ञा को ही प्राण और प्राण को ही प्रज्ञा कहा गया है; क्योंकि दोनों एक ही साथ रहते व एक साथ ही शरीर से उत्क्रमण करते हैं-**यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः** (कौ०ब्रा०उ० ३.४)। इन्द्र-प्रतर्दन वार्तालाप में इन्द्र ने अपने को प्राणस्वरूप, आयुस्वरूप और अमृत स्वरूप बताते हुए, इसी रूप में उन्हें जानने के लिए कहते हुए, अपने को प्राण और प्रज्ञारूप आत्मा (प्रज्ञात्मा) कहा है- **स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽत्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वायुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम् ......ऽमृतत्वमाप्नोति** (कौ०ब्रा०उ० ३.२) अर्थात् प्राण ही आयु है; क्योंकि जब तक प्राण रहता है, तभी तक आयु रहती है। शरीर से प्राण निकल जाने पर आयु भी समाप्त हो जाती है। प्राण ही अमृत है; क्योकि शरीर के मृत हो जाने पर भी प्राण मृत नहीं होता। इसी प्रकार प्राण को ही प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान) भी कहा गया है; क्योंकि समस्त इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राण अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करती हैं। समस्त इन्द्रियाँ रहते हुए भी यदि शरीर में प्राण नहीं है अथवा मरणासन्न स्थिति में अल्प मात्रा में ही प्राण शेष रह गया है, तो न आँखें देख सकती हैं (अर्थात् अपने प्रियजन को भी पहचानने में समर्थ नहीं हो सकतीं), न कान शब्द सुनते हैं, न मुख (वाणी) से शब्द निकलते हैं, न घ्राणेन्द्रिय गन्ध ले सकती है, न त्वचा को स्पर्शज्ञान होता है, न हाथ-पैर चलते हैं, न उपस्थ और गुदा ही अपना कार्य समुचित रूप से कर पाते हैं तथा मन भी सोच-विचार नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में क्रिया शक्ति का बोधक प्राण (प्रज्ञा) ही है, जो ज्ञान में प्रवृत्त करने वाला प्रज्ञा से युक्त आत्मा अर्थात् प्रज्ञात्मा है। यही शरीर को सभी ओर से आबंद्ध करके विभिन्न क्रियाएँ कराता रहता है। जिस प्रकार रथ को नेमि अरों से तथा अरे उसकी नाभि से जुड़े होते हैं, उसी प्रकार समस्त भूत मात्राएँ (पंचभूत या तन्मात्राएँ) प्रज्ञामात्राओं (इन्द्रियों में विद्यमान प्रज्ञा के अंश) में अर्पित हैं तथा प्रज्ञामात्राएँ मुख्य प्राण (उक्थ) में अर्पित हैं। यह प्राण-प्रज्ञात्मा ही अजर-अमर और आनन्द स्वरूप है-**तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः। स एष प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः ....स म आत्मेति विद्यात्** (कौ० ब्रा०उ० ३.९)।

१८९. प्रज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१९०. प्रणव — द्र०-प्रणव सन्धान।

१९१ प्रणव सन्धान—योग शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन है। ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म सान्निध्य हेतु अनेक प्रकार की नाद साधनाएँ भी बतायी गई हैं। नादबिन्दूपनिषद् में उल्लेख है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब प्रारब्ध कर्म क्षीण

हो जाते हैं, तब ॐ कार स्वरूप परब्रह्म के साथ अपनी आत्मा के एकत्व का चिन्तन (ध्यान) करने से नादरूपी स्व प्रकाशित शिव (कल्याणकारी तत्त्व) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार मेघाच्छादन हट जाने से स्वयं सूर्य भगवान् प्रकाशित हो जाते हैं- **ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः। स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽशुमानिव** (नादबिन्दु० ३०) अर्थात् प्रणव ही ब्रह्मरूप है और वही नादरूप ब्रह्म है, उसे ही ॐ कार कहते हैं। इस ॐ कार की नाद साधना को ही प्रणव सन्धान कहते हैं। नादबिन्दूपनिषद् में ही प्रणव संन्धान प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार है कि साधक को सिद्धासन में बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के अर्न्तगत उठती अनाहत ध्वनि (नाद) का निरन्तर श्रवण करना चाहिए।

१९२. **प्रतिष्ठा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१९३. **प्रत्यगात्मा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१९४. **प्रत्याहार**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१९५. **प्रपञ्च**—आध्यात्मिक सन्दर्भों में 'प्रपञ्च' शब्द का उपयोग बहुत होता है, जिसे भवसागर या संसार के अर्थ सें लिया जाता है। कोशग्रन्थों में प्रपञ्च शब्द की रचना इस प्रकार वर्णित है- **प्रपञ्च्यते इति प्र-पचि व्यक्तीकरणे घञ्** (हिन्दी विश्व कोष)। इसके कई अर्थ हैं १. विस्तार, फैलाव। २. उलट-पलट, इधर का उधर। ३. पञ्चतत्त्वों का उत्तरोत्तर अनेक भेदों में विस्तार। ४. संसार, भवजाल। ५. सांसारिक व्यवहारों का विस्तार, दुनिया का जंजाल आदि। इनमें से तृतीय क्रमांक वाले अर्थ में ही इसका सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। सम्भवत: जगत् का निर्माण- विस्तार वेदान्तवर्णित पञ्चीकरण (पंचभूतों के पञ्चीकृत विभाजन) प्रक्रिया द्वारा होने से इसे प्रपञ्च कहा जाने लगा होगा। उपनिषद् ग्रन्थों सें 'प्रपञ्च' शब्द का उपयोग भवसागर, माया आदि के रूप में हुआ है। आत्मबोधोपनिषद् में आत्मबोध प्राप्त साधक का कथन है कि आत्मबोध हो जाने पर यह प्रपञ्च (जगत् या माया) मुझे सत्य (ब्रह्मरूप) ही लगता है। मिथ्या होने पर ही बन्ध-मोक्षादि व्यवहार सत्य जान पड़ते हैं। जिस प्रकार सर्पादि सें रज्जु (रस्सी) का अस्तित्व है, उसी प्रकार प्रपञ्च आदि सें केवल ब्रह्म सत्ता ही आधारभूत होकर वर्तती है-**विवेक युक्ति बुद्ध्याऽहं ......प्रतीयते। निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे .....ब्रह्मसत्तैव केवलम्** (आत्मबोधो० २.११-१२)। महोपनिषद् में इस जगत् रूप प्रपञ्च को अस्थिर और क्षणिक बताते हुए ऋभुपुत्र निदाघ ने अपने पिता से इस संसार से विरक्त होने की अपनी इच्छा प्रकट की है- **जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च। अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचर चेष्टिताः। ....आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम्। उन्मत्त इव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम्** (महो० ३.४,९)।

१९६. **प्रमेय-अप्रमेय**— प्रमेय शब्द की संरचना से हो स्पष्ट है कि जो वस्तु या पदार्थ प्रमा योग्य अर्थात् अपना वास्तविक ज्ञान कराने के योग्य अथवा प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये जाने योग्य है, उसे प्रमेय कहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में जगत् का प्रत्येक पदार्थ जो प्रत्यक्ष, शब्द या अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है, उसे प्रमेय कहेंगे। जैसे अग्नि में से धूम्र निकलता प्रत्यक्ष दिखाई दे, तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणित हो गया कि वह धूम्र अग्नि से ही निकल रहा है। इसी प्रकार यदि कहीं केवल धूम्र निकलता दिखाई दे, तो अनुमान द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि वहाँ अग्नि सुनिश्चित रूप से होगी ही। अनुमान प्रमाण का '**यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः**' का सिद्धान्त सर्वविदित है। इस जगत् के कारण रूप परब्रह्म को प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रमाणित करना बुद्धिगम्य है और परब्रह्म बुद्धि से परे है, इसलिए उसका एक विशेषण अप्रमेय है। वेद, शास्त्र, उपनिषदों आदि में ईश्वर अथवा ब्रह्म की जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे उसके स्वरूप के बहुत निकट तो हैं, किन्तु पूर्ण नहीं; क्योंकि इन आर्षग्रन्थों में भी अन्ततः नेति-नेति (इतना ही नहीं, इतना ही नहीं) लिखा है। इस प्रकार परब्रह्म का अप्रमेय नाम सार्थक ही है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में परब्रह्म को सर्वेश, अप्रमेय, अज, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि का लक्षण स्वरूप और सबका कारण कहा गया है— **......तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परं ब्रह्मात्मन्येव ....प्राप्नोति** (मं० ब्रा०उ० ३.१.३)।

१९७. **प्रव्रज्या**—द्र०-अवधूत।

१९८. **प्रजापत्य**—द्र०-ब्रह्मचारी।

१९९. **प्रजापत्य इष्टि**—द्र०-आग्नेयी इष्टि।

२००. **प्रजापत्य यज्ञ**—द्र०-आग्नेयी इष्टि।

२०१. **प्राज्ञ**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२०२. **प्राण**—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्राण-सञ्चय।

२०३. **प्राणहंस—प्रणवहंस (मुख्यप्राण)**— आर्षग्रन्थों में जीवात्मा के लिए अनेक स्थलों पर 'हंस' शब्द का प्रयोग हुआ है-**प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंस: सदाऽच्युत:। हंस एव परं सत्यं हंस एव तु सत्यकम्** (ब्रह्मविद्यो० ६०); पर कुछ स्थलों पर प्रणव हंस अथवा प्राण हंस का उल्लेख मुख्य प्राण के लिए भी मिलता है। मुख्य प्राण के विषय में कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि प्राणी के अन्दर निवास करने वाले मुख्य प्राण से ही उसकी इन्द्रियों में निवास करने वाले अन्य समस्त प्राण सम्बद्ध हैं। इसीलिए व्यक्ति एक ही समय में बोल, देख, सुन और सूँघ नहीं सकता; क्योंकि जिस समय वह बोलता है, उस समय मुख्य प्राण तो वाणी में सक्रिय रहता ही है; साथ ही अन्य इन्द्रियों के प्राण भी उसी के सहयोग में लग जाते हैं। इसीलिए किसी वस्तु को ध्यान से देखते समय वह कुछ बोल, सुन या सूँघ नहीं सकता; क्योंकि समस्त प्राणों की शक्ति देखने में ही लग जाती है-**तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति न हि कश्चन शक्नुयात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातमित्येकभूयं वै प्राणा एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति** (कौ०ब्रा०उ० ३.२) चूँकि जीवात्मा को हंस कहा जाता है और वह जीवात्मा वस्तुत: मुख्य प्राण ही है, अत: मुख्य प्राण को भी प्राण हंस कहते हैं। इसी प्रकार प्रणव अर्थात् ॐ (अ, उ और म्) का उच्चारण भी मुख्य प्राण की स्वसंचालित प्रक्रिया (श्वास-प्रश्वास) द्वारा होता रहता है। यह अजपा जप सोऽहं अर्थात् हंस (अहं स:) ही कहलाता है। इसीलिए मुख्य प्राण को प्रणव हंस भी कहते हैं। हंस और प्रणव में अभेद है; क्योंकि ॐ और सोऽहं मंत्र का अजपाजप एक साथ चलता रहता है, इसीलिए पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में इन दोनों का अभेद वर्णित है-**हंस प्रणवयोरभेद:** (पाशुपत० पूर्व १९)। प्रणव हंस को ब्रह्म सूत्र अथवा यज्ञ सूत्र भी कहा गया है; क्योंकि प्रणव ॐ ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय अथवा स्वयं ब्रह्म है- **प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्म यज्ञमयम्। प्रणवान्तवर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्** (पाशुपत० पूर्व १७)। परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म की स्थिति निरूपित करते हुए उपनिषद्कार ने उसे सदैव प्रसन्नता देने वाला, असङ्ग, चिद्रूप, पुरुष और प्रणवहंस (परब्रह्म) बताया गया है। यहाँ प्रणव हंस प्राणहंस (मुख्य प्राण) के रूप में विवक्षित नहीं है; वरन् परब्रह्म के रूप में विवक्षित है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए ब्रह्मयोगी ने लिखा है-**संप्रसाद: अन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूप: पुरुष: स एव प्रणवार्थ तुर्य-तुर्य हंस: परं ब्रह्मेत्युच्यते। अत्र न प्राणहंसो मुख्य: प्राणो विवक्षित: परब्रह्मप्रकरणत्वात्** (परब्रह्मो० २ टीका)।

२०४. **प्राणायाम**— योग शास्त्रों में प्राणायाम की महिमा सर्वत्र गायी गयी है। कोशग्रन्थों में प्राणायाम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **प्राणस्य वायुविशेषस्य आयाम: रोध: यद्वा प्राण आयम्यन्तेऽनेनेति**- अर्थात् प्राण वायु का गति-विच्छेद कारक व्यापार भेद। अष्टाङ्गयोग में यम, नियम, आसन के उपरान्त प्राणायाम का क्रम आता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है-**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'** । चित्तवृत्तियों अथवा मन की एकाग्रता में प्राणायाम बहुत सहायक सिद्ध होता है। योग सूत्र के अनुसार वायु प्रच्छर्दन करके अर्थात् प्राणवायु आकर्षण सहित त्याग करके विधारण करना (अर्थात् खींची हुई वायु को शास्त्रोक्त विधान के अनुसार धारण करना) प्राणायाम कहलाता है-**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य** (पातं० योग० सू०स०पा०-३४)। पातञ्जल योग में प्राणायाम की परिभाषा इन शब्दों में उल्लिखित है-**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:**। अर्थात् आसन के स्थिर होने के पश्चात् श्वास-प्रश्वास की गति रोकने को प्राणायाम कहते हैं। अधिक स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वास की गतियों के प्रवाह को रेचक, पूरक और कुम्भक के माध्यम से बाहर और भीतर दोनों स्थानों में रोकना (विराम देना) ही प्राणायाम है। श्वास के भीतर जाने को श्वास (पूरक), बाहर निकलने को प्रश्वास (रेचक) तथा अन्दर और बाहर रुकने को विराम (कुम्भक) कहते हैं। प्राण के पाँच भेद हैं, इन्हें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान कहते हैं। प्राणायाम प्रक्रिया में प्राण और अपान का मिलन होता है। इसीलिए योगाचार्यों ने प्राण और अपान का मिलन ही प्राणायाम का लक्षण बताया है। इस सन्दर्भ में योगी याज्ञवल्क्य नामक ग्रन्थ में उल्लेख है- **प्राणापानसमायोग: प्राणायाम इतीरित:। प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकै:** (योगियाज्ञ० ६.२)।

उपनिषदों में भी प्राणायाम का महत्त्व विवेचित है। अमृतनादोपनिषद् में प्राणायाम को समस्त इन्द्रियों के दोष उसी तरह दूर करने वाला बताया गया है, जिस प्रकार स्वर्ण को तपाने से उसके समस्त दोष दूर हो जाते हैं-**यथा**

पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मला:। तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात् (अमृतनादो० ७)। इसी उपनिषद् के ग्यारहवें मंत्र में प्राणायाम की परिभाषा इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रि: पठेदायतप्राण: प्राणायाम: स उच्यते** अर्थात् ॐ कार और व्याहृतियों सहित गायत्री मंत्र का तीन बार पाठ करते हुए पूरक-कुम्भक और रेचक प्रक्रिया करने को (एक) प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम को प्रणव ही माना गया है; क्योंकि प्रणव (ॐ या ॐ कार) में तीन अक्षर अ,उ और म् हैं तथा रेचक, पूरक और कुम्भक में भी तीन-तीन वर्ण ही हैं। अत: यह प्रत्यक्ष प्रणव उपासना ही है-**वर्णत्रयात्मका: प्रोक्ता रेचक पूरक कुम्भका:। स एष प्रणव: प्रोक्त: प्राणायामश्च तन्मय:** (जा०दर्शनो० ६.२)।

यों तो पूरक-कुम्भक और रेचक एक ही प्राणायाम की प्रक्रियाएँ हैं; किन्तु कुछ योग शास्त्रों व उपनिषदों में रेचक, पूरक और कुम्भक को प्राणायाम के ही प्रकार माने गये हैं। अमृतनादोपनिषद् (१२) में रेचक प्राणायाम का स्वरूप इस तरह बताया है-**उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्। शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम्** अर्थात् जिस प्राणायाम में प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहित और मन को चिन्तन शून्य कर दिया जाता है, वह रेचक प्राणायाम है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाम का स्वरूप इस तरह बताया है—**वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नर:। एवं वायुर्ग्रहीतव्य: पूरकस्येति लक्षणम्** (अमृतनादो० १३)। इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार मुख से कमल नाल द्वारा जल को खींचते हैं, उसी प्रकार धीरे-धीरे वायु को अपने अन्दर खींचना पूरक प्राणायाम है। इसी उपनिषद् में कुम्भक प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार उल्लिखित है-**नोच्छ्वसेन्न च निश्वसेनैव गात्राणि चालयेत्। एवं भावं नियुञ्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम्** अर्थात् कुम्भक प्राणायाम में न तो श्वास खींचते हैं और न ही निकालते हैं; वरन् शरीर को निश्चल करके स्थिर रखकर प्राणवायु को (अन्दर या बाहर) रोके रखते हैं। कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार के होते हैं-**सहित: सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भका:** (गोरक्ष सं० १९५, घेर० सं०) अर्थात् क्रिया भेद से कुम्भक प्राणायाम के आठ प्रकार-सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। कुछ विद्वानों ने सहितकुम्भक और केवली कुम्भक के स्थान पर सीत्कारी (शीतकारी) और प्लाविनी कुम्भक नामक प्राणायाम का उल्लेख किया है। वैसे तो ९६ प्रकार के प्राणायाम होते हैं; पर इन सबका सविस्तार वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है; वर्तमान समयानुरूप सरल और उपयोगी कुछ प्राणायामों का संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। ये प्राणायाम हैं-

अ. **प्राणाकर्षण प्राणायाम—** जिन्होंने कभी प्राणायाम की किसी विधि का अभ्यास नहीं किया, उनके लिए सर्वप्रथम प्राणाकर्षण प्राणायाम का अभ्यास करना आवश्यक है। यह अन्य साधनाओं से पूर्व उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार बीज बोने से पूर्व भूमि को कई बार जोतकर पौधों की जड़ें सुगमता से भूमि के अन्दर जाने योग्य बनाया जाता है। इससे नस-नाड़ियाँ सशक्त बनतीं और शरीर इस योग्य हो जाता है कि अन्य शक्तिशाली साधना विधियों के प्रभाव को ग्रहण कर सके। इसकी प्रक्रिया यह है- प्रात:काल किसी शांत और एकान्त स्थल पर सुखासन में कमर सीधी करके बैठकर नेत्र बन्द करके दोनों नासिका छिद्रों से श्वास खींचते हुए यह भावना की जाती है कि हमारे चारों ओर प्राण का दिव्य सागर लहरा रहा है और वह (प्राण) श्वास के माध्यम से हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुँच रहा है। इस पूरक प्रक्रिया के बाद कुछ (एकाध मिनट) देर तक अन्दर ही रोक कर अन्त:कुम्भक करके उस प्राण तत्त्व को अंग-प्रत्यंग में स्थापित होने का भाव किया जाता है; तदुपरान्त रेचक करते हुए, श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालते समय यह भावना भी की जाती है कि अन्दर के दोष-दुर्गुण, कषाय-कल्मष बाहर निकल रहे हैं। इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि पूरक से रेचक में अधिक समय लगे। यदि यह न बन पड़े, तो पूरक जितना समय तो रेचक में लगना ही चाहिए। श्वास खींचने व निकालने की प्रक्रिया धीरे-धीरे ही की जाती है, जल्दी से या झटके से नहीं। श्वास बाहर निकल जाने के पश्चात् कुछ सेकेण्ड बाह्य कुम्भक अर्थात् थोड़ी देर श्वास को बाहर ही रोका जाता है। प्रारंभ में यह प्राणायाम ५ बार से अधिक नहीं किया जाता। बाद में बढ़ाते-बढ़ाते २० तक भी किया जा सकता है। इस प्राणायाम से सुस्ती, निरुत्साह, झिझक आदि दूर होकर अन्दर एक प्रचण्ड शक्ति का अनुभव होने लगता है।

ब. **लोम-विलोम (सूर्यभेदन) प्राणायाम—** जब प्राणाकर्षण प्राणायाम द्वारा पूरक, कुम्भक और रेचक का अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब लोम-विलोम अथवा सूर्य भेदन (सूर्यभेदी) प्राणायाम किया जाता है। इसमें भी पूर्वोक्त प्रकार से बैठकर कमर सीधी करके दायें हाथ की अँगुलियों और अँगूठे की सहायता से सर्वप्रथम बायें नथुने को बन्द करके, दायें से धीरे-

धीरे श्वास खींचते हैं तथा अन्तः कुम्भक करते समय नाभिस्थित सूर्यचक्र के जाग्रत् और प्रकाशित होने का भाव करते हुए यह भावना करते हैं कि हमारा अंग-प्रत्यंग नवजीवन प्राप्त कर रहा है। रेचक के उपरान्त बाह्य कुम्भक के समय भी यह भाव किया जाता है कि नाभि स्थित सूर्यचक्र से अग्नि सदृश तेज लपटें उठ रही हैं, वे सुषुम्ना नाड़ी, फेफड़ों, हृदय, कण्ठ आदि अवयवों को तेजस्वी बना रही हैं। इसमें सूर्यचक्र जाग्रत् हो जाता है तथा हर कार्य में उत्साह, उमंग एवं शरीर में स्फूर्ति आती है।

स. **नाड़ी शोधन प्राणायाम**- मनुष्य के अशुद्ध खान-पान व अनुपयुक्त रहन-सहन से शरीर में विभिन्न प्रकार के मल एकत्र हो जाते हैं। ये केवल मलाशय में ही एकत्र नहीं होते; वरन् दूषित गैसें प्रकट कर रक्त को भी दूषित कर समस्त नस-नाड़ियों में भी पहुँच जाते हैं। जिससे अनेक रोग हो जाते हैं, इसके लिए नाड़ी शोधन प्राणायाम सर्वोत्तम है। इसके लिए भी पूर्वोक्त प्रकार से खुली वायु में बैठकर दायीं नासिका का छिद्र बन्द करके बायें से धीरे-धीरे श्वास को इतना खींचते हैं कि वह फेफड़ों के अतिरिक्त पेट में भी भर जाय (इससे नाभिचक्र भी प्रभावित होता है), साथ ही (श्वास खींचते समय) यह भावना की जाती है कि वह नाभिस्थित चन्द्रमा [बायें नथुनें से श्वास खींचते समय श्वास इड़ा नाड़ी (जिसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं) द्वारा अन्दर जाती है] को स्पर्श कर शीतल और प्रकाशवान् बना रही है। इसमें अन्तः कुम्भक और बाह्य कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है। श्वास बाहर भी बायें नथुनें से ही यह भाव करते हुए निकाली जाती है कि इड़ा नाड़ी शैत्य और शुद्धि प्राप्त कर पुष्ट हो रही है। यह क्रम तीन बार दुहराते हैं। तदुपरान्त बायें नथुने को बन्द करके तीन बार वही उपक्रम दायें नथुने से करते हुए नाभि स्थित सूर्य चक्र को ऊष्मा और प्रकाश से पिंगला अथवा सूर्यनाड़ी के शुद्ध और सशक्त होने की भावना करते हैं। इसके बाद दोनों नथुनों से श्वास खींचकर एकबार मुख मार्ग से बाहर निकाल देते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण क्रिया करने पर एक नाड़ी शोधन प्राणायाम होता है। इससे नाड़ियाँ मलरहित, शरीर हल्का और शक्तिसम्पन्न बनता है। ये तीनों प्राणायाम सर्वोपयोगी और सरल हैं, इन्हें हर कोई सम्पन्न कर सकता है तथा खतरा कुछ भी नहीं। प्राणायाम के उपरान्त ही योग के अन्य अंग प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की ओर बढ़ सकना सम्भव होता है।

२०५. **प्रारब्ध**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२०६. **प्लुतमात्रा**—द्र०-भूचर सिद्धि।

२०७. **फेनप**—द्र०-वानप्रस्थ।

२०८. **बन्ध**— हठयोग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के बन्धों का उल्लेख है। विभिन्न उपनिषदों जैसे योग कुण्डल्युपनिषद्, योग-चूड़ामणि उपनिषद्, योगतत्त्व उपनिषद्, योग शिखोपनिषद् और शाण्डिल्योपनिषद् में भी बन्धों का वर्णन है। इनका मूल उद्देश्य शरीरगत वायु को नियन्त्रित करना है। योग शिखोपनिषद् में इनकी महत्ता इन शब्दों में प्रतिपादित है-**बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्** (यो०शि० १०१)। पाँच बन्धों में प्रायः तीन बन्ध प्रमुख हैं। ये हैं मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धर बन्ध, इसके अतिरिक्त महाबन्ध और महावेध का भी उल्लेख पाया जाता है। योगतत्त्वोपनिषद् में **मूलबन्ध** का यह स्वरूप प्रतिपादित है-**पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्** (यो.त. १२०-१२१) अर्थात् लिङ्ग स्थान और मूल (गुदा) के रन्ध्र को बन्द करने एवं अपान वायु का ऊर्ध्वगमन करके प्राण वायु के साथ एकत्व ही मूलबन्ध है। इसमें बाएँ पैर की सीवन (एड़ी की गुदा और लिङ्ग के बीच) में दृढ़तापूर्वक लगाकर और उसे सिकोड़कर अधोगामी अपान वायु का ऊर्ध्वगमन किया जाता है। उससे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर चढ़ती है। **उड्डियान बन्ध** का स्वरूप उपनिषदों में इस प्रकार निरूपित है-**बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः। उड्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः** (यो०त० ११९)। इस बन्ध में दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुवों की आपस में मिलाकर नाभि से नीचे और आठ अंगुल ऊपर के पेट के हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगाया जाता है, जिससे पेट में गड्ढा जैसा दीखने लगता है। इससे प्राण, पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है। जिसके कारण ही इसका नाम उड्डियान बन्ध पड़ गया है। **जालन्धर बन्ध** के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् कहता है-**कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया। बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी** (यो०त० ११८) अर्थात् कण्ठ का आकुञ्चन करके ठोड़ी को कण्ठ कूप में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार स्थापित करे कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर मात्र चार अंगुल का रह जाय और सीना आगे की ओर तना हुआ हो। कण्ठ क्षेत्र के समस्त नाड़ी जाल को बाँध कर उस प्रदेश को सभी विकृतियों

को दूर करने के कारण ही इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। जालन्धर बन्ध के सन्दर्भ में विवेक मार्तण्ड में उल्लेख है- **जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे। न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति** (वि० मार्त० ६७)।

महाबन्ध प्रायः पूर्वोक्त तीनों बन्धों का सम्मिलित स्वरूप होता है। योग तत्त्व उपनिषद् (११२-११४) में उल्लेख है- **पार्ष्णिंवामस्य पादस्य.....उभयत्रैवमभ्यसेत्** । महावेध में मूलबन्धपूर्वक पद्मासन से बैठकर प्राण और अपान वायु को नाभि प्रदेश पर एक करके, दोनों हाथ तानकर नितम्बों से मिलाते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों को आसन के साथ ही उठाकर बार-बार भूमि पर ताड़ित किया जाता है। इससे प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी का जागरण होता है।

२०९. बन्धन—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२१०. बहूदक—द्र०-अवधूत।

२११. बिन्दु—सामान्यतः बिन्दु शब्द जल कण, बूंद के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हाथी के मस्तक पर शोभा हेतु लगाई जाने वाली बिन्दी के अर्थ में तथा मनुष्यों द्वारा भी दोनों भौहों के बीच लगाये जाने वाले गोल तिलक के अर्थ में भी बिन्दु या विन्दु शब्द प्रयुक्त होता है। रेखा गणित में भी नियत स्थान पर जिसका विभाग न हो सके, उसे बिन्दु कहते हैं। शब्दों के ऊपर अनुस्वार रूप में लगने वाली बिन्दी को भी बिन्दु कहते हैं। ब्रह्मचर्य प्रकरण में वीर्य के अर्थ में भी बिन्दु का प्रयोग किया जाता है- **एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्। मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्** (हठ०प्र० ३.८८) अर्थात् बिन्दु (वीर्य) का संरक्षण करने वाला योग तत्त्व का ज्ञाता मृत्यु को जीत लेता है, क्योंकि बिन्दु धारण ही जीवन तथा बिन्दु पतन ही मरण है। इसकी महत्ता यहाँ तक बतायी गयी है कि बिन्दुधारण से शरीर में सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है तथा जिसके शरीर में वीर्य (बिन्दु) है, उसे मृत्यु का भय कहाँ-**सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्। यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः** (हठ०प्र० ३.८९)।

श्रीमद्भागवत और शारदा तिलक में उल्लेख है कि सच्चिदानन्द विभव परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु का प्रादुर्भाव हुआ है-**सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्। आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥** हिन्दी विश्वकोश खं० २९ पृष्ठ ४२६ में कुब्जिका तन्त्र में वर्णित बिन्दु को सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला (अर्थात् ब्रह्म) माना गया है-**आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिः समुद्भवा**। क्रियासार नामक ग्रन्थ में बिन्दु को शिवात्मक (कल्याणकारी) और बीज को शक्त्यात्मक माना गया है। इन दोनों के संयोग से ही नाद और नाद से त्रिशक्ति उत्पन्न हुई है- **बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्। तयोः ....जातास्त्रिशक्तयः॥** (हि०वि० को०खं०२१ पृ० ४२६) नाद से बिन्दु का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही प्रायः नाद और बिन्दु शब्दों का उल्लेख एक साथ ही मिलता है। मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् में उस परब्रह्म को नाद बिन्दु-कलातीत और अखण्डमण्डलाकार कहा गया है- **तन्नादबिन्दुकलाऽतीतमखण्डमण्डलम्** (मं० ब्रा०उ० २.१.४)। योगशिखोपनिषद् में नाद को ही बिन्दु और बिन्दु को ही चित्त कहा गया है, अर्थात् तीनों एक ही तत्त्व हैं-**यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद्वै चित्तं प्रकीर्तितम्। नादो बिन्दुश्च चित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत्** (यो०शि० ६.७२)। इसी प्रकार (बिन्दु की) उत्पत्ति, स्थिति और कारण वाला मन ही बिन्दु है; क्योंकि मन से बिन्दु उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार दूध से घृत-**मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थिति कारणम्। मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्** (यो०शि० ६.७३)। इस प्रकार बिन्दु शब्द के अनेक अर्थ हैं। योग और ध्यान सन्दर्भों में यह ब्रह्म, चित्त, मन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

२१२. बृहन् (बृहत्)—द्र०-ब्रह्मचारी।

२१३. बोध—द्र०-ज्ञानखण्ड- बोध-प्रतिबोध।

२१४. ब्रह्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म-परब्रह्म।

२१५. ब्रह्मचर्य—द्र०-यम।

२१६. ब्रह्मचारी— भारतीय आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन को चार भागों में बाँटा गया है। इन चारों भागों की अवधि को ही चार आश्रम कहते हैं, जो इस प्रकार है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। आर्ष मान्यता के आधार पर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष मानी गई है; क्योंकि ऋषियों की परिकल्पना थी कि जीवन १०० वर्ष का होता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का विस्तृत विवेचन इसी खण्ड के परिभाषा कोश, परिशिष्ट में 'यम' शब्द के अन्तर्गत किया जा चुका है। ब्रह्मचारी की परिभाषा इस

एक ही वाक्य से स्पष्ट हो जाती है - **ब्रह्मणि वेदे चरति इति ब्रह्मचारी** अर्थात् जो वेद-ब्रह्म के चिन्तन-मनन में नित्य तल्लीन रहता है, वह ब्रह्मचारी है।

आश्रमोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ब्रह्मचारी के चार भेद वर्णित हैं। गायत्र, ब्राह्म (ब्राह्मण), प्राजापत्य और बृहन् (बृहत्)- **तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति।** इनमें जो ब्रह्मचारी उपनयनोपरान्त तीन रात्रि तक अलवण (बिना नमक का) भोजन ग्रहण करके गायत्री मंत्र का जप करते हैं, उन्हें गायत्र कहते हैं-**य उपनयनादूर्ध्वं ....गायत्रीमधीते स गायत्रः** (आश्रमो० १)। जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त वेद के पठन-पाठन हेतु ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं अर्थात् प्रत्येक वेद का पाठ १२ वर्ष तक करते हुए ब्रह्मचर्य पालते हैं, वे ब्राह्म या ब्राह्मण कहलाते हैं। जो २४ वर्ष तक गुरुकुल में रहे। (ध्यातव्य है कि प्रचलित ब्राह्मण शब्द की व्याख्या १०८ उपनिषद् के ज्ञानखण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में की जा चुकी है। यहाँ ब्राह्म के पर्याय स्वरूप लिखा गया ब्राह्मण शब्द ब्रह्मचारी के एक भेद के सन्दर्भ में आया है।) जो गृहस्थ होते हुए केवल ऋतुकाल में अपनी पत्नी से ही संसर्ग करने वाले तथा परदारा (दूसरे की स्त्री) को त्यागने या निषिद्ध मानने वाले हैं, उन्हें प्राजापत्य कहते हैं-**स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः** (आश्रमो० १)। उन्हें भी प्राजापत्य ही कहा जाता है, जो ४८ वर्ष तक गुरुकुल में निवास करें। जो (ब्रह्मचारी) जीवन पर्यन्त गुरु का परित्याग न करे, ऐसा नैष्ठिक बृहन् या बृहत् कहलाता है- **आ प्रायणाद्गुरोरपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति** (आश्रमो० १)। इस प्रकार आचरण भेद से ब्रह्मचारी के ये चार प्रकार हैं।

२१७. **ब्रह्मतत्त्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म-परब्रह्म।

२१८. **ब्रह्मनिष्ठ**—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म विद्या।

२१९. **ब्रह्मपुर**—द्र०-अष्टदल कमल।

२२०. **ब्रह्मयज्ञ**—द्र०-वानप्रस्थ।

२२१. **ब्रह्मरन्ध्र**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२२. **ब्रह्मलीन**—द्र०-ज्ञानखण्ड-जीवन्मुक्त।

२२३. **ब्रह्मविद्या**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२४. **ब्रह्मवेत्ता**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२५. **ब्रह्माण्ड**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२६. **ब्रह्मानन्द**—द्र०-अद्वयानन्द।

२२७. **ब्राह्म**—द्र०-ब्रह्मचारी।

२२८. **ब्राह्मण**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२९. **भद्रासन**—द्र०-आसन।

२३०. **भवसागर**—द्र०-ज्ञानखण्ड- जीवन्मुक्त।

२३१. **भिक्षु**—द्र०-अवधूत।

२३२. **भूचर सिद्धि**—योग साधनाओं से विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का वर्णन योग शास्त्रों में मिलता है। अष्टसिद्धियों का कई स्थलों पर उल्लेख है। ये हैं- अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। योग सम्बन्धी उपनिषदों में शरीर के नीरोग रहने की सिद्धि, दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूरस्थ व्यक्ति की प्राणशक्ति द्वारा सहायता करना आदि अनेकों सिद्धियों का विवेचन है। कुछ सिद्धियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रयोग या तो निषिद्ध है अथवा इनका प्रयोग बहुत ही सावधानी पूर्वक करने का निर्देश दिया गया है। प्राणायाम के अनेक प्रकारों द्वारा अनेकप्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं में से एक सिद्धि है- भूचर सिद्धि। दत्तात्रेय स्मृति और योगतत्त्वोपनिषद् में इसका उल्लेख है। केवल-कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर योगी के लिए त्रिलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल-कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर रेचक और पूरक का त्याग कर दिया जाता है। उसके बाद अभ्यास के समय निकले पसीने को शरीर में ही मल लिया जाता है। देह में कम्प और दर्दुर भाव (मेंढक के उछलने जैसी चेष्टा) के बाद योगी का शरीर पद्मासन स्थिति

में ही भूमि से ऊपर उठने लगता है। इसके पश्चात् और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ होने लगती हैं; पर इन्हें किसी के समक्ष प्रदर्शन न करने का स्पष्ट निर्देश है- **केवले कुम्भके सिद्धे ......न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम्** (यो० त० ५०-५६)। शरीर वृत्तियों में और भी अनेक परिवर्तन होने पर भूचर सिद्धि हो जाती है। इसके प्राप्त हो जाने पर सभी भूचरों (पृथ्वी पर चलने वाले) जीवों पर विजय प्राप्त हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हस्त ताडन मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर अनंग (कामदेव) के समान सुन्दर हो जाता है-**येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः। व्याघ्रो वा शरभो वाऽपि गजो गवय एव वा।। सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः। कन्दर्पस्य यथारूपं तथा स्यादपि योगिनः** (यो०त० ५९-६०)।

इस सिद्धि में अपेक्षित नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करने से शरीर सुगन्धित रहने लगता है, जिससे काम सम्बन्धी अनेक विघ्न आते हैं। अतः स्त्रियों का चिन्तन नहीं करना चाहिए और एकान्त स्थल में प्लुत मात्रा में (ॐ के उच्चारण में जितना समय लगता है, उससे तिगुने समय में) प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए, इससे पूर्वार्जित पापों का शमन होता है-**वर्जयित्वा स्त्रियां संगं........ प्रणवं प्लुतमात्रया। जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे** (यो०त० ६२-६३)।

२३३. **भूमा**—कोशग्रन्थों में भूमा शब्द का अर्थ है- भारी परिमाण, प्राचुर्य, यथेष्टता बड़ी संख्या आदि। दौलत, पृथ्वी, प्रदेश, प्राणी आदि अर्थों में भी भूमा शब्द का प्रयोग मिलता है। उपनिषदों में भूमा शब्द ब्रह्म (ईश्वर) की एक विशेषता के रूप में प्रतिपादित है। छान्दोग्योपनिषद् में ईश्वर को भूमा (निरतिशय) कहते हुए उसे सुख कहा गया है-**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमा भगवो विजिज्ञास इति** (छान्दो० ७.२३.१) अर्थात् सुनिश्चित रूप से भूमा (आधिक्य, निरतिशयत्व) ही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही विशिष्टतः जानने योग्य है। भूमा का लक्षण क्या है ? यह बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है-**(किं लक्षणोऽसौ भूमेत्याह) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ ...महिम्नीति** (छान्दो० ७.२४.१) अर्थात् जहाँ कुछ अन्य नहीं देखता, कुछ अन्य श्रवण नहीं करता तथा न ही कुछ जानता है, वही भूमा है; किन्तु जहाँ कुछ और देखता, सुनता व जानता है वह अल्प है; क्योंकि जो अल्प है, वह मरणधर्मा और जो भूमा (निरतिशय) है, वह अमृत है। वह भूमा कहाँ प्रतिष्ठित है, इसके उत्तर में कहा गया है वह भूमा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। वस्तुतः वह अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है; क्योंकि संसार में गौ, अश्वादि को भी महिमा कहते हैं ; वह भूमा इनमें प्रतिष्ठित नहीं है, वह तो निरालम्ब अर्थात् अवलम्बन रहित है। वह भूमा नीचे-ऊपर, बायें-दायें,आगे-पीछे सभी ओर है। उसी भूमा में (व्यक्तिभाव से) अहंकारवश इस प्रकार कहा जाता कि मैं ही ऊपर-नीचे, दायें-बायें और सब ओर हूँ-**स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स ...ऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ꣳसर्वमिति** (छान्दो० ७.२५.१)। जिसका विभाजन न हो सके, जिसकी सीमा न हो या जो अन्तर रहित हो ऐसा भूमा है और ऐसे अखण्ड आनन्द को भूमानन्द कहा गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में उपनिषद्कार ने ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर अथवा ब्रह्म से एकीभूत हो जाने पर आत्म स्वरूप का वर्णन करते हुए एक साधक का कथन इन शब्दों में उद्धृत किया है-**नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा। रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाश विग्रहः। भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा। सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोस्म्यहम्** (ते०बि०३.१२-१३)।

इसी रूप में आत्मबोधोपनिषद् में भी आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति अपने को भूमा स्वरूप बताता है ....**परमानन्द घनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहं** (आत्मबोधो० २.८)। शतपथ ब्राह्मण में श्री को ही भूमा कहा गया है-**श्रीर्वै भूमा** (श०ब्रा० ३.१.१.१२)। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुष्टि को भूमा की संज्ञा प्रदान की गई है- **पुष्टिर्वै भूमा** (तैत्ति०ब्रा० ३.९.८.३)। भूमा स्थिति प्राप्त कर लेने वाले साधु-सन्तों को भी कई लोग भूमा कहने लगते हैं।

२३४. **भृकुटि**—द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र।

२३५. **मन**—द्र०-ज्ञानखण्ड-मानस।

२३३. **मनन**—द्र०-निदिध्यासन।

२३७. **मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग**—भारतीय दर्शन में विभिन्न प्रकार के योगों का वर्णन मिलता है। योग का सामान्य अर्थ जोड़ना, मिलाना, संयोग संबंधी, संगति,ध्यान, युक्ति और चित्तवृत्ति निरोध आदि है। व्यावहारिक दृष्टि से योग के कई प्रकार हैं, जैसे- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि। योगतत्त्वोपनिषद् में इनका उल्लेख इन शब्दों में हुआ है- **योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः** (यो०त० १९)। ये सभी

मिलकर महायोग कहलाते हैं "**मन्त्रो लयो ....महायोगोऽभिधीयते**" (यो०शि० १२९)। सभी योगों की चार अवस्थाएँ होती हैं। ये हैं- आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति अवस्था-**आरम्भश्च घटश्चैव ....परिकीर्तिता** (यो०त० २०)। मन्त्रयोग के लक्षण का उपनिषद्कार ने इन शब्दों में उल्लेख किया है.....**मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्। क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्। अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः** (यो०त०२१-२२) अर्थात् जो साधक मातृकायुक्त बारह सौ मन्त्र का जप करता हुआ मन्त्रयोग सिद्ध करता है,वह क्रमशः अणिमा आदि सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त करता है। योगशिखोपनिषद् में मंत्रयोग को हंस (सोऽहम्) मंत्र पर आधृत होने का विवेचन है। समस्त प्राणियों द्वारा निरन्तर श्वास-प्रश्वास के द्वारा हंस मंत्र का जप होता रहता है; किन्तु जब गुरु उपदेश से साधक सुषुम्ना नाड़ी में (प्राण प्रविष्ट हो जाने पर) इसी मंत्र का उल्टा (हंस के स्थान पर) सोऽहम् का जप करता है,तब इसे मन्त्र योग कहते हैं- **हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः। हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥ गुरुवाक्यात् .....मन्त्रयोगः स उच्यते** (यो०शि० १.१३०-१३१)। जो साधक चलते-फिरते,उठते-बैठते,सोते-खाते, चित्त को निष्कल परमात्मा में लगाते हैं अर्थात् परमात्मा में ध्यान को एकाग्र करते हैं,वे लययोग करते हैं-**लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्या-येन्निष्कलमीश्वरम्। स एव लययोगः ....शृणु** (यो०त० २३-२४)। अन्यत्र भी लययोग का यही स्वरूप निर्दिष्ट है कि जब जीव और परमात्मा का ऐक्य होकर साधक का चित्त ब्रह्म में विलीन हो जाता है, तब शरीर स्थित पवन (प्राण) स्थैर्य को प्राप्त हो जाता है और लययोग का उदय होता है। लययोग से सुख और आत्मानन्दपूर्वक परम पद की प्राप्ति होती है- .....**क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्। ......पवनः स्थैर्यमायाति लय योगोदये सति॥ लयात् ......परं पदम्** (यो०शि० १.१३४-१३६)।

यमनियमादि योग के आठ अंगों, मुद्रा-बन्ध आदि के साथ जो योग करते हैं, वह हठ योग है। इसमें हठ पूर्वक इन्द्रियों को सहजधारा से अलग हटाकर निश्चित धारा में लगाने के कारण इसे हठ योग कहते हैं। हठयोग का विस्तृत वर्णन इसी परिभाषा कोश परिशिष्ट के 'हठयोग' प्रकरण में किया जा चुका है, विशेष जानकारी हेतु उसे देखना चाहिए। विभिन्न अंग-उपाङ्गों सहित हठयोग द्वारा जब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तब उनके (योगियों के) लिए हठयोग को क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती। वे सिद्धियाँ उनके लिए सहज हो जाती हैं। इसी को राजयोग कहते हैं- **हठयोगसिद्धोऽयं राजयोगः योगराजत्वात्** (यो०त० १३० टीका) अर्थात् हठयोग द्वारा जो पुरुष सिद्ध हो जाता है, वही राजयोगी है। एक अन्य उपनिषद् में राजयोग की परिभाषा इस प्रकार की गई है-**योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसंनिभम्। रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्। रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः** (यो०शि० १.१३६-१३८) अर्थात् प्रत्येक जन्तु (जीव)के योनि मध्य (मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच स्थित कन्द), जिसे महाक्षेत्र की संज्ञा प्रदान की गई है,में जपा और बन्धूक के पुष्पों के समान लाल रंग वाला रज निवास करता है, जो देवी तत्त्व से समावृत है। जब यौगिक क्रियाओं (कुण्डलिनी साधना) द्वारा साधक शरीर के ऊर्ध्व भाग स्थित शिवस्वरूप रेतस् और अधोभाग स्थित रज का योग करता है, तब प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते हैं, इससे वह समस्त सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। रज और रेतस् योग की इस क्रिया को ही राजयोग कहते हैं- **प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। ....इत्यधोर्ध्वरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च** (यो०कु० १.७४-७५)। भौतिक जगत् में भी नारी के शरीर में स्थित रज और पुरुष के शरीर में स्थित रेतस् (वीर्य) के योग से ही नूतन जीवन (शिशु) का प्रादुर्भाव होता है; किन्तु योगी जनों के एक ही शरीर में यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है और वे शनैः-शनैः इस अभ्यास से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं-**एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः। चिरात्संप्राप्यते मुक्तिर्मर्कटक्रम एव सः** (यो०शि० १.१४०)।

राजयोग की प्रशंसा कई ग्रन्थों में उल्लिखित है। हठयोग प्रदीपिका में उल्लेख है कि आत्मज्ञान, विदेहमुक्ति,अणिमा आदि सिद्धियाँ, गुरु कृपा से प्राप्त राजयोग द्वारा उपलब्ध होती हैं-**राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः। ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते** (हठ०प्र० ४.८)।

२३८. ममता—द्र०-ज्ञानखण्ड -मोह-ममता-आसक्ति।

२३९. महापातक—पातक शब्द पाप का पर्यायवाची है। किसी को किसी भी प्रकार से पीड़ा पहुँचाना ही पाप है। इसी प्रकार किसी को सुख पहुँचाना अथवा परोपकार करना ही पुण्य है। पाप-पुण्य को सामान्यतः इस श्लोक से स्पष्ट समझा जा सकता है- **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥** पाप कई प्रकार के

होते हैं। उनकी श्रेणी के अनुसार उनके अलग-अलग नामकरण किये गये हैं, जैसे- उपपातक, महापातक आदि। छोटे पापों को उपपातक कहते हैं। कोशग्रन्थों के अनुसार इनकी संख्या प्रायः पचास है; जिनमें गोवध, परदारगमन, मातृत्याग, पितृत्याग, गुरुत्याग, आत्मविक्रय, अपत्यविक्रय, दारविक्रय, स्त्रीवध आदि प्रमुख हैं। महान् या बड़े पापों को महापातक कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **महदतिशयितं पातकं इति महापातकम्**। महापातक पाँच प्रकार के माने गये हैं- ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीगमन, चोरी करना तथा इन सभी पापियों के साथ संसर्ग। मनुस्मृति में यह तथ्य इन शब्दों में विवेचित है-**ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुःसंसर्गश्चापि तैः सह** (मनु० ११.५४)।

जो पापी उपर्युक्त इन पापों को करते हैं, उनको नरक भोग के बाद असाध्य रोगों का भी भोग करना पड़ता है। इस प्रकार सात जन्मों तक यह क्रम चलता रहता है, तब महापातक से निवृत्ति मिलती है। प्राचीन ग्रन्थों में महापातक शमन के अनेक उपाय वर्णित हैं। कार्तिक, वैशाख और माघ मास में नित्य प्रातःकाल स्नानादि करके हविष्य भोजन व नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन से महापातक का विनाश होता है-**तुलामकरमेषेषु प्रातः स्नानं विधीयते। हविष्यं ब्रह्मचर्यञ्च महापातकनाशनम्** (हि०वि०को०खं० १७ पृ० १४७)। इसी प्रकार कृष्ण नाम जप को भी महापातक का शामक कहा गया है- **कृष्णेति मङ्गलं नाम ......महापातककोटयः** (हि०वि०को०पृ० १४७)। जाबाल्युपनिषद् में भी विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा यति द्वारा भस्म का त्रिपुण्ड्र (ललाट पर तीन आड़ी रेखाएँ) धारण करने और उन तीनों रेखाओं के तत्त्वदर्शन को समझने व जीवन में धारण करने से (जिसका वर्णन जाबाल्युपनिषद् के ही २१ वें मंत्र में है) महापातकों और उपपातकों के शमन का उल्लेख है- **त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति** (जाबाल्यु० २२)।

२४०. महाबन्ध—द्र०-बन्ध।

२४१. महामुद्रा—द्र०-मुद्रा।

२४२. महावाक्य—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२४३. महावेध—द्र०-बन्ध।

२४४. महेश्वर—द्र०-त्र्यम्बक।

२४५. माया—द्र०-ज्ञानखण्ड -अविद्या, माया, अज्ञान।

२४६. मुक्तात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-जीवन्मुक्त।

२४७. मुक्ति—द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२४८. मुद्रा— योग के अन्तर्गत चित्तशोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन के निमित्त विभिन्न मुद्राएँ प्रतिपादित की गयी हैं- जैसे खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, योनिमुद्रा, योगमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, तड़ागीमुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली, अमरोली, सहजोली मुद्रा आदि। इनमें कुछ प्रमुख मुद्राएँ इस प्रकार हैं- **खेचरी मुद्रा** में जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराकर दृष्टि को भ्रूमध्य में एकाग्र किया जाता है। ध्यान की स्थिरता में इस मुद्रा से बहुत सहायता मिलती है। इसके अभ्यासी को क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्च्छा आदि से त्राण मिलता है। चित्तशून्य (अन्तरिक्ष-खे) में रमण (चर) करने के कारण इसका नाम खेचरी मुद्रा पड़ा है। उपनिषद्कार ने इस मुद्रा के विषय में लिखा है-**अन्तः कपाल कुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्। भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी** (यो०त० ११७)। इस मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा वृद्धि हेतु छेदन, दोहन व चालन आदि कृत्य किये जाते हैं।

महामुद्रा में मूलबन्धपूर्वक वाम पाद की एड़ी से गुदा और उपस्थ के बीच का स्थान (सीवन) दबाते हैं और दक्षिण पाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ते हैं। इसके बाद बायें नथुने से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं, तत्पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिने नथुने से रेचक करते हैं। इसी प्रकार दाहिने ओर से भी यही मुद्रा करनी चाहिए। **अश्विनी मुद्रा** में पद्मासन अथवा सिद्धासन से बैठकर योनि प्रदेश को अश्व (घोड़े) की तरह बारम्बार आकुंचन-प्रकुंचन किया जाता है। इससे प्राण का उत्थान व कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है।

शाम्भवी मुद्रा में मूल और उड्डियानबन्धपूर्वक पद्म अथवा सिद्ध आसन में बैठकर नासाग्र अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाया जाता है। **वज्रोली मुद्रा** में साधक प्रारम्भ में उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र को ऊपर खींचने और पुनर्विसर्जित करने का अभ्यास करता है। बाद में जल, दूध, तेल,घृत, शहद और पारे को भी खींचने और छोड़ने का

अभ्यास बन जाता है। इसका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर स्त्री योनि में रेतस् विसर्जित करके उसके रज को ग्रहण किया जाता है; पर इस क्रिया में किसी अनुभवी का मार्गदर्शन अपेक्षित है, अन्यथा शारीरिक हानि के साथ ही आध्यात्मिक पतन की सम्भावना भी रहती है। वज्रोली के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् में उल्लेख है-**किं नाम वज्रोली ? कांस्यपात्रे गोक्षीरं निक्षिप्य वज्रोलीतुल्य लिङ्गनालेन ग्रसित्वा पुनर्विरेच्य पुनर्ग्रसनादिकमभ्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्य तच्छोणितेन साकं ग्रसेदिति यत्सैव वज्रोलीत्युच्यते** (यो०त० १२६.१२७)।

अमरोली मुद्रा वज्रोली का ही अगला चरण है। इसमें अमरी (मूत्र) की प्रथम और अन्तिम धारा को छोड़कर, मध्य धारा को हाथ या पात्र में लेकर प्रतिदिन पीकर तथा नस्य (नासिका द्वारा लेकर) करते हुए, वज्रोली क्रिया का अभ्यास किया जाता है। यही अमरोली मुद्रा कहलाती है- **अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने-दिने। वज्रोलीमभ्य-सेन्नित्यममरोलीति कथ्यते** (यो०त० १२८)। **सहजोली** मुद्रा वह कहलाती है, जिसमें अमरोलीसिद्ध को अमरीपान और नस्य के बिना ही (सहज ही) सिद्धि प्राप्त हो जाती है- **एवममरोलीसिद्धस्यामरीपाननस्यं विना या सिद्धिरुदेति सैव सहजोलीत्युच्यते** (यो०त० १२८ टीका)।

षण्मुखी मुद्रा का प्रयोग योगमार्ग में, मन पर विजय प्राप्त करने, वायु को वश में करने आदि के लिए किया जाता है; जिससे प्राण ऊर्ध्वगामी हो चित्त एकाग्र होता है तथा आनन्दानुभूति होती है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित है-**स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैःशनैः। हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक् कर्णादिकरणानि च ....महामुने** (जा०दर्शनो० ६.३२-३५) अर्थात् स्वस्तिक आसन पर बैठकर मन एकाग्र करके अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर शनैः-शनैः प्रणव (ओंकार) का जप करते हुए दोनों अँगूठों से कानों को, तर्जनी से नेत्रों को और अन्य अँगुलियों से नासा पुटों को बन्द करके मूर्धा में मन (प्राण) को तब तक धारण करे (ध्यान लगाये), जब तक आनन्द की अनुभूति हो। इस प्रकार प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है। यही षण्मुखी मुद्रा है। साधक द्वारा **वैष्णवी मुद्रा** का प्रयोग मूलाधारादि चार चक्रों में मन को एकाग्र करने के लिए किया जाता है। इसमें मूलाधार, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्त्रार चक्रों में विराजमान क्रमशः विराट् सूत्र, बीज, तुरीय अथवा अन्तर्लक्ष्य में बहिर्दृष्टि रखते हुए (खुले नेत्रों से) अपलक होकर मन को एकाग्र किया जाता है। इस सन्दर्भ में शाण्डिल्य उपनिषद् में उल्लेख है-**मूलाधारानाहताज्ञा सहस्त्रारेषु यथाक्रमं विराट् सूत्रं बीजं तुरीयं वा अन्तर्लक्ष्यं तदेकतानं मनः बहिर्दृष्टिस्तु अन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यदा निमेषोन्मेषवर्जिता भवति तदा दृष्टिरियं वैष्णवीमुद्रा भवतीत्यर्थः** (शाण्डिल्यो० १.७. १४ टीका)।

२४९. **मुनि**—संस्कृति के विकास में ऋषि-मुनियों का आदिकाल से ही योगदान रहा है। ये ही समय-समय पर विकृत परम्पराओं में संशोधन करके नया चिन्तन व साहित्य समाज को देकर उसे नई दिशा प्रदान करते रहे हैं। '**ऋषयोमन्त्र द्रष्टारः तथा दर्शनादृषिः**'-यह परिभाषा ऋषि के स्वरूप का स्पष्ट बोध कराती है। ऋषि के संदर्भ में ज्ञानखण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। मुनि, ऋषियों से कुछ भिन्न होते हैं। श्रीमद्‌भगवद्गीता में मुनि की परिभाषा इस प्रकार निर्दिष्ट है-**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते** (गी० २.५६) अर्थात् जो दुःख में उद्विग्न नहीं होता तथा सुख में अनासक्त रहता है, जिसे राग, भय, क्रोध-आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते, वही मुनि कहलाता है। गरुड़ पुराण में उल्लेख है कि मुनि समस्त वासनाओं को त्याग कर एकमात्र विष्णु में ही सतत लीन रहकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे होम, संध्यावन्दन, तर्पण आदि क्रियाएँ करके धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष प्रदाता भगवान् विष्णु को प्राप्त करते हैं। हिन्दी विश्वकोश खं० १८ पृ० ९० में मुनि की व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है-**मनुते जानाति यः इति** अर्थात् मौनव्रती, मननशील महात्मा। अभिप्राय यह है कि चित्त को एकाग्र करके (मौन रहकर) तपस्वी जीवन जीते हुए मनन करने वाला मुनि है। नैषध महाकाव्य में मुनि की सादृश्यता इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः** (नैषधी० १.१३३)।

महोपनिषद् में साधक को गुरु और शास्त्र वचन व स्वानुभूति से स्वयं को ब्रह्मरूप में जानने और शोकादि को त्यागकर मुनि बनने की आज्ञा दी गई है-**गुरु शास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः** (महो० ४.२५)। मरीचि, नारद, कर्दम, अत्रि, दक्ष और वशिष्ठ आदि मुनियों की श्रेणी में ही आते हैं। साधकों की एक अन्य श्रेणी में मुमुक्षु का नाम भी आता है, जिसका अर्थ कोश ग्रन्थों में इस प्रकार विवेचित है-**मुमुक्षु मोक्तुमिच्छतीति** अर्थात् मुक्ति का अभिलाषी, मोक्ष की इच्छा रखने वाला अथवा वह व्यक्ति जो मुक्ति की कामना करता हो। श्रुति आदेश है कि मुक्तिकामी को चाहिए कि वह वर्जनीय और काम्य कर्म का त्याग करके श्रवण और मनन आदि

के द्वारा ईश्वराराधना में ही निरत रहे। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के प्रति स्पृहा न रखने के संदर्भ में भगवान् कृष्ण अर्जुन को उनके पूर्वज मुमुक्षुओं के पदचिह्नों पर चलने का उपदेश देते हैं-**एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्** (गी० ४.१५)।

२५०. **मुमुक्षु**—द्र०-मुनि।

२५१. **मूलबन्ध**—द्र०-बन्ध।

२५२. **मूलाधार**—द्र०-कुण्डलिनी।

२५३. **मृत्यु**—द्र०-ज्ञानखण्ड-अमृत-मृत्यु।

२५४. **मोक्ष**—द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२५५. **यज्ञ**—द्र०-ज्ञानखण्ड -यज्ञ-अग्निहोत्र।

२५६. **यज्ञसूत्र (जनेऊ-ब्रह्मसूत्र)**—द्र०-ज्ञानखण्ड -यज्ञोपवीत उपनयन।

२५७. **यज्वा** —यज् धातु से निर्मित यज्वा शब्द का प्रयोग याज्ञिक अथवा यज्ञकर्त्ता के अर्थ में किया जाता है। कोश ग्रन्थ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है- यज्वन्-यज्+क्वनिप् अर्थात् सविधि (शास्त्रोक्त ढंग से) यज्ञ करने वाला। ब्रह्मोपनिषद् में उपनिषद्कार ने शिखा और यज्ञोपवीत धारण करने का मर्म समझाते हुए कहा है कि जो ज्ञानरूपी शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते हैं, सच्चे अर्थों में वे ही ब्राह्मण हैं-**शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः** (ब्रह्मो० १४)। यहाँ ज्ञान को ही यज्ञोपवीत की विशेषता बताया गया है,(वैसे सामान्यतः यज्ञोपवीत को यज्ञ का धागा माना जाता है) इसलिए अगले मंत्र में ज्ञान को यज्ञोपवीत और परम परायण कहा गया है। वस्तुतः ज्ञानी और यज्ञमय-त्याग परायण जीवन जीने वाला ही यज्ञोपवीती (यज्ञोपवीतधारी) है। ऐसे साधक को ही यज्ञरूप और यज्वा (यज्वन्) कहा गया है-**इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्। स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्वानं विदुः** (ब्रह्मो० १५)।

२५८. **यति**—द्र०-ज्ञानखण्ड -संन्यासी-यति।

२५९. **यम**—आर्षग्रन्थों में प्रमुखतः योग के आठ अंग प्रतिपादित हैं। ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम और नियमों के अन्तर्गत भी पाँच-पाँच गुण समाविष्ट हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम कहलाते हैं- **अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** (पातं०यो०प्र०सा०पा०सूत्र-३०)। प्रथम-यम **अहिंसा** शब्द का अर्थ है-अद्रोह, अनपकार, किसी प्रकार भी किसी को पीड़ा न पहुँचाना। वाचस्पत्यम् में इसका अर्थ इन शब्दों में परिभाषित किया गया है-**वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा ॥ आत्मा ....वेदान्त वेदिभिः** अर्थात् वेदोक्त रीति के बिना मन,वाणी और शरीर के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है; किन्तु किसी के कल्याण के लिए यदि उसे उक्त तीनों प्रकार से कष्ट पहुँचे, तो वह अहिंसा ही कही जायेगी, जैसे-शिक्षार्थ किसी को ताड़ना देना या रोग निवारण हेतु किसी को कटु औषधि देना,आपरेशन करता अहिंसा ही है, वस्तुतः समस्त यम नियमों का मूल अहिंसा है,क्योंकि अहिंसा को परम धर्म कहा गया है-**अहिंसा परमोधर्मः**।

दूसरा-यम **सत्य** है। किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान सत्य कहलाता है। शरीर द्वारा इसका प्रयोग शरीर का सत्य है। वाणी द्वारा इसका प्रयोग वाणी का सत्य, मन के द्वारा इसका प्रयोग मन का सत्य है। साधारणतः सत्य को वाणी द्वारा व्यक्त करने का ही विषय माना जाता है। इन्द्रियों द्वारा जैसा देखा, सुना और सूँघा है, उसे वाणी द्वारा वैसा कह देना सत्य है- **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत् सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्** (जा०दर्शनो० १.९)। वेदान्त में परब्रह्म को ही सत्य माना गया है; क्योंकि वह सर्वकाल में शाश्वत है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्य नहीं है—**सर्वं सत्यं परं ब्रह्म ......**(जा०दर्शनो १.१०)। वाणी द्वारा यदि ऐसा सत्य कहा जाता है, जो किसी का अहित करता है, तो इसे ऋषियों ने सत्य नहीं माना है। इसीलिए उसने सत्य की मर्यादा सुनिश्चित कर दी है-**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्(मनु०)** अर्थात् वह सत्य बोले जो प्रिय (हितकर) हो। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। महाभारत ने भी इसी प्रकार के सत्य की पुष्टि की है- **सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।**

तृतीय- यम **अस्तेय** अर्थात् चोरी न करना है; किन्तु यह स्थूल धन की चोरी न करने तक ही सीमित नहीं है। किसी के अधिकारों का हनन न करना तथा नैतिक मूल्यों की रक्षा करना भी अस्तेय है। इसके विपरीत अधिकारियों द्वारा

रिश्वत लेना, दुकानदारों द्वारा निश्चित या उचित मूल्य से अधिक लेना, कम तौलना, मिलावट करना ये सभी अस्तेय विरोधी हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में अस्तेय इन शब्दों में निरूपित है- **अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः। आत्मन्यनात्मभावेन ......मुने** (जा०दर्शनो० १.१०-१२) अर्थात् किसी दूसरे के तृण (तिनके), रत्न, मणि, मुक्ता, सुवर्ण, धन सम्पदा पर मन भी न चलना अस्तेय है। संसार के सभी व्यवहार अनात्म हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा मानने वाले ज्ञानीजन अस्तेय का ही पालन करते हैं।

चौथा-यम **ब्रह्मचर्य** है। शास्त्रों में इसकी बहुत महिमा गायी गई है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार ब्रह्म अर्थात् वेदार्थ का आचरण ही ब्रह्मचर्य है- **ब्रह्मचर्यं, क्ली; (ब्राह्मणे वेदार्थं चर्य्यं आचरणीयम्)**। सामान्यतः ब्रह्मचर्य का अर्थ अष्ट प्रकार के मैथुन का प्रतिषेध है- **ब्रह्मचर्य्ये अष्टाङ्गमैथुन प्रतिषेधः** (श०क० खं० ३ पृ० ४४४)। किसी भी प्रकार से वीर्य का क्षय न करना ब्रह्मचर्य माना जाता है। इसकी महिमा बताते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार ने कहा है- **मरणं बिन्दूपातेन जीवनं बिन्दुधारणम्** अर्थात् बिन्दु (वीर्य) का पात मरण तथा बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में ब्रह्मचर्य इन शब्दों में विवेचित है- **कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्। ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥ ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप** (जा०दर्शनो० १.१३) अर्थात् मन, वाणी और शरीर से नारी प्रसंग का परित्याग तथा धर्म बुद्धि से ऋतु काल में ही स्त्री प्रसंग ब्रह्मचर्य है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि ब्रह्मचर्य तप के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है- **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत** (अथर्व० ११.७.१९)

पाँचवाँ-यम **अपरिग्रह** है। अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं, धनादि का परित्याग अपरिग्रह कहलाता है। विषय वस्तुओं की अस्वीकार करना भी अपरिग्रह है। महर्षि व्यास के अनुसार विषयों में विभिन्न दोष देखकर उन्हें ग्रहण न करना ही अपरिग्रह है-**विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः** (साङ्ख्योग दर्शन-व्यास भाष्य)। इस प्रकार प्रमुखतः ये पाँच यम ही प्रचलित हैं। कुछ ग्रन्थों में दशविध यम वर्णित हैं। ये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सभी के प्रति समान भाव), क्षमा, धृति, मिताहार और शौच हैं- **अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश** (जा०दर्शनो० १.६)।

२६०. यायावर— द्र०-गृहस्थ।

२६१. योग —द्र०-ज्ञानखण्ड।

२६२. योगनिद्रा— यौगिक क्रियाओं में योगनिद्रा का भी उल्लेख मिलता है। सामान्यतः निद्रा सुषुप्तावस्था को कहते हैं; किन्तु यौगिक प्रक्रिया से उत्पन्न निद्रा योगनिद्रा कहलाती है,जिसे कोश ग्रन्थों में समाधि का एक अंग कहा गया है। हिन्दी विश्वकोश खं० १८ पृ० ६२२ में उल्लेख है-**योगश्चित्तवृत्ति निरोधलक्षणः समाधिस्तद्रूपा निद्रा** अर्थात् योग, चित्त वृत्ति का निरोध है, उसका चरमोत्कर्ष समाधि है। समाधि में बाह्यज्ञान नहीं रहता। इसलिए यह अवस्था योगनिद्रा कहलाती है। मण्डलब्राह्मण उपनिषद् में भी शुद्ध, अद्वैत, चैतन्य और सहज अमनस्क स्थिति की योगनिद्रा की उपमा दी गई है- **शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्रा.....जीवन्मुक्तो भवति** (मं०ब्रा०उ० २.५.२)। इस मंत्र की टीका में ब्रह्मयोगी ने उपर्युक्त स्थिति को निर्विकल्प समाधि कहा है-**अजाड्य.....निर्विकल्प समाधिः** (मं०ब्रा०उ० २.५.२ टीका)।

२६३. योगी— द्र०-ज्ञानखण्ड -योग।

२६४. योनि— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२६५. राजयोग— द्र०-मन्त्रयोग।

२६६. रुद्र— द्र०-त्र्यम्बक।

२६७. लक्ष्यत्रय— इस शब्द का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। भ्रूमध्य स्थित सच्चिदानन्द स्वरूप चेतन पुञ्ज ब्रह्म (तारक ब्रह्म) का दर्शन प्राप्त करने के लिए लक्ष्यत्रय का अवलोकन करने का विवेचन मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं ......तदाप्त्युपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम्** (मं०ब्रा० उ० १.२.४-५)। ब्रह्मदर्शन में जिन तीन प्रकार की दर्शन प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है और उनमें जिन रंग विशेषों व स्थितियों का दर्शन होता है, वे ही तीन प्रकार के दर्शन लक्ष्यत्रय के नाम से जाने जाते हैं। बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य और अन्तर्लक्ष्य- ये ही त्रिलक्ष्य (लक्ष्यत्रय) हैं। ज्योति (ब्रह्मज्योति) के दर्शन में सर्वप्रथम योगी को नासिका के अग्रभाग से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीला, काला, रक्त, पीत और दो रंगों के संमिश्रण जैसे रंग का आकाश

दिखाई पड़ता है, यही बाह्य लक्ष्य है-**बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदश-द्वादशाङ्गुलीभिः ......व्योमत्वं पश्यति स तु योगी** (मं० ब्रा०उ० १.२.८)। मध्य लक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है- प्रातः काल में (ध्यान करने पर) सूर्य, चन्द्र और अग्नि को ज्वालाओं के समान और उससे रहित अन्तरिक्ष-सम दिखाई पड़ता है। वह उसी के आकारवत् आकारयुक्त हो जाता है। यही मध्य लक्ष्य है-**मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्य चन्द्र वह्निज्वालावलीवत्त-द्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारी भवति** (म०ब्रा०उ०१.२.११-१२)। इसी उपनिषद् में अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है कि अन्तर्लक्ष्य दीप्तिमान् ज्योति के समतुल्य है, बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा अगोचर इसे महर्षिगण ही (पूर्णतः) जान सकते हैं-**अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिः स्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम्** (मं०ब्रा०उ० १.३.६)। अन्तर्लक्ष्य के विषय में विभिन्न विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत हैं। कोई इसे सहस्रार दल में दीप्तिमान् ज्योति के समतुल्य मानते है, कोई बुद्धि रूपी गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष के रूप को अन्तर्लक्ष्य मानते हैं, कोई शीर्ष के अन्तर्गत स्थित मण्डल के बीच में स्थित पंचमुखी और उमा सहित महेश्वर का प्रशान्त रूप ही अन्तर्लक्ष्य मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है-**सहस्त्रारे जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां ....अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके** (मं०ब्रा०उ० १.४.१)।

उपर्युक्त समस्त विकल्प आत्मा के ही हैं। अस्तु, उस अन्तर्लक्ष्य का जो पुरुष शुद्धात्मा दृष्टि से दर्शन करता है, वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है-**उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव। तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति** (मं०ब्रा०उ० १.४.२)। अन्तर्लक्ष्य का दर्शन कर लेने से जीव जीवन्मुक्त स्थिति की ओर अग्रसर होकर, स्वयं अन्तर्लक्ष्य होकर परमाकाश स्वरूप अखण्ड मण्डलाकार हो जाता है।

२६८. लययोग— द्र०-मन्त्रयोग।

२६९. लिङ्ग शरीर— द्र०-पुर्यष्टक।

२७०. लोक— द्र०- ज्ञानखण्ड-लोक-परलोक-समलोक।

२७१. वज्रोली मुद्रा— द्र०-मुद्रा।

२७२. वर्णाश्रम— द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुराश्रम एवं चतुर्वर्ग।

२७३. वानप्रस्थ—चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के पश्चात् तीसरा आश्रम वानप्रस्थ कहलाता है। इसमें गृहस्थ व्यक्ति परिवार की जिम्मेदारियों को निपटाकर पुत्रादि पर परिवार के दायित्व सौंप कर अगले चरण में पत्नी सहित पवित्र जीवन जीकर आत्म कल्याण और लोक सेवा के कार्यों में अपने जीवन के पच्चीस वर्ष लगाता है। हलायुध कोश में वानप्रस्थ को परिभाषा इन शब्दों में विवेचित है-**वानप्रस्थः पुं० (वनप्रस्थे भवः, अण्) वैखानसः,तृतीयाश्रमः पुत्रमुत्पाद्य वनवासं कृत्वा अकृष्टपच्यफलादिभक्षयित्वा ईश्वराराधनं करोति यःसः** (हला० पृ० ६००) अर्थात् वानप्रस्थी पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् वन में निवास करता हुआ स्वयं उत्पन्न तथा स्वयं पके फलादि का सेवन करके ईश्वराराधन करता है। आश्रम उपनिषद् मंत्र ३ में वानप्रस्थी के चार भेद बताये गये हैं- वैखानस, उदुम्बर, वालखिल्य तथा फेनप-**वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति**। इनमें **वैखानस वानप्रस्थी** वे कहलाते हैं, जो स्वयं उत्पन्न तथा पकी हुई औषधियों तथा वनस्पतियों, जो ग्रामीणों द्वारा उपेक्षित है, में अग्नि संचार कर उदरपूर्ति करते हुए नियमित पञ्च महायज्ञ [वानप्रस्थी के लिए नियमित पाँच यज्ञ ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन व वेदाध्यापन), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (श्राद्ध-तर्पण), अतिथि यज्ञ अथवा मनुष्य यज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व आदि-चींटीं, कीड़े, कुत्ते, गौ व मछलियों आदि को भोजन कराना) करने का विधान है] सम्पन्न करते हुए आत्मा को साधना करते हैं-**तत्र वैखानसा अकृष्ट पच्यौषधिवनस्पतिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ३)।

उदुम्बर वानप्रस्थी उन्हें कहते हैं, जो प्रातः उठकर जिस दिशा में भी देखें उधर जाकर उदुगरि (गूलर), बदर (बेर), नीवार और श्यामाक (साँवाँ) आदि का संग्रह करके उनमें अग्नि संचार करके पञ्च महायज्ञों को क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए जीवन को साधना करते हैं-**उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रेक्षन्ते .....आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ३)। उल्लेखनीय है कि गूलर आदि का सेवन करने के कारण इन वानप्रस्थियों का नाम उदुम्बर पड़ा है। कुछ उपनिषदों में 'औदुम्बर' पाठ भी मिलता है।

वालखिल्य वानप्रस्थी वे कहलाते हैं, जो जटाधारण करके फटे वस्त्र और वृक्ष की छालों को शरीर का आवरण बनाते हुए, आठ मास (मार्गशीर्ष मास से आषाढ़ मास) तक उपार्जित पुष्प-फल आदि (शाक-कन्दमूलादि फल और अन्नों) को ग्रहण करते हुए (उन आठ मासों के अतिरिक्त अषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा के चार महीने-चातुर्मास्य तक भी वही आठ मास में उपार्जित पदार्थ ग्रहण करते हुए) कार्तिकी पूर्णिमा को सभी संचित भक्ष्य पदार्थ त्याग देते हैं अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमा के बाद फिर नया उपार्जन करके ही ग्रहण करते हैं। इस तरह वे इन संचित भोज्य पदार्थों में अग्नि संचरण करते हुए पञ्चमहायज्ञों को सम्पन्न करते हुए आत्मा को प्रार्थना (साधना) करते है। आश्रम उपनिषद्कार ने यह तथ्य इन शब्दों में प्रतिपादित किया है-**वालखिल्य जटाधराश्चीरचर्मवल्कल-परिवृताः कार्त्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलमुत्सृजन्तः शेषानष्टौ ...प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ३)। उल्लेखनीय है कि कुछ ग्रन्थों में वालखिल्य के स्थान पर बालखिल्य और बालिखिल्य पाठ भी मिलते हैं।

फेनप वानप्रस्थी के लक्षण यह हैं कि वे विक्षिप्तवत् रहते हुए, शीर्ण पर्ण-फल (अपने आप गिरे हुए पत्ते और फल) ग्रहण कर उनमें अग्नि परिचरण करते हुए, जहाँ कहीं भी स्थान मिल जाये, वहीं निवास करते हुए, नियमित पञ्च महायज्ञादि क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए आत्म साधना में निरत रहते है- **फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र तत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो०३)। इन वानप्रस्थियों का नाम फेनप पड़ने का कारण अड्यार प्रकाशित माइनर उपनिषद् में आश्रमो०की टिप्पणी में लिखा है- **फेनपाः स्वयं पतित पर्णफलादिकं फेनो नामेति केचित्** अर्थात् कुछ विद्वानों का मानना है कि स्वयं गिरने वाले पत्ते और फलों को फेन कहते हैं। अतः इन्हें ग्रहण करने के कारण इन वानप्रस्थियों का नाम भी फेनप पड़ गया है। श्रीमद्भागवत के ३.१२. ४३ वें श्लोक को व्याख्या में फेनप उन्हें बताया गया है, जो (दूध पीते समय) बछड़े के मुख से गिरने वाले दूध के फेन से जीवनयापन करते हैं-**फेनपा ....वत्समुखगलितपयःफेनपानेन जीवन्त इति।**

२७४. वार्ताक वृत्ति— द्र०-गृहस्थ।

२७५. वालखिल्य— द्र०-वानप्रस्थ।

२७६. वासनात्रय- वासना शब्द का उपयोग सामान्यतः आसक्ति अथवा विषम लिङ्गियों (स्त्री-पुरुषों) में परस्पर काम वासना को प्रगाढ़ता के अर्थ में किया जाता है; किन्तु कोश ग्रन्थों में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित है-**वासयति कर्मणा योजयति जीवमनांसीति वस-णिच्-युच्-टाप्** (हि० वि० को० खं० २१ पृ० २३०) जिसके अनेक अर्थ है, जैसे-प्रत्याशा, ज्ञान, संस्कार, स्मृति, हेतु, भावना, इच्छा, कामना आदि। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति अत्यधिक स्नेह या मोह के कारण उससे सम्बन्धित कोई प्रसङ्ग उपस्थित होते ही उसका संस्कार अथवा वासना जाग पड़ती है, जिससे वह तत्सम्बन्धित कार्य करने को समुद्यत हो उठता है। जैसे कोई लेखक या कवि जो नदी, सरोवर, बगीचे आदि के निकट लेख या कविता लिखने का अभ्यासी है। यदि वह कहीं बाहर गया हुआ है और वहाँ भी उसे ऐसा ही वातावरण मिल जाए, तो उसके अन्दर कुछ लिखने के भाव जाग्रत् होने लगते हैं; इसे ही उसका संस्कार या वासना का जागना कहेंगे। वासनाएँ तीन प्रकार को मानी गयी है, जिन्हें उपनिषदों में वासनात्रय के नाम से जाना जाता है। ये है-देह सम्बन्धी वासना, मन सम्बन्धी वासना और बुद्धि सम्बन्धी वासना। संन्यासोपनिषद् (२-२०) के वासनात्रय के अन्तर्गत देह वासना, शास्त्र वासना तथा लोक वासना का भी उल्लेख किया गया है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में मुमुक्षु को निर्देश दिया गया है कि वह सद्गुरु से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर इहलोक और परलोक के सुखों के वास्तविक स्वरूप को समझकर एषणात्रय, वासनात्रय, ममता और अहंकारादि को वमन किए (उल्टी किए) हुए अन्न के समतुल्य समझकर मोक्ष के एक मात्र साधन ब्रह्मचर्याश्रम को पूरा करके गृहस्थ बने, तदुपरान्त वानप्रस्थी और इसके पश्चात् संन्यास आश्रम ग्रहण कर प्रव्रज्या करे-**सद्गुरु समीपे ....ज्ञात्वैषणात्रय वासनात्रय ममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव ......प्रव्रजेत्** (परम० प० २)। इस मंत्र को टीका में ब्रह्मयोगी ने वासनात्रय को देहादि वासनात्रय कहकर वासना के तीनों रूपों की ओर संकेत किया है- **न कदापि संसारमण्डले ....देहादि वासनात्रय .... ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्।** इस प्रकार क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और इसके पश्चात् संन्यास धारण करने के अतिरिक्त एक पथ और है कि जब कभी भी पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाये (वासनात्रय, एषणात्रय, आदि दोषों से मुक्त हो जाये), तभी प्रव्रज्या आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम ग्रहण किया जा सकता है। इस स्थिति में संन्यास ग्रहण करने के लिए क्रमशः आश्रम ग्रहण करना, व्रती (व्रतधारण करने वाला), पुनर्व्रती, स्नातक, अस्नातक, अग्निहोत्री अथवा उससे रहित होना आवश्यक नहीं है।

२७७. विक्षेप— द्र०-अज्ञान-आवरण।

२७८. विज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड -ज्ञान-विज्ञान।

२७९. विज्ञानात्मा— विज्ञानात्मा शब्द वस्तुतः विशेषण सहित जीवात्मा के स्वरूप का बोधक है। इसका उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। विज्ञानात्मा शब्द का सामान्य अभिप्राय विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न जीवात्मा से है। वेदान्त के अनुसार स्थिति भेद से इस जीवात्मा की ही प्राज्ञ, विश्व और तैजस संज्ञाएँ होती हैं। १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड के परिशिष्ट के 'प्राज्ञ' प्रकरण में यह द्रष्टव्य है। इनमें स्थूल शरीर के व्यष्टि उपहित चैतन्य को विश्व कहते हैं। (यही समष्टि उपहित चैतन्य के रूप में वैश्वानर कहलाता है।) इसी विश्वसंज्ञक जीवात्मा को प्रज्ञात्मा की संज्ञा प्रदान की गई है। विराट् पुरुष (समष्टिगत वैश्वानर) ही ईश्वर की आज्ञा से व्यष्टि रूप देह में प्रविष्ट होकर बुद्धि तत्त्व में निवास करके विश्व कहलाता है। इसी विश्व को विज्ञानात्मा, चिदाभास, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूल देहाभिमानी और कर्म-भू आदि कहते हैं। इस सन्दर्भ में पैङ्गलोपनिषद् में उल्लेख है-**ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको .... नाम भवति** (पैङ्गलो० २.६) अर्थात् व्यष्टि देह में प्रविष्ट होने पर बुद्धि में वास करके विश्व अथवा प्रज्ञात्मा कहलाता है। वेदान्त के मत में यह विराट् ही सूक्ष्म शरीर का परित्याग किये बिना स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और विश्व के सभी शरीरों में प्रवेश करने की क्षमता के कारण ही इसे विश्व कहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए स्वामी रामतीर्थ लिखते हैं—**सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति** (वे०सा०विद्व०खं०१७)। विषयों का ज्ञान और उपभोग जाग्रत् स्थिति में यही विश्व या विज्ञानात्मा १९ मुखों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) द्वारा करता है— **जागरित स्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल भुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः** (माण्डू०३)। प्रश्नोपनिषद् में इस विज्ञानात्मा को द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता और घ्राता आदि कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की गई है- **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते** (प्रश्नो०४.९)।

२८०. विद्या-ज्ञान— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८१. विधाता— द्र०-ज्ञानखण्ड -विधाता-धाता।

२८२. विनियोग— वि-नि-युज् और घञ् से निर्मित विनियोग शब्द के कई अर्थ हैं। जैसे-किसी फल के उद्देश्य से किसी वस्तु का उपयोग, किसी विषय में लगाना, प्रयोग, वैदिक कृत्य में मन्त्र विशेष का प्रयोग, प्रेषण, प्रवेश आदि। इन कई अर्थों में से 'वैदिक कृत्य में किसी मन्त्र के प्रयोग' के सन्दर्भ में पहले से ही गायत्री साधना करते समय विश्वामित्र और वसिष्ठ के शाप विमोचन हेतु एक विशेष मन्त्र द्वारा विनियोग किया जाता रहा है। (वर्तमान में तो युग ऋषि द्वारा गायत्री साधना को शाप मुक्त कर देने के कारण इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती)। कई उपनिषदों में किसी वस्तु या साधना प्रक्रिया के प्रयोग के अर्थ में विनियोग शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे-जाबालदर्शनोपनिषद् में प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का विनियोग (प्रयोग) विभिन्न रोगों के निरसन हेतु निर्दिष्ट है—**विनियोगान् प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत।...........सर्वरोग विनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः** (जा०दर्शनो० ६.२१,२३)।

२८३. विपर्यास (विपर्यय) — द्र०-अध्यारोप-अपवाद।

२८४. विभु— कोश ग्रन्थों में विभु शब्द के कई अर्थ संप्राप्य हैं, यथा- प्रभु, स्वामी, शंकर, ब्रह्म, भृत्य, विष्णु, आत्मा, जीवात्मा, ईश्वर, सर्वव्यापक, सर्वत्रगमनशील, रात, दिन, बहुत बड़ा, विस्तृत, महान् और ऐश्वर्ययुक्त आदि। वेद, पुराणों और उपनिषदों में इस जगत् में उस विराट् ब्रह्म की सर्वव्यापकता के प्रतिपादन में भी कई स्थलों पर विभु शब्द का प्रयोग मिलता है। पैङ्गलोपनिषद् में ईश्वर के ऐश्वर्य, महानता और स्वामित्व को प्रदर्शित करने के लिए ईश्वर के साथ विभु विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पैङ्गल ऋषि ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला विभु ईश्वर किस प्रकार जीवत्व को प्राप्त हुआ-**अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति** (पैङ्गलो० २.१)। इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य जी ने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की उत्पत्ति सहित विभु ईश्वर के स्वरूप का विवेचन किया। इस प्रकार सर्वव्यापकत्व, विराट्, महान् आदि अर्थों में विभु शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

२८५. विरज— सामान्यतः रज (धूल) रहित वस्तु को विरज कहते हैं; किन्तु आध्यात्मिक सन्दर्भों में रज अर्थात् रजोगुण

३०९. श्राद्ध -तर्पण—द्र०-ज्ञानखण्ड -श्राद्ध।

३१०. श्रुति—द्र०-ज्ञानखण्ड -श्रोत्रिय।

३११. श्रोत्रिय—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३१२. षड्ऊर्मियाँ—षड्भाव विकार — उपनिषदों में कई स्थलों पर षड्ऊर्मियों और षड्भाव विकारों का वर्णन प्राप्त होता है। साधक के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उनकी दिनचर्या और नियम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे यति (संन्यासी) के लिए आचरणीय विभिन्न नियमों का उल्लेख करते हुए प्रजापति ब्रह्मा ने नारद से कहा कि यति को षड्मिरहित और षड्भाव विकारों से शून्य रहना चाहिए-**अयत्नेन प्राप्तमाहरन् ....षड्मिरहितः, षड्भाव विकार शून्यः, ...स्वरूपानुसंधानेन वसेत्** (ना०परि० ७.१)। कोशग्रन्थों में छः प्रकार की ऊर्मियाँ (तरङ्गें) वर्णित हैं- **बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ। शोक मोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षड्र्मयः** (वाच०पृ० १३९३) अर्थात् भूख और प्यास प्राण से सम्बन्धित, शोक और मोह मन से सम्बन्धित तथा जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु, ये शरीर से सम्बन्धित छः ऊर्मियाँ हैं। इसी प्रकार छः प्रकार के भाव विकार भी होते हैं, जिनसे संन्यासी को दूर रहने का परामर्श दिया जाता है। छः भाव विकारों का उल्लेख निरुक्तकार यास्क ने इन शब्दों में किया है- **षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः॥ ....जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते, ऽपक्षीयते, विनश्यतीति** (नि० १.१.३) अर्थात् जन्म (उत्पन्न होना), अस्तित्व (विद्यमान रहना),विपरिणमन (परिवर्तित होना), विकास (बढ़ना या विकसित होना), अपक्षय (क्षीण होना) और विनाश (पूर्णतः विनष्ट हो जाना)— ये ही षड्भाव विकार हैं। संन्यासी (यति) को आत्मज्ञान प्राप्त करके इन भाव विकारों से ऊँचा उठना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के षड्भाव इस प्रकार निर्दिष्ट हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इसी प्रकार ज्योतिष की दृष्टि से लज्जित, गर्वित, क्षुधित, तृषित, मुदित और क्षोभित ये षड्भाव कहलाते हैं; किन्तु उपनिषदों में जहाँ भी परमहंस, अवधूत, संन्यासी आदि को षड्भाव विकार शून्य होने का निर्देश दिया गया है, वहाँ उपर्युक्त जन्म, अस्तित्व आदि षड्भाव विकारों से ही तात्पर्य है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में भी अयज्ञोपवीती, अशिखी तथा सर्व कर्म परित्यागी ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजक के लक्षण बताते हुए उसे निन्दा, अमर्ष (क्रोध), सहिष्णु, षड्मिवर्जित और षड्भाव विकार शून्य होकर ज्येष्ठ-अज्येष्ठ के व्यवधान से रहित होने वाला विवेचित किया गया है- **लोके परमहंस परिव्राजको दुर्लभतरः ....स निन्दामर्ष सहिष्णुः स षड्मिवर्जितः। षड्भाव विकार शून्यः। स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधान रहितः ..... परमहंस परिव्राडित्युपनिषत्** (परम० प० ५)। इस प्रकार परमहंस-संन्यासी को उपर्युक्त गुणों को अपनाकर समस्त इन्द्रियों पर संयम (नियंत्रण) रखते हुए सतत ब्रह्मभाव में ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा परमहंस ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

३१३. षड्भाव विकार—द्र०-षड्ऊर्मियाँ-षड्भाव विकार।

३१४. षड्रिपु—द्र०-ज्ञानखण्ड षड्रिपु-षड्वर्ग।

३१५. षण्मुखी मुद्रा—द्र०-मुद्रा।

३१६. षोडश कला— द्र०-ज्ञानखण्ड।

३१७. संन्यास— द्र०-ज्ञानखण्ड -चतुराश्रम।

३१८. संन्यासी— द्र०-ज्ञानखण्ड -संन्यासी-यति।

३१९. संयम—द्र०-षड्ऊर्मियाँ-षड्भाव विकार।

३२०. संवत्सर— द्र०-ज्ञानखण्ड।

३२१. सत्य— द्र०-यम।

३२२. सदानन्द— द्र०-अद्वयानन्द।

३२३. सद्गति— द्र०- सद्गुरु।

३२४. सद्गुरु— ज्ञानाञ्जन शलाका से अज्ञान रूपी तिमिरान्धता को दूर करने वाले को गुरु शब्द से अभिहित किया गया है। इस सन्दर्भ में यह श्लोक प्रसिद्ध है- **अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥** कोशग्रन्थों में 'गु' शब्द को अन्धकार वाची और 'रु' को प्रकाशवाची माना गया है। इस मान्यता के अनुसार भी

अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला गुरु होता है। गायत्री मंत्र के उपदेष्टा को भी गुरु कहते हैं; क्योंकि प्राचीनकाल में कोई भी गुरु अपने शिष्य को सर्वप्रथम गायत्री मंत्र ही दिया करता था। इसीलिए गायत्री मंत्र को गुरुमंत्र कहा जाने लगा और गुरु को गायत्रीरूप। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर का यह श्लोक द्रष्टव्य है-**नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्रीरूपिणे सदा। यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसार संज्ञकम्॥**

मनुस्मृति में गुरु की परिभाषा इस प्रकार निर्दिष्ट है- **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते** (मनु० २.१४२) अर्थात् जो निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को विधिवत् कराकर अन्नादि से पालन-पोषण करता है, उसे गुरु कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार माता-पिता प्रथम गुरु हैं, तत्पश्चात् पुरोहित आदि। तप, पुण्य, ज्ञान आदि समस्त गुणों से सम्पन्न तथा शिष्य का हर प्रकार से कल्याण करने वाले को सद्गुरु कहते हैं। दूसरे शब्दों में उत्तम गुण युक्त विशिष्ट गुरु को 'सद्गुरु' कहते हैं। जिसके पास समस्त सद्गुण, विद्वत्ता और क्रियाशीलता (तपश्चर्या) होती है, वे ही सच्चे अर्थों में सद्गुरु कहलाते हैं। तन्त्र सार में सद्गुरु के लक्षण इस प्रकार विवेचित हैं— जो शान्त, दान्त, कुलीन, विनीत, शुद्ध भाव सम्पन्न, पवित्र स्वभाव, कार्यदक्ष, तन्त्र-मन्त्रज्ञ, शिष्य को अनुशासन में रखने तथा उन पर अनुग्रह करने आदि में समर्थ है, वही सद्गुरु कहलाने योग्य है-**सिद्ध तपस्वी कुशलः तन्त्रज्ञः सत्यभाषिता। निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥ शान्तो दान्तः ....कर्मभिः** (तं०सा०सं० १.२६-२७)। बहुत जन्मों के पुण्य फल से सद्गुरु की प्राप्ति होती है। वेदान्त सार में उल्लेख है कि जिन मुमुक्षुओं के शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि साधन सिद्ध हो चुके हों, उन्हें ब्रह्मनिष्ठ-श्रोत्रिय सद्गुरु के पास जाकर 'तत्त्वमस्यादि' का उपदेश प्राप्त करना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् में भी गुरु-सद्गुरु के गुण निर्दिष्ट हैं। संन्यास धारण के क्रम में ब्रह्मा ने नारद से कहा कि जिस श्रेष्ठ कुलोत्पन्न और माता-पिता के आज्ञाकारी बालक का उपनयन न हुआ हो, उसका उपनयन कराकर माता-पिता उस बालक को किसी श्रोत्रिय, शास्त्रों के अनुरागी, श्रद्धावान्, गुणवान् और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न सद्गुरु के पास रहने के लिए भेजें-**भो नारद .....श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं ......सद्गुरुमासाद्य नत्वा संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषद्** (ना० परि० २.२)।

सद्गुरु पाकर शिष्य का जीवन धन्य हो जाता है और वह इहलोक में सब तरह समुन्नत होकर परलोक में भी सद्गति प्राप्त करता है। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार- **सती गतिर्यस्य** अर्थात् जिसकी उत्तम विशिष्ट गति हो वह सद्गति सम्पन्न कहा जाएगा। मुक्ति, निर्वाण आदि को भी सद्गति माना गया है। मृत्यूपरान्त जीवात्मा की उच्च लोकों में जो गति होती है, उसे ही सद्गति कहते हैं। पाप से असद्गति और पुण्य करने से सद्गति प्राप्त होती है, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है।

वटुकोपनिषद् में परब्रह्म का एक नाम 'एक' भी बताया गया है। उस एक में ही समस्त प्राणी विलीन होते तथा एक से ही सृजित होते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणादि तीर्थों में भ्रमण करने वाले उस 'एक' ब्रह्म हेतु ही वहाँ जाते हैं और उन सभी की सद्गति होती है-**अथ कस्मादुच्यत .... तीर्थमेके व्रजन्ति ....तेषां सर्वेषामिह सद्गतिः** (वटुको०)। इस प्रकार जो साधक सद्गुरु की आज्ञा से सत्पथ पर चलते हैं, उनकी सद्गति सुनिश्चित है।

३२५. सन्तोष—द्र०-नियम।

३२६. सन्धि— सन्धि शब्द का प्रयोग कई प्रयोजनों के निमित्त होता है। हिन्दी विश्वकोश सं० २३ पृ० ५५१ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित है- **सन्धानमिति-सन्-धा-कि**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सन्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे राजाओं के बीच कुछ विवादों को निपटाने के लिए परस्पर कुछ समझौता कर लेना सन्धि कहलाती है। इसी प्रकार शरीर में अस्थियों के विभिन्न जोड़ों को भी सन्धि कहते हैं। व्याकरण की दृष्टि से दो वर्णों (स्वर, व्यंजन या विसर्ग) के मिलन को भी सन्धि कहते हैं। व्याकरण में इन्हें क्रमशः स्वर-सन्धि, व्यंजन सन्धि और विसर्ग सन्धि कहा जाता है। दो युगों के मध्य को भी सन्धि अथवा सन्ध्या कहते हैं। दिन और रात्रि के मिलन काल को भी सन्धि या सन्ध्या कहते हैं। सन्ध्याएँ तीन होती हैं— प्रातः काल, मध्याह्न और सायंकाल। इन्हें त्रिसन्ध्या या त्रिसन्धि भी कहते हैं। प्रत्येक सन्धि या सन्ध्या में गायत्री जप अथवा ईश्वर उपासना का विधान है। सन्धिकालों अथवा सन्ध्याओं में की गई उपासनाएँ विशेष रूप से फलित होती हैं। इसमें ध्यान सम्यक् रूप से लगता है, इसीलिए सन्ध्या शब्द की व्युत्पत्ति में यह भाव ध्वनित होता है-**सन्ध्या (सं० स्त्री) सं सम्यक् ध्यायत्यस्यामिति सं+ध्यै चिन्तने+आतश्चोपसर्गे** (श०क० खं० ५ पृ० २४१)। द्विजातियों के लिए नियमित रूप से सन्ध्या करना अनिवार्य माना गया है। श्रुति में उल्लेख है- **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** (हि०वि०को०खं० २३ पृ० ५५४)। आरुण्युपनिषद् में संन्यासी के कर्तव्यों के क्रम में निर्दिष्ट है कि उसे तीन सन्ध्याओं में स्नान करके समाधिस्थ होकर आत्मा में रमण करना चाहिए- **त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत् संधिं समाधावात्मन्याचरेत्**

(आरुणि०२)। परमहंसोपनिषद् -२ में परमहंस के लक्षणों में उसे स्थूल शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड आदि से रहित होकर षडूर्मियों व अन्य कलुषों से रहित होना बताया गया है। उसी क्रम में आत्मा-परमात्मा में समभाव रखना और इनको एक ही दृष्टि से देखना उसकी संध्या बताया गया है-**परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एक एव विभग्नः सा सन्ध्या।**

३२७. सन्ध्या—द्र०-सन्धि।

३२८. समाधि—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३२९. सम्प्रसाद—विशेषत: 'सम्यक् प्रसन्नता' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'सम्प्रसाद' शब्द का उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। हि०वि०को० खं० २३ पृ० ६३३ के अनुसार सम्-प्र-घञ् से निर्मित सम्प्रसाद शब्द के कई अर्थ हैं, जैसे-सम्यक् प्रसाद, चित्त की प्रसन्नता, योग शास्त्र के अनुसार चित्त की निर्मलता की एक साधना विशेष, सुषुप्ति, प्रसन्नता और विश्वासादि। परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म के ध्यान की स्थिति और उसके स्वरूप के विषय में बताते हुए उसे देवों का संप्रसाद दाता, अन्तर्यामी, असङ्ग, चैतन्य स्वरूप पुरुष कहा है-**य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्य -सङ्गचिद्रूपः पुरुषः** (परब्रह्मो० २)। सुबालोपनिषद् में सूक्ष्म कोश में स्वप्न के अनुभव प्रकरण में (आनन्दानुभूति के क्रम में) आत्मा को भी सम्प्रसाद कहा गया है-**अथेमा...............लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति** (सुबालो० ४.३) अर्थात् जिस द्वितीय कोश में आत्मा जब शयन करता है, लोक और परलोक का दर्शन करता है और समस्त शब्दों को जानता है, तब उसे सम्प्रसाद कहते हैं।

३३०. सहजोली मुद्रा—द्र०-मुद्रा।

३३१. सहस्त्रार चक्र—द्र०-ज्ञानखण्ड-सप्तचक्र।

३३२. सांसारिक विषय— द्र०-ज्ञानखण्ड -विषय-भोग।

३३३. सायुज्य पद—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति।

३३४. सिंहासन—द्र०-आसन।

३३५. सिद्धासन—द्र०-आसन।

३३६. सुख-दु:ख— सुख-दु:ख एक ऐसी अनुभूति है, जो क्रमशः अनुकूलता और प्रतिकूलता के रूप में हर कोई अपने जीवन में परिस्थितियों के अनुसार अनुभव करता है। हि०वि०को० खं० २४ पृ०२६९ में सुख की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है- **सुखयतीति सुख-अच्**। जिसका अर्थ है आत्मवृत्ति अथवा मनोवृत्ति—गुण विशेष। वह अनुकूल और प्रिय वेदना, जिसकी सभी को अभिलाषा रहती है। आत्मा के २४ गुणों में सुख भी एक गुण है, जो नित्य और जन्य भेद से दो प्रकार का होता है। सांख्य और योग के मत से सुख सत्त्वगुण का धर्म है। गीता के अनुसार सुख सात्त्विक, राजसी और तामसी होता है-**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दु:खान्तं च निगच्छति** (गी० ४.३६)। इस श्लोक में तीन प्रकार के सुखों का संकेत करके गीताकार ने अगले तीन श्लोकों ३७, ३८ और ३९ में क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस सुख की परिभाषाएँ दी हैं। सुख के विपरीत अनुभूति को दु:ख कहते हैं। हि०वि०को०खं० १० पृ० ४८७ में दु:ख इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **दुर् दुष्टं खनतीति खन-उ वा दु:खयतीति दु:ख अच्**। इस व्युत्पत्ति से निर्मित दु:ख शब्द के अर्थ-संसार, व्याधि, रोग, व्यथा, कष्ट, क्लेश आदि हैं। दु:ख या क्लेश उत्पन्न होने के कई कारण हैं, जैसे-परतन्त्रता, दूसरे के अधीन रहकर जीवनयापन करना, आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट-रोग आदि), मानहानि, शत्रुता, कुलटा पत्नी आदि।

न्याय और वैशेषिक के अनुसार दु:ख को आत्मा का धर्म तथा सांख्य और वेदान्त के मत से दु:ख को बुद्धि का धर्म माना गया है, दु:ख भी तीन प्रकार का कहा गया है—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक दु:ख के भी दो प्रकार हैं- शारीरिक और मानसिक। आधिदैविक दु:ख उसे कहते हैं, जो देवता से उत्पन्न दु:ख हो, जैसे-सर्दी-गर्मी, हवा, वर्षा, और वज्रपात से उत्पन्न दु:ख। आधिभौतिक दु:ख समस्त भूतों से उत्पन्न होने के कारण चार प्रकार का है, जैसे- जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज (मनुष्य,पशु-पक्षी, सर्पदंश, वनमक्षिका, स्थावर आदि) से उत्पन्न दु:ख। उपनिषदों में योगी और परिव्राजक आदि को सुख-दु:ख से दूर रहने या इससे ऊँचे उठने का परामर्श दिया गया है। नारद परिव्राजक उपनिषद् (३.२७) में उल्लेख है कि जिस प्रकार प्राणविहीन देह में सुख-दु:ख का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार कैवल्याश्रम में रहने वाले योगी प्राण रहते हुए भी सुख-दु:ख से प्रभावित नहीं होते-**प्राणे गते यथा**

देहः सुखदुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥ गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने सुख-दुःख, लाभ -हानि, जय और पराजय में समान रहने का उपदेश दिया है- **सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि** (गी० २.३८)।

३३८. सूक्ष्मशरीर—द्र०-पुर्यष्टक।

३३९. सूत्रात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-तैजस।

३४०. सूर्य— विभिन्न ग्रहों में सूर्य महत्त्वपूर्ण ग्रह है। चारों वेदों में सूर्य की एक विशिष्ट देवता के रूप में स्तुति (प्रार्थना) की गई है। विराट् पुरुष के नेत्रों से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ है- **चक्षोः सूर्यो अजायत** (यजु० ३१.१२)। परब्रह्म के नेत्र स्वरूप होने के कारण सूर्य को सभी का कर्मद्रष्टा विवेचित किया गया है-**सूराय विश्वचक्षसे** (ऋ० १.५०.२)। समस्त जीव सूर्य से ही जीवित हैं, इसी कारण सूर्य सभी का आत्मा कहलाता है। ऋग्वेद में यह तथ्य इस प्रकार उपन्यस्त है-**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (ऋ० १.११५.१)। स्थिति भेद से सूर्य के अनेक नाम हैं, जैसे- सभी को अपने कर्म और उसके फल में स्थिर रखने के कारण सूर्य को ब्रह्म, जगत् के पालक होने के कारण सूर्य को विष्णु, देदीप्यमान होने से सूर्य को शुक्र और सबका प्रेरक होने से सूर्य को सविता आदि कहते हैं। आचार्य सायण ने उदित होने से पूर्व के सूर्य को सविता कहा है—**उदयात् पूर्वं भावी सविता** (ऋ० ५.८.१४ सा०भा०)। शतपथ ब्राह्मण में सविता को सभी देवों का पिता कहा गया है—**सविता वै देवानां प्रसविता** (शत०ब्रा० १.१.२.१७) निरुक्तकार यास्क ने भी सविता को प्रसविता कहकर इस तथ्य की पुष्टि की है—**सविता सर्वस्य प्रसविता** (नि० १०.३.३१)।

सूर्य वस्तुतः अग्नि का ही आकाशीय रूप है। विश्वविधान का संरक्षक होने के कारण उसका चक्र नियमित चलता रहता है, जिससे गति, प्रखरता और सृजन को सभी को प्रेरणा मिलती है। अथर्वशिर उपनिषद् में देवों ने भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए तेजस्विता के कारण उन्हें सूर्य रूप कहा है- **यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः** (अथर्वशिर० २)। इसी प्रकार भगवान् रुद्र के विभिन्न गुणों के कारण अन्य नामों से भी उनकी स्तुति की गई है, जैसे— उन्हें वृद्धि रूप, शान्तिरूप, पुष्टिरूप, हुतरूप (होम किए गये), अहुतरूप (बिना होम किए गये), दत्त (दिए गये), अदत्त (बिना दिए गये), सर्व-असर्वरूप, विश्व-अविश्वरूप, पर-अपर रूप और परायण रूप कहा गया है-**वृद्धिस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्** (अथर्वशिर० ३)।

३४१. सृष्टि—द्र०-ज्ञानखण्ड-सृष्टि-अतिसृष्टि।

३४२. सोम— सोम की स्तुति का उल्लेख चारों वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी मिलता है। ऋषियों की दृष्टि में सोम एक पोषक तत्त्व है। इसका वर्णन कभी वनस्पति (सोम नामक लता) के रस के रूप में, कभी सूक्ष्म-प्रवाह के रूप में तथा कभी व्यक्तित्व सम्पन्न देव शक्ति के रूप में विभिन्न वेद मंत्रों में हुआ है। सोम की वनस्पति (सोमलता) रूप की अवधारणा के संदर्भ में यह मान्यता है कि सोमलता का उत्पत्ति-स्थल हिमाच्छादित उच्च पर्वतीय उपत्यिकाएँ हैं। सोमलता का मधुर रस दिव्य तथा अतिशय आनन्द प्रदान करने में समर्थ है-**असाव्य ꣹शुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः** ....(सा० ४७३)। सोमरस हरितवर्ण का होता है, जो बल-वीर्यवर्धक है। देवगण चाव से इसका पान करते हैं-**पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्‌भ्यो वायवे मदः** (सा० ४७४)। सोमरस के अन्य गुणों-बुद्धि वृद्धि, जागृतिवृद्धि, शुक्रवृद्धि, दक्षतावृद्धि, मेधावृद्धि, तेजस्विता वृद्धि तथा मनः नियन्त्रण आदि का वर्णन सामवेद के विभिन्न मंत्रों में मिलता है। इसे साक्षात् अमृत मानकर राजा कहा गया है। **सोमोऽराजामल꣹ सुत** (यजु० १९.७२)। सोम की सोमलता के रूप में इस स्थूल अवधारणा के अतिरिक्त दूसरी अवधारणा सूक्ष्म प्रवाह के रूप में है। परमात्म शक्तियों के ऐसे प्रवाह को, जो सर्वत्र संचरित होकर सृष्टि के सन्तुलन, विकास आदि में अपना योगदान देता है, क्रान्तदर्शी ऋषियों ने 'सोम' संज्ञा प्रदान की है- **उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः** (सा० ४६७) अर्थात् हे सोमदेव! आपके पोषक रस का उद्‌भव सर्वोच्च द्युलोक में हुआ। द्युलोक में होने वाले आपके उस महिमामय प्रभाव और पोषण शक्ति को पृथिवी पर रहने वाले प्राणी प्राप्त करते हैं। सोम के सन्दर्भ में तीसरी अवधारणा विश्व ब्रह्माण्ड को संरचना, विकास और विलय की समूची प्रक्रिया के नियामक के रूप में है। एक मंत्र में सोम को सूर्य का प्रकाशक कहा गया है-**यथा सूर्यमरोचयः** (सा० ४९३)। स्थूल रूप में सोम (सोमलता) को वनस्पतियों का अधिपति कहा गया है- **सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुधां पतिः** (अथर्व० ३.२७.४)। दिव्य सोम के विषय में अथर्ववेद के एक मंत्र में एक वर्णन है कि

लोग सोम नामक जिस ओषधि का पान करते हैं, वे वास्तविक सोम को नहीं जानते; परन्तु ब्राह्मण (विद्वान् पुरुष) जिस सोम को जानते हैं, उसे कोई देहधारी मर्त्य ग्रहण नहीं कर सकता। उस सोम का पान देवगण करते हैं; क्योंकि वह (सोम) पुनः प्रबुद्ध हो जाता है। पवित्र और पवित्रकारक होने से सोम को पवमान सोम कहा गया है-**पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं** ....(सा० ४८४)। सामवेद में एक स्थल पर सोम को महान् जल-प्रवाहों में मिला हुआ विवेचित किया गया है-**परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः** ....(सा० ४८६)। अथर्वशिर उपनिषद् में देवों ने रुद्र भगवान् की स्तुति करते हुए उन्हें सोम कहा है- **यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वै नमो नमः** (अथर्वशिर० २)।

३४३. **सोऽहं**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३४४. **स्तुति**—द्र०-ज्ञानखण्ड-स्तोम।

३४५. **स्वर्ग-नरक**—द्र०-ज्ञानखण्ड-पाप-पुण्य।

३४६. **स्वाहा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३४७. **हंस**—द्र०-अवधूत।

३४८. **हंस-परमहंस**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३४९. **हठयोग**— भारतीय ऋषियों ने योग पर बहुत से अनुसन्धान किये हैं। योग शब्द बहुत विराट् है, जिसमें विभिन्न धाराएँ समाहित हैं। दो अंकों के जोड़ को योग कहते हैं। आत्मा और परमात्मा का मिलन भी योग के द्वारा ही सम्भव है। इसके विभिन्न प्रकार हैं, जैसे- ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, राजयोग, हठयोग आदि। हठयोग के माध्यम से (हठपूर्वक) चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करके ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्म से एकाकार करते हैं। हठयोग के माध्यम से ही शरीर और नाड़ी संस्थान की शुद्धि करके शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा और व्याधिशमन करते हैं। इसके (हठयोग के) अन्तर्गत विभिन्न क्रियाएँ, जिनमें छः प्रमुख क्रियाएँ-नेति, धौति, वस्ति, नौली, त्राटक और कपालभाति आती हैं— **धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकिस्त्राटकस्तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्** (गोरक्षसंहिता)। इसके अतिरिक्त हठयोग में विभिन्न प्रकार के प्राणायाम, आसन, बन्ध और मुद्राएँ भी समाविष्ट हैं, जिनसे चित्तवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी करके तीनों शरीरों की शुद्धि करके आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की जा सकती है। हठयोग का शाब्दिक अर्थ भी शरीर स्थित सूर्य और चन्द्र नाड़ियों के शोधन और उनके ऐक्य को प्रतिपादित करता है- **हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दुरुच्यते। सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते** (यो० शि० १३३)। इस व्युत्पत्ति परक अर्थ में प्रथमतः 'ह' और तत्पश्चात् 'स' का अर्थ बताया गया है। जबकि हठ में 'ह' और 'ठ' वर्ण होते हैं। इस मन्त्र के साथ इसका सम्बन्ध होने से सम्भवतः ऐसा हुआ हो, अतः सर्वत्र 'ठ' के स्थान पर 'स' पाठ ही मिलता है। हठयोग के आसन, बन्ध, मुद्राओं का वर्णन अलग से उन-उन क्रमांकों पर किया गया है।

३५०. **हविष्य**— द्र०-ज्ञानखण्ड-हुत-प्रहुत।

३५१. **हिरण्यगर्भ**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३५२. **हुत-अहुत**—द्र०-सूर्य।

३५३. **हृदय कमल**—द्र०-अष्टदल कमल।

३५४. **हृदयाकाश**—द्र०-परमव्योम।

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरणं
अथ यदिदम्	आ०बो० १.२
अथ योगिनां परमहंसानां	प०हं० १
अथ योऽस्य निरुक्तानि	शाण्डि० ३.२.९
अथ यो ह वै विद्वैनम्	शाण्डि० ३.२.१०
अथवा कृतकृत्योऽपि	अव० २६
अथ या तव	जा०द० ८.७
अथवा परिव्राड्	याज्ञ० ५
अथवा सत्यमीशानं	जा०द० ९.३
अथवैतत्परित्यज्य	जा०द० ५.१३
अथ शैवपदं	कुण्डि० २०
अथ षण्ढः पतितो	संन्या० २.४
अथ संवेश्यन् जायायै	कौ०ब्रा० २.१०
अथ संसृतिबन्ध	म०वा० ३
अथ सनत्कुमारः	जाबालि० २०
अथ समाधिः	शाण्डि० १.११.१
अथ हंसऋषिः	हंस १०
अथ हंस परमहंस	हंस० ४
अथ हंसा नाम	भिक्षु० ४
अथ ह जनको ह	जाबा० ४.१
अथ ह पैङ्गलो	पैङ्ग० १.१
अथ ह यत्परं ब्रह्म	शाट्या० ५
अथ ह याज्ञवल्क्य...	मं०ब्रा० २.१.१
अथ ह याज्ञवल्क्यो	मं०ब्रा० ४.१.१
अथ ह शाण्डिल्यो	शाण्डि० २.१
अथ ह सांकृतिर्भगवन्तम्	अव० १
अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ	याज्ञ० ४
अथ हैनमत्रिः पृच्छामि	जाबा० ५.१
अथ हैनमत्रिः .....य एषो	जाबा० २.१
अथ हैनमथर्वाणं केनोपायेन	शाण्डि० १.४.१
अथ हैनमथर्वाणं ....भगवान्	शाण्डि० ३.२.१
अथ हैनं ....क्रामतीति	सुबा० ११.१
अथ हैनं ....गच्छन्तीति	सुबा० ९.१
अथ हैनं .....जाबालि	जाबालि० १
अथ हैनं ....दहतीति	सुबा० १५.१
अथ हैनं नारदः	ना०परि० ३.१
अथ हैनं ....पप्रच्छ	पैङ्ग० ४.१
अथ हैनं परमेष्ठिनं	ना० परि० ८.१
अथ हैनं पितामहं नारदः	ना०परि० ५.१
अथ हैनं पैङ्गलः	पैङ्ग० ३.१
अथ हैनं ब्रह्मचारिणः	जाबा० ३.१
अथ हैनं भगवन्तं	ना०परि० २.१
अथ हैनं महाशालः	प०ब्र० १
अथ हैनं शाण्डिल्यै	शाण्डि० ३.१.१
अथ हैनं ....संप्रतिष्ठिता	सुबा० १०.१
अथ होवाच.... ब्रह्मा	म०वा० १
अथाकृतास्त्रिविधः	आत्मो १-क
अथात एकधनावरोधनम्	कौ०ब्रा० २.३
अथातः ....ध्यानम्	जा०द० ९.१
अथातःपरमहंस	आरु० ४
अथातःपितापुत्रीयं	कौ०ब्रा० २ १५
अथातः पृथिव्यादि	शारी० १
अथातश्चत्वार आश्रमाः	आश्र० १
अथातः श्रीमद्	द्वय० १
अथातः संन्यासोपनिषदम्	संन्या० १.१
अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः	जा०द० ८.१
अथातः संप्रवक्ष्यामि	जा०द० ७.१
अथातः ...समाधिम्	जा०द० १०.१
अथातः सर्वजितः	कौ०ब्रा० २.७
अथातः सांयमनम्	कौ०ब्रा० २.५
अथातो दैवः परिसरः	कौ०ब्रा० २.१२
अथातो दैवम्	कौ०ब्रा० २.४
अथातो निःश्रेयसादानम्	कौ०ब्रा० २.१४
अथात्रैतद्हरं	सुबा० ४.४
अथान्तरात्मा नाम	आत्मो १-ग
अथान्नमय प्राणमय ...	पैङ्ग० २.४
अथापञ्चीकृतमहाभूत ...	पैङ्ग० २.३
अथापानात्कटिद्वन्द्वे	जा०द० ७.८
अथाप्यस्यारूपस्य	शाण्डि० ३.१.३
अथावमं चरमम्	शाट्या० ६
अथाश्वलायनो०	कैव० १
अथासनदृढो योगी	शाण्डि० १.७.१
अथास्य पुरुषस्य	ब्रह्म० १
अथास्य या सहजाऽस्ति	शाण्डि० ३.१.५
अथेमा दश दश	सुबा० ४.३
अथैव ज्ञाननयेन	शाण्डि० १.३ ६
अथो नाद आधारात्	हंस० ९
अदग्धमहतम्	संन्या० २.१४
अदृश्यं नवमे	हंस० २०

॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥